साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के विकास में द्विवेदी-युग का योग

■

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री :

डा० श्रीमती श्यामकुमारी श्रीवास्तव

■

निर्देशक :

डा० हरदेव बाहरी

१९७५

प्रस्तावना

प्रस्तावना

१. विषय-चयन का हेतु -- भारतेन्दु-युग में जिस भाषा के उन्नयन एवं प्रचार-प्रसार का मूलमन्त्र ग्रहण किया गया, उस हिन्दी भाषा का सुधार- संस्कार एवं परिष्कार द्विवेदी-युग में हुआ । भाषा-सुधार की दृष्टि से यह एक क्रान्तिकारी युग था । द्विवेदी-युग के पूर्व हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रयोग में निरंकुशता तथा तज्जनित अनस्थिरता व्याप्त थी, किन्तु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्य एवं भाषा-नायक के संचालन में अनेक भाषा-महारथियों ने इस क्षेत्र में प्रवेशकर भाषा को निश्चित गति देने में अपनी अतुल निष्ठा और लगन का परिचय दिया, जिसके परिणामस्वरूप साहित्यिक हिन्दी खड़ीबोली का संस्कृत एवं निखरा हुआ रूप सम्मुख आया । वस्तुत: यह युग हिन्दी भाषा के प्रति चेतना और जागरूकता का युग था । इस युग में हिन्दी भाषा में एकादर्श की स्थापना को दृष्टि में रखते हुए उसके प्रचार-प्रसार, निर्माण एवं विकास के लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से क्रान्तिकारी प्रयास किए गए । आज, जबकि हिन्दी भाषा में प्रयोगकर्ताओं की स्वच्छन्द एवं निरंकुश नीति के कारण पुन: अनिश्चितता तथा अनियमितता प्रवेश पाने लगी है, उक्त युग के कृतित्वों को प्रकाश में लाना लेखिका को आवश्यक प्रतीत हुआ ।

विषय-चयन का दूसरा कारण है-- लेखिका द्वारा पूर्व प्रस्तुत भारतेन्दु की खड़ीबोली के अध्ययन की कड़ी में उससे व्यापक एवं विस्तृत रूप की कड़ी को जोड़ना । इसके पूर्व के शोधकार्य (डी०फिल्० की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध) में लेखिका ने भारतेन्दु की भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से तत्कालीन खड़ीबोली का लगभग सम्यक् स्वरूप प्रस्तुत किया था और उक्त अध्ययन को करते-करते मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि आगे इस परम्परा का निर्वाह कहां तक हुआ-- कालान्तर में हिन्दी-क्षेत्र में कौन-कौन सी समस्याएं उत्पन्न हुई और उनके समाधान के लिए कौन-कौन से प्रयास किए गए--

इस क्षेत्र में कितनी साधना करनी पड़ी तथा उस साधना की अन्तिम परिणति क्या थी-- आदि।

यह नहीं कहा जा सकता कि अभी तक द्विवेदीयुगीन भाषा का अध्ययन अछूता है -- इस पर किसी ने प्रकाश नहीं डाला। वस्तुत: द्विवेदीयुगीन भाषा प्राय: चर्चा का विषय रही है और अनेक विद्वानों ने इस पर प्रकाश भी डाला है, किन्तु कुछ ने तत्कालीन साहित्यकारों की साहित्यिक रचनाओं के प्रसंग में मात्र इसके व्यावहारिक पक्ष को लिया है तो कुछ ने युगबोधन के चित्र में एक अंगमात्र के (आंशिक) रूप में टांक दिया है। पूर्व स्थिति से तुलना करते हुए, इस क्षेत्र में उत्थित विविध समस्याओं का उल्लेख उनके विषय में प्रकाशित तर्क-वितर्कों अथवा मत-मतान्तरों के साथ करते हुए, तत्कालीन बहुमुखी साधनों तथा साधकों के प्रयासों का विवरण देते हुए तद्युगीन भाषा के सांगोपांग स्वरूप पर व्यापक रूप से प्रकाश डालने का अभियान आज तक किसी ने नहीं किया था। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में लेखिका द्वारा कथित अभियान को सार्थकता प्रदान की गई है। तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्ययन एकसाथ तुलनात्मक, ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक -- सब कुछ है। एक ओर साहित्यिक हिन्दी खड़ीबोली के विकास के सम्बन्ध में पूर्वयुग की पृष्ठभूमि में युग की देन का मूल्यांकन करना तुलनात्मकता है तो दूसरी ओर भाषा की विकासशीलता पर कालक्रम के साथ प्रकाश डालना ऐतिहासिकता। तीसरी ओर, शास्त्रीय एवं प्रयोगिक तथ्यों के आधार पर तत्कालीन भाषा का विवेचन ही उसकी समीक्षात्मकता है। आलोच्ययुगीन भाषा का यह त्रिसूत्रीय अध्ययन निश्चय ही साहित्यिक हिन्दी-जगत के लिए अपेक्षित एवं महत्वपूर्ण यज्ञ है।

२. युग-निर्धारण -- जहां तक द्विवेदी-युग की अवधि के निर्धारण का प्रश्न है, इस प्रश्न पर साहित्यिक विकास की दृष्टि से तो हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों एवं शोधकर्ताओं द्वारा विभिन्न मत स्थिर किये जा चुके हैं, जैसे-- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा चतुरसेन शास्त्री ने `द्विवेदीयुग` आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सरस्वती का सम्पादनकार्य ग्रहण करने (१९०३ई०) से लेकर विश्राम करने (१९१८ई०) तक माना है। इन इतिहासकारों के मत का अनुसरण तथा अनुमोदन अनेक साहित्यकारों एवं शोधकर्ताओं ने किया है। राजबली पाण्डेय ने द्विवेदी जी के लेखनकार्य के आरम्भ(१८९३ई०) से `सरस्वती` के सम्पादनकाल के समय तक (१९१८ई० तक) की अवधि को द्विवेदी-काल माना है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने १९०१ से साहित्यिक विधाओं के परिवर्तन-काल, १९३० तक की अवधि को द्विवेदी-युग निर्धारित किया है तो डा० उदयभानु सिंह ने १९०३ ई० से लेकर `प्रसाद` की कृति `आंसू` की रचना, काल

१६२५ ई० तक के समय को द्विवेदी-युग का परिवेश निर्धारित किया है--आदि । किन्तु भाषा की विकासात्मकता के दृष्टिकोण से अभी तक द्विवेदी-युग की अवधि निश्चित नहीं की जा सकी है । वस्तुस्थिति तो यह है कि भाषा और साहित्य का परस्पर समन्वय होते हुए भी दोनों के प्रवाह की धारा में अन्तर होता है । साहित्य की धारा में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के वशीभूत होकर अचानक परिवर्तन हो सकता है, किन्तु भाषा की धारा अकस्मात् कोई मोड़ नहीं ले सकती । अत: यह समझना कि साहित्यिक क्रान्ति के साथ द्विवेदीयुगीन भाषा ने भी नवीन बाना धारण कर लिया, युक्तिसंगत नहीं है । पूर्व दिए गए युग-निर्धारण के प्रसंग में यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश विद्वानों ने `द्विवेदी-युग` को द्विवेदी जी के `सरस्वती` सम्पादन का कार्य-भार ग्रहण करने से लेकर उक्त कार्य से अवकाश ग्रहण करने तक माना है, किन्तु उस समय के अधिक दिनों पश्चात् तक भी न ही भाषा की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन हुआ और न ही साहित्यकारों द्वारा सुधार की प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न हुआ । ऐसी स्थिति में भाषा के अध्ययन की दृष्टि से युग-निर्धारण की कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है । फिर भी अध्ययन की सामग्री के हेतु तो उक्त युग की सीमा निर्धारित करनी ही पड़ेगी ।

आचार्य द्विवेदी जी के कृतित्वों पर प्रकाश डालने से इतना तो निश्चय ही हो जाता है कि वह भाषा-सुधार के क्षेत्र में `सरस्वती`-सम्पादन-कार्य ग्रहण करने के साथ ही उतरे । उसके पहले उनकी प्रवृत्ति इस कार्य की ओर भले ही हो किन्तु उन्हें अपनी प्रवृत्ति को साकार करने का साधन उपलब्ध नहीं था । उन्होंने `सरस्वती` के सम्पादन के माध्यम से इस अभियान को कार्यान्वित किया । इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने अनेक लेखकों एवं कवियों की भाषा का संस्कार किया, उन्हें निश्चित मार्ग दिखाया । फिर तो अन्य भाषा-भगीरथ भी इस क्षेत्र में प्रयाण कर भाषा के विकास में निरन्तर योग देते रहे । `सरस्वती` के सम्पादक-पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् भी द्विवेदी जी भाषा के सम्बन्ध में बराबर परामर्श देते रहते थे तथा उनके अनुयायीगण भी इस कार्य में संलग्न रहे, अत: द्विवेदी-युग की अन्तिम सीमा लेखिका ने द्विवेदी जी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनन्दन ग्रन्थ प्रदान करने के समय (१६३३-३४ई०) तक माना है । इस समय तक तद्युगीन लेखकों की भाषा अधिकांशत: प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी ।

३. विषय-निरूपण -- जैसा कि पहले कहा जा चुका है, द्विवेदी-युग हिन्दी भाषा के उन्नयन एवं परिष्कार का युग रहा है। इस युग ने हिन्दी भाषा को केवल आगे बढ़ने का मार्ग ही नहीं दिखाया, वरन् उसके मार्ग के झाड़-झंखाड़ को साफ करते हुए उसे पूर्ण सहयोग देकर सुनिश्चित लक्ष्य तक पहुंचाया। अस्तु, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में--द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की स्थिति, तज्जनित द्विवेदी-काल में उत्थित हिन्दी की प्रमुख समस्याओं, तत्कालीन भाषा-सेवियों का विभिन्न साधनों एवं युक्तियों द्वारा उक्त समस्याओं के निराकरण के साथ हिन्दी के परिष्कार का प्रयास तथा उनके प्रयास की सिद्धि के स्वरूप आदि पर प्रकाश डालकर शीर्षक 'साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के विकास में द्विवेदी-युग का योगदान' की औचित्यता सिद्ध की गई है।

अध्ययन की सुविधा के लिए शोध-प्रबन्ध दो खण्डों में विभक्त है-- खण्ड एक में द्विवेदीपूर्व खड़ीबोली की स्थिति, द्विवेदी-युग में उत्थित हिन्दी की प्रमुख समस्याओं, हिन्दी के विकास के हेतु स्थापित विभिन्न सभाओं एवं संस्थाओं तथा हिन्दी की सेवा में प्रवृत्त साधकों का उल्लेख है, अत: इस खण्ड को 'युग की साधना' नाम से अभिहित किया गया है

द्विवेदीपूर्व खड़ीबोली की स्थिति में खड़ीबोली की आरम्भिक अवस्था से लेकर द्विवेदी-पूर्व तक की स्थिति का विस्तृत विवरण अनपेक्षित समझकर केवल उस अवस्था की अनियमितताओं, अनिश्चितताओं आदि को मुख्यरूप से उभारा गया है, जिसका उत्तराधिकार द्विवेदी-युग को प्राप्त था और जिसके सुधार-संस्कार की समस्या युग के सम्मुख थी। वह थी-- भारतेन्दुयुगीन हिन्दी की अवस्था।

'द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं' शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी के विकास के सन्दर्भ में साहित्य एवं भाषा-रचना सम्बन्धी समस्याओं तथा उन समस्याओं को लेकर युग-विशेष में प्रकाशित विभिन्न मत-मतान्तरों एवं तर्क-वितर्कों की खोज-पूर्ण अध्ययन-सामग्री प्रस्तुत की गई है। ये सामग्रियां लेखकों की मूल कृतियों से ली गई हैं।

तृतीय अध्याय 'साधन और साधक' के अन्तर्गत उन मुख्य-मुख्य समस्याओं-संस्थाओं, भाषा-सुधारकों-प्रचारकों, निर्माताओं एवं साहित्यकारों तथा उनके कृतित्वों का विवरण है, जिनके माध्यम से साहित्यिक हिन्दी को फूलने, फलने एवं विकसित होने का सुयोग प्राप्त हुआ।

यह तो रही खण्ड एक में प्रस्तुत विषय-वस्तु की बात।

उक्त प्रयासों के फलस्वरूप पूर्व स्थिति की तुलना में तत्कालीन हिन्दी की शैलीगत

एवं प्रयोगगत स्थिति क्या थी, साहित्यिक हिन्दी को परिनिष्ठित रूप प्रदान करने में इस युग को कितनी सक्षमता उपलब्ध हुई,आदि खण्ड दो का विषय है । इस खण्ड को'युग की क सिद्धि'नाम से सम्बोधित किया गया है ।

इस द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में तत्कालीन वर्ण-विन्यास पर प्रकाश डाला गया है । युगपूर्व अथवा युग की आरम्भिक अवस्था की रचनाओं की भाषा में सबसे अधिक अनियमितताएं एवं त्रुटियां वर्तनी सम्बन्धी ही हैं, जिनका सामना तत्कालीन सुधारकों को करना पड़ा । अत: पूर्व की अनियमितताओं, द्विविधताओं आदि को दूर कर भाषा को कहां तक परिनिष्ठत रूप प्रदान किया गया, इसका सम्यक् बोध कराने के लिए इस प्रकरण में विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए सामान्यताओं पर प्रकाश डाला गया है । तद्युगीन वर्ण-विन्यास सम्बन्धी अध्ययन में कुछ विशेष कठिनाइयों एवं विविधताओं का सामना इसलिए करना पड़ा कि प्राय: एक ही लेखक की भिन्न-भिन्न प्रकाशनों से प्रकाशित रचनाओं में वर्तनी-भेद पाया गया । अत: यह निर्धारित करना कठिन हो गया कि लेखक की वर्तनी की मूल प्रवृत्ति क्या है ? ऐसी स्थिति में यद्यपि पाण्डुलिपियां ही एकमात्र आधार थीं और उनका सहारा भी लिया गया ,किन्तु भाषा के सामान्य जिज्ञासु अथवा साधारण पाठक के सम्मुख तो प्रकाशित रचना ही होती है और उसी में वह शोधकर्ता के प्रमाणों को पाना चाहता है । फिर भी जहां तक हो सका है, तत्कालीन वर्ण-विन्यासक-प्रक्रिया के उदाहरण तथ्यों के आधार पर ही प्रस्तुत किए गए हैं ।

दूसरा अध्याय है--'शब्द-योजना' का । शब्दावली-प्रयोग सम्बन्धी समस्या भी द्विवेदी-युगीन भाषा-प्रयोग की समस्याओं में प्रमुख स्थान रखती है,अत: युगविशेष में शब्द-प्रयोग की विविध शैलियों तथा विभिन्न प्रकृति के शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति का अवलोकन करने के लिए सम्पूर्ण अध्याय को तीन मुख्य उपशीर्षकों में वर्गीकृत किया गया है-- एक वर्ग के अन्तर्गत हिन्दी में आगत विभिन्न शब्दावलियों से युक्त हिन्दी की विविध शैलियों का उल्लेख है तो दूसरे में हिन्दी में आगत शब्द-भण्डार की प्रकृति का प्रस्तुतिकरण है । तीसरे में प्रकृति-प्रत्यय के योग से बने शब्दों,द्विरुक्तादि शब्दों एवं समासादि से अवगत कराया गया है ।

तीसरा अध्याय'पद-रचना'तत्कालीन भाषा की व्याकरणिकता से सम्बन्धित है। आलोच्य-युग में संज्ञा के लिंग एवं विभक्ति-प्रयोग से सम्बन्धित अनेक मत-मतान्तर उपस्थित

हो गये थे,उन विभिन्न मतों के अनुसार प्रयुक्त लिंग एवं विभक्तियों की चर्चा करते हुए विभिन्न प्रकृति के शब्द रूप एवं प्रयोग - सम्बन्धी सामान्यताओं एवं विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकरण का विषय है ।

चौथे अध्याय में 'पद-बन्ध'-विवेचन है। तत्कालीन पदबन्धों की रचना-प्रक्रिया में कोई विशेषता दृष्टिगत न होने के कारण इस प्रकरण का संक्षेपीकरण कर दिया गया है । जहां तक उनके शब्द-क्रम एवं अन्विति आदि का सम्बन्ध है, उन्हें वाक्य-रचना के विषय से सम्बद्ध कर दिया गया है ।

पांचवां अध्याय 'वाक्य-पद्धति' का है । वाक्य भाषा की पूर्ण इकाई है,अत: आलोच्ययुगीन भाषा संरचना-प्रक्रिया के उद्बोधनार्थ प्रस्तुत यह प्रकरण तद्युगीन वाक्य-रचना के विभिन्न अंगों तथा वाक्य के विभिन्न प्रकारों के विवेचन से पूर्ण है ।

छठां अध्याय `विरामादि चिह्न` एक रोचक विषय है । इस अध्याय में आलोच्य-युग में व्यवहृत विरामादि चिह्नों के प्रयोगों की उपयुक्तता पर प्रकाश डालते हुए उसके त्रुटिपूर्ण अथवा अनिश्चित प्रयोगों पर भी दृष्टिपात किया गया है । अधिकांश उदाहरण पाण्डुलिपियों से ही लिए गए हैं,क्योंकि इनमें से बहुतों का प्रयोग मुद्रण में नहीं होता ।

सातवें अध्याय `अर्थ` के अन्तर्गत तत्कालीन भाषा की अर्थवत्ता का विवरण है । इस प्रकरण में प्रयोग के अनुसार शब्दों की पर्यायवाचकता,बहुवर्थकता(अनेकार्थकता), विलोमार्थकता पर तो प्रकाश डाला ही गया है, साथ ही शब्द-शक्तियों के आधार पे पर अभिधा,लक्षणा एवं व्यंजना के अर्थ में प्रयुक्त शब्दों,वाक्यांशों एवं वाक्यों का भी व्याख्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । इनके अतिरिक्त अर्थ के व्याख्यार्थ प्रयुक्त लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का उल्लेख भी इसी प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है ।

आठवें अध्याय में तत्कालीन 'लिपि-प्रयोग' सम्बन्धी सामान्य एवं विशिष्ट का वर्णन है ।

अन्त में `निष्कर्ष` के अन्तर्गत साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के विकास में द्विवेदी-युग के योगदान का महत्व निर्देशित किया गया है ।

४. विषय-निरूपण सम्बन्धी स्पष्टीकरण -- विषय-निरूपण के प्रसंग में कुछ ऐसी आवश्यक बातें हैं, जिनके स्पष्टीकरण के लिए बिना प्रस्तावना का विषय अपूर्ण प्रतीत होता है --

१. उपशीर्षकों के सम्बन्ध में -- प्रबन्ध को दो खण्डों में इसलिए विभाजित किया गया है कि पाठकजन के सम्मुख विषय का सुलझा और स्पष्ट रूप आ जाय। पूर्व रूप के आधार पर उसके निर्माण एवं प्रयोग से सम्बन्धित समस्याओं को उठाकर तत्कालीन साधकों द्वारा उसके विकास का अनेकधा प्रयास वास्तव में युग की साधना ही तो है-- इसी आधार पर खण्ड एक के विषय को 'युग की साधना' नाम से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार विभिन्न प्रयासों के प्रभाव से साहित्यिक हिन्दी खड़ीबोली का जो स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ उसका विवेचन प्रबन्ध के दूसरे खण्ड में होने के कारण इस खण्ड को 'युग की सिद्धि' नाम से सम्बोधित किया गया है।

इसी प्रकार खण्ड दो के अन्तर्गत दूसरे अध्याय के उपशीर्षक 'द्विरुक्तादि शब्द' तथा छठे अध्याय का शीर्षक 'विरामादि चिह्न' का नामकरण शोधकर्त्री की अपनी सूझ-बूझ का परिणाम है। 'द्विरुक्ति' से तात्पर्य एक ही शब्द का पुन: कथन और यह पुन: कथन उक्त शीर्षक (द्विरुक्तादि शब्द) का एक उपभेद मात्र है, क्योंकि इस शीर्षक के अन्तर्गत समान, विपरीत, समानुप्रासिक, सार्थक-निरर्थक आदि सभी प्रकार के शब्द-गुच्छ आ जाते हैं। अत: रूढ़िगत निर्धारित 'पुनरुक्त शब्द' अथवा 'द्विरुक्त शब्द' शीर्षक के अन्तर्गत उक्त शीर्षक में विश्लेषित सभी विषय उपयुक्त सिद्ध नहीं होते।

इसी लक्ष्य 'विरामादि चिह्न' शीर्षकीकरण के साथ भी रहा है। शास्त्रीय अथवा व्याकरणिक आधार पर रखे गये नाम 'विराम चिह्न' के अन्तर्गत अन्य उन संकेत चिह्नों का भी उल्लेख रहता है जो विराम-स्थल के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी लगाये जाते हैं, अत: लेखिका ने सब प्रकार के संकेत-चिह्नों को उक्त (शोधप्रबन्ध में दिये गये) शीर्षक में सन्निहित कर दिया है।

२. यों तो द्विवेदी-युग में हिन्दी साहित्य का भण्डार खूब भरा गया। एक एक साहित्यकार पचास-पचास, सौ-सौ तक अनुदित एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना की किन्तु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'खण्ड एक' के अन्तर्गत साहित्य साधकों की सम्पूर्ण कृतियों की तालिका न देकर केवल यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि तत्कालीन लेखकों की किन-किन कृतियों ने हिन्दी

भाषा के उन्नयन में योग दिया । सम्पूर्ण कृतियों की सूची न देने का एक यह भी कारण है कि शोध का विषय भाषा के विकास से सम्बन्धित है न कि हिन्दी साहित्य के इतिहास से । लेखकों की रचनाओं का उल्लेख तो प्राय: साहित्य के इतिहास एवं साहित्य कोश में मिल ही जाता है, किन्तु ये कृतियां हिन्दी की उन्नति में किस अंश तक कारणाभूत रहीं इनका पर्याप्त उल्लेख कहीं नहीं मिलता । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि तत्कालीन साहित्यकारों की मात्र उन्हीं रचनाओं का उल्लेख किया जाता जो हिन्दी भाषा के विकास का आधार बनीं ।

३. (क) विषय के लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक था कि द्विवेदी-युगीन भाषा का वह रूप लिया जाय जो अपने पूर्व की भाषाब में योगदान की बात को प्रमाणित करे-- अर्थात् जो रूप अपने पूर्व की भाषा से अधिक परिमार्जित एवं विकासोन्मुखी हो । ऐसी स्थिति में परम्परा से चली आई हुई कतिपय त्रुटियों एवं अनियमितताओं की अथवा हिन्दी का अधिक ज्ञान न रखने वाले लेखकों का दोषपूर्ण भाषा- प्रयोग की प्राय: उपेक्षा की गयी है,क्योंकि कालान्तर की भाषा में उन त्रुटियों में या तो कमी होती गई है अथवा वे समाप्त ही हो गई हैं ।

यदि विषय केवल द्विवेदी-युगीन साहित्यिक खड़ीबोली के विश्लेषण से संबंधित होता हो तो उसके (खड़ीबोली के) सब रूपों को (गुण-दोष सहित) लेना अपेक्षित था किन्तु विषय का प्रसंग जब यह प्रदर्शित करना है कि आलोच्य-युग में साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी कहां तक शैलीगत एवं अर्थगत सुगठितातथा परिनिष्ठता को प्राप्त हुई,तब उसकी उन त्रुटियों पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं,जो या तो तद्युगीन भाषा में विरल हैं अथवा आगे चलकर सुधार को प्राप्त हुई हैं । यही कारण है कि तत्कालीन भाषा का चित्रण करने के लिए प्राय: तत्कालीन प्रतिनिधि लेखकों की कृतियों अथवा अधिक प्रसारित पत्र-पत्रिकाओं की रचनाओं से ही उदाहरण लिए गए हैं । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उदाहरणों के लिए प्राय: उन्हीं लेखकों की कृतियों पर निर्भर किया गया है, जो युग की `सुधार-प्रक्रिया` की अवधि में अपनी रचनाएं (परिष्कृत अथवा अपरिष्कृत रूप में)प्रस्तुत करते रहे । क्योंकि उन्हीं की रचनाओं की भाषा से युग के योगदान का अंकन किया जा सकता है ।

(ख) `द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ` से अधिक प्रमाण इस उद्देश्य से लिए गए हैं,क्यों कि यह ग्रन्थ आलोच्ययुगीन प्रौढ़ लेखकों एवं कवियों की प्रौढ़ एवं परिमार्जित कृतियों का

पुंज है, अत: उसकी भाषा आलोच्ययुगीन साहित्यिक भाषा के स्वरूप का प्रामाणिक आदर्श प्रस्तुत करती है । `सरस्वती` हीरक जयन्ती अंक(१९६१६०) की उन कृतियों से ही उदाहरण चुने गये हैं, जो `सरस्वती` में द्विवेदी-युग में ही प्रकाशित हो चुकी थी ।

(ग) पाण्डुलिपियों में तत्कालीन साहित्यकारों,भाषा-विदों आदि के पत्रादि तथा `सरस्वती` पत्रिका में प्रकाशनार्थ आई हुई हस्तलिखित रचनाओं से ही अधिक सामग्री ली गई है (नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित `सरस्वती` की हस्तलिखित प्रतियों में आलोच्ययुगीन अधिकांश लेखकों की पाण्डुलिपि का भण्डार सुरक्षित है) । इनके अतिरिक्त कुछ स्वतन्त्र हस्तलिखित रचनाओं से भी पर्याप्त प्रमाण लिये गये हैं ।

४. प्रबन्ध का निर्वाह सर्वत: व्याख्या तथा समीक्षा के आधार पर हुआ है, ऐसी स्थिति में तथ्य-पुष्टि के लिए उतने ही उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं,जितने उद्देश्यपूर्ति में साधक हों । अनावश्यक रूप में उदाहरणों की लम्बी-चौड़ी तालिका देकर प्रबन्ध के कलेवर का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं समझी गई है ।

५. सम्पूर्ण उदाहरण द्विवेदीयुगीन रचनाओं से ही लिए गए हैं,किन्तु बहुत-से सामान्य प्रयोगों की सार्वत्रिक वर्तमानता के कारण कहीं-कहीं उनकी रचनाओं का सन्दर्भ देना वांछनीय नहीं समझा गया है ।

जहां तक हो सका है, विषय-निरूपण सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्यों को उपर्युक्त कथनों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है,फिर भी यदि स्पष्टीकरण के बिना कुछ और शेष रह जाता है तो शोधकर्त्री उसके लिए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा व्यवहृत सूक्ति `परेंगित ज्ञानफलाहि बुद्धय:` के अनुसार पाठकगण की सूझ-बूझ पर ही निर्भर करती है ।

५. आभार -- इस सम्पूर्ण कृतित्व का एकमात्र श्रेय पूज्यवर डा० बाहरी जी को है,जो मार्ग-निर्देशन के साथ-साथ अपनी कर्मठता के आदर्श से निरन्तर शोधकर्त्री के प्रेरणा-स्रोत बने रहे और बने रहेंगे ।

अन्य साधन-साधक के रूप में सर्वप्रथम तो लेखिका आलोच्ययुगीन साहित्यकारों, भाषा-सेवियों एवं साधकों के प्रति आभारी है,जिन्होंने अपने कृतित्वों के माध्यम से उसके सम्मुख कार्य-साधन का एक विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत किया ।

प्रबन्धकर्त्री उन समस्त सभाओं, संस्थाओं एवं पुस्तकालयों की कृतज्ञता से भी उऋण नहीं हो सकती, जो अपनी साहित्यिक रत्न-राशि से सदा सहयोग देते रहे हैं और भविष्य में भी ऐसी ही आकांक्षा है ।

अन्त में लेखिका उन समस्त सुहृद्‌जनों के प्रति अपना आत्मीय आभार प्रकट करती है, जिन्होंने अपनी शुभकामनाओं द्वारा इस यज्ञ को सफलीभूत कराया ।

प्रयाग, ॥
अक्टूबर, १९७५ ई० ॥

(श्यामकुमारी श्रीवास्तव)

विषयानुक्रम

खण्ड एक

'युग की साधना'

[1 – 176]

१

द्विवेदी-पूर्व साहित्यिक खड़ीबोली की स्थिति

(2– 88)

3

तत्कालीन साधन तथा साधक

(132- 176)

१. प्रचारक रूप में

२. सुधारक एवं निर्माता के रूप में

३. साहित्य-साधक के रूप में

क. गद्यकार के रूप में

ख. पद्यकार के रूप में

ग. गद्यकार एवं पद्यकार के रूप में

खण्ड दो

युग की सिद्धि

[177-539]

१

वर्ण विन्यास

(179-227)

१.क. विशिष्टताएं (181-211)

क.१. स्वर-सम्बन्धी

(अ) ह्रस्व स्वर का दीर्घीकरण, (आ) दीर्घ स्वर का ह्रस्वीकरण (इ)स्वर-वृद्धि, (ई) स्वर-लोप ।

क.२. व्यंजन सम्बन्धी

१. व्यंजन परिवर्तन--(१) /ड/ > /ड़/ तथा /ड़/ > /ड/ (२) /ब/ > /व/ तथा /व/ > /ब/, (३) /ढ/ > /ढ़/ (४) /ण/ > /न/ तथा /न/ > /ण/, (५) /स/ > /श/

२. व्यंजन विपर्यय

३. व्यंजन लोप

४. व्यंजन-संयोग --(अ) पंचमाक्षर-संयोग, (आ) रकार संयोग (इ) /र/ के संयोग में संयोगी व्यंजन का द्वित्व हो जाना, (ई) दो महाप्राण ध्वनियों का संयोग ।

क.३.स्वर-व्यंजन मिश्रित श्रुति-भेद सम्बन्धी

क.४.अनुनासिक ध्वनि सम्बन्धी

(१) चन्द्रबिन्दु का उचित प्रयोग, (२) अनुस्वार का उचित प्रयोग (३) अनुस्वार के स्थान पर चन्द्रबिन्दु, (४) चन्द्रबिन्दु के स्थान पर अनुस्वार (५) अनावश्यक अनुनासिकता, (६) अनुनासिकता का लोप,(७) अनुस्वारविन्यास की विशिष्ट शैली ।

ग. विशिष्टताएं

२.२. शब्द-भण्डार (276-291)

१. तत्सम शब्द

१. संज्ञा --क. भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी शब्द, ख.भाव एवं मनोविकार सम्बन्धी शब्द, ग. प्रकृति एवं उसके उपादान सम्बन्धी शब्द, घ. शरीर एवं उसके अवयव सम्बन्धी शब्द, च. मानवेतर प्राणी-सम्बन्धी शब्द, छ. धर्म एवं अध्यात्मसूचक शब्द, ज. संस्कार एवं सम्बन्ध-सूचक शब्द, झ. काल-सूचक शब्द, ट. अवस्थासूचक शब्द, ठ.अन्य पदार्थ एवं भावसूचक शब्द ।

२. सर्वनाम । ३. विशेषण । ४. क्रिया । ५. अव्यय ।

२. अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव शब्द

१. संज्ञा -- क. अंग सूचक शब्द, ख. समयसूचक शब्द, ग. स्थान सूचक शब्द, घ. प्राकृतिक उपादान सम्बन्धी शब्द, च. शारीरिक व मानसिक क्रिया-सूचक शब्द, छ. भाव एवं व्यवहारसूचक शब्द, ज. मनुष्येतर प्राणीसूचक शब्द ।

२. सर्वनाम । ३. विशेषण । ४. क्रिया । ५. अव्यय ।

३. हिन्दी-बोलियों के शब्द

४. अनुकरणात्मक शब्द

५. फारसी के शब्द

१. संज्ञा शब्द । २. सर्वनाम । ३. विशेषण । ४. क्रिया । ५. अव्यय ।

६. अंग्रेजी के शब्द

१. नित्य प्रति के साधन-उपकरण सम्बन्धी शब्द, २.परिधान सम्बन्धी शब्द, ३. शिक्षा सम्बन्धी शब्द, ४. क्रीड़ा सम्बन्धी शब्द, ५. राजनीति एवं प्रशासनादि सम्बन्धी शब्द, ६. साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी शब्द, ७. अन्य प्रकार के शब्द ।

२.३. शब्द-विस्तार (291-329)

१. प्रत्यययुक्त शब्द

क. पूर्व प्रत्यययुक्त शब्द, ख. परप्रत्यययुक्त शब्द, १. संस्कृत प्रत्यययुक्त शब्द (अ) कृदंत, (आ) तद्धितान्त, २. हिन्दी-प्रत्यययुक्त शब्द--(अ)कृदंत(आ)तद्धितांत

३. फारसी-प्रत्ययुक्त शब्द ४. अंग्रेजी प्रत्ययुक्त शब्द, ५.विशेष--
(क) प्रत्यय अनावश्यक है, (ख) अनुपयुक्त प्रत्यय (ग) शब्द अस्वाभाविक है।

२. सामासिक शब्द

१ अव्ययीभाव समास, २. तत्पुरुष समास--(१(कर्म तत्पुरुष, (२)करण तत्पुरुष, (३) सम्प्रदान तत्पुरुष, (४) अपादान तत्पुरुष, (५) सम्बन्ध तत्पुरुष, (६) अधिकरण तत्पुरुष। ३. कर्मधारय समास--(१) विशेषतावाचक कर्मधारण, (२) उपमावाचक कर्मधारय। ४. द्विगु समास। ५. द्वन्द्व समास-- (१) इतरेतर द्वन्द्व, (२) समाहार द्वन्द्व, (३) वैकल्पिक द्वन्द्व। ६. बहुव्रीहि समास। ७. विशेष।

३. द्विरुक्तादि शब्द

१. समान शब्दों की पुनरुक्ति से निर्मित शब्द-- क. संज्ञा शब्दों की पुनरुक्ति, सर्वनाम शब्दों की पुनरुक्ति, ग. विशेषण शब्दों की पुनरुक्ति घ. क्रिया-विशेषण अथवा अन्य अव्यय शब्दों की पुनरुक्ति ङ.क्रिया शब्दों की पुनरुक्ति, च. विशेष। २. समानुप्रास सार्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द। ३. समानुप्रास सार्थक -निरर्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द। ४. समानुप्रास निरर्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द। ५. अनुकरणात्मक शब्द।

४. शब्द-योग-पद्धति

१. शब्दान्त तथा शब्दादि-ध्वनियों का सन्धि द्वारा योग। २. शिरोरेखा द्वारा योग। ३. संयोजक चिह्न द्वारा योग। ४. विशिष्टताएँ।

३

पद-रचना

(330-379)

३.१. संज्ञा (332-343)

४

पदबन्ध

(380-386)

५

वाक्य-पद्धति

(387-442)

५.१. पद-योजना (388-436)

१. आकांक्षा तथा अध्याहार

२. आसक्ति

३. योग्यता/उपयुक्तता

१.शब्दों अथवा पदों के परस्पर सम्बन्ध के अनुरूप भाषागत तादात्म्य स्थापित करना

२. अर्थ-सम्बन्ध /अर्थ की उपयुक्तता की दृष्टि से शब्द-चयन

३. सम्बन्धबोधक शब्दों की उपयुक्तता का दृष्टिकोण

४. पुनरुक्ति-दोष से बचाने के लिए भिन्न शब्द की स्थापना

५. युग-प्रथा अथवा लेखक की स्वरुचि के अनुकूल शब्द-चयन का दृष्टिकोण ।

४. पदान्वय । पदस्थ - सम्बन्ध

१. विशेषण एवं विशेष्य सम्बन्ध । २. सम्बन्धकारक(भेदक) तथा सम्बन्धी शब्द (भेद्य) सम्बन्ध । ३. कर्ता,कर्म एवं क्रिया-सम्बन्ध । ४. कारकों का वाक्य के अन्य शब्दों से सम्बन्ध ।

५. पदक्रम

१. गद्य-शैली में पदक्रम -- १. सामान्य पद-क्रम, २. बलाघात/ अवधारण के कारण पद-क्रम- व्यत्यय, ३. अस्वाभाविक व्यतिक्रम ।

२.काव्य-शैली में पद-क्रम -- १. सामान्य विश्लेषण, २. विशिष्ट विश्लेषण-- (क) जिनमें व्यतिक्रम न्यून है, (ख) जिनमें व्यतिक्रम कुछ अधिक है, (ग) जिनमें व्यतिक्रम दोषपूर्ण है ।

५.२. वाक्य-रूप (436-442)

१. साधारण वाक्य

२. मिश्रित वाक्य

३. संयुक्त वाक्य

खण्ड एक

'युग की साधना'

साहित्यिक हिन्दी के विकास-क्रम में द्विवेदी-युग वस्तुत: साधना का ही युग रहा है। आज साहित्यिक हिन्दी (खड़ीबोली) का जो परिनिष्ठित रूप विद्यमान है, वह द्विवेदी-युग के ही भाषा-यज्ञ का प्रतिफल है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी भाषा के प्रचार की जिस चेतना को जागृत कर गये, उसे सक्रियता प्रदान करते हुए भाषा के बहुमुखी विकास का अभियान इसी युग के साधकों ने किया। उन्होंने युग की भाषा की स्थिति का अवलोकन किया, उसकी समस्याओं पर विचार-विमर्श किया और उन्हीं समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में भाषा के विकास की बहुमुखी धाराएं प्रवाहित कीं।

प्रस्तुत खण्ड में भाषा-सम्बन्धी तद्युगीन देन की पृष्ठभूमि के रूप में उक्त स्थितियों का ही अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। इस खण्ड को मुख्य तीन अध्यायों में विभाजित किया गया है --

(१) द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की स्थिति

(२) द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं

(३) तद्युगीन साधन तथा साधक

द्विवेदी- पूर्व साहित्यिक खड़ी बोली की स्थिति

१

द्विवेदी-पूर्व साहित्यिक खड़ीबोली की स्थिति

१.१.खड़ीबोली प्रयोग के विभिन्न चरण ——→

खड़ीबोली हिन्दी का इतिहास शताब्दियों पुराना है । साहित्य-सृजन में इसका प्रयोग ६ वीं- १० वीं शताब्दी से ही होना प्रारम्भ हो गया था । उस समय से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने तक यह कई स्थितियों में पनपती एवं विकसित होती रही ।

खड़ीबोली का दर्शन सर्वप्रथम अपभ्रंश की विकसित अवस्था में होता है । यह सिद्धों के चर्यापदों (६वीं- १० वीं शताब्दी) नाथों की बानियों (११ वीं - १३ वीं शताब्दी) तथा लौकिक अथवा डिंगल साहित्य (१० वीं - १४ वीं शताब्दी) का युग था । इसी समय (१३ वीं- १४ वीं शताब्दी) में खुसरो ने स्वतन्त्रता खड़ी-बोली में अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं, किन्तु उनकी परम्परा आगे नहीं चल पाई ।

दूसरी स्थिति में यह मध्ययुगीन साहित्य की प्रमुख भाषाओं, व्रज तथा अवधी के साथ-साथ लोक-तत्व के रूप में व्यवहृत होती रही । इस युग में इसके विकास के प्रमुख स्रोतों में एक तो सिद्धों तथा नाथों की परम्परा से पारम्परित देश के विभिन्न भागों में प्रसरित सूफियों एवं सन्तों की सधुक्कड़ी भाषा थी, जिसमें तात्कालिक अन्य भाषाओं के अनुपात में खड़ी-बोली का अंश अधिक था, दूसरी, दक्षिण के मुसलमान -

कवियों द्वारा व्यवहृत 'दक्खिनी हिन्दी' थी, जो आगे चलकर उर्दू का बाना धारण करने के कारण यद्यपि साहित्यिक हिन्दी के रूप में स्वीकृत नहीं हुई तथापि संस्कृत के तत्सम- तद्भव शब्दों से युक्त खड़ीबोली हिन्दी की शैली-निर्माण की कारिका सिद्ध हुई। खड़ीबोली की यही स्थिति ईसा की अठारहवीं शताब्दी के लगभग अन्त तक रही। इसी बीच,अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के मध्य (सन् १७४१ई०) में रामप्रसाद निरंजिनी ने शुद्ध एवं परिमार्जित खड़ीबोली में 'भाषा योग वाशिष्ठ' की रचना की, किन्तु उसके पश्चात् ५०-६० वर्षों तक इसमें कोई प्रगति नहीं हो सकी।

इसकी तीसरी अवस्था का आरम्भ अंग्रेजों के आगमन के समय से हुआ समझना चाहिए, जब एक ओर यह स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बनी तथा दूसरी ओर ईसाई धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों के परिचय के साधन के रूप में व्यवहृत हुई। इस अवस्था की अवधि १८ वीं शताब्दी से लेकर १९ वीं शताब्दी के अन्तिम तृतीयांश तक मानी जानी चाहिए। इस समय अंग्रेजी सरकार की आज्ञा से इस देश की बोलचाल की भाषा (खड़ीबोली) में लल्लूलाल द्वारा 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र द्वारा 'नासिकेतोपाख्यान' की रचनाएं हुई। साथ ही मुंशी सदासुखलाल तथा इंशाअल्ला खां की कृतियों का भी सम्मान किया गया। इनके अतिरिक्त स्कूलों में पढ़ाने के लिए व्याकरण तथा विविध विषयक पुस्तकें भी खड़ीबोली में लिखी गई।

उपर्युक्त चार लेखकों के पश्चात् भाषा निर्माण एवं प्रचार के क्षेत्र में जिन दो महानुभावों के प्रयास महत्वपूर्ण हैं, वे हैं-- राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा राजा लक्ष्मण सिंह। सितारे हिन्द ने सर्वप्रथम हिन्दी में लिखा,तत्पश्चात् हिन्दी को व्यापक बनाने के लिए वह उर्दू मिश्रित हिन्दी के पक्षपाती हो गये। इसके विपरीत राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत के तत्सम-तद्भव युक्त विशुद्ध हिन्दी को अपनाया। इन साहित्यिकों ने अपनी अंगीकृत भाषा में अधिकांशत: अनूदित तथा कुछ मौलिक रचनाएं कीं। इधर अंग्रेजी मिशनरियों ने अपने धर्म के प्रचारार्थ सरल तथा शुद्ध हिन्दी में पुस्तकें छपवाकर जनता के मध्य वितरित कीं। उक्त मिशनरियों के धर्म-प्रचार की प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय जनता की चेतना को जगाने एवं उनके नैराश्य भाव को दूर करने के लिए आर्यसमाज (संस्थापक दयानन्द सरस्वती), ब्रह्म समाज (प्रवर्तक - राजाराममोहन राय), हिन्दू धर्म सभा (प्र०-श्रद्धाराम हिल्लौरी) आदि की स्थापना हुई। इन समाजों की ओर से विशुद्ध हिन्दी में धर्मोपदेश- सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित की गईं। इनके अतिरिक्त

पश्चिम तथा दक्षिण के मुसलमान कवियों ने भी खड़ीबोली में अपनी अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं, जिनकी भाषा में अरबी-फारसी शब्दावली की प्रचुरता थी ।

इस प्रकार १६ वीं शती में खड़ीबोली हिन्दी विभिन्न स्रोतों से प्रवाहित तो हुई, किन्तु उसका मार्ग अभी निर्धारित नहीं हो पाया था । अत: उसे एक निश्चित मार्ग देने वाले भगीरथ की आवश्यकता थी । ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाषा के क्षेत्र में प्रवेश कर एक नवीन चरण (चौथे चरण) की प्रतिस्थापना की । वस्तुत: महावीर प्रसाद द्विवेदी को जिस भाषा का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था, वह भारतेन्दुयुगीन भाषा ही थी । अत: द्विवेदीयुगीन खड़ीबोली के विकास-क्षेत्र के कार्यों की पूर्वपीठिका के रूप में भारतेन्दु के साहित्य-क्षेत्र में उतरने के समय (सन् १८६७-६८) से लेकर द्विवेदी जी के साहित्य-जगत् में आविर्भाव काल तक की खड़ीबोली का अध्ययन ही अधिक महत्त्व रखता है ।

१.२.भारतेन्दु-युगीन भाषा →

१. उपस्थित वातावरण

भारतेन्दु ने उस समय भाषा-निर्माण एवं प्रचार का बीड़ा उठाया जब राजा शिवप्रसाद द्वारा उर्दू-मिश्रित हिन्दी भाषा का पक्ष ग्रहण किए जाने पर उर्दू और हिन्दी का द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ, जिसके परिणामस्वरूप राजा लक्ष्मण सिंह ने विशुद्ध हिन्दी का पक्ष ग्रहण किया । इस प्रकार भारतेन्दु-युग में हिन्दी की दो धाराएं चल पड़ी थीं -- एक, `सितारेहिन्दी` धारा, जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों के साथ-साथ वाक्य योजनादि तथा अन्य व्याकरण सम्बन्धी नियमों के पालन तक में फारसी प्रभाव था । दूसरी, `लक्ष्मणसिंही`, ईसाई धर्म-प्रचारकों तथा उक्त विभिन्न सभाओं की धारा-- जिसने संस्कृत के तत्सम्-तद्भव शब्दों को अपनाते हुए फारसी-अरबी शब्दों एवं तत्सम्बन्धी वाक्य-योजनादि से अपने को बचाया । उस समय उक्त द्वैध प्रयोगों में ही खड़ीबोली उलझी रही । उस समय भाषा के स्वरूप की अस्थिरता के साथ ही व्याकरणिक नियमबद्धता का भी प्राय: अभाव था । इसके अतिरिक्त कुछ किस्से-कहानियों एवं स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त उक्त समय तक विशेष

साहित्यिक रचनाएं भी नहीं हो पाई थीं । मौलिक रचनाओं की तुलना में संस्कृत एवं बंगला की रचनाओं के अनुवाद अधिक हुए ।

उपर्युक्त वातावरण में ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल' के मन्त्र का उद्घोष कर हिन्दी भाषा की उन्नति में जुट गए । अपने लक्ष्य की पूर्ति के हेतु उन्होंने विविध रचनाओं का सृजन तथा पत्र - पत्रिकाओं का प्रकाशन तो किया ही, साथ ही आप खड़ीबोली को परिनिष्ठित भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने तथा उसके स्वरूप को स्थिरता देने के लिए भी यथासम्भव प्रयत्नशील रहे । उन्होंने साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के प्रयोग के सम्बन्ध में दोनों राजाओं में से किसी एक की नीति को न अपनाकर मध्यम (दोनों के समन्वित) मार्ग को अपनाया । अर्थात् न तो उन्होंने राजा शिवप्रसाद जैसी अरबी-फारसी के भार से दबी हुई हिन्दी के प्रयोग की नीति को ग्रहण किया , न वे राजा लक्ष्मणसिंह के समान विदेशी शब्दों के प्रयोग से नितान्त वंचित होना चाहते थे । उन्होंने उस मार्ग का अनुसरण करना उचित समझा जिससे भाषा का व्यावहारिक पक्ष भी स्थिर हो जाय और वाक्य-योजनादि से अरबी-फारसीपन निकल कर शुद्ध हिन्दीपन चलने लगे ।

अत: एक ओर तो ये पुराने घिसे-पिटे शब्दों को निकाल कर विदेशी भाषाओं के आधार पर नए-नए शब्दों की रचना करने के पक्ष में थे तो दूसरी ओर प्राचीन आर्यभाषा के तत्सम शब्दों से युक्त संस्कृत -गर्भित भाषा के भी बहुत बड़े अनुमोदक थे । प्रत्येक स्थिति में आप भाषा की सरलता के पोषक थे । अपने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक व्याख्यान में तत्कालीन भाषा-प्रयोग की विविध शैलियों का उदाहरण देते हुए भारतेन्दु ने दो वर्गों की भाषा को लिखने योग्य बताया है-- पहला, जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों, दूसरा, जो शुद्ध हिन्दी हो[१] । यद्यपि

----

१ दे० --'हिन्दी भाषा', पृ०१२-१५

भारतेन्दु की नीति का समर्थन तत्कालीन अनेक लेखकों ने किया, फिर भी इस विचारधारा में सभी साहित्यकार पूर्णरूपेण अवगाहन नहीं कर पाए । यहां तक कि स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी अपनी रचनाओं की भाषा में एकाकारिता स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सके । इसका प्रमुख कारण था-नायक(भारतेन्दु) के जीवन की अल्पता । वह अभी भाषा की सुनिश्चितता के प्रयोग में लगे ही थे कि उनके असामयिक निधन ने भाषा को निश्चित पथ पकड़ने का अवसर नहीं दिया । उनकी मृत्यु के फलस्वरूप उनके साहित्यिक अनुसरणकर्ताओं को भी पथ निर्धारण करने में अलग-अलग मत से कार्य लेना पड़ा । कुछ ऐसे भी लेखक थे, जो भारतेन्दु की नीति से सहमत नहीं थे, अत: वे अपने-अपने प्रयोगों में ही विश्वास रखते थे ।

दूसरा कारण था -- साहित्यिक विधाओं में एकरूपता का न होना । भारतेन्दु-युग तक गद्य एवं पद्य की भाषा एक नहीं हो पाई थी[१] । तत्कालीन अधिकांश साहित्यकारों ने खड़ीबोली हिन्दी को कविता के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ठहराया । यदि खड़ीबोली में पद्य-रचना हुई भी तो वह प्राय: फारसी-शैली से प्रभावित थी । जहां तक मौलिक तथा अनूदित रचनाओं का प्रश्न है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके समकालीन लेखकों द्वारा यद्यपि मौलिक रचनाओं में पूर्व कृतियों की अपेक्षा वृद्धि ही हुई, फिर भी अनुवाद की परम्परा अभी बल पकड़े हुए थी । इस अवधि में भी संस्कृत, बंगला, फारसी तथा कतिपय अंग्रेजी रचनाओं का अनुवाद मौलिक कृतियों की तुलना में अधिक हुआ । प्राय: लेखकों की अनूदित रचनाओं की भाषा पर मूल भाषा की शब्दावली, वाक्य-योजनादि का प्रभाव पर्याप्तरूप से पड़ा ।

----

१ यद्यपि तत्कालीन कतिपय लेखकों, यथा-- अयोध्याप्रसाद खत्री, नाथूराम शर्मा 'शंकर', श्रीधर पाठक आदि ने खड़ीबोली में पद्य-रचना की बात उठा दी थी, जिसने आगे चलकर आन्दोलन का रूप ले लिया । (इसका उल्लेख अगले परिच्छेद में किया जायेगा ।)

मौलिक कृतियों में नाटक, निबन्ध और जीवनी आदि का विकास पहले की अपेक्षा अधिक हुआ, तदनुसार भाषा के स्वरूप में भी विविधता का समावेश निश्चित था। नाटकों की भाषा यदि पात्रानुकूल थी, तो निबन्धों में लेखक का निजत्व था। कहानी तथा उपन्यास भी कुछ लिखे गए, जिनमें भाषा की सरलता एवं व्यावहारिकता का ध्यान रखा गया।

आलोच्य-युग के लेखक प्राय: कवि भी थे और कविता की प्रमुख भाषा ब्रज थी, अत: तत्कालीन लेखकों में से अधिकांश की भाषा उनकी काव्य-भाषा से अनुप्राणित हुई। इसके अतिरिक्त लेखकों की स्थानीय बोलियों का प्रभाव भी उनकी भाषा पर पड़े बिना नहीं रहा।

भारतेन्दु-युगीन अधिकांश भाषा-सेवियों का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी की अधिकाधिक रचनाएं प्रस्तुत कर उसकी उन्नति एवं प्रचार करना था। उन्हें इतना अवकाश नहीं था कि वे भाषा के परिमार्जन एवं संस्कार की ओर ध्यान देते। अत: इस युग में खड़ीबोली की रचनागत एवं व्याकरणिक त्रुटियों के सुधार का प्रयास नहीं किया जा सका।

२. तत्कालीन भाषा का स्वरूप

पूर्वोल्लिखित कारणों, यथा-- नायक के जीवन की क्षणभंगुरता, अन्य सेनानियों की वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य, परम्परा-निर्वाह की प्रवृत्ति, तत्कालीन ऐतिहासिक एवं साहित्यिक वातावरण, स्थानीय प्रभाव एवं भाषा-निर्माण की व्यक्तिगत क्षमता-अक्षमता के फलस्वरूप महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व खड़ीबोली हिन्दी के प्रायोगिक क्षेत्र में विभिन्न धाराएं प्रवाहित हो रही थीं, जिनकी पृष्ठभूमि में द्विवेदी जी ने अपनी भाषा-सेवा का पथ निर्धारित किया। अध्ययन की आवश्यकता की दृष्टि से तत्कालीन खड़ीबोली के स्वरूप का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है --

← क. शव्द-योजनागत स्वरूप

क. (१) संस्कृत-गर्भित भाषा -- महावीर प्रसाद द्विवेदी के पूर्व अर्थात् भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली हिन्दी के प्रयोग की जितनी शैलियां थीं, उनमें बहुप्रचलित एवं व्यापक शैली संस्कृतनिष्ठ भाषा की थी । इसकी पृष्ठभूमि में कई कारण निहित थे -- यथा, परम्परा निर्वाह की प्रवृत्ति, संस्कृत रचनाओं से अनूदित अथवा संस्कृत रचनाओं से गृहीत सामग्री में मूल भाषा से स्वभावतः आगत शव्दों अथवा पदों के प्रयोग के प्रति उदारता, विदेशी भाषाओं की शव्दावली से युक्त हिन्दी के प्रयोग सम्बन्धी विचारों की विरोधी प्रतिक्रियाएं तथा भाषा की विशुद्धता एवं साहित्यिकता को अक्षुण्ण रखने का ध्येय आदि ।

उपर्युक्त कारणों के आधार पर प्रयुक्त व उक्त हिन्दी के स्वरूप की भी दो श्रेणियां हैं-- एक में खड़ीबोली संस्कृत पदावलियों से इतनी बोझिल हो गई है कि वह दुरूह एवं क्लिष्ट होकर जनसम्पर्क के योग्य नहीं रह गई है तथा दूसरी श्रेणी में खड़ीबोली का वह रूप है, जो तत्सम बहुला होते हुए भी सरल एवं बोधगम्य है । जहां तक दुरूह एवं क्लिष्ट भाषा की बात है, हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास में नवयुग प्रणेता स्वयं बाबू हरिश्चन्द्र भी ऐसी भाषा के प्रयोग से अपने को वंचित नहीं कर सके थे । अपने पूर्व संस्कारों एवं परम्परा-निर्वाह की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर उन्होंने किसी-किसी कृति में लम्बे-लम्बे सामाजिक पदों एवं वाक्यों की झड़ी-सी लगा दी है । यथा --

> 'उन सब राजा की लोहित वर्ण पताका सुवर्णमयी प्रतिमा से शोभायमान चित्तौर के सौध-शिखर पर उड्डीयमान थी और तन्मध्य में अनेक नाम उन लोगों के राज्यस्थशैल शरीर में लौह लेखनी के लिपियोग से अद्यावधि विद्यमान है ।[१]'

> 'जब मुझे अंग्रेज रमणी लोग मेद सिंचित केशराशि, कृत्रिम कुन्तल जूट, मिथ्यारत्नाभरण और विविधवर्ण बसन से भूषित क्षीण-

---

१ उदय पुरोदय, पृ० २५ ।

> कटि देश कसे निज निज पतिगण के साथ प्रसन्न बदन इधर उधर फर फर कल की पुतली की भांति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं।[1]
>
> जहां मुर्तिमान सदाशिव प्रसन्न वदन आशुतोष सकल रत्नाकर, विनयैक निकेतन, निखिल विद्या विशारद, प्रशान्त हृदय, गुणिजन सभा , धार्मिक प्रवर, काशीनरेश महाराजाधिराज श्री मदीश्वरीप्रसाद नारायण सिंह बहादुर और उनके कुमारोपम कुमार श्री प्रभुनारायण सिंह बहादुर दान धर्म्म सभा रामलीलादि के मिस से धर्मोन्नति करते हुए और असत् कर्म्म नीहार को सुर्य्य की भांति नाशते हुएपुत्र की तरह अपनी प्रजा का पालन करते हैं।[2]

इतना अवश्य है कि उक्त तत्सम बहुला भाषा का प्रयोग उन्होंने पंडितों अथवा संस्कृत के विद्वानों के संवादों अथवा कथनों ही मेंकिया है (यथा, प्रेम जोगिनी) कहीं-कहीं स्वयं की अभिव्यक्ति में भी संस्कृतनिष्ठता अधिक है (यथा, नी० देवी, उदय०) कुछ स्थलों पर तो हिन्दी शव्दों का संस्कृतकरण करके उन्होंने अपनी नवीन रचना-शैली का परिचय दिया है (इसका उल्लेख व्याकरण शीर्षक में किया जायेगा ।)

भारतेन्दु की ही भांति उक्त संस्कृतनिष्ठ शैली का पालन तत्कालीन अन्य लेखकों,यथा-- कार्तिक प्रसाद खत्री, बदरीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी आदि ने भी अपनी कुछ रचनाओं में किया है । इनमें से कार्तिक प्रसाद तथा राधाचरण जी के प्रयोगों में तो उनके संस्कारों के कारण स्वाभाविकरूप से तत्समता है,किन्तु बदरी-नारायण चौधरी ने भाषा की शुद्धि एवं परिमार्जन के विचार से संस्कृत शव्दावली का अधिक प्रयोग सायास किया है । स्वाभाविक प्रयोग के रूप में खत्री जी की भाषा द्रष्टव्य है --

---

१ नील देवी, भू०, पृ०४ ।

२ प्रेम जोगिनी, पृ०२७ ।

> वृन्दारक वृन्द रंगस्थली हिममय हिमालय से लेकर तुंग तरंग मंगुलित तोयनिधि प्रशस्त भारत सागर तट लौं, एवं नीलाचल से आरब्य उपसागरस्थ श्री द्वारिकापुरी तक ऐसी कौन तीर्थमयी पुण्यस्थली है कि जहां पुण्यश्लोका अहिल्याबाई की अखण्ड कीर्ति की दुन्दुभी निनादित न होती हो । दुर्गम दुरारोह हिमावृत गिरि गहन मध्यस्थित केदार पर्वतस्थ जनपद विहीन श्री बद्रिकाश्रम में अहिल्याबाई की धर्म्मशाला, अहिल्याबाई का अटल अन्नक्षत्र ,दक्षिणी सीमा में श्री रामेश्वर तीर्थ में अहिल्या बाई का कीर्तिकेतु,श्री द्वारकापुरी, श्री सुदामापुरी आदि स्थानों में अहिल्याबाई का कीर्तिस्तम्भ यों ही भारत के यावत तीर्थ स्थानों में कहां धर्म्मशाला, कहीं अन्नक्षत्र, कहीं मठ, कहीं मढ़ी, कहीं मन्दिर, कहीं शिवालय, कहीं देवालय, कहीं कुआं, कहीं बावली व घाट पान्थशाला आदि सुकृतमयी कीर्ति राशि निष्कलंक शशांक की विमल कौमुदी सी भारत में विकीर्ण हो रही है कि जिसके कारण भारत के अस्तित्व के साथ पुण्यश्लोका अहिल्याबाई का नाम अमरत्व पदवी को प्राप्त हो रहा है[१] ।

खत्री जी की भाषा के उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि इसकी सामग्री किसी संस्कृत रचना से ली गई है,जिसमें मूलभाषा के शब्दों को यथातथ्य ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महावीर प्रसाद द्विवेदी के पूर्व भाषा के प्रयोग सम्बन्धी विशेषताओं में यह भी एक मूल विशेषता है ।

बदरीनारायण चौधरी द्वारा सायास शुद्धि एवं प्रौढ़ता प्रदान की गई भाषा का नमूना उनकी नाट्य कृति `भारत सौभाग्य` में मिलता है, जो यहां उद्धृत करने योग्य है --

---

१ कार्तिकप्रसाद खत्री : `अहिल्याबाई का जीवन चरित्र`,पृ० १

~~उद्धृत करने योग्य है~~

> 'अतएव हे सज्जन समूह मैं आप लोगों के पूज्य चरणकमलों में यह निवेदन करता हूं कि यद्यपि जन स्थान मात्र की भूतपूर्व राजधानी प्रतिष्ठानपुर सिंहासनस्था राजेश्वरी संस्कृत देवी की सबसे कनिष्ठात्मजा चिरंजीविनी कुमारी नागरी जो कि अभी निपट बारी भोरी[१] है कैसे यह साहस कर सकी है कि आप सब विविध विशारद बहुज्ञ महानुभावों को प्रसन्न कर दे, किन्तु घर आये की आतिथ्य तो आवश्यक है, अतएव यह निश्चय कर कि सन्मार्थ सादरार्पित उसकी तोतली बातें भी आप मित्रों के कर्ण कहर को आवश्यक आनन्दायिनी होंगी मैं अभिनयारम्भ का साहस करता हूं ।'

द्विवेदी जी के पूर्व क्लिष्ट एवं दुरूह संस्कृत बहुला भाषा का प्रयोग रूढ़िगत एवं परम्परागत प्रवृत्ति का पोषणमात्र था । वस्तुत: भारतेन्दु-युग में द्वितीय कोटि की तत्सम बहुला खड़ीबोली का प्रयोग अधिकांश लेखकों द्वारा किया गया, क्योंकि हिन्दी के प्रचार के उद्देश्य से यह आवश्यक था कि भाषा शुद्ध होने के साथ ही बोधगम्य भी हो । अत: जिन लेखकों का क्लिष्ट भाषा के प्रयोग करने का स्वभाव बन गया था, उन्होंने भी अपनी भाषा में प्रचलित तत्सम शब्दों के साथ-साथ यथास्थान तद्भव शब्दों का समावेश करके उसे सरल बनाने का प्रयास किया । यह बात और है कि भाषा के इस रूप का व्यापक रूप से प्रयोग होते हुए भी इस पर तत्कालीन लेखकों के रुचि-वैचित्र्य, पूर्व शिक्षा-दीक्षा एवं स्थानीय संस्कारों का प्रभाव पर्याप्त रूप से पड़ा, जिसके कारण भारतेन्दु युगीन अधिकांश रचनाओं की भाषा ग्रामीणता, पण्डिताऊपन आदि से मुक्त नहीं हो सकी है । जैसे, भारतेन्दु तथा ठाकुर जगमोहन सिंह[२] की भाषा है तो तत्सम शब्दावली युक्त, किन्तु उसपर

---

१ क्योंकि लेखक ने संस्कृतनिष्ठता को सप्रयास अपनाया है, अत: कहीं-कहीं बोलचाल के शब्द स्वभावत: आ ही गए हैं ।

२ ठा० जगमोहन सिंह यद्यपि मध्यप्रदेश के निवासी थे, किन्तु बहुत दिनों तक काशीवास करने के कारण आपकी भाषा में यह परिवर्तन आ गया ।

पूर्वीपन का प्रभाव स्पष्ट रूप से है,यथा--

> 'साधु स्वभाव से ही परोपकारी होते हैं, विशेषकर के आप ऐसे जो हमारे से दीन गृहस्थों को घर बैठे दर्शन देते हैं। क्योंकि जो लोग गृहस्थ और कामकाजी हैं,वे स्वभाव ही से गृहस्थी के बन्धनों से ऐसे जकड़ जाते हैं कि साधु-संगम तो उनको सपने में भी दुर्लभ हो जाता है, न वे अपने प्रबन्धों से छुट्टी पावेंगे न कहीं जायेंगे।'[1] (पूर्वीपन के अन्य उदाहरण के लिए दे० रचनागत स्वरूप)।

> 'देवता से समागम कभी नहीं होता और होता है तो स्वप्न-मात्र फिर वैसे हम कैसे तेरे चरन सरोरुह की रज से मन मय मुकुर न साफ किया करें व्यास जी भी कहते कहते थक गए। बशिष्ट और नारद से पार न पाया। घनश्याम भी बड़े भारी घनचक्कर में आन गिरे। ऊधो की कौन कहे। सेवकों की गणना नहीं। केवल धीरज धराने वाले हैं। रामजी के भरोसे सब होता है। बस अब बहुत हुआ समर्पण ही करना है तो थोड़ा ही लिख-कर क्यों न किया। विनयमात्र यह से पवारा क्या[2]'।

इसी प्रकार पं० प्रतापनारायण की भाषा में पूर्वीपन के साथ-साथ पण्डिताऊपन का भी समावेश हुआ है,यथा--

> 'यह लेव' मन की लहर' तुम्हारे चरण कमल से संलग्न होकर कृतार्थ होती है। बहने न देना नहीं तो तुम्हारी अद्भुत लीला से कच्चे लोग भ्रम की भंवर में पड़ जायेंगे यह सन्देह न करना कि मन मानस के तो हम आप ही स्वामी हैं। लहर कैसी? हां यह लहर ऐसी कि गंगा जी को गंगाजल ही से तो अर्घ दिया

---

१ भार० : 'सत्य हरिश्चन्द्र',पृ०६

२ ठा० जगमोहन सिंह : 'श्यामालता , पृ०५

जाता है न । बस । `त्वदीयंवस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पितं`
इहा । इस पागलपन से लाभ । को छुछ कहो हां लहर को लाभ
यह कि `जल की शोभा कमल` हमको यह लाभ कि इसके कारण
अनेकानेक भाव भरित सुन्दर मुख का कुछ देर दरशन । तुम्हारी
तुम जानो हमें पागल तो बना ही चुके हो । नहीं तो तुमको
हानि लाभ से क्या । अपने लोगों को नाना तरंगें देखना ही
मात्र प्रयोजन है सो देखो । बहुत बातें व्यर्थ हैं[1] ।`

`(राजा के स्वीकार मुद्रा प्रदर्शनान्तर आगे बढ़ के ऊपर देख के)
क्यों जी वृद्ध शाकल्य भगवान क्या कर रहे हैं । तो अभी हमें न
जाना चाहिए (राजा के पास आकर) महाराज । तब तक
आप इस अशोक की छाया में बिराजिए हम जाते हैं । अवसर
देखके आपके समागम का समाचार देंगे[2] ।`

किन्तु मिश्र जी की भाषा सम्पूर्ण रचनाओं में ऐसी नहीं है । कहीं-कहीं पूर्वी प्रभाव से प्राय: वंचित है, किन्तु शैली में पण्डिताऊपन की झलक आ जाती है, जैसा उनकी `आर्य्य कीर्ति` नामक अनूदित कृति की भाषा से प्रकट होता है, यथा--

`जिस समय सिक्खों के सेनापति शेर सिंह का पराभव हुआ था
और सिंह सरदारों ने अंगरेज के सेनापति को तलवार देकर कहा
था कि -- अंग्रेजों के अत्याचार से व्यथित होने के कारण हम
लोग युद्ध में प्रवृत्त हुए थे और अपने देश की रक्षा के लिए यथा-
साध्य युद्ध किया भी हमने कभी बोर धर्म की अवमानना नहीं
की पर अब हमारी सेना मर कट चुक गई है और शास्त्र बेकाम
हो गए हैं ।`

---

१ प्रताप० मिश्र : `मन की लहर` - समर्पण

२ प्रताप० मिश्र : `संगीत शाकुन्तल`

तत्कालीन लेखकों, यथा-- बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, राधा कृष्णदास, आदि की कुछ रचनाओं की तत्सम-बहुला भाषा में अवश्य ही अन्य हिन्दी भाषाओं एवं बोलियों का प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता, उदाहरणार्थ--

'इस पहाड़ी का शिखर मानो सुवर्ण रंजित हो रहा था। ऐसा ज्ञात होता था कि नीचे की वन भूमि से शोभा सिमिट कर इसी शिखर पर पुंजित सी हो रही है। इतना सुन्दर वह नीचे से लगता था! यद्यपि जाड़े का अवसान था, तथापि अभी हवा में कुछ ठंडक आ चली थी[1]।'

'शाहजहां तथा अन्यान्य बादशाह भी सदैव हिन्दू राजाओं से हिन्दुओं के पराक्रम से, हिन्दुओं की महाभयंकर कराल काल रूप धारिणी कृपाण से अपने मन में भय और आशंका करते रहते थे, परन्तु उन सब में राठौर राजपूत का प्रभाव विशेष-रूप से आया हुआ था[2]।'

'यद्यपि वीरवर महाराणा प्रताप सिंह तथा राजनीति विशारद अकबर का चरित्र जैसा अंकित करना चाहिए वैसा करने की तो मुझे सामर्थ्य नहीं है, तथापि यदि मेरे इस नाटक के से उक्त भारतमुखोज्ज्वलकारी प्रातःस्मरणीय महानुभाव के वीरचरित्र का प्रचार इस आत्मविस्मृत देश में कुछ भी हो तथा सहृदय पाठकों को कुछ भी मनोरंजन हो सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा[3]।'

---

१ भट्ट : 'नूतन ब्रह्मचारी', पृ०४३

२ राधाचरण० : 'अमरसिंह राठौर', पृ०६

३ राधाकृष्ण० : 'निवेदन', पृ० १।

क (२) तद्भव तथा बोलचाल की शब्दावली युक्त भाषा-

ऐसी भाषा का प्रयोग भारतेन्दु-युग में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से तो किया ही गया, साथ ही लेखकों का निजी संस्कार एवं वातावरण भी कारणभूत था । जहां तक उद्देश्य का प्रश्न है, पहिले कहा जा चुका है कि आलोच्य-युग में हिन्दी-सेवा का अर्थ था-जनता के मध्य उसका अधिकाधिक प्रचार करना । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए भाषा के उस रूप की आवश्यकता थी,जो जनसाधारण के लिए बोधगम्य हो,अर्थात् जिसमें संस्कृत शब्दों अथवा पदों की ही अधिकता न होकर तद्भव एवं बोलियों के शब्दों का भी समावेश हो । भाषा के इस सरलीकरण में प्राय: रचनाकारों की भाषा पर निवास-क्षेत्र,समुदाय एवं परिवार में व्यवहृत बोलियों का, भाषा-प्रभाव पड़ा तथा जो लेखक कवि भी थे, उनकी खड़ीबोली तत्कालीन काव्य भाषा (ब्रज तथा अवधी) से भी अनुप्राणित हुई । उक्त खड़ीबोली तत्कालीन प्रमुख भाषासेवियों,यथा--भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, तोताराम वर्मा, लाला श्रीनिवासदास आदि के नाटकों, निबन्धों, कहानियों तथा भाषणादि में अधिकांश रूप में प्रयुक्त हुई है । उस समय के पत्र-पत्रिकाओं की रचनाओं में भी भाषा की सरलता का विशेष ध्यान रखा गया । विविध प्रभाव-प्रसूत उक्त भाषा के उदाहरणों के दो वर्ग किए जा सकते हैं --

(अ) जिसमें तद्भव शब्द पर्याप्त रूप में हैं ।

(आ) जो हिन्दी की विभिन्न बोलियों से प्रभावित है ।

उदाहरण (अ) शै० --(रोती हुई) हाय ! यह विपत का समुद्र कहां से उमड़ पड़ा ? अरे छलिया मुझे छलकर कहां भाग गया ? (देखकर) अरे ! आयुष की रेखा तो इतनी लम्बी है,फिर अभी से यह बज्र कहां से टूट पड़ा । अरे ऐसा सुन्दर मुंह,बड़ी २ आंख, लम्बी २ भुजा, चौड़ी छाती, गुलाब सा रंग! हाय, मरने के तुझमें कौन से लच्छन थे जो भगवान ने तुझे मार डाला[१]।

---

१ भार० : सत्यहरि०, पृ०७२-७३

बरसात का समय है । दुर्व्यसनी के धन समान मेघ आकाश में सिमिट सिमिट लोप होने लगे हैं --शरद् का आरम्भ हो गया है-- शीत अपना सामान धीरे २ इकट्ठा करने लगी-- कुआर का महीना है--उजाली रात है-- ग्यारह बजे का समय है--सन्नाटा छाया हुआ है,मानो प्रकृति देवी दिन भर की दौड़ धूप के उपरान्त थकी थकाई विश्राम के लिए छुट्टी लिया चाहती है-- चन्द्रमा सोलहों कला से पूर्ण होने में कुछ ऐसा ही नाममात्र का अन्तर रखता हुआ अपनी प्रेयसी निसा की मुखच्छवि पर निहाल मानो हंस सा रहा है[१] ।'

'जब बग्गी कम्पनी बाग में पहुंची तो सबेरे का सुहावना समय देखकर सबका जी हरा हो गया । उस समय की शीतल,मंद,सुगंधित हवा बहुत प्यारी लगती थी । वृक्षों पर हर तरह के पक्षी मीठे मीठे सुरों से गा गा रहे थे । नहर के पानी की धीरी धीर आवाज कान को बहुत अच्छी मालूम होती थी । पन्ने सी हरी घास की भूमि पर मोती सी ओस की बूंदें बिखर रही थीं । और तरह तरह की फुलवाड़ी[२] हरी मखमल में रंगरंग बूटों की तरह .... ।'

'बस बहन क्षमा करो, तुम्हारी परख मैंने देख ली ।तुम इसकी इतनी बड़ाई करती हो पर मुझे तो प्रेम मोहिनी

---

१ भट्ट० : 'सौ अजान एक सुजान',पृ०२

२ श्रीनिवास० : 'परीक्षा गुरु',पृ०४

के आगे ये कुछ भी नहीं जंचती । उसको दैव ने अनुपम बनाया है । उसके सुभाव की लायकी और चतुराई तो अलग रही, उसके मुख की ज्योति पल पल चन्द्रकला सी बढ़ती है । उसके शरीर के एक- एक गहने के तीन तीन, चार चार रूप दिखाई देते हैं ।`[1]

(आ) `हमको क्या ? पर हमारा पचड़ा तो छुड़ाओ । हाय मैं किससे कहती हूं । कोई सुनने वाला है । जंगल में मोर नाचा किसने देखा । नहीं, नहीं, वह सब देखता है, वा देखता होता तो अब तक न मेरी खबर लेता । पत्थर होता तो वह भी पसीजता ।नहीं, नहीं, मैंने प्यारे को दोष व्यर्थ दिया ।`[2]

`एक गड्ढे के निकट बाप्पा ने अपने सब संगियों को बैठाया`[3]।

`बाबुओं की हवेली के पिछवाड़े खिड़की सा एक छोटा दरवाज़ा जनाने मकान का था -- हीराचन्द के समय तो बीसों दास दासीभोरें ही से अपने २ टहल के काम में लग जाते थे पर वह तो अब किस्सा किहानी की बात हो गई-- पर अब भी मखनियां नाम की पुरानी चाकरनी जो हीराचन्द की स्त्री के बहुत मुंह लगी थी पुराना घर समझ अब तक टहल के काम में लगी रही ।`[4]

`कंगलटिर्रई का दम भरते[5] ।`

`एक दिन कपड़ा बेचने बाजार में गए वहां किसी साधु ने कपड़ा मांगा कबीर जी ने उसे दे दिया परन्तु खाली हाथ घर न गये । बाहर छिप

---

१ श्रीनिवास० : `रण० और प्रेम`,पृ०१-२

२ भार० : `चन्द्रा`,पृ० ४६

३ वही : `उदय`,पृ०१४

४ भट्ट : `सौ अजान एक सुजान`,पृ०११०

५ वही : `नूतन ब्रह्मचारी --निवेदन`,पृ०२

रहे कबीर के घर वाले चिन्ता में पड़ गये भगवान उनका दु:ख न सह सके तीन दिन बीते बनजारे का रूप धर बैलों पर सब प्रकार का अन्न लाद कर लाये और कबीर जी के घर डाल कर चले गये तिस पीछे लोग कबीर को ढूढ कर घर लाये । और आप भगवान ब्राह्मण का रूप धर कबीर जी के सन्मुख गये और कहा कि वन में क्यों दिन भर फिरता है-- कबीर के घर जा, वह रूपे और नाज सब को बांटता है[१] ।

इनके अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट की भाषा में अनेक स्थलों पर तथा भारतेन्दु की भाषा में कहीं-कहीं प्रयुक्त क्रिया के अधोलिखित रूप भी पूर्वी बोलियों के प्रभाव-सूचक ही हैं --

'तुम्हें गुड़ दिखाय ढेला मारेंगे, और बम्बई दिल्ली लाहौर ढोय के रख दें[२], भाई के सदा गबरूदास पाय, मिटाय, घबड़ाय लगाय, होय[३], आवता होगा[४]' आदि ।

----

१ तोता० : 'कबीर उपदेश सार', पृ०४-५।

तोताराम जी के इस उदाहरण में (—) चिह्न द्वारा वर्तनी एवं चिह्नादि सम्बन्धी अनियमितताओं की ओर संकेत किया गया है।

२ भट्ट : भट्ट० निब०

३ भार० : भा०म० दूषण

४ भट्ट : भट्ट निब० एवं हिन्दी प्रदीप ।

क. ३ विदेशी शब्दावली मिश्रित भाषा

(१) फ़ारसी शब्द-समूह युक्त --

भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने मुख्यत: तो विशुद्ध हिन्दी का ही पक्ष लिया, परन्तु वे सितारे हिन्दी हिन्दी की प्रक्रिया से भी मुक्त नहीं हो सके । वास्तविकता यह है कि उस समय खड़ीबोली हिन्दी की सहयोगिनी भाषा उर्दू का सामान्यत: प्रयोग होने के कारण हिन्दी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था । अत: जिस स्थल पर स्वाभाविक भाषा के प्रयोग की आवश्यकता थी, वहां पर फ़ारसी शब्दों के अस्तित्व को भी ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया । स्वयं भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र ने भी ऐसा ही किया । तत्कालीन रचनाओं में गद्य की अपेक्षा पद्य पर फ़ारसी शैली का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगत होता है, यथा--

सिवा तेरे सूरत के देखना और तो कुछ भाता ही नहीं ।
मेरे प्यारे । चैन मुझको तो तुझ बिन आता ही नहीं।।
तेरे दर्वाजे की तरफ़ दिन भर में सौ दफ़ा जाता हूं ।
अपने घर में जो दम भर बैठा तो घबराता हूं ।।
काम जो कुछ दुनिया के आ पड़ते हैं तो उकताता हूं ।
ध्यान में तेरे हमेशा अपना पल बिताता हूं ।।
किसी तरह दिल का ये मेरे दिवाना पन जाता ही नहीं[१] ।

यहां तक कि भारतेन्दु की पद्य- रचना `फूलों का गुच्छा` की शैली तो फ़ारसी की मसनवी शैली है ही भाषा में भी इस सीमा तक फ़ारसी-पन है कि उसे हिन्दी लिपि में उर्दू की रचना कहना ही उचित होगा, जैसे --

जिनको आशिक़ सुनते थे उनके भी जाकर देखें ढंग ।
माशूक़ों के, कहीं कुछ नज़र पड़े हर तरह के रंग ।।
वही बंधी बातें हैं वही सुहबत है वही हैं उनके संग ।
गरज़ कि इनसे मेरी जां आई है अब बहुत तंग ।।

\+ + +

---

१ प्रतापप० मिश्र : `मन की लहर`

कोई मानकर सवाब तेरा इश्क जहां में करते हैं ।
कोई गुन से खौफ दोजख का करके डरते हैं ।।[१]

इसी प्रकार उनका `खुशी` नामक निबन्ध भी हिन्दी लिपि में उर्दू भाषा की रचना ही कहा जा सकता है, उदाहरणार्थ --

`अब हम इस बात पर गौर किया चाहते हैं कि वह असली खुशी हिन्दुओं को क्यों नहीं हासिल होती क्योंकि जब हम ऐसी खुशी को अपनी पूरी बुलन्दी की हद पर हर सूरत से कामिल देखना चाहते हैं तो हमेशा गैर कौमों में पाते हैं इसको जाहिर वजूहात जो मालूम होती है उनमें सबसे पहिला सबब हिन्दुओं के दीनी व दुनियाबी तरीकों का आपस में मिल जाना और[२] .... ।

किन्तु उन्होंने इस शैली को सामान्यरूप से अंगीकार नहीं किया । भारतेन्दु की अन्य रचनाओं की भाषा के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि उक्त अरबी-फारसी युक्त खड़ीबोली का प्रयोग आपने आरम्भिक कुछ रचनाओं में `सितारे हिन्दी भाषा` के प्रभाव में आकर ही किया होगा । सम्भवत: ऐसी कविताएं अथवा निबन्ध इस ध्येय से भी लिखे गए हों कि उर्दू जानने वालों की समझ में सुगता से आ जाये । जहां तक अन्य रचनाओं अथवा स्थलों में फारसी शब्दों के समावेश की बात है, भारतेन्दु एवं उनके अनुयायियों ने प्राय: नाटकों में आए हुए मुसलमान पात्रों के उल्लेख अथवा उनके सम्वादों में भी इस प्रकार की खड़ीबोली का प्रयोग खुलकर किया है । जैसे भारतेन्दु कृत `नीलदेवी` नाटक में एक ओर हिन्दू पात्र संस्कृतनिष्ठ खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं तो दूसरी ओर मुसलमान पात्रों द्वारा अरबी-फारसी शब्द-मिश्रित भाषा का ही प्रयोग करवाया गया है, उदाहरण--

----

१ भार० : `फूल का गुच्छा`

२ भार० : खुशी , पृ०९०

'कभी उस बेईमान के सामने लड़कर फ़तह नहीं मिलनी है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको सोते हुए गिरिफ़्तार कर लाना। और अगर ख़ुदा को इस्लाम की रौशनी का जिल्वा हिन्दोस्तान ज़ुल्मतनिशान में दिखलाना मंज़ूर है तो बेशक मेरी मुराद बर आएगी।' (पृ०८)

इसी प्रकार पं० राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास आदि यद्यपि शुद्ध हिन्दी के पक्ष में थे, फिर भी उनके नाटकों में पत्रानुकूल यथा-स्थान अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ ही है, जैसे, राधाचरणगोस्वामी कृत नाटक 'अमर सिंह राठौर' में --

'पांचवां ओहदेदार -- इसमें कोई शक नहीं है, हकीकत में वह ऐसा ही है जिसने थोड़ी सी उम्र में ही तमाम दुनियां को यह दिखा दिया है कि बहादुरी इसे कहते हैं, उसकी वह तलवार है कि तमाम सामन्त उसकी तलवार को मानते हैं। अमर सिंह वास्तव में वही काला जिसके सामने चिराग़ नहीं जलता है, जिस तरफ को निगाह भी उठा देगा तो सब योद्धा और सर्दारों का चिराग गुल हो जावेगा। (पृ०८)

राधाकृष्णदास रचित 'महाराणा प्रताप' में--

मैं अपने गुनाहों के लिए सख़्त नादिम, मेरा क़ुसूर मुआफ़ करो, मेरी जां बख़्शी करो, मैं ख़ुदा की क़सम खाकर कहता हूं, मुझे मेरी उम्रे नातजुर्बाकार और दुनियावी यारों ने धोखा दिया, मैं अब तक इस पाक दामनी, इस बहादुरी, इस नेक चलनी को कभी ख़्वाब में भी न सोच सका था। (पृ०३८)

बदरीनारायण चौधरी कृत 'भारत सौभाग्य' में --

चूंकि अंग्रेजी सल्तनत के औज का ज़मान: है और इन्तेज़ामात अंग्रेजी बहुत पुख़्त: है, लिहाज़ा अब अपनी तरफ से भी ठीक उन्हीं के मुताबिक बन्दोबस्त करना मुनासिब है, जिस तौर पर कि हर ख़ुद-मुख़्तार रियासतों में मय अफ़वाह बक़दरेज़रूरत के सरकारी रेजिडेण्ट रहते हैं। (पृ०७४)

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के पूर्व अरबी-फ़ारसी शब्दयुक्त खड़ीबोली का सबसे अधिक प्रयोग तत्कालीन कहानीकारों, यथा-- लाला श्रीनिवासदास, देवकीनन्दन खत्री आदि की कहानी-कृतियों में हुआ है । इतना अवश्य है कि इन रचनाओं में ठेठ अथवा कठिन फ़ारसी के शब्दों की इतनी अधिकता नहीं है, जिससे भाषा का हिन्दीपन जाता रहे । जैसे --

० सुल० रणधीर सिंह ख्वाबगाह में तशरीफ ले गए अब मैं अपनी माशूक दिलरुबा के पास जाता हूं । (कुछ देर ठैर कर) आज तो हमारे खुदावन्द न्यामत शिकारगाह से एक नया पन्छी लाए थे, देखें उसका क्या ढंग रहे । चौबे जी तो सवा पा घी के सौंधे में निहाल हैं, लेकिन हमारे दिल की ख्वाहिश पूरी नहीं हुई । हमारी बिरादरी के लोग हजारों फ़ायदा उठाते हैं मगर हमारी बदकिस्मती से हमको ऐसा मालिक मिला है, जिससे सौदे सुलुक में दस्तूरी तक हाथ नहीं लगती[१] ।

० इस बखत में मिस्टर ब्राइटर अपने अस्बाब की खरीदारी के लिए लाला मदनमोहन को ललचाता है परन्तु अपने रुपै के वास्तै मीठा तकाज़ा भी करता है, चुन्नीलाल और शिम्भु दयाल के कारण उसको मदन मोहन के लेन देन में बहुत कुछ फ़ायदा हुआ परन्तु उसके पचास हज़ार[२] रुपै इस्समय मदन-मोहन की तरफ़ बाकी हैं ..... ।

० ऐसी ऐसी रपटों ने पुलिस के रोजनामचे को रोज व रोज भरना शुरू किया । पुलिस कमिश्नर साहब बड़े घबड़ाए कि ज्यों ज्यों कोशिश करता हूं त्यों त्यों रोज व रोज लोगों की शिकायत बढ़ती ही जाती है । कहीं कहीं सेंध भी

----

१ लाला श्रीनिवास० : 'रणधीर सिंह और प्रेम मो०,पृ०८८-८९

२ लाला श्रीनिवास० : 'परीक्षागुरु'

लगती और कहीं कहीं चीजें जादू की करामातों अंगूठी की नाईं गायब हो जातीं । पुलिस कहीं कहीं घर के नौकरों पर शुबहा करती और पकड़ कर उनसे कबुलवाने की कोशिश करती । पुलिस को न मालूम क्या लप्त है कि घर में चोरी हुई कि पहले घर के लोगों या नौकरों पर शुबहा करती ... ।[1]

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण की भाषा तो नायक के मुंशी द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण अधिक फ़ारसी के शब्दों से पूर्ण है (क्योंकि तत्कालीन कायस्थों की बोलचाल की भाषा प्राय: उर्दू ही थी) किन्तु लाला श्रीनिवास-दास के ही दूसरे उदाहरण तथा देवकीनन्दन जी की रचना के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि इन लेखकों ने भाषा को बोलचाल के रूप में सब के लिए बोधगम्य होने की दृष्टि से ही किया है ।

जहां तक निबन्ध-रचना की बात है पं०बालकृष्ण भट्ट के कतिपय निबन्ध एवं मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ के अधिकांश निबन्ध ऐसी ही भाषा में लिखे गए । पं० बालकृष्ण भट्ट मूलत: तो विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग करने वाले लेखकों में ही थे,किन्तु उनके कुछ निबन्धों में फ़ारसी एवं अंग्रेजी शब्दों का पर्याप्त समावेश है । फारसी शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उनके निबन्ध `मन की दृढ़ता` का कुछ अंश उद्धृत करने योग्य है, यथा--

० आदमी की पसन्द, तबियत, मिजाज, ख्यालात, रूचि और अरुचि इसमें छोटी-से-छोटी या बड़ी-से-बड़ी बातों पर इत्तिफाक का उतना ही असर है,जितना इत्तिफाक से पेड़ में कानी-खोतरी पत्तियां या फूल-फल लग सकते हैं । इन्हीं बातों पर सोचने से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि कैसे मानसिक दृढ़ता रहने से किसी के ख्यालात में वह जोर आता है जिसे देख या सुनकर लोग चमत्कृत होते हैं ।[2]

---

१ देवकीनन्दन : `नौलखाहार`,पृ०३

२ भट्ट० : हि०प्र०,जिल्द१०,सं०४- मन की दृढ़ता,पृ०५

किन्तु देवीप्रसाद मुंसिफ तो उर्दू-हिन्दी दोनों ही भाषाओं में लिखते थे, अत: उनकी उन रचनाओं में भी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें मुसलमानों का उल्लेख है अथवा जो मुसलमानी शासन, राजनीति, धर्म एवं संस्कृति आदि से सम्बन्धित हो। किन्तु प्राय: फ़ारसी शब्द संस्कृत के तत्सम शब्दों की तुलना में न्यूनता से ही प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं तो फ़ारसी शब्द का संस्कृत शब्द द्वारा स्पष्टीकरण भी किया है, यथा--

> "हमने मुसलमानों की सैकड़ों तवारीखें देखी है, जिनकी बराबरी में हम हिन्दुओं की एक तवारीख भी नहीं ला सकते जो तवारीख कही जा सके .....ऐसी कहानियां मुसलमानों में भी बहुत है पर मुसल्मान उनको तवारीख करके नहीं मानते तवारीख तो वही गिनी जाती है कि जिसमें सिलसिलेवार (शृंखलाबद्ध) इतिहास दिन मिती और साल सम्वत् की साखी से लिखा हो और जिसमें कोई अमानुषी बात न हो....[१]।"

देवीप्रसाद जी की खड़ीबोली को देखने से यह पता चलता है कि उन्होंने अपनी हिन्दी रचनाओं में अरबी फ़ारसी के उन्हीं शब्दों को लिया है, जो विषयवस्तु की दृष्टि से आवश्यक हों।

(२) अंग्रेजी शब्द-समूह-युक्त

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के भाषा-सेवाकार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व से ही अरबी-फ़ारसी युक्त खड़ीबोली के प्रयोग के समान अंग्रेजों के संसर्ग एवं अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार के परिणामस्वरूप अंग्रेजी शब्द-मिश्रित खड़ीबोली का प्रयोग भी होने लगा था। साहित्य-रचना में ऐसी भाषा के प्रयोगकर्ताओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० बालकृष्ण भट्ट प्रमुख थे। इन्होंने इस कोटि की खड़ीबोली का

----

१ 'सिन्ध का इतिहास', पृ०८-२

प्रयोग एक तो, जनसाधारण के लिए व्यवहृत भाषा में किया और दूसरा, हिन्दी तथा अंग्रेजी जानने वाले शिक्षितजनों के अध्ययनार्थ किया । जहां जन-साधारण के लिए प्रयुक्त किया, वहां अंग्रेजी के प्रति प्रचलित शब्दों को ही लिया, जैसे --

० हमारे हिन्दुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी हैं । यद्यपि फर्स्टक्लास, सेकेण्ड क्लास गाड़ी बहुत अच्छी और बड़े बड़े महसूलों की इस ट्रेन में लगी है पर बिना इंजन के ये सब नहीं चल सकतीं वैसे ही हिन्दुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते[1] ।

शिक्षितों के अध्ययनार्थ जिस भाषा का प्रयोग किया गया, उसमें अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग की दो शैलियां हैं । एक में अंग्रेजी शब्द का प्रयोग करके उस शब्द की व्याख्या हिन्दी शब्द के द्वारा कर दी गयी है, यथा --

० और नेशनल एन्थेम अर्थात् (गाड सेव दि क्वीन -- ईश्वर महारानी को चिरंजीव रखे) का बाजा बजने लगा[2] ।

० ऐसे ऐसे विस्मयजनक काम मनुष्य के द्वारा सम्पादित किए गए हैं कि ~~आर्ट~~ Art (मनुष्य बुद्धि कौशल) ने ~~नेचर~~ Nature (प्राकृतिक पदार्थों को) जीत लिया है[3] ।

० परन्तु उनमें instinct पशुबुद्धि के सिवा reason विवेकबुद्धि बिल्कुल नहीं है[4] ।

० अर्थात् जो ~~नेचुरल गिफ्ट~~ Natural gift ईश्वर की देन से नहीं आई, उसे भी ~~कल्चर~~ Culture अभ्यास के द्वारा बढ़ाना[5] ।

१	भार०	: H.e.I.&.R. पृ० १
२	वही	: दि० द० द०, पृ० ६
३	भट्ट	: हि० प्र०, जि० २, अंक ६
४	वही	: वही, जि० ३० अं० ४
५	वही	: वही, जि० ३० अं० ४

दूसरी शैली में हिन्दी शब्दों का स्पष्टीकरण अंग्रेजी के शब्दों के द्वारा किया गया है, जैसे --

'० और विचार Policy प्रकट हो जायेगी[1] ।

० प्राचीन विद्या (एंटीक्वेटी) से सम्बन्ध रखता है[2] ।

० किसी चीज को देखने सुनने छूने चखने व सूंघने से जो एक प्रकार का ज्ञान होता है उस बोध (फीलिंग और सेन्सेशन) कहते हैं, परन्तु यथार्थ में केवल बोधसे ज्ञान नहीं होता प्रकृतज्ञान (परसेप्शन)[3] बोध और साधारण ज्ञान दोनों मिला करके होता है ।

भारतेन्दु की अपेक्षा बालकृष्ण भट्ट की रचनाओं (विशेषत: निबन्धों) में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है । इस प्रयोग में उन्होंने प्रथम प्रकार की शैली ही अधिक अपनाई है, साथ ही अंग्रेजी शब्दों की शुद्धता की अक्षुण्णता पर भी ध्यान दिया है । हिन्दी अथवा अंग्रेजी के शब्दों के व्याख्यार्थ अन्य शब्दों को कोष्ठक में प्रस्तुत करने के कारण भट्ट को हिन्दी लेखों में कोष्टक प्रयोग का आविर्भावक माना गया है[4] । भट्ट जी के निबन्ध प्राय: उद्धरण-बहुल हैं, जिनमें अंग्रेजी के पूरे-पूरे वाक्य अथवा वाक्य-समूह का प्रयोग उद्धरण रूप में किया गया है, किन्तु वहां भी आपने प्रयुक्त उद्धरण की व्याख्या हिन्दी में कर दी है, यथा --

'किसी अंग्रेजी के विद्वान् का कथन है -- A picture in the room is the picture of the mind of the man who hangs it.

अर्थात् कमरे में लटकी हुई तस्वीर लटकाने वाले के मन की तस्वीर है[5] ।'

---

१ भार० : पुं०सं० २

२ वही : 'रा० का स०,पृ०१

३ भट्ट : निब० , पृ०१३

४ दे० 'भट्ट निबन्धावली' -- वक्तव्य (सम्पादक),पृ०५

५ भट्ट : 'कवि और चितेरे की डाड़ा मेड़ी' ।

भारतेन्दु एवं भट्ट के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी अपनी खड़ीबोली हिन्दी में यत्र-तत्र अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया है ।

ख. रचनात्मक एवं व्याकरणिक स्वरूप

द्विवेदी पूर्व साहित्यिक खड़ीबोली में शब्द-प्रयोग सम्बन्धी अनेकरूपता के साथ ही रचनात्मक तथा व्याकरणिक अनियमितताएं अधिक हैं, जैसा कि कहा जा चुका है, भारतेन्दु युगीन लेखकों का मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक रचनाएं करके हिन्दी भाषा का प्रचार एवं प्रसार करना था, अत: वे भाषा की व्याकरणिक शुद्धता के प्रति सतर्क नहीं रह पाये थे । दूसरे, जब कोई भाषा विकास की ओर अग्रसर होती है तो वह अपने सम्पर्कीय अन्य भाषाओं के प्रभाव से भी अनुप्राणित होती रहती है । भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली हिन्दी की भी यही स्थिति थी । उक्त दोनों कारणों की उपस्थिति में वह वर्ण-विन्यास, पद-योजना, शब्द-रूप, वाक्य विधान आदि की अनियमितताओं से मुक्त नहीं हो पाई । यही कारण है कि भारतेन्दु-युग में भारतेन्दु सहित अनेक भाषा सेवियों द्वारा हिन्दी-सेवा-कार्य में प्रवृत्त होने पर भी खड़ीबोली हिन्दी में किसी निश्चित आदर्श की स्थापना नहीं हो सकी । स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में अनेक प्रकार की विविधताएं पाई जाती हैं । वस्तुत: द्विवेदी युगीन हिन्दी के विकास की पूर्वपीठिका के रूप में भारतेन्दु युगीन सामान्य अथवा नियमित प्रयोगों की अपेक्षा उन विशिष्ट अथवा अनियमित प्रयोगों का उल्लेख अपेक्षित है, जिनका सुधार द्विवेदी-युग ने अपने कार्य-साधन का हेतु बनाया । इस उद्देश्य से यहां अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत तत्कालीन कुछ दोषपूर्ण प्रयोग ही दिए जा रहे हैं --

ख. १. शब्द निर्माण

(१) वर्ण-विन्यास -- द्विवेदी पूर्व खड़ी बोली हिन्दी में वर्ण-विन्यास अथवा वर्तनी सम्बन्धी अनियमितताएं प्राय: पाई जाती हैं । इन विविधताओं का कारण एक ओर प्राचीनता के जाल से मुक्त न हो पाना तथा दूसरी ओर नवीन प्रयोगों की

बहुविधता अथवा अनिश्चितता ही हो सकती है । इसके अतिरिक्त शब्दों का ग्रामीण उच्चारण, बंगला तथा हिन्दी की बोलियों का प्रभाव तथा लेखन की शीघ्रता अथवा अति सतर्कता भी उक्त अनियमितताओं के लिए कारणीभूत हो सकती हैं । अधोलिखित उदाहरण इसके प्रमाण हैं:--

(अ) स्वर संयोजन --

सामान्यरूप से स्वरों का प्रयोग नियमानुरूप होते हुए भी कई स्थलों पर दोषपूर्ण प्रयोग भी दृष्टिगत हैं,[1] यथा --

(I) ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ स्वर, यथा-- खींच(खिंच), वायू (वायु), चूके (चुके), शीक्षा (शिक्षा), की (कि), जाती (जाति), बाली (बालि), राशी, वायू (वायु), विधी (विधि), मूर्ती (मुर्ति), साधू[2] (साधु), शक्ती (शक्ति) आदि[+] ।

(II) दीर्घ स्वर का ह्रस्वीकरण, यथा -- उपर(ऊपर), जिवन(जीवन), सरिखे(सरीखे), फिट(फीट), घुमता(घूमता), छुट छुट(छूट छूट), इसकि (इसकी) सम्बन्धि (सम्बन्धी) आदि[+] ।

(III) स्वरलोप -- तत्कालीन।अ। स्वरलुप्त शब्दों के वर्ण विधान में कुछ तो उर्दू शैली कारणीभूत है तथा कुछ उच्चारण की शीघ्रता अथवा बोलियों का प्रभाव । ऐसे स्वरलुप्त शब्दों की दो कोटियां हैं--

---

१ कुछ दोषपूर्ण शब्दों के सामने कोष्ठक में उनके शुद्धरूप भी दिए गए हैं ।

२ `साधु` तथा `साधू` शब्द के प्रयोग में प्राय: द्विविधता पाई जाती है ।भारतेन्दु की कृतियों में दोनों रूप मिलते ही हैं, प्रतापनारायणमिश्र की खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से प्रकाशित रचना `आर्यकीर्ति` में तथा तोताराम वर्मा की हस्तलिखित रचना `कबीर उपदेश सार` में भी दोनों रूप साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं ।

+ उक्त प्रकार के प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं विशेषत: निबंधों में अधिक मिले हैं । जो रचनाएं खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से प्रकाशित हुई हैं, उनमें ये अशुद्धियाँ अधिक हैं ।अत: ऐसी त्रुटियों में मुद्रकों की अनभिज्ञता भी कारणीभूत हो सकती है । कुछ अशुद्धियां जो पाण्डुलिपियों में मिलती हैं, वे लेखन संबंधी असावधानी अथवा उच्चारगत अभ्यास के कारण भी हो सकती है । वास्तव में ऐसे प्रयोग पूर्वी बोलियों के ही प्रभावजनित हैं । फिर भी कारण कुछ भी हो, किन्तु इतना अवश्य है कि तत्कालीन इस प्रकार की अशुद्धियों के प्रति न तो लेखकगण ही अधिक सतर्क थे न मुद्रकगण ।

एक वह कोटि है, जिसमें ध्वनि अथवा उच्चारण के अनुकूल लोप हुआ है, यथा --

संज्ञा -- उदाहर्णों, दर्बार, दर्वाजे, नर्क, सर्कार, स्मर्णार्थ आदि।
सर्वनाम-- इस्को, उस्से, उस्का, इन्के, उस्ने, उस्को, इस्का, उस्को, उस्में, उन्के आदि +।
क्रिया -- कर्ता (करता), जोत्ते (जोतते), बस्ते (बस्ते), मान्ता (मानता), सक्ता, सक्तो, सुन्ते, सुन्ने आदि +। [1]

दूसरी वह कोटि है, जिसके अन्तर्गत ध्वनि प्रतिकूल स्वर लुप्त शब्द आते हैं, जैसे --

प्रकर्ण, स्मर्ण, तर्स, वज्र आदि[2]।

इस प्रकार के प्रयोग यद्यपि अधिक नहीं हैं, किन्तु इनसे तत्कालीन प्रयोग की अनियमितता तो प्रकट होती ही है।

बोलियों के प्रभाव स्वरूप कुछ ।आ।, ।इ।, ।उ।, ।ए। आदि स्वरों के लोप के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं, यथा--

तलाव, विस्तर (विस्तार), गुनह, जात, भांत, रनवास, राम, संक्रान्त, सकोड़ता, तयार आदि[3]।

(iv) स्वर का ह्रस्वीकरण -- पश्चिमी बोलियों के प्रभाव स्वरूप, यथा--
में (मैं), सोगंद (सौगंद)[4]।

+ सर्वनामों तथा क्रियाओं में ऐसे प्रयोगों की अधिकता है।

१ भारतेन्दु, बाल०भट्ट, प्रताप० मिश्र, राधाचरण०, बदरीना०, लाला श्रीनिवास, आदि की कृतियों से गृहीत है।

२ ऐसे प्रयोग भारतेन्दु की ही कुछ कृतियों में यत्र तत्र मिलते हैं। अन्य लेखकों की रचनाओं में लगभग नहीं के समान है।

३ भारतेन्दु की रचनाओं से उद्धृत।

४ तोताराम वर्मा--विवाह विडम्बना (प्रयोग-- में हो जाती हूं, तुम्हें मेरी सोगंद)।

(v) स्वर वृद्धि -- तत्कालीन साहित्यिक खड़ीबोली के शब्दों में ।ऐ। तथा ।औ। स्वरों की वृद्धि ब्रजभाषादि बोलियों के प्रभाव की सूचिका है, उदाहरणार्थ --

संज्ञा -- आंखै, कबै, किरणें, चीजैं, दुकानैं, पुस्तकैं, बातैं, रातैं, सैना आदि ।

सर्वनाम -- हमें, तुम्हैं, उसै, उन्हैं, जिसै आदि ।

क्रिया -- आवै, आवैगा, आवैंगे, करै, करैं, करैंगे, कहै, कहैं, कहैंगे, कहलावैगा, छूटैगा, रक्खोगे, चलैं, चाहैं, चलैगा, चलावैं, जानैं, जानैंगे, देखैं, पिटै, पडैगो, पटै आदि ।

अव्यय -- क्यौं, क्यौंकि, तौ, औार (ओर), आदि सै, तरफ सै, कठिनाई सै, पुस्तक मैं, संसार मैं, विषय मैं, दुरोसै आदि। [1]

(vi) स्वर परिवर्तन -- पूर्वी बोलियों से प्रभावित अ आ, इ ए, उ ओ में परिवर्तित स्वरों से निर्मित शब्दों का प्रयोग भी भारतेन्दु-युगीन भाषा की विशिष्ट देन है, यथा--

तावा(तवा), नेव (नीव), छोड़ाता (छुड़ाता), घोड़दौड़ (घुड़दौड़), एतना (इतना), एतनी (इतनी), जेतनी (जितना), पोंक (पूंक) आदि ।

किन्तु उक्त प्रयोग पूर्वी क्षेत्र के लेखकों--भारतेन्दु एवं भट्ट, मालवीय जी आदि की ही रचनाओं में मिलते हैं । पश्चिमी बोलियों के प्रभाव-स्वरूप `बिठाते हैं` प्रयोग `राधाचरण गोस्वामी की रचनाओं में मिलता है ।

---

१ आर०,भट्ट, प्रतापनारायण०मिश्र, राधाचरण०, बदरीना० चौधरी, जगमो०सिंह, लाला-श्रीनिवास०, मदनमो०मालवीय, तोताराम वर्मा आदि की कृतियों में प्रयुक्त । इस प्रकार के प्रयोग भारतेन्दु की रचनाओं में अधिक हैं । लाला श्रीनिवास-दास ने खड़ीबोली `बोली` के प्रभाव में विभक्तियों में भी स्वरवृद्धि कर दी है, यथा-- उपर्युक्त उदाहृत सै (से), मैं (में) परसर्ग । भट्ट की रचनाओं में ऐसी वर्तनी कहीं-कहीं ही देखने को मिलती है ।

कुछ अन्य स्वर-परिवर्तित शब्द, यथा-- फेर (फिर), `बेर` (बार) आदि का तत्कालीन लेखकों द्वारा प्रयोग भी बोलियों के प्रभाव का ही परिचायक है। `बेर` का प्रयोग तो भारतेन्दु की कुछ कृतियों में अनेक बार हुआ है।

(आ) व्यंजन संयोजन --

द्विवेदी पूर्व की खड़ीबोली हिन्दी में हिन्दी की सम्पूर्ण ध्वनियों के अतिरिक्त फ़ारसी की ध्वनियों, यथा-- क़, ख़, ग़, ज़, फ़ का प्रयोग भी हिन्दी में शुद्ध रूप में (बिना नुक्ता हटाए हुए) मिलता है, यथा--

क़ैद, तुग़लक़, दख़ल, वज़ीर, फ़कीर, फ़रिन, मैगज़ीन, दरवाज़ा, ज़ियाफ़त, [1] ख़ूँरेज़ी, ग़ारत, ज़मीन, क़त्लेआम, कागज़, ख़राब आदि।

किन्तु सामान्य (बोलचाल) की भाषा में लिखे गए कुछ निबन्धों में ध्वनि के नीचे की बिन्दी हट जाने से कुछ रचनाओं में शब्दों के तद्भवीकरण के उदाहरण भी मिलते हैं, यथा--

खारिज, जिले, खिताब, मंजूर, खानदान, बुजुर्गियत, मुलाकात आदि[2]। स्वर-संयोजन सम्बन्धी विशिष्टताओं की भांति ही तत्कालीन कुछ व्यंजन सम्बन्धी विशिष्टताएं भी उदाहृतव्य हैं, यथा--

(i) व्यंजन लोप -- उच्चारण की सुविधा, शीघ्रतावश अथवा ग्रामीणता के समावेश से निर्मित व्यंजन-लुप्त शब्द भी द्विवेदी युग-पूर्व भाषा में अपेक्षाकृत अधिक देखने में मिलते हैं, यथा--

।य। लोप यथा-- नित, मृतु, मुख(मुख्य), राज[3] सामर्थ,[4] रूपे आदि। ऐसे शब्द भारतेन्दु की रचनाओं में अधिक हैं।

----

१ भार०भट्ट, बदरीना०, चौधरी, राधाचरण० आदि की कृतियों से।
२ भार०भट्ट आदि की कृतियों से।
३ भारतेन्दु की कृतियों में प्रयुक्त।
४ भारतेन्दु एवं लाला श्रीनिवास० की कृतियों में प्रयुक्त।

।र। लोप -- `और` समुच्चय बोधक अव्यय का संकुचित रूप `औ` भी[1] तत्कालीन कुछ रचनाओं में प्रयुक्त मिलता है । यह प्रयोग भी उर्दू की ही देन है और कविताओं में मात्राओं को निश्चितता के हेतु प्राय: प्रयोग में आया है । `औ` के प्रयोग की प्रथा द्विवेदी-युगीन कतिपय कवियों की रचनाओं में भी वर्तमान रही है ।

।ह। लोप -- प्राय: `ई` कारान्त शब्दों में अन्तिम व्यंजन ।ह। का लोप करके केवल `ई` कार से ही निर्मित शब्दों का प्रयोग उच्चारणगत स्वाभाविकता के कारण ही हुआ है, यथा-- मुझको[2], हमी भिड़ी तो जाता[3] था आपी (आपही) ने कराया[4], रही नहीं जाता[5], ० कुछ हुई नहीं[6], मनी (मन ही) मन में[7], सबी कुछ तो है[8] ।

इनके अतिरिक्त अन्य ।ह। ध्वनि लुप्त शब्दों में फारसी शैली में लिखी गई भारतेन्दु की कविता `फूलों का गुच्छा` में प्रयुक्त सर्वनाम भी उल्लेखनीय है, यथा-- `य ध्यान कैसे आया`, `य माजरा पाया`, `मजा व पाया` आदि ।

----

१ बदरीना० चौधरी (भा० सौ०) ।

२ भार०-- वि०सु०, विषस्य० ।

३ लाला श्रीनिवास०--`परीक्षागुरु` ।

४ बदरीना० चौधरी-- भारत सौ० ।

५ भट्ट निब०, द्वितीय खण्ड ।

६ निब० पहला भाग ।

७ बदरीना० चौधरी--`प्रेमघन सर्वस्व` ।

८ प्रेमघन सर्वस्व ।

(ii) <u>व्यंजन परिवर्तन</u>

।ब। > ।व।--लेखन में यह परिवर्तन अतिशीघ्रता एवं त्रुटिपूर्ण अभ्यास के कारण होता है । भारतेन्दु पूर्व हिन्दी लेखन में तो यह त्रुटि सामान्य-रूप से पाई ही जाती है । इस युग (भारतेन्दु युग) में भी यत्र-तत्र यह दोष आ ही गया है, जैसे --

वड़ी, वेटी, वैर, व्राह्मण, वुद्धि, विजली, वार |
वैठे, ववैगा, विलम्व, अव, ववेड़ा, ववीर, वाजार | [1]
आदि । |

।व। > ।ब। -- भारतेन्दुकालीन भाषा में हिन्दी बोलियों एवं बंगला उच्चारण[2] के प्रभाव स्वरूप संस्कृत शब्दों के 'व' का 'ब' में परिवर्तित रूप अधिक मिलता है, यथा--

बंशावली, बर, बरताव, बज्राघात, बर्णन, बन, बस्त्र, बिचार, |
बिचित्र, बिजय, बिज्ञान, बिद्या, बीर, बैद, बैष्णव, |
ब्याकरण, किंबा, ~~शिव~~ बिश्वास, बेद, बचनों, बनों, बिरहिनी | [3]
सुबिधा, बिराजिए, अपूर्ब, पाठकबर्ग, बीरत्व, बर्ताव आदि । |

---

१ भारतेन्दु एवं तोताराम वर्मा की कृतियों से गृहीत । भारतेन्दु की कृतियों में तो ऐसे प्रयोग यत्र-तत्र ही मिलते हैं, किन्तु तोताराम की तो मानो यही शैली ही बन गई थी । उन्होंने 'व' के स्थान पर 'ब' भले ही लिख दिया है, किन्तु 'ब' के स्थान पर प्राय: 'व' ही प्रयोग किया है (दे० 'कवीर उपदेश सार' पाण्डुलिपि। अन्य ग्रन्थ 'विवाह विडम्बना' में 'ब'-'व' दोनों रूप मिलते हैं, क्योंकि मुद्रण के समय इसमें सुधार कर दिया गया है)।

२ पूर्वी क्षेत्रों में मुद्रित पुस्तकों में ये परिवर्तित रूप प्राय: पाये जाते हैं ।

३ बा०भट्ट एवं प्रतापना०मिश्र की कृतियों से । भारतेन्दु की भाषा में उक्त ध्वनि की वर्तमानता अधिक है । भट्ट एव प्रतापनारायण मिश्र की भाषा में आगे चलकर परिष्कार की प्रवृत्ति अधिक दिखायी देती है । पूर्वी क्षेत्र में मुद्रित रचनाओं की भाषा में यह परिवर्तित रूप अधिक मिलता है ।

।ण। > ।न। -- ग्रामीण तथा पूर्वी[1] ध्वन्यात्मकता के परिणामस्वरूप संस्कृत शब्दों का ।ण।, ।न। में परिवर्तित हो जाता है । इस प्रकार के शब्द भी तत्कालीन साहित्य की (विशेषत: भारतेन्दु साहित्य की) भाषा में अधिक मिलते हैं, उदाहरणार्थ --

अनुओं, प्रनाली, शोनित, परिनय, परिनाम, श्रेनियों, आक्रमन, कारन, कुमन्त्रना, गन, ग्रहन, घोषना[2], मन्त्रना, विश्नु, साधारन, हून, कारन, तारुन्य ।

।ढ़। > ।ढ। एवं ।ड़। > ।ड। -- इस प्रकार के वर्तनी दोष में भी वही प्रवृत्ति कारणीभूत है, जो ।ब। > ।व। के प्रयोग में है । ऐसे प्रयोग भारतेन्दुयुगीन भाषा में तो मिलते ही हैं, द्विवेदी युग में भी अधिकांश लेखक अपने लेखन में ऐसी त्रुटियां करते रहे । भारतेन्दुयुगीन कुछ शब्द इस प्रकार हैं--

बढी, बडा, पडे, पेड;[3] डेवढी, पडता, जुडता, बडा,[4] बडी लडकी, घोडा, थोडा, डाडे, पडेगो[5] ।

उक्त प्रकार की वर्तनी-युक्त शब्दों के प्रयोग में पश्चिमी बोलियों की ध्वनि का प्रभाव भी वर्तमान है । विशेषता यह है कि एक ही लेखक की एक रचना में अशुद्ध प्रयोग है तो दूसरी में शुद्ध प्रयोग । यथा--

---

१ भारतेन्दु की भाषा में ऐसे प्रयोग बंगला प्रभाव के कारण अधिक हुए हैं ।

२ भारतेन्दु एवं भट्ट की रचनाओं से । भारतेन्दु की अपेक्षा भट्ट की रचनाओं में ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं ।

३ लाला श्रीनिवास० : `परीक्षागुरु`

४ राधाचरण० : `श्रीदामा नाटक`

५ तोताराम ० : `विवाह विडम्बना`

`राधाचरण गोस्वामी` की कृति `श्री दामा नाटक` में जहाँ उपरिउदाहृत शब्द प्रयुक्त हैं, वहीं उनकी दूसरी रचना `जाविका` उपन्यास में ।ड़।, ।ढ़। ध्वनियों का शुद्ध रूप में प्रयोग भी हुआ है, यथा--

सैकड़ों, पकड़, सड़क, टेढ़ी आदि ।

उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त ।ड। के स्थान पर ।ड़। ध्वनियुक्त शब्द-- गोड़ा, पाड़े,[1] ।ड़। के स्थान पर ।र। यथा-- परोस में, परोसियों ।[2]

।स। के स्थान पर ।श। ध्वनियुक्त शब्द -- शम्मुख, शाथ[3] तथा विकाश[4] तथा श्रुति भेद-जनित प्रयोग ।व। के स्थान पर ।ब। ।ये। तथा ।ज। प्रयुक्त शब्द, यथा-- सबै, जवनिका,[5] सरोजाव तथा `...` के स्थान पर `न्य` से निर्मित शब्द, यथा-- पुन्य, पविन्य,[6] आदि के प्रयोग भी तत्कालीन भाषा में मिलते हैं । तात्पर्य यह है कि व्यंजन सम्बन्धी अनियमितताएं भी तत्कालीन भाषा में पर्याप्त रूप से वर्तमान थीं । युग-नायक भारतेन्दु की भाषा में ही ऐसी अनियमितताएं अधिक हैं ।

भारतेन्दु की कुछ कृतियों में महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण ध्वनियों से गठित शब्दों के प्रयोग से यह प्रमाणित हो जाता है कि

---

१ भारतेन्दु की कृतियों क्रमशः --`परता`, `कर्पूर मंजरी`, में प्रयुक्त पूर्वी प्रभाव-युक्त शब्द ।

२ हिन्दी प्रदीप--पूर्वी गोत्र के लेखक द्वारा ही ऐसे प्रयोग की सम्भावना की जाता रहा था ।

३ भार० की ही कृतियों, यथा-- अंधेर नगरी, सत्यहरिश्चन्द्र में प्रयुक्त बंगाल प्रभाव युक्त शब्द ।

४ `विकास` के स्थान पर प्रायः `विकाश` शब्द का प्रयोग भट्ट--हिन्दी प्रदीप, प्रतापना० मिश्र--आर्यकीर्ति आदि में किया गया है । द्विवेदी युग में यह शब्द अधिक व्यापक एवं प्रचलित हुआ, किन्तु कालान्तर में `श` का स्थान `स` ने लिया ।

५ भारतेन्दु की कृतियों, यथा-- बुरी रीति, सत्यहरिश्चन्द्र, आशा में प्रयुक्त ।

६ भारतेन्दु -- दूषण ।

तात्कालिक भाषा पर यत्र-तत्र विदेशी भाषाओं का भी प्रभाव रहा है,यथा--

काठियावाड़(H.E.I.B.R.), कोलापुर[1] (उ० को उ०),
मेडक (H.E.I.B.R.), तुमारा (प०प०) ।

(ii) व्यंजन द्वित्व

इसके अन्तर्गत दो प्रकार की शैलियों से निर्मित शब्द हैं-- एक तो,संस्कृत शैली के अनुसार ।र। ध्वनि के संयोग से संयोगी वर्ण के द्वित्वीकरण से निर्मित शब्द, यथा--

नर्क्क, कार्त्ति, तर्प्पण, सर्प्पों, पर्व्व[2], पूर्व्व, कर्म्म[3], धर्म्म,
आर्य्य, कार्य्य,गर्व्व[4], पूर्व्व, सर्व्वदा, आर्य्य, धर्म्म,
ऐश्वर्य्य, सौन्दर्य्य आदि ।

तथा दूसरे,प्राकृत एवं पश्चिमी बोलियों के उच्चारण में अन्त्याक्षर पर बलाघात से निर्मित शब्द, यथा--

हक्कों, जज्ज, सच्च,सरपट्ट, मरहट्टे, छप्प आदि[5] ।

इनमें से प्रथम शैली के अनुसार संयोजित वर्णों वाले शब्द अन्य स्वीकृत वर्णों वाले शब्दों से अधिक शुद्ध माने जाते थे । द्विवेदी युग में कुछ लेखकों ने परम्परा के पोषण में ऐसे प्रयोग किए तो हैं, किन्तु लेखन की सुविधानुकूल ऐसे लेखन का प्रभाव जाता रहा ।

----

१ इस शब्द से युक्त 'पंच पवित्रात्मा' से उद्धृत वाक्य द्रष्टव्य है -- हमारा तुमारा वियोग बहुत दिनों रहा इससे तुमारे बिना अब हमारे प्राण व्याकुल हैं तुमारे शरीर त्याग का समय उपस्थित है ।

२ भारतेन्दु,

३ भट्ट, तथा

४ राधाचरण गोस्वामी की कृतियों से उद्धृत । भारतेन्दु की कृतियों में ऐसे प्रयोग अन्य लेखकों की अपेक्षाकृत अधिक है ।

५ केवल भारतेन्दु की कृतियों में प्रयुक्त ।

(iv) महाप्राण व्यंजन - द्वित्व

दो महाप्राण व्यंजनों का योग नियम-विरुद्ध होते हुए भी भारतेन्दु एवं भट्ट जैसे साहित्यकारों की रचनाओं में `ठ` ध्वनि के द्वित्वीकरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं, यथा--

ठठठा, मरहट्ठे, चिट्ठी[1], घट्ठेठा[2], पिट्ठी, ठट्ठा[3], उट्ठे, कट्ठे[4]।

(ख) अनुनासिक प्रयोग

तत्कालीन भाषा में सामान्यत: तो यथास्थल अनुनासिक ध्वनियों का उचित विधान है, किन्तु कहीं-कहीं पर प्रयोग में अनियमितता भी वर्तमान है, यथा--

(i) सामान्य ध्वन्यात्मकता में चन्द्रबिन्दु एवं अनुस्वार(ं) दोनों का प्रयोग हुआ है, जैसे --

बँगला, भाँति, फँसते, यहाँ, आंसू, पहुंचे, जाऊंगो[5] ~~आदि।~~
जायँगे, भँवर, हँसि, हाँ, ऊंच, कंगा, भांति[6]
हूँ, यहाँ, उँगली, कचौरियाँ, कमलों, मुंह सांफ, पत्तियां,
ढांपे, आंसू, बांस, कहां, गूंजते, डालूं, वहां, सांय, हूं, काँटा,[7][8]

---

1 भार० ~~भा०र०~~ बा०द०, ला०ला०बा० की ब०द०बा०
2 हिन्दी प्रदीप जि०३-५
3 राधाचरण० -- जा०उप०
4 बदरीना०चौधरी--भा०भी० ।
5 भार०-विविधरचनाओं से
6 प्रतापना० मिश्र -- मन की लहर -- विशेषता यह है कि कृति में कहीं चन्द्रबिन्दु का प्रयोग हुआ है तो कहीं अनुस्वार का । ऐसी विविधताएं इस युग की रचनाओं में प्राय: पाई जाती हैं ।
7 बदरी ना० चौधरी -- भा०भी ।
8 बालकृष्ण भट्ट -- नू० ब्र० ।

चांद, नहीं, नहीं, कहीं भांति में[1]।

तत्कालीन प्रमुख लेखकों में से भारतेन्दु तथा प्रतापनारायण मिश्र ने दोनों ही अनुनासिक संकेतों से काम लिया है। बदरीनारायण चौधरी की भाषा में सर्वत्र चन्द्रबिन्दु का प्रयोग है। बालकृष्ण भट्ट तथा लाला श्रीनिवासदास की खड़ी बोली में केवल अनुस्वार ही व्यवहृत है।

(ii) ।ि।, ।ी।, ।ओ। की ह्रस्व एवं दीर्घ मात्राओं के साथ भी चन्द्रबिन्दु का प्रयोग तत्कालीन कुछ लेखकों के प्रयोग की विशेषता है --

कचौरियाँ, कमलाँ, योगियाँ, मैं, फिरैं, मैं, सैं, सामनैं आदि[2]

नहीं, कहीं[3], नहीं, आखें, गई[4]।

यद्यपि यही प्रयोग शुद्ध हैं, किन्तु मुद्रण में असुविधा होने के कारण उस युग में ही उक्त प्रणाली का प्राय: प्रयोग कम होने लगा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की `काश्मीर कुसुम` की पाण्डुलिपि में तो अनुनासिक चिह्न एक विशेष प्रकार का ही है,यथा--

नहीं, मैं, हिन्दुओं आदि[5]।

(3) अनावश्यक स्थलों पर भी कहीं-कहीं अनुनासिक ध्वनियों का प्रयोग,यथा--

हिंसाब, (करने) हीं, (सहज) हीं[6], (चांदनी) हीं

पूंछ पूंछा(पूछना) सोंच[7]।

---

1 भार० लाला श्रीनिवास०-- रणधीर०प्रेमो०, `परीक्षागुरु`।

2 बदरीना० चौधरी--भा०सौ० बदरीनारायण जी की इस रचना में सर्वत्र ऐसे ही प्रयोग विद्यमान है।

3 प्रतापना० मिश्र :`मन की लहर` यह यत्र-तत्र ही प्रयुक्त है

4 राधा०गोस्वामी :`जावि० उप०`

5 का०कु०(पाण्डु०)। सर्वत्र अनुनासिक ध्वनि युक्त है।

6 भार० -- पा एवं का०कु० पाण्डु० तथा बदरीनारायण चौधरी-- भारत सौ०से। भारतेन्दु ने `हिसाब` शब्द के `हि` के साथ सर्वत्र अनुनासिक ध्वनि का प्रयोग किया है। इसी प्रकार चौधरी जी की रचना में `ही` भी सर्वत्र अनुनासिक ध्वनि युक्त है।

7 भारतेन्दु एवं बदरीना० चौधरी की कृतियों तथा हिन्दी प्रदीप में व्यवहृत।

(iv) आवश्यक स्थलों पर अनुनासिक ध्वनि का न होना, यथा--

मा, हमें[१]

भारतेन्दु-युग में ऐसे प्रयोग अधिक नहीं मिलते, किन्तु द्विवेदी-युग के अधिकांश लेखकों की भाषा में `मा` शब्द अननुनासिक ही प्रयुक्त है ।

(v) अनुनासिक व्यंजन अथवा पंचमाक्षर संयोग में वर्ण एवं अनुस्वार दोनों का विकल्प से प्रयोग हुआ है, किन्तु अनुस्वार की अपेक्षा वर्णों का प्रयोग अधिक है, उदाहरणार्थ--

पंचमाक्षर -- कलङ्क , गर्माङ्क , डङ्का , लङ्का , रङ्ग , ढङ्ग , जङ्गल
मङ्गल, अङ्गरखा, अङ्गार, गङ्गा , तुङ्ग , तरङ्ग ,
चञ्चल, पुञ्जित, रञ्जित , रोमाञ्चित ,
दण्ड, पण्डित, घण्टी, ठंढा, इंगलैण्ड
दुन्दुभि, पान्थशाला, सुन्दरी, नन्दन
सम्भव आदि ।[२]

अनुस्वार -- अंगपाल, भंग, कांचन, पंचम, बरंच, कमिंडल, दंड, पंडित,
मारकंडेय, संदेह, आंतरिक, संपूर्ण आदि ।[३]

पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग अन्य लेखकों की तुलना में भारतेन्दु ने अधिक किया है । यहां तक कि एक ही रचना में कहीं पंचमाक्षर तथा कहीं अनुस्वार का प्रयोग भाषा-रचना की अस्थिरता को सूचित करता है, यथा--

----

१ भारतेन्दु, भट्ट एवं प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में ।

२ भार०, भट्ट, लाला श्रीनिवास०, बदरीना० चौधरी, कार्तिक प्र० खत्री आदि की रचनाओं में प्रयुक्त ।

३ भार० की कृतियों, हिन्दी प्रदीप तथा ब्राह्मण से ।

लङ्ङ्गन, कङ्कोल, चञ्चल ।१
काँचन, पंचम, कपिंजल ।
अङ्गपाल, मण्डलेश्वर।२
अंगपाल, मारकंडेय ।

भारतेन्दु की रचनाओं में ।ञ्। के स्थान पर तो अनुस्वार का ही प्रयोग है, यदि कहीं ।ञ्। आ गया है तो वह विरल है ।

हिन्दी प्रदीप(जि०२१ सं०६।७,पृ०२७) में `इंगलैन्ड`, `हालेन्ड` शब्दों में । ण । के स्थान पर ।न्। का योग अपवाद स्वरूप है क्योंकि इन शब्दों में संस्कृ त -नियम की प्रतिष्ठा अनिवार्य नहीं है ।

`चन्द्र` के तद्भव रूप `चाँद` में अनुनासिक स्वर-चिह्न का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु बालकृष्ण भट्ट की रचना `सौ०अ०ए०सु०` तथा पत्रिका `हिन्दी प्रदीप` में तद्भव रूप में भी ध्वनि `न` का ही प्रयोग भाषा- दोष के रूप में है, यथा--

चान्द, चान्दनी ।

(ई) रूपान्तरित शब्दों(विशेषत: क्रिया) का वर्ण-संयोजन

भारतेन्दुयुगीन क्रिया-शब्दों की वर्तनी में तत्कालीन उच्चारण की अनुरूपता के निर्वाह के फलस्वरूप तथा लेखन-शैली की प्रचलितता के कारण आधुनिक परिष्कृत भाषा की तुलना में जो अनियमिततायें मिलती हैं, उनका सम्बन्ध द्विवेदी-युगीन भाषा-विकास सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र से अधिक है,क्योंकि रूपों की इन अनियमितताओं में भी द्विवेदी-युग में संस्कार करने की चेष्टा की गई । ये विशिष्टतायें हैं --

---

१ भार० : `कर्पूर मंजरी`
२ भार० : `दुर्लभ बन्धु`

(१) `ए` नहीं `ये` -- जागते हुये का मन, ये लोग हुये, बहुत दिन हुये,[1] उन्मुलन हुये, कांपते हुये, चले हुये।

(२) `ये` नहीं `ए` -- जहां भूतकालिक या कारान्त क्रिया के परिवर्तित रूप में `या` > `ये` में परिवर्तित होना चाहिए वहां श्रवण सम्बन्धी विशेष अन्तर न होने के कारण लेखन में भी `ये` के स्थान पर केवल व्यंजन `ए` ही आया है, यथा--

हो गए, बिताने पाए[2]

(३) `ए` नहीं `वे`, वै -- आवे, बचाये, आवैं, बचावैं,[3] सुनावेगा, बचावेगा, जावेगा, लावैंगे पावैंगे, बनावैंगे जावेंगे,[4] जावेगा, लगावैं, कटाव[5]।

(४) `आ` नहीं `वा` -- हुवा था[6]।

(५) `ओ` नहीं `वो` -- आवो, छिपावो, बचावोगे[7]

(६) ← `यों` नहीं `ओं` कृतिओं, तरुणिओं[8]

----

१ भट्ट निबन्धावली एवं हिन्दी प्रदीप में सर्वत्र प्रयुक्त।

२ प्रताप मिश्र : `आयुर्य कीर्ति`

३ भार० : दुर्लभ ब०, पं०प०, वि०मु०।

४ प्रताप मिश्र : `आयुर्य कीर्ति`।

५ प्रताप मिश्र द्वारा सम्पादित : `ब्राह्मण पत्रिका`

६ प्रताप मिश्र : `आयुर्य कीर्ति`।

७ भट्ट : `शिक्षादान`।

८ भार० : `का०कु० पाण्डु तथा क० मं०।

(७) द्विविधता -- क्रियाओं की वर्तनी के उक्त रूपों के प्रयोग में नियमबद्धता का अभाव तो है ही साथ ही निश्चित आदर्श का न होना युग-विशेष की भाषागत अनियमितता का द्योतक है। तत्कालीन भिन्न-भिन्न लेखकों की रचनाओं अथवा भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में तो वर्तनीगत द्विविधताएं हैं ही एक ही लेखक की एक रचना में भी वर्तनीगत भिन्नता मिलती है, उदाहरणार्थ --

बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित पत्रिका `हिन्दी प्रदीप` में `सर्व `, `हुआ` शब्द का प्रयोग है तो प्रतापनारायण मिश्र रचित `आर्य्यकीर्ति` में `हुवा` शब्द का। इधर प्रतापनारायण मिश्र द्वारा सम्पादित पत्रिका `ब्राह्मण` में जहां `हुए` शब्द का प्रयोग है, वहां `हिन्दी प्रदीप` में `हुये` शब्द प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार `हिन्दी प्रदीप` में आकारान्त क्रिया के सम्भाव्य रूप तथा उससे निर्मित आज्ञार्थक अथवा भविष्यत कालिक रूप में `जाय`, `जायं`, `जायगो`, `जायंगी` आदि का प्रयोग है तो `ब्राह्मण` पत्रिका तथा भारतेन्दु की रचनाओं में कटावैं (कटावै), जावैगा, `जावैंगे`, `आवे`, `बचावे` आदि रूपों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार जहां तक एक ही लेखक की एक ही कृति में भिन्नत्व की बात है, भारतेन्दु की कृतियों में ऐसी द्विविधताएं प्राय: मिलती हैं। भट्ट की `हिन्दी प्रदीप` में जहां `उठाओ`, `दिखाओ` जैसे शब्द हैं, वहां उनकी रचना `शिक्षा दान` में `आवो`, `छिपावो`, `रिझावो` जैसे शब्द भी हैं। यही नहीं वरन् भट्ट की उक्त कृति `शिक्षा दान` में प्रयुक्त उक्त शब्दों के साथ ही `रिझाओगे`, `पाओगे` जैसे रूप भी हैं।

इनके अतिरिक्त `रखना` क्रिया के भूत एवं सम्भावनार्थ काल के रूप में `क्` व्यंजन की वृद्धि करके सर्वत्र `रक्खा`, `रक्खें` आदि रूप ही प्रयुक्त हुए हैं।[१] यही वर्तनी द्विवेदी-युग में भी वर्तमान थी।

---

१ भारतेन्दु, भट्ट, प्रताप मिश्र आदि की कृतियों एवं ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप आदि पत्रिकाओं से गृहीत।

तत्कालीन वर्ण-विन्यास सम्बन्धी विशिष्ट प्रयोग में `भारत मित्र` से उद्धृत अधोलिखित अवतरण के रेखांकित शब्द द्रष्टव्य हैं --

> उस समय मे भी बहोतेरे लोग दुखी हुये थे, परन्तु अब वह नियम का उपकार देख के सन्तुष्ट चित्त से पालन कर्ते है इसी प्रकार कोइ कोइ अत्यन्त प्रयोजनीय विषय से गवर्नमेण्ट हस्तक्षेप करे तो किसी प्रकार की हानी नहि हो सक्ति वरंच हम लोगों को ऐसो दयाशील प्रजाहितैषी नीतिपरायण गवर्नमेण्ट को अन्तष्करण से धन्यवाद देना चाहिए (रविवार२२ जून१८७८ई०।संख्या)।

इसी प्रकार `हरिश्चन्द्र मैगज़ीन` तथा `हिन्दी प्रदीप` से उद्धृत अधोलिखित पंक्तियां भी तत्कालीन ध्वनि-सम्बन्धी अनियमितता का प्रतिनिधित्व करती हैं --

> `अब गुण सिंध का कुछ बरणन सुनना चाहिए, जो इस बरसगांठ के दिन से उदास और मन मलीन रहने लगा ।...... उसके आकार से क्या जान पड़ता कि उसके अन्त:कर्ण में कोई ऐसा रोग उत्पन्न हुवा है जिससे....`[1]

> `चाहे पाठक गण तुहारे लेखों की हेडिंग भी न पढ़े चाहे इस विषय में कितना ही आक्षेपयुक्त प्रस्ताव क्यों न मुद्रित करे.... यह बात किस बिज्ञ को नहीं विदित है कि कबिगण बसन्त काल ही में बसन्त कबिता करते हैं[2] ।`

भारतेन्दु युगीन वर्ण-विन्यास सम्बन्धी उपर्युक्त रूपों से इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि उक्त युग में वर्तनी सम्बन्धी अनियमितताएं

---

१ हरिश्चन्द्र मैग०, सन् १८७४ ।   २ `हिन्दी प्रदीप`, मार्च, १८८०ई० ।

अधिकांशत: वर्तमान थीं । वर्तनी सम्बन्धी विविधताओं में विभिन्न क्षेत्रों की मुद्रण-व्यवस्था भी कारणभूत थी । पश्चिमी क्षेत्रों की मुद्रित रचनाओं में वर्तनी-दोष इतना अधिक नहीं है, जितना पूर्वी क्षेत्रों में मुद्रित रचनाओं में । फिर भी इतना तो अवश्य है कि उक्त युग में वर्तनी सम्बन्धी उक्त दोषों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया ।

(२) उपसर्ग- प्रत्यययुक्त शब्द

भारतेन्दु युगीन खड़ीबोली हिन्दी में रचना-सम्बन्धी अन्य रूपों की भांति यौगिक शब्दों का प्रयोग भी प्राय: सामान्यत: रूप में हुआ है, किन्तु कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो या तो तत्कालीन लेखकों द्वारा विशिष्ट ढंग से निर्मित हुए हैं अथवा वर्तमान खड़ीबोली की तुलना में पुराने पड़ गए हैं अथवा जिनका प्रयोग परिनिष्ठित खड़ीबोली के अनुकूल नहीं है । उदाहरणार्थ --

(१) उपसर्गयुक्त शब्द -- उपसर्गयुक्त शब्दों में इस युग में इतनी अधिक विशिष्टता नहीं दिखायी देती, जितनी द्विवेदी-युग में । यह अवश्य है कि इसी युग में परम्परा से हटकर कुछ नये शब्दों के निर्माण की परम्परा मानो चल पड़ी थी[1], यथा--

अमर्याद, अपक्षपात, असुमुद्र[2], असज्जनता, असम्मान ।

(२) प्रत्यय युक्त शब्द -- प्रत्यय-प्रयोग सम्बन्धी तत्कालीन विशिष्टताओं की कई कोटियां हैं --

(अ) प्रत्यय आवश्यक होते हुए भी नहीं लगाया गया है, यथा--[3]

महात्म (महात्म्य), मुख (मुख्य), सामर्थ (सामर्थ्य) दरिद्र (दरिद्रता), पवित्र (पवित्रता), सावधान (सावधानी) ।

----

१ भार० नी० कोशि०, दि०द०द०, भूकम्प

२ प्रताप० मिश्र : 'आत्मकीर्ति'

३ भार० स्तु० और ईश०, मा०म०, चरिता०, मित्रता, अप०, लाख लाख बात की एक एक बात, भा०ज०, निबन्धों में प्रयुक्त ।

कुछ प्रयोगों से उक्त शब्दों की अयोग्यता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है, यथा--

देश भर में दरिद्र का प्रवेश हुआ, एकान्त में पवित्र और धन घटे पर स्त्री जानना, सावधानपूर्वक (भा०ज०) ।

(आ) प्रत्यय अनावश्यक है, जैसे --

प्रकटित, शीतता, राजत्व (राज अथवा राज्य), साम्यत्व(साम्य)[1], सारत्व, प्रजापालित्व, अनबनाव, बचावट, आवश्यकीय[2], उत्कर्षता[3] ।

(इ) प्रत्यय अनुपयुक्त है, यथा--

चढ़ाव (`आई` प्रत्यय के स्थान पर `आव` प्रत्यय के प्रयोग प्रयोग से अर्थ वैषम्य हो जाता है, उदा० `चढ़ाव के समय फौज लेकर आप बरौदे गया`[4] मूलोच्छेदो (अव` के स्थान पर `ई ` प्रत्यय[5]) ।

(ई) वे शब्द जो अनावश्यक रूप में बहु प्रत्यययुक्त है -- अर्थात् संज्ञा से विशेषण तथा फिर विशेषण से संज्ञा बनाये गये हैं । ऐसे शब्दों के निर्माण में संस्कृत शैली के साथ-साथ विदेशी (अंग्रेजी) शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है, जैसे --

गुण ग्राहकता, देशहितैषिता[6], निष्पक्षपातिता, विश्वास-घातकता शुभचिन्तकता आदि ।

----

१ भार० -- विभिन्न निबन्धों एवं नाटकों में प्रयुक्त । `प्रकटित` शब्द का प्रयोग `उदयपुरोदय` नामक निबन्ध में अनेक बार हुआ है ।

२ अम्बिका० व्यास --`गद्यमीमांसा` ।

३ भट्ट निबन्धावली ।

४ भार० -- विषस्य० ।

५ भट्ट निबन्धावली

६ भारतेन्दु की विभिन्न कृतियों से गृहीत ।

(उ) वे शब्द जिनमें प्रत्यय उचित लगे हैं, किन्तु ग्रामीण उच्चारण के फलस्वरूप उनके स्वरों में परिवर्तन हो गया है, जैसे --

बिचवई, मधुरई, लड़कई, अनाड़न, रखवारन,
तीर्थपना, ~~मंडपनकदानेपने~~ मंडपना,दानीपने[१] ।

(ऊ) वे ग्रामीण शब्द जिनके प्रत्ययों के प्रयोग में कोई नियम नहीं है, जैसे --

उतराधी, दखिनाधी, ललैनी, बंधुए, झटवा, घरकों[२] ।

(ए) उक्त युग में `त` एवं `ता` प्रत्यययुक्त शब्दों का प्रयोग अधिक है । इन प्रत्ययों के मोह में प्राय: शब्द अस्वाभाविक भी लगने लगते हैं । भारतेन्दु की कृतियों से लिये गये कुछ स्वाभाविक-अस्वाभाविक शब्द निम्नवत् हैं --

`त` युक्त -- ~~अधीत~~ अधीत, अभिषिक्त, कम्पित, कृत, घूर्णित, निर्णीत, बाधित, इंगित, क्रोधित, त्रिगुणित, पुष्पित आदि[३] ।

`ता` युक्त -- विनयशीलता, वदन्यता, दक्षता, क्षिप्रता, शौर्य, प्रियभाषिता, लोकरंजकता, वाग्मिता (प्रभूत गुणसमूह सदृश संभूत युवा को नायक होने का अधिकार है ।)[४]

(३) संकर शब्द -- इस कोटि में वे शब्द आते हैं, जिनकी प्रकृति तथा प्रत्यय एक भाषा के न होकर भिन्न-भिन्न भाषाओं के हैं । ऐसे कुछ शब्द तो भाषाओं के परस्पर संक्रमण से हिन्दी भाषा में सामान्यत: होने लगे हैं, किन्तु कुछ शब्द ऐसे हैं, जो हिन्दी की परिनिष्ठता के अनुकूल नहीं हैं, यथा--

---

१ भार० -- विभिन्न कृतियों में प्रयुक्त
२ भार० एव तोताराम० की कृतियों से ।
३ विविध कृतियों से गृहीत
४ नाटक ।

प्रतिछिन, मधुरई, मित्रताई, श्यामताई, अधिकाई, वैधव्यना,[1]
लोदित, डाक्टरखाना, वैडगी, महाराजों आदि ।

ऐसे शब्द भारतेन्दु की कृतियों में प्राय: मिलते हैं ।

(३) समास

गम्भीर विषयों की भाषा का सामासिक पद-बहुला होना भारतेन्दु-युग की विशेषता है । जो लेखक संस्कृतनिष्ट हिन्दी के पक्षपाती थे, उन्होंने तो अपनी भाषा में लम्बे-लम्बे सामासिक पदों का प्रयोग किया ही है, किन्तु सरल हिन्दी भाषा के समर्थकों ने भी यत्र-तत्र सामासिक पदावली का प्रयोग अतिशयता से किया है । इनके अतिरिक्त सामान्य बोलचाल की भाषा में हिन्दी तथा हिन्दी बोलियों के समासों का समावेश कर भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है । जहां तक सामासिक पदों की कोटियों के प्रयोग की बात है, सामान्यत: सभी प्रकार के समास तद्युगीन भाषा में प्रयुक्त है ।

अन्य प्रयोगों की भांति तत्कालीन सामासिक पद-प्रयोग सम्बन्धी कुछ विशिष्टताएं भी द्रष्टव्य हैं । वे विशिष्टताएं निम्नलिखित हैं :--

(१) बहुपदिकता -- जैसा कि कहा जा चुका है, तत्कालीन भाषा में कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे सामासिक पदों की झड़ी सी लग गई है, यथा--

हे लंकाकंकालनासन । हे कालिका फन नर्तन । हे कनक पीताम्बर । हे महामहिम । हे विगत कलंक । हे तनुमध्यम ।..... हे बाणप्रहार-नाद भेदन । हे नानावैदिकारिकप्रतिपादित.... ।[2]

कहीं तो परमतेजपुंज दीर्घतपोवर्द्धित मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जायेगा .... आज इस राजकुलांगार का अभिमान चूर्ण करूंगा ।[3]

---

१ भार० की विविध रचनाओं से उद्धृत ।
२ भार० : `विविध प्रबन्ध`, यह सम्पूर्ण कृति सामासिक पदावलियों से पूर्ण है ।
३ भार० : `चरिता०`

कविकुल मुकुट माणिक्य, आर्य्य शिरोमणि भूषण,[१]
कुलमर्य्यादा सीमा परिबद्ध, शरीर सम्पर्कशून्य,[२]
कमाण्डरिन चीफ ।

(२) संकरता -- यथा-- प्रतिद्धिन, गृहचढ़ा, महाचंट, नीचाशय,[२]
हाकिमेच्छा, चीफ पण्डित ।

संकर शब्दों में संस्कृत तत्सम-तद्भव का योग तो सामान्यत: होता ही है, किन्तु अधिकाधिक शब्दों का समास बनाने की प्रक्रिया में संस्कृत शब्दों के साथ विदेशी शब्दों का योग अवश्य ही विशेषता सूचक है ।

(३) सन्धि सम्बन्धी विशेषता -- सन्ध्य शब्दों को एक ही शिरोरेखा के अन्तर्गत रखने में संस्कृत-शैली का अनुकरण किया गया है, यथा--
नानावेदकारिकप्रतिपादित, दीर्घतपोवर्द्धित, वंगसाहित्यसमाज,[३]
ककरोलीनरेश, साहित्यसांख्ययोगाचार्य आदि ।

सामासिक पद-प्रयोग की स्वच्छन्दता सूचक पं० बालकृष्ण भट्ट के निबन्ध से लिया गया अंश द्रष्टव्य है --

'यह स्वच्छन्द शैली जिनके पास है वही सदाशय, वही महाशय और वही गम्भीराशय है । इन्हें चाहे जिन शुभ नामों से पुकार लीजिए, और उदरदरी में इसका अभाव है वे ही दुराशय, क्षुद्राशय, ओछे छोटे और पेट के खोटे हैं ।'

----

१ भार० -- विविध कृतियों से ।

+ विदेशी पदरचना में सन्धि द्रष्टव्य है ।

२ भार० की कृतियों एवं भट्ट निबन्धावली से ।

३ भार० एवं अम्बिकादत्त व्यास की कृतियों से ।

(४) द्विरुक्तादि शब्द

द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली में द्विरुक्तादि (समान शब्दों की आवृत्ति, समानुप्रास सार्थक शब्दों के योग, समानुप्रास सार्थक -निरर्थक शब्दों के योग तथा अनुकरणात्मक शब्दों के योग से बने) शब्दों अथवा पदों का बाहुल्य है । समान शब्दों की आवृत्ति की दो शैलियाँ हैं-- एक शैली, एक ही शब्द की दो बार स्थापना की है तथा दूसरी, आवृत्ति के स्थान पर `२` संख्या के प्रयोग की । यहां तक कि एक ही लेखक द्वारा कहीं-कहीं पर दोनों शैलियां अपनाई गई हैं और इस प्रकार की द्विविधता भारतेन्दु-युगीन अधिकांश लेखकों की भाषा में पाई जाती है । उदाहरणार्थ --

(१) कौड़ी कौड़ी, अंग अंग में, दिन दिन, सीढ़ी सीढ़ी, कौन कौन बातें,[१] तरह तरह के[२], उड़ उड़ कर बार बार आता है, सिमिट सिमट[३] ।

(२) भांति २ के, तरह २ के, कौन २, ठीक २, जहां २ वहां[४] २, वारे २[५] ~~(सौ०अ०ए०सु०)~~ , एक २, नित्य २, भांति २, ऐसे २ बड़े २[६] , समय २, रमणीक २, कहते २, क्या २ आदि[७] ।

एक ही वाक्य में द्विविध प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं, यथा-- हवा के झकझोर से बार बार निवारित भी होकर फिर २ वहीं ही आय बैठता है ।[८]

---

१ भार० -- विभिन्न कृतियों से ।

२ हिन्दी प्रदीप ।

३ भट्ट : `सौ अजान एक सु०` ।

४ भार० विभिन्न कृतियों से ।

५ भट्ट : `सौ अ० एक सु०`

६ हिन्दी प्रदीप ।

७ जग० सिंह : `श्यामलता` ।

८ भट्ट : `सौ अ० एक सु० ।

<u>५.२. पद-रूप एवं प्रयोग</u>

विवेद्य-पूर्व भाषा की स्थिति के अन्तर्गत वर्ण-विन्यास सम्बन्धी अनियमितताओं की भांति ही व्याकरण सम्बन्धी अनियमितताएं भी विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि तत्कालीन भाषा में न तो व्याकरणिक नीति ही पूर्णत: निर्धारित हो पाई थी और न भाषा की शुद्धता के प्रति लेखकगण ही इतने सतर्क हो पाये थे। ऐसी स्थिति में व्याकरण सम्बन्धी विविधताओं एवं अशुद्धियों का होना अवश्यम्भावी था। व्याकरण-सम्बन्धी तत्कालीन अनियमितताओं का अध्ययन अधोलिखित वर्गों के अन्तर्गत किया जा सकता है --

<u>१.संज्ञा, सर्वनाम एवं विशेषण</u>

(१) रूपान्तरण सम्बन्धी

जहां तक विभिन्न पदों के अनुसार शब्दों के रूपान्तर की बात है, प्राय: सामान्य नियमों के अनुकूल ही हुआ है, फिर भी कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका रूपान्तर न तो आधुनिक[१] प्रणाली के अनुकूल है और न ही उस युग के सामान्य प्रयोग के अनुकूल। यथा--

(अ) अनावश्यक विकार -- अकारान्त, एक वचन, पुल्लिंग शब्द में आवश्यकता न होते हुए भी विकार हो गया है, यथा--

साहसी राठौरें,[२] जुदे-जुदे सम्प्रदाय हैं... जुदे जुदे देशों में जुदे-जुदे समय में फैलाया,[३] दुनिये के बाहर[४]।

---

१ युगनिर्माता भारतेन्दु की रचनाओं में ऐसी त्रुटियां अधिक मिलती हैं।

२ प्रतापना० मिश्र : `आयुर्य कीर्ति।

३ फारसी में `जुदा` शब्द में लिंग, वचन, कारक के अनुसार विकार नहीं होता किन्तु भट्ट ने आकारान्त हिन्दी शब्द के अनुसार इसका विकार किया है-- बा० भट्ट निब०, पृ०३४। तत्कालीन अन्य लेखकों की रचनाओं में भी ऐसे प्रयोग वर्तमान हैं।

४ बदरीना० चौधरी : `प्रेमघन सर्वस्व`

(आ) आंचलिक रूप -- (१) आकारान्त तद्भव शब्द के सम्बन्धकारक(परसर्गीय)
रूप में संस्कृत शब्द आकारान्त शब्द की भांति 'औं' प्रत्यय
का प्रयोग किया गया है, यथा-- बनियाऔं[1]।

(२) तत्सम आकारान्त शब्द का रूपान्तर तद्भव आकारान्त
शब्द की भांति किया गया है, यथा-- अप्सरों[2]।

(३) कुछ अन्य रूप जो हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं, ये हैं--
गृहस्थैं, नटिनें, रण्डियैं[3] एक से एक सकल गुनआगर,
यही हेतु लाखन मई है हराई[4]।

(इ) अस्वाभाविक एवं अप्रचलित रूप--

सर्वनाम शब्दों के कर्त्ताकारक के सम्बन्धकारक (पै परसर्गीय) रूप में 'तुमारा,' 'उनने,' 'जिनने' आदि शब्द तत्कालीन व्याकरण के अनुसार भले ही उपयुक्त हों, परन्तु आधुनिक साहित्यिक भाषा में ये शब्द अप्रचलित हैं। ऐसे प्रयोग भारतेन्दु एवं भट्ट की भाषा में मिलते हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं[5]। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु की रचनाओं में 'तू'[6] के सम्बन्धकारक रूप में तुनारा, तुमारो शब्दों का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिलता है।

(ई) विशेषण रूप में पूर्वी पुट -- कहीं-कहीं पूर्वी बोलियों के प्रभाव-स्वरूप परिमाणवाचक विशेषण[7] में नितान्त ग्राम्यता[8] है, यथा--
एतना, केतना, एतना, केतने, जेतनो

----

१ भार० क० की उ०

२ भार० गोन०

३ भार० मेला फमेला

४ बदरीना० चौधरी : भा० श्रौ०।

५ भार० पं०प० एवं भट्ट -- मन की दृढता तथा अन्यत्र भा०

६ भार०प०प० गजल।

७ भार० चरिता० एवं बु०के० अनु० हि०।

८ हिं० प्र० फर० १८७६, जि०२ अंक ६।

(उ) स्त्रीलिंग विशेष्य के विशेषण का स्वरूप -- हिन्दी विशेषण शब्दों का रूप प्राय: विशेष्य का अनुसरण नहीं करता, तो भी संस्कृत शैली के अनुकरण में जहां कहां विशेष्य के अनुसार विशेषण का रूप परिवर्तित हो गया है, यथा--

सचरित्रा, कारुणिका, ब्राह्मणी आदि[१]।

ऐसे प्रयोगों का प्रसार द्विवेदी-युग में अधिक हो गया था ।

(२) लिंग निर्धारण सम्बन्धी

शब्दों के लिंग निर्धारण के सम्बन्ध में भारतेन्दु युग में इतनी अनियमितता थी कि द्विवेदी-युग में यह समस्या के रूप में मुखर हुई । (दे० खण्ड एक -- २.४) तत्कालीन प्रयोग कुछ इस प्रकार हैं --

(१) पुलिंग का स्त्रीलिंग

सींग, भय, डर, भाग्य को स्त्रीलिंग माना गया है, यथा--

जगद्विजयी सिकन्दर को दो सींग थी[२]

हारने के माथे क्या सींग होती है

जिनकी सींग तेल से रंगी थी ....

कितने काम ऐसे हैं जिन्हें हम समाज की भय से नहीं कर सकते[३]

अरे ! अकेले उस मसान में मुझे[४] डर लगती है

अपनी दुर्भाग्य[५] ....

----

१ भार० -- भा० ज० ।

२ प्रताप० भार०-- अपूर्वकीर्ति । उदय०, वि०सु०

३ हि० प्र०-- फर० मार्च १८८१ तथा जुलाई १८८० में क्रमश: ।

४ भार० -- स०ह० ।

५ बदरीना० चौधरी -- भा०सौ० ।

राधाचरण गोस्वामी ने `समान` शब्द को सम्भवत: `तरह` की भांति स्त्रीलिंग माना है, यथा कमल की समान(अमरसिंह राठौर से) ।

(२) स्त्रीलिंग का पुंल्लिंग

बलि,बूंद, वायु, देह को प्राय: पुंल्लिंग माना गया है,यथा--

फिर उसका बलि दिया

आंसू के बूंद आलिमा के मुख पर टपकते थे[१]

बुरा वायु निकल जाता था

पुरोहित जी का मृतक देह उनके मध्य पड़ा था[२]

(३) द्विविध प्रयोग

यों तो संस्कृत एवं हिन्दी के मिश्रित संस्कार के कारण भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा आत्मा, मृत्यु, समय आदि का पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग दोनों में प्रयोग किया गया है, किन्तु एक ही लेखक द्वारा दोनों रूपों (पुंल्लिंग तथा स्त्री लिंग) में प्रयोग और भी विशिष्टता-सूचक है । भारतेन्दु की कृतियों से लिए गए ऐसे द्विविध प्रयोग के उदाहरण द्रष्टव्य हैं, यथा--

आत्मा -- इसका आत्मा किसी योगी का जान पड़ता है
तुम अपनी आत्मा को शरीर सम्पर्क शून्य करो[३]

मृत्यु -- किसी विशेष रोग के कारण इनका मृत्यु नहीं हुआ
राजा मन्त्री दोनों की मृत्यु का कारण हुआ[४]

समय -- अवसान का समय निकट था, बनने के समय के पीछे
जल निकालती समय, मक्का से लौटती समय[५]

----

१ भार०-- कुरान० अनु०,प०प०,न्यौ० ।

२ प्रताप० -- आर्य्य कीर्ति

३ चरिता० एवं पं प० ।

४ पं० प० एवं का०कु० ।

५ पं०प०, रा० का स० तथा चरिता०, पं०प० ।

आत्मा एवं मृत्यु का प्रयोग कुछ अंशों में पुल्लिंग में होते हुए भी अधिकांशत: स्त्रीलिंग में ही हुआ है, किन्तु तत्कालीन लेखकों में कुछ 'ने' 'समय' शब्द के पुंल्लिंग शब्द होते हुए भी 'बेला' अथवा 'अवधि' के अर्थ में उसे स्त्रीलिंग माना है, यथा--

मरती समय[१]

(३) वचन सम्बन्धी

तत्कालीन वचन सम्बन्धी अनियमितताओं में अधोलिखित अनियमितताएं प्रमुख हैं --

(१) बहुवचन संज्ञाओं का एक वचन के रूप में प्रयोग-- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कुछ रचनाओं में संज्ञा शब्दों के बहुवचन में होने पर भी रूप एक वचन का ही है,[२] यथा--

अकारान्त शब्द -- किसी तरह को फल अवश्य ही काम में लाई जाती थीं
बरकरातील और चिरंजिता दो बड़ी फील भी हैं
सात दीप का अधिकार पाया
१६ के बदले २१ तोप को सलामी ...
१७ के बदले १६ तोप की सलामी

आकारान्त शब्द-- उनकी सब अभिलाषा पूरी करना
अनेक आख्यायिका हैं

---

१ कार्तिक प्र० खत्री : 'अहिल्या० का जीवन०'।

२ भारतेन्दु की निबन्ध रचनाओं, यथा-- रामायण का समय, बस्ता, पंचपवित्रात्मा, चरितावली, दूषण मात्रिका, खत्रियों की उत्पत्ति, पुरावृत्ति संग्रह, खत्रियों की उत्पत्ति, हाऊ कैन इण्डिया बी रिफार्म्ड, हिन्दी भाषा, अग्रवालों की उत्पत्ति, होली, गोम, दिल्ली दर्बार दर्पण, उदय पुरोदय, त्यौहार आदि में इस प्रकार के प्रयोग हुए हैं, किन्तु अन्य लेखकों की कृतियों में नहीं मिलते ।

इसमें कितनी शाखा और कितनी संहिता ......

६ राजा ने चित्तौर पर राजत्व किया था

इकारान्त शब्द -- अनेक उपजाति बन गई

तीन उंगली उठाए हुए हैं

यद्यपि फर्स्ट क्लास सेकेण्ड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी अच्छी

सब रमणी का पाणिग्रहण किया था

उकारान्त शब्द -- अनेक ऋतु ऐसी बुरी हैं

बहुत सी गऊ खरीदिए

इन्हीं तीनों ऋतु में बनाए हैं

सम्पूर्ण उत्तम वस्तु से युक्त

(२) एक वचन सूचक विशेषण का विशेष्य बहुवचन में -- विभाग बोधक विशेषण के साथ उसका विशेष्य एक वचन में होता है, किन्तु प्राय: प्रयोग की अनभिज्ञता के कारण उन विशेष्यों को बहुवचन मान लिया जाता है । भारतेन्दु युग में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं,यथा--

प्रति चौमोहानियों और घरों में, हर शख्सों, अपने अपने

स्थानों पर, कौन कौन बातें, हर एक बातों को[१]

(३) बहुवचन सूचक `गण` `लोग` प्रत्यय का प्रयोग तो उक्त काल में किया ही गया है,किन्तु भारतेन्दु द्वारा अनुपयुक्त संज्ञाओं के साथ लिया गया प्रयोग विशिष्टतासूचक है, यथा--

---

१ भार० की कृतियों एवं हिन्दी प्रदीप से ।

असम्यगण, गुणगण, पत्तीलोग, मोरे लोगों[१]।

(४) एक वचन में भी सर्वनाम 'ये' (बहुवचन रूप) का प्रयोग तो व्याकरणिक असावधानी के कारण प्राय: हुआ मिलता है, यथा--

प्यारी ये क्या लायी, अहा ये तो बड़ी सुन्दर है[२]

(४) कारक- परसर्ग प्रयोग सम्बन्धी

कारक में हिन्दी प्रत्ययों का प्रयोग तो किया गया है, साथ ही संस्कृत एवं ब्रजभाषादि के प्रत्ययों का प्रयोग भी युग की विशेषता रही है, यथा--

स्वीय बनिता के सह, तुम मेरे देश तें निकल जावो,

उसके विरुद्ध अपने तईं छिपाना चाहिए[३]

इनके अतिरिक्त तत्कालीन कारक के परसर्गों के प्रयोग सम्बन्धी अन्य कुछ विशेषताएं इस प्रकार[४] हैं --

(१) आवश्यक स्थलों पर परसर्ग का न होना, यथा--

मैसीडोनिया का राजा आर्किलोस बहुत चाहा कि ....

मूर्ख औरंगजेब समझा नहीं

पुत्र आदि मार के

बालिका लोगों के हिसाब[+] सभी खेल एक से थे

आपके[+] हिसाब वह महा तुच्छ है

---

१ भा०दु०, चं०ना० में प्रयुक्त

२ श्रीनिवास० ०ल०-- रण० और प्रेम०

३ भार० उदय० ख की उ दुर्लभ

४ ऐसे प्रयोग भारतेन्दु की कृतियों से ही प्राप्त हुए हैं ।

+ भारतेन्दु की रचनाओं में इन शब्दों के साथ कहीं भी परसर्ग का प्रयोग नहीं हुआ है, चाहे उनकी पाण्डुलिपि हो अथवा उनके युग की मुद्रित रचना ।

जिस असभ्य राजा ने चित्तौर नगर आक्रमण किया था

होम इत्यादिक से वश[+] नहीं होते

हम विष्णु और शिव भी तुम्हारे वश[+] होंगे

संयुक्त क्रिया में यदि संयोगी शब्द संज्ञा होता है तो उसके पूर्व के भेदक में परसर्ग का आना अनिवार्य है, किन्तु भारतेन्दु ने कहीं-कहीं बिना परसर्ग के ही प्रयोग किया है, यथा--

देवल बाड़ा ग्राम निर्माण किया

द्विविध रूप | सन्तोष इच्छा आदि सृष्टि हुई[1]
| स्थूल अंश से जगत की सृष्टि हुई

(२) अनुपयुक्त परसर्ग प्रयोग --[2] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विभिन्न निबन्ध रचनाओं से उद्धृत अधोलिखित अनुपयुक्त परसर्ग प्रयोग सम्बन्धी उदाहरणों से यह विदित होता है कि ऐसे प्रयोग उस समय कुछ अंशों में मान्य थे, यथा--

(१) संज्ञा के साथ --

भोज राजा को कवित्व पर बड़ी प्रीति थी .... (से)

राजा फिर तीर्थ में चला .... (के लिए)

यूसुफगुल के कन्या के गर्भ में बाप्पा को एक पुत्र जन्मा था, एक एक पुत्र दोनों में प्रकट भये ..... (से)

\+ भारतेन्दु की रचनाओं में इन शब्दों के साथ कहीं भी परसर्ग का प्रयोग नहीं हुआ है, चाहे उनकी पाण्डुलिपि हो अथवा उनके युग की मुद्रित रचना ।

१ उदय०, इशु और ईश०

२ विशेष सन्दर्भ के लिए दे० 'भारतेन्दु की खड़ीबोली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' ३.२ (ख) ले०-- श्या० श्रीवास्तव ।

यद्यपि इस बात से औरंगजेब को गर्व बढ़ गया .... ׀ का ׀

जो तुम्हारे उन्नति पथ को कांटा हो .... ׀ का ׀

जगदीश्वर को भेदरूपी तेज का किंचित किरण हाथ लग जाए ׀ के ׀

इसी अवसर में ये चोर भी उस नगर में आए ....
उस अवसर में बड़ा उत्सव हुआ .... ׀ पर ׀

कई बरस उस राजधानी पर जल नहीं बरसा .... ׀ में ׀

छ राजाओं ने इसी पर्वत भुमि का राज्य किया.... ׀ पर ׀

उसके बदले यहां के लोगों को जितना निकम्मापन हो ׀ में ׀

(२) सर्वनाम के साथ --

तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं .... ׀ तुमसे ׀
जिस बात की तुम पर एक बार ताकीद कर दी जाय .. ׀ तुमको, तुम्हें ׀

जो हम लोगों के दिखलाई पड़ता है .... ׀ को ׀

इससे अब तुम इसको घृणा करो .... ׀ इससे ׀

ईश्वर तुमको रक्षा करेगा ...... ׀ तुम्हारी ׀

प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है .... ׀ तुझे ׀

पराया उसको कोई रही नहीं जाता (भट्ट निबन्धावली) ׀ उसके लिए ׀

(३) स्त्रीलिंग भेद्य (अथवा विशेष्य) के पूर्व पुंल्लिंग प्रत्यय

भेद्य के स्त्रीलिंग होते हुए भी भेदक भेदक के साथ पुंल्लिंग प्रत्यय का प्रयोग प्रायः व्याकरणिक नियम की अनभिज्ञता अथवा बोलचाल में पूर्वीपन के प्रभाव स्वरूप कर दिया जाता है। भारतेन्दु-युगीन साहित्यिक भाषा में भी कतिपय लेखकों द्वारा यत्र-तत्र ऐसे प्रयोग कर दिए गए हैं, विशेषतः पूर्वी क्षेत्र के लेखकों द्वारा।

यथा-- भारतेन्दु तथा बदरीना० चौधरी की कृतियों से लिए गए उदाहरण--

तीन यात्रियों के सन्तान, क्षत्रियों के पंक्ति में, राजपुरुष के भांति

अपने बुद्धि की तीक्ष्णता, उनके सन्तान, उसके विद्या का प्रकाश आदि ।

भारतेन्दु तथा बदरीनारायण चौधरी की रचनाओं में तत्कालीन अन्य प्रमुख लेखकों की अपेक्षा ऐसे प्रयोग अधिक हैं । प्रयोग की ऐसी असावधानी आगे चलकर द्विवेदी-युगीन भाषा में भी इतस्ततः देखने को मिल जाती है ।

(४) कारक परसर्गों को मूल शब्दों से सटाकर तथा हटाकर (अलग) लिखने में विरूपता[१]--

भारतेन्दु-युग में विभक्ति चिह्नों के प्रयोग की दो शैलियां चल पड़ी थीं -- एक, मूल शब्द से अलग हटाकर लिखने से सम्बन्धित थी तो दूसरी, संस्कृत शब्द रूप योजना के अनुसार मूल शब्द से सटाकर लिखने से सम्बन्धित । तत्कालीन अधिकांश लेखक तो मूल शब्दों से विभक्ति चिह्न को अलग ही लिखते थे, किन्तु उस समय कुछ पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से संस्कृत-शैली की भांति विभक्ति-प्रत्ययों को मूल शब्दों से सटाकर[२] अर्थात् एक ही शिरोरेखा के अन्तर्गत लिखने की विधि चल पड़ी थी, यथा--

करने को, देश में, पृथ्वीतल से, किसी के, दूसरों के आदि[३]

सजधज का, उसमें, मैदान में, नेत्रों के, पंचायतों से आदि[४]

तरह का, दुष्काल का, छप्पर पर, दरिद्रावस्था में, इसी से[५]

---

१ द्विवेदी-युग में इस समस्या ने ज्वलन्त रूप धारण किया । इसका विस्तृत विवरण द्विवेदीयुगीन भाषा सम्बन्धी समस्याओं के अन्तर्गत किया जायेगा ।

२ कलकत्ते तथा बम्बई के पत्रों में प्रत्ययों को सटाकर लिखने का चलन था । आगे चलकर उक्त दोनों प्रकार की शैलियों को लेकर विभिन्न मतवाद चल पड़े थे ।

३ मु० देवीप्रसाद कविरत्न माला प्र० भारतमित्र में प्रकाशित ।

४ श्रीनिवास० -- रण० और प्रेम ० कलकत्ते से प्रकाशित

५ राधाचरण ० श्री दामा नाटक--बम्बई से प्रकाशित ।

२. क्रिया--

तत्कालीन क्रिया-प्रयोगों में आधुनिक साहित्यिक खड़ीबोली की सामान्यता वर्तमान होते हुए भी प्राचीन संस्कारों एवं विभिन्न हिन्दी बोलियों के प्रभाव-स्वरूप कुछ ऐसी विशिष्टताएं निहित हैं, जिनके कारण भाषा में द्वैधता आ गई है। ये विशिष्टताएं कुछ इस प्रकार हैं --

(१) बोलियों तथा उच्चारण के प्रभाव-जनित रूप अथवा वर्तनी सम्बन्धी द्वैधताएं, यथा-- हुए /हुवे, आओ / आवो, जायं/जावें, जायंगे/, जावेंगे/ जावैंगे, आदि। इनके अतिरिक्त `रखना` क्रिया के भूतकालिक एवं सम्भावनार्थ रूप `रक्खा`, `रक्खेंगे` तत्कालीन भाषा में सामान्यत: प्रयुक्त हैं (उक्त प्रयोगों एवं उनके सन्दर्भ के लिए दे० इसी प्रकरण में `स्थानान्तरित शब्दों का वर्ण संयोजन)।

(२) पूर्वकालिक क्रियाओं के प्रत्यय `कर` तथा पूर्वी बोलियों के फलस्वरूप `के` दोनों का प्रयोग, यथा--

जाकर, होकर, उठके, आके[१] आकर, कहकर, उतरके, देखके[२]।

(३) यौगिक क्रिया (कृदंत+क्रिया) सम्बन्धी विशिष्टताओं में तत्कालीन उल्लेखनीय विशेषता है इच्छाबोधक क्रिया `चाहना` के साथ मुख्य क्रिया का भूतकालिक कृदंत के रूप में योग, यथा--

किया चाहते, सुनाया चाहता हूं, करवाया चाहते हैं[३]

किया चाहता, लाया चाहते हैं, छिपाया चाहता हैं[४]

जताया चाहता[५]।

---

१ भार० -- ब० से नृ०, अ० की उ० तथा स को उ० आदि रचनाओं से।

२ प्रताप०मिश्र : `संगीत शाकुन्तल`।

३ भार० : `हिं०भा०, चं०ना०, स०ह० से।

४ भट्ट : `भट्ट निब० तथा शिक्षादान से।

५ श्रीनिवास० : `रण० और प्रेम०।

क्रिया का उक्त स्वरूप उर्दू-शैली की देन है ।

उक्त प्रयोगों के अतिरिक्त नामधातुओं यथा--

(४) यौगिक क्रिया में-- क्रियार्थक संज्ञा का अस्वाभाविक रूप, यथा-- प्रदान करने चाहते हो,[१] मुझे मारने चाहती है, माला गूथने क्या जानो आदि। ये प्रयोग आज की भाषा में शुद्ध हिन्दी के अन्तर्गत नहीं आते । द्विवेदी-युग में भी ये प्रयोग उपयुक्त नहीं समझे जाते थे । नाशना,[२] जन्मना,[३] निहारना,[४] पालना, पोलना, उमगना घिनाना आदि का अधिक प्रयोग भी तत्कालीन क्रिया-प्रयोग की विशेषता है । आगे चलकर इनका प्रयोग संयुक्त क्रिया के रूप में अधिक उपयुक्त समझा गया ।

क्रिया सम्बन्धी तत्कालीन विशेषताओं में कुछ ऐसी भी विशेषताएं हैं, जो द्विवेदी-युग में भी वर्तमान रही है । इन विशिष्टताओं का सन्दर्भ द्विवेदीयुगीन भाषा के विश्लेषण (युग की सिद्धि) के अन्तर्गत आवश्यकतानुसार यथास्थान दे दिया गया है ।

३. अव्यय ⟶

यों तो भारतेन्दु-युग में हिन्दी में प्रयोग किए जाने वाले सम्पूर्ण अव्ययों का प्रयोग किया गया है, किन्तु जो युग की विशेषता है, वह यह है कि इस युग में संस्कृत के अव्ययों का आधिक्य है । इनमें से विभागबोधक अव्यय 'वा' के प्रयोग भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों की भाषा में अधिक मिलते हैं,यथा--

----

१ भार० -- पं०प०, क०म०, वि०सु०

२ भार० -- गी ० , प्रे०जो० आदि रचनाओं में प्रयुक्त ।

३ 'ब्राह्मण पत्रिका' ।

४ भट्टनिब० ।

एक महीने वा पक्ष वा तीन दिन वा एक दिन तक धारण करार रहे

यह कामदेव की मूर्तिमान शक्ति है, वा शृंगार की साक्षात् लता है, वा सिमटी हुई चन्द्रमा की चांदनी है वा हीरे की पुतली है वा वसन्त ऋतु की मूल कला है।[1]

अमेरिका के किसी जंगली वा पहाड़ी असभ्य जाति की है, वा काबुल के मुगलों की वा दुनिये के बाहर कहीं के शैतानों की बोली है।[2]

इसके अतिरिक्त वरंच (वरंच भी),[3] किंच,[4] अकच,[5] सुतराम्, सम्प्रति[6] आदि अव्यय भी बहु प्रचलित थे।

अन्य प्रयोगों की भांति अव्यय प्रयोग में द्विविधात्मकता भी तत्कालीन भाषा-प्रयोग की विशिष्टता है। भिन्न-भिन्न लेखकों की भिन्न-भिन्न रचनाओं के प्रयोग में तो विभिन्नता वर्तमान है ही, किन्तु एक ही लेखक की, एक ही कृति में, एक ही पृष्ठ पर शब्दों का परिवर्तन भाषा में अधिक शब्द-ग्रहण की प्रवृत्ति का संकेत देता है। इस सन्दर्भ में `प्रेमघन सर्वस्व` से लिए गए कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं, यथा--

----

१ भार० -- पवि , क०मं०

२ बदरीना० चौधरी : `प्रेमघनसर्वस्व`

३ भार० : का०कु० एवं बदरीना० चौधरी --`प्रेमघन सर्वस्व`।

४ भट्टनिब० द्वितीय भाग

५ `ब्राह्मण पत्रिका`

६ बदरीना० चौधरी : `प्रेमघन सर्वस्व`।

'संसार भर की भाषाओं की मां कहो या दादी, खान कहो वा मूल (जड़) अथवा मूल का बीज रूप'।[१]

'प्राय: स्त्रियों के नाज व अन्दाज़ के कारण' }
'सारांश यह कि सदा से एक नागरी और दूसरी ग्राम्य भाषा } २
प्रचलित रही'।[२]

अव्यय के रूप-सम्बन्धी अनियमितताओं में भारतेन्दु की कृतियों से लिए गए कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं, यथा--

धीरा चलता है।[३]
विचित्र विचित्र बोली बोली जाती है जैसा पुरबियों की बोली[४] }
जैसा 'आवतहई' के स्थान पर आवत बाटी। }
उस वर्णन के अन्त में यह लिखना अवश्य है।[५]

इनके अतिरिक्त अव्यय का अनावश्यक प्रयोग, एक अव्यय के स्थान पर दोहरे अव्यय का प्रयोग जैसी अनियमितताएं भी यत्र-तत्र वर्तमान हैं, जैसे --

निश्चय आज उस करुणामय विषय के वर्णन की आवश्यकता आ पड़ी कि जिसे स्मरण कर न केवल मनुष्यमात्र को शोक मूर्छा आए।[६]

---

१ प्रेमघन की यह प्रवृत्ति आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी में भी देखने को मिलती है।

२ ~~पूर्व~~, वही

३ क०म०

४ हिं०भा०

५ दि०द०द० -- अन्य रचनाओं यथा-- बु०रो०, ह० की उ०, सं०सा आदि में भी

६ आनन्द कादम्बिनी।

यह वह विषय है कि जिसमें बड़े बड़े बुद्धिमानों ने....[१]

लाकेट और पिन तथा च सुनहरी तलवारें इत्यादि बिकने को प्रस्तुत हैं .... प्रसिद्ध मनुष्यों के तथाच सुन्दरियों के चित्र बनकर आये ।[२]

ख. ३. वाक्य

द्विवेदी पूर्व भाषा में ध्वनि-प्रयोग, शब्द-निर्माण, पद-रचना एवं प्रयोग सम्बन्धी अनियमितताओं की भांति शब्दों के अन्वय, क्रम तथा शब्द-चयन की अनभिज्ञता आदि के फलस्वरूप वाक्यों के निर्माण एवं प्रयोग सम्बन्धी अनियमितताएं भी वर्तमान हैं । चूंकि वाक्य ही भाषा का ताना-बाना है, इसीलिए भाषा के विकास के सम्बन्ध में सामान्यत: प्रयत्न यही रहा है कि वाक्य सुडौल, सुसंगठित एवं निश्चित अर्थ-सूचक हो, किन्तु प्रयोगों की स्वच्छन्द-वादिता अथवा कहीं-कहीं भाषा-रचना की अनभिज्ञता एवं असावधानी के कारण शब्द-चयन, शब्द क्रम, अन्वय आदि सम्बन्धी दोष तत्कालीन भाषा में प्राय: मिल जाते हैं । ऐसे दोष तत्कालीन प्रमुख लेखकों में से भारतेन्दु की कृतियों में अधिक दृष्टिगोचर होते हैं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूर्वी क्षेत्रों के लेखकों में पश्चिमी क्षेत्रों के लेखकों की तुलना में ऐसे प्रयोग अधिक हैं । तत्सम्बन्धी कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :--

१. शब्द-चयन --

तत्कालीन भाषा में प्रयुक्त अनेक शब्द ऐसे हैं, जो वाक्य में अर्थादि की उपयुक्तता एवं स्थल-विशेष की आकांक्षा, योग्यता आदि की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की कसौटी पर अंशत: उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त ठहरते हैं । उदाहरण के रूप में इनके मुख्य दो वर्ग किए जा सकते हैं :--

---

१ बदरीना० चौधरी : `प्रेमघन सर्वस्व` प्रेमघन जी की यह शैली ही रही है ।

२ हरिश्चन्द्र चन्द्रिका : `विज्ञापन`

(१) ऐसे शब्द जो कथ्य विषय के अर्थ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं है,[१] यथा --

मैं फिर से इस जाति के समाचार अन्वेषण में उत्सुक हुआ[२]... (तत्पर)

बाप्पा का परिचय जिज्ञासा करने से[३] .... (पूछने से)

बहुत से पंडितों का निश्चय है कि शिशिपा शीशम के वृक्ष को कहते हैं[४]। (मत)

उनमें मुझे पूरा निश्चय है कि आर्य लोग पहले इन्हीं देशों में बसते थे।[५] (विश्वास)

लोग सिद्धान्त करते हैं कि गुप्तवंश जब प्रबल था तब....[६] (अनुमान)

सिद्धान्त यह है कि वहां के[७] लोगों का यह सिद्धान्त है कि एक छिन भी व्यर्थ न जाय। (तात्पर्य)

'प्रगट' के स्थान पर किए गए कुछ शब्दों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं, यथा--

ऐसे घोर समय में आदरणीय अली ने बड़ा सन्तोष प्रकाश किया

उसके अनुसार[८] बाप्पा का विवाह करना उसके संगियों ने प्रकाश न किया।

---

१ रेखांकित शब्दों के स्थान पर आधुनिक प्रयोग के अनुसार उपयुक्त शब्द सामने कोष्ठक में दे दिए गए हैं।

२ भार० -- स० की उ०

३ वही -- उदय०

४ वही -- रा० का स०

५ वही -- स० की उ०

६ वही -- उदय०

७ वही -- H.C.I.B.R.

८ भार० -- प०प० तथा उदय० भारतेन्दु ने प्रकट के स्थान पर प्रकाश शब्द का व्यवहार अधिकांश निबन्धों में किया है।

उसी तरह आदमी के छिपे हुए से छिपे गुण-अवगुण भी बिना प्रकाश हुए नहीं रह सकते[१]।

एक छोटी सी बात को भी दूर दूर के बड़े बड़े मनुष्यों पर विदित करने में समर्थ हुत यही है[२]।

भारतेन्दु तथा भट्ट की कृतियों में कुछ प्रयोग ऐसे हैं, जो आज तो नितान्त अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं, किन्तु युग-विशेष में प्रतिनिधि लेखकों द्वारा गृहीत होने के कारण साहित्य में प्रतिष्ठित रहे[३], जैसे --

सो आज उसे जो मेरे वंश[४] में हो उसको यह मेरी आन है कि देवी हिंसा भी न करे.... ﴾ सौगंध ﴿

तो उर्दू म्युनिसिपैलिटी के दफ्तरों को क्यों सब ओर से आक्रमण किए हैं[५]। ﴾घेरे हुए हैं﴿

प्रतिवाद जो कहता है[६] उसे क्यों न मान लें उसका जी दुखाने से उपकार क्या। ~~इसमें आत्मत्याग की वासना~~ ﴾ लाभ ﴿

हममें आत्म त्याग की वासना बहुत कम हो गई है[७].... ﴾भावा ﴿

उसे भी अभ्यास (कल्चर) के द्वारा बढ़ाना[८] .... ﴾प्रैक्टिस﴿

---

१ भट्ट निब० १

२ बदरीना० चौधरी : `प्रेमघन`

३ बालकृष्ण भट्ट ने ऐसे शब्दों का चयन अधिक किया है।

४ भार० -- अ० की उ० ,पृ०४।

५ `हिन्दी प्रदीप`, जि०२१ सं०६।

६ भट्ट निब० १,पृ०

७ भट्ट निब० २, पृ०१८ --आत्मत्याग जैसे सद्भावना के लिए `वासना` शब्द का प्रयोग नितान्त विपरीत प्रतीत होता है, किन्तु सम्भव है इसे `स्वभाव` के अर्थ में उपयुक्त माना जाता हो, क्योंकि आगे चलकर शुक्ल अथवा श्यामसुन्दर-दास जैसे भाषाविद् ने भी मन के अच्छे भावों को कहीं-कहीं `मनोविकार` की संज्ञा दे दी है।

८ भट्ट -- मन की दृढ़ता। अभ्यास का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द `कल्चर` का प्रयोग लेखक के स्वच्छन्द प्रवृत्ति का द्योतक है, अन्यथा यहां `प्रैक्टिस` शब्द की आवश्यकता थी।

(२) दूसरे प्रकार के शब्द वे हैं, जो अपने सहयोगी अथवा सम्बन्धित शब्दों के साथ वाक्य-रचना की आकांक्षा एवं योग्यता की अनुरूपता प्रदर्शित नहीं करते, उदाहरणार्थ --

संयुक्त क्रियाओं में आज्ञा, धन्यवाद, उपदेश आदि के साथ सहयोगी क्रिया 'देना' के स्थान पर 'करना' का प्रयोग भारतेन्दु-युग में सामान्यत: प्रचलित था, यथा-- आज्ञा की[1], आज्ञा किया[2], धन्यवाद करने लगा[3], धन्यवाद करते हैं[4], धन्यवाद करना चाहिए[5], उपदेश करते हैं[6]।

आज भी कुछ प्राचीन संस्कारों के लेखक ऐसे प्रयोग करते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं, जो अपने सहयोगी शब्दों के साथ अनमिल से लगते हैं, जैसे --

'अधिक', 'बहुत' आदि शब्दों के स्थान पर 'बड़ा' शब्द प्रयोग सम्बन्धी विशेष्य शब्द के साथ अर्थ की सूक्ष्मता की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है, किन्तु भारतेन्दु-युग में यह भेद समाप्त होने लगा था, उदाहरणार्थ--

बड़ा भारी कोष, बड़े भारी पंडित[7]
बड़ा अच्छा जरिया, बड़े कल्याण की बात[8]

----

१ प्रताप० मिश्र : 'आश्चर्य कीर्ति' ।
२ भार० : 'मा० म०'
३ प्रताप० मिश्र : 'आश्चर्य कीर्ति' ।
४ भट्ट निब०
५ हिन्दी प्रदीप
६ भार० : मुहम्मदीय अनु०
७ भार० : हि०भा० , बा०द०
८ भट्ट निब०

द्विवेदी-युगीन अधिकाधिक लेखकों ने ऐसे प्रयोग सामान्यत: किए हैं । अन्य अनमिल प्रयोगों में भारतेन्दु[1] की कृतियों से लिए गए अधोलिखित प्रयोग भी विशिष्टता के द्योतक ही हैं, यथा--

वैष्णव किया .... (बनाया)

बड़ा मंदिर किया ...... (बनाया)

गोशाला कीजि .... (बनाइये)

उसने (राजा ने) विजयपुर का गढ़ बनाया...[2] (बनवाया)

राजपर बैठाया...... (सिंहासन पर, राजगद्दी पर)

आशा देखूंगी .... (आशा करूंगी अथवा 'मार्ग देखूंगी')

दो भिन्न भाषाओं के शब्दों का संकरत्व भी उक्त युग में आरम्भ हो गया था, यथा--

शृंखलाबद्ध तवारीख, सिलसिलेवार (शृंखलाबद्ध) इतिहास[3] ।

शब्द-चयन सम्बन्धी अनियमितताएं तत्कालीन सभी कृतियों तथा पत्र-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र मिलती हैं, किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कृतियों में ऐसे प्रयोगों की अधिकता को देखते हुए यह निश्चित हो जाता है कि इनमें से कुछ प्रयोग तो प्राचीन पद्धति के अनुसार सामान्य सिद्ध थे तथा कुछ प्रयोग भाषा में विविध अर्थ सूचक शब्दावली के विकास की दृष्टि से किए गए थे । इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी अनियमितताएं थीं, जिनकी ओर तत्कालीन लेखकों का ध्यान नहीं जा सका । इनमें से अधिकांश अनियमितताओं की ओर द्विवेदीयुगीन लेखकों का ध्यान गया ।

---

१ उपर्युक्त प्रयोग सामने कोष्टक में दे दिए गए हैं ।

२ राजा ने अपने हाथों अथवा परिश्रम से तो बनाया ही नहीं, अत: यहां प्रेरणार्थक क्रिया 'बनवाना' ही उपयुक्त होगा, किन्तु भारतेन्दु ने अनेक स्थलों पर 'बनाना' शब्द का ही प्रयोग किया है ।

३ देवीप्र० मुंसिफ : 'सिंध का इति०-- उक्त दोनों प्रयोगों में विशेषण-विशेष्य में भाषागत भिन्नता है ।

२. शब्द-क्रम

जहां तक वाक्य में शब्दों,पदों एवं उपवाक्यों की क्रमबद्धता अथवा व्यतिक्रमता का प्रश्न है, तत्कालीन साहित्यिक खड़ीबोली की पद-योजना में पूर्व की अपेक्षा क्रम-बद्धता अधिक मिलती है । भारतेन्दु-पूर्व साहित्य में पद्य-रचना की प्रवृत्ति की प्रमुखता होने के कारण गद्य-रचनाएं भी पद्य-शैली से प्रभावित थीं, अर्थात् तत्कालीन गद्य-रचनाओं में भी कविता की भांति लयात्मकता,तुकान्तता आदि के समावेश से शब्दों के सामान्य क्रम में भी व्यत्यय हो जाता था,जैसा कि भारतेन्दु के अग्रज लेखकों, यथा लल्लू जी लाल, सदल मिश्र,इंशाअल्ला खां, लछमण सिंह आदि की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है । किन्तु भारतेन्दु-युग में गद्य-रचना के प्राय: काव्य-दोष से मुक्त होने के प्रयास के कारण वाक्य-रचनादि में शब्दों के क्रम में प्राय: नियमबद्धता दिखाई देती है । यहां तक कि इस युग में यदि खड़ीबोली में पद्य रचनाएं हुईं भी तो उनमें छन्द निर्माण सम्बन्धी प्रमुख आवश्यकताओं के अनुसार शब्द-क्रम में उलट-फेर कुछ सीमा तक ही किया गया, यथा--

कहां हो ऐ हमारे राम प्यारे
किधर तुम छोड़कर मुझको सिधारे
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था
इसी को देखने में मैं बचा था
छिपाई है कहां सुन्दर व मूरत
दिखा दो सांवली सी मुझको सूरत -- (भारतेन्दु)

फिर भी वाक्य-रचनादि की स्वच्छन्दता अथवा प्रयोगगत अनभिज्ञता,बोलियों के प्रभाव तथा कुछ अंशों में गद्य में लचीलापन लाने के प्रयास के फलस्वरूप कुछेक स्थलों पर क्रम भंगता के उदाहरण मिल जाते हैं, जो अधोलिखित हैं :--

(१) भेदक-भेद्य सम्बन्धी -- अर्थात् भेद्य (सम्बन्धी शब्द) का भेदक (सम्बन्धकारक) के पूर्व आना, यथा--

अन्त में परिणाम इस बात का यह हुआ कि...

वह कमी भी उसे भली भांति संभाल दी गई ।

और अपव्यय- तुम्हारा आह्निक हो रहा है ।[2]

(२)

विशेषण-विशेष्य सम्बन्धी -- विशेषण -विशेष्य के सम्बन्धों में क्रमबद्धता अधिक दिखाई पड़ती है । प्राय: उक्त युगल शव्दों के मध्य में दूसरे शव्द अथवा वाक्यांश आ जाने से अथवा परस्पर स्थान-परिवर्तन से क्रमभंगता अथवा व्यतिक्रम सम्बन्धी दोष आ गया है, उदाहरणार्थ --

अनेक अरब की स्त्री कैसी अव्यभिचारिणी और मन्द प्रकृति है ।[3]

कुछ उसका असर हो या न हो ।[4]

लाभ तो कौड़ी एक का लखाई नहीं पड़ता ।[5]

(३) अव्यय सम्बन्धी --

अव्यय शव्दों में `न` का वह स्थान जो पूर्वी हिन्दी की बोलियों के फलस्वरूप पूर्वी लेखकों की भाषा में निर्धारित किया गया है, विशेष उदाहृतव्य है, यथा--

अब देखते न हैं तू कैसा काव्य पढ़ती है

हम तो अधर्म नहीं न कर सकते[6]

---

१ भट्ट : `मन की दृढ़ता + यहां पद दोषपूर्ण है । यह पद कर्ताकारक का होना चाहिए और अपने सम्बन्धी शव्द के पूर्व लिखा जाना चाहिए ।

२ भार० : अप० । ३ भार०-- प०प०। ४ भट्ट निब० १

५ बदरीना० चौधरी : प्रेमघन सर्वस्व ।

६ भार० -- क०मं० तथा नी० दे० में क्रमश: -- इनके अतिरिक्त भारतेन्दु की अन्य रचनाओं में भी बहुधा ऐसे प्रयोग मिलते हैं । यह उनकी स्वयं की भाषा का प्रभाव है ।

जब हमने न कुछ किया तब सिवा उसके और क्या कहा जाय...[१]

क्रिया के कालसूचक प्रत्ययों के पूर्व 'हो' शब्द का आना विचित्र लगता है, यथा--

उतरैहो गो[२], बढ़े हो गा[ग्र], पिघलैहोगे, हो हो गे[३]

इनके अतिरिक्त विभिन्न भेदों के व्यत्यय- सम्बन्धी कतिपय उदाहरण अधोलिखित हैं :--

कांचीपूर्ण ने इस पर अति प्रसन्न होकर यतिराज को स्वामी की पदवी दिया;[४] और इच्छा थी कि विचर विचर इस अनोखी वाटिका में जिसे संसार कहते हैं।[५]

माना हमने, ये लोग बहुधा पूर्ण सुशिक्षित होते हैं।[६]

शब्द-क्रम की अनियमितता बालकृष्ण भट्ट की रचनाओं में अधिक है । अधोलिखित वाक्य में शब्दों एवं उपवाक्यों का व्यतिक्रम द्रष्टव्य है--

फल अन्त में इसका यही होता है कि जो कितनों का दुखी होता है मानता उसके कहने को वही है जिसे उसके कथन में श्रद्धा है ।[७]

३. अन्वय --

द्विवेदीपूर्व भाषा की वाक्य-रचना-सम्बन्धी अनियमितताओं में प्रमुख अनियमितता पदों के परस्पर सम्बन्ध-निर्धारण अथवा अन्विति से सम्बन्धित है । तत्कालीन लेखकों, विशेषत: पूर्वी क्षेत्र के लेखकों में उक्त अनियमितता

----

१ भट्ट निब० १   २ भट्टनिब० १

३ भार० : च०ना० मुकंप, भुण० भारतेन्दु की इन रचनाओं में ऐसे प्रयोग कई स्थलों पर हैं ।

४ भार० : चरिता०   ५ भट्टनिब० १

६ हिन्दी प्रदीप

७ भट्टनिब० १

अधिक पाई जाती हैं । सबसे अधिक अनियमन तो युग-प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा में ही वर्तमान है । उदाहरण के रूप में कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं :--

(१) कर्ता तथा क्रिया सम्बन्धी

कर्ता तथा क्रिया के सम्बन्ध में सामान्यता के अतिरिक्त कुछ ऐसी विशेषताएं मिलती[1] हैं, जिनमें लिंग,वचन, कारकादि के अनुसार प्राय: अनन्वय हो गया है, यथा--

(क) लिंग के अनुसार -- प्रयोगगत अनभिज्ञता के परिणामस्वरूप स्त्री-लिंग कर्ता की क्रिया पुंल्लिंग तथा पुल्लिंग कर्ता की क्रिया स्त्रीलिंग हो गई है, जैसे --

ये सब जाति शाकदीप से किस काल में यहां आए[2]

(लेखक ने यहां `जाति` का अर्थ मानव के विशिष्ट वर्ग से लिया है, इसलिए क्रिया पुंल्लिंग है, किन्तु `जाति` शब्द स्त्रीलिंग होने के कारण उसकी संगति स्त्रीलिंग क्रिया से ही हो[3] सकती है ।)

योगिनी श्रीकृष्ण बनकर उठाकर गले लगाते हैं

(उपर्युक्त वाक्य में क्रिया का सीधा सम्बन्ध `योगिनी` से है,किन्तु उसका सम्बन्ध कृष्ण से स्थापित करके उसे पुंल्लिंग कर दिया है, जो सामान्य नियम के विरुद्ध है ।)

(ख) वचन के अनुसार -- अर्थात् कर्ता बहुवचन और क्रिया एक वचन तथा कर्ता एक वचन और क्रिया बहुवचन , जैसे --

----

१ अधिकांश उदाहरण भारतेन्दु की कृतियों से ही प्राप्त हुए हैं । अत: सन्दर्भ में में केवल रचनाओं के नामों का संकेत ही दिया जायेगा । जहां अन्य लेखकों के प्रयोग होंगे वहां लेखकों के नाम भी दे दिए जायेंगे ।

२ उदय०

३ च० ना०

उनको कुछ देश भी इसी कारण मिला[१]
सब कोई ऐसा कर लेगा, कोई कहते हैं [२]
कहीं कोई होंगे[३]

(२) कर्म तथा क्रिया सम्बन्धी

वाक्य के कर्मणि-प्रयोग में क्रिया का रूप कर्म के लिंग, वचनादि के अनुसार न होकर पुंल्लिंग - एक वचन में होना बोलचाल में असावधानी का द्योतक है। ऐसे प्रयोग कहीं-कहीं भारतेन्दु की कालीन कृतियों में भी मिलते हैं, यथा--

मैंने अच्छी कविता किया
उन्होंने विनती करना चाहा [४]
कोई ऐसी बात ही नहीं किया[५]

ऐसे प्रयोग अधिक नहीं हुए हैं।

(३) विशेषण तथा विशेष्य सम्बन्धी

विभागबोधक विशेषण के साथ विशेष्य के बहुवचनात्मक रूप का प्रयोग तो तत्कालीन लेखकों ने विरल ही किया है, यथा--

हर विद्याओं की खान
सब दरबारी लोग अपनी अपनी जगहों पर आ गये [६]

----

१ चरिता०   २ हिं०भा०   ३ भट्ट नि०

४ [illegible] 'प्रेमघन सर्वस्व' ४ भार० -- पं०प०

५ भार० चरिता०, दि०द०द०

५ भार० -- पं०प०

६ भार० चरिता०, दि०द०द०।

किन्तु भारतेन्दु के अधिकांश निबन्धों में सामान्यतः बहुवचन विशेषण के साथ विशेष्य के एक वचनात्मक रूप का ही प्रयोग हुआ है,जैसे--

बहुत सी रीत ऐसी बिगड़ गई है
अनेक आख्यायिका है
सब वस्तु उसमें रक्खी रहा करती थी } 1

और इसी प्रकार सूरसेनी,मागधी,पैशाची इत्यादि प्राचीन भाषा देशकाल के अनुसार प्रचलित और नष्ट हो गई ।[2]

(दे० इसी प्रकरण में संज्ञा के `वचन सम्बन्धी` विशिष्टताएं)

(४) भेदक तथा भेद्य सम्बन्धी

भेदक(सम्बन्धकारक) तथा भेद्य (सम्बन्धी शब्द) सम्बन्धी असम्बद्धताओं में विशेष ध्यान देने योग्य विशेषता है भेद्य के लिंग के अनुसार भेदक के प्रत्यय का न होना अर्थात् स्त्रीलिंग भेद्य के पूर्व सम्बन्ध कारक के प्रत्यय का पुंल्लिंग रूप में होना । ऐसे प्रयोग पूर्वी क्षेत्र के लेखकों की भाषा में ही विशेष रूप से वर्तमान हैं, उदाहरणार्थ --

मातामह के समाधि पर
ऋषियों के सन्तान } 2[3]

जहान के जबान की पूरी योग्यता होने पर
हमारे लड़के-बाले औरतों के बोलचालमें मिले
जो देश के प्रत्येक दशा का दृश्य दिखाकर } 4

प्रत्येक भारत सन्तान के छाती पर[5]

---

१ भार० -- वुरी० री०, चरित्ता० इनके अतिरिक्त अन्य निबन्धों में भी ऐसे प्रयोग वर्तमान हैं ।

२ बदरीना० चौधरी : `प्रेमघन सर्वस्व`

३ भार० -- प०प० , ख० को उ०

४ बदरीना० चौधरी --`प्रेमघन सर्वस्व`

५ वही -- भा०सौ० ।

(शेष दे० इसी प्रकरण में `कारक परसर्ग प्रयोग सम्बन्धी विशिष्टता` भी)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा बदरीनारायण चौधरी की कृतियों में प्राय: ऐसे प्रयोग मिलते हैं ।

(५) अन्य कारक सम्बन्धी

(क) संज्ञा, सर्वनाम के अन्य कारकीय प्रयोगों में शुद्ध व्याकरणिक प्रयोग के अनुरूप अपेक्षित कारक प्रत्यय के स्थान पर भिन्न कारक प्रत्यय के प्रयोग के उदाहरण भी भारतेन्दु की ही खड़ीबोली में अधिक मिलते हैं, जैसे --

उनको आक्रमण करके }[१]
तुमको रक्षा करेंगे }

हा ऐसी दशा में उन्हें ऐसी विपद पड़ी[२]

वह कभी भी उसे भली भांति संभाल न दी गई[३]

(ख) परसर्गों का अनावश्यक प्रयोग भी कहीं-कहीं देखने को मिलता है, यथा--

कायरों ने यह कह कर बच गये[४]

हिन्दी ग्रन्थानुसार से पृथ्वी के उत्तर केन्द्र का नाम[५]

---

१ पं० प०

२ चरिता०

३ भट्ट : `मन की दृढ़ता`

४ भार० ख० की उ०

५ वही -- उदय०

(ग) कहीं-कहीं परसर्ग लोप से भी वाक्य दोष पूर्ण हो गया है, यथा--

वास्कोडिगामा पुर्तगाली लोगों के साथ कालीकट प्रवेश किया[1]

(६) उपवाक्य - उपवाक्य सम्बन्धी

वाक्यांशों अथवा उपवाक्यों की परस्पर अन्विति का विचार न किए हुए कुछ ऐसे भी प्रयोग किए गए हैं, जिनसे वाक्य अस्पष्ट अथवा दोषपूर्ण हो गया है, उदाहरणार्थ--

जो लोग अपने को देश हितैषी लगाते हों वह अपने सुख को होम करके अपने धन और मान का बलिदान कर कमर कस के उठो[2]

पश्चिमात्यों की कुरीति है कि थोड़ी सी आग जलानी[3]

समाचार पत्र को जिसे प्राय: अन्य ऐसे मनुष्य कि जो भली भांति इसके[4] स्वाद से वंचित हैं, केवल यही समझ लिया है कि......

इसी समय तैमूर लंग जो कि परमेश्वर की मानो मूर्तिमयी शक्ति थी बहुत से तातारियों को लेकर हिन्दुस्तान आया[5]

इस प्रकार के शिथिल वाक्यों के उदाहरण भारतेन्दु की कृतियों में प्राय: मिलते हैं ।

उपर्युक्त अनियमितताओं के अतिरिक्त वाक्य के अनावश्यक संक्षेपीकरण अथवा विस्तार की प्रक्रिया से भी गठन एवं अर्थ दोनों ही दृष्टियों

---

१ भार० -- म० का इ०

२ भार०

३ भार० -- होली

४ बदरीना० चौधरी : 'प्रेमघन सर्वस्व'

५ भार० -- बा० द०

से वाक्य दोषपूर्ण हो जाता है । बदरीना० चौधरी का रचनाओं में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, यथा--

संक्षेपीकरण

सारांश उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता रहती कि हम लोग तो केवल कलमस्सर हैं दूसरों के लेख से भरे पुलिंदे में केवल समालोचना और सूचना मात्र जिसे हमें लाचार हो आप लोगों का लिखा लेख स्वीकार करना पड़ा ।

विस्तार

इस वेद भाषा अर्थात् देववाणी का संस्कृत से बहुत कम सम्बन्ध था, बल्कि उसको पहली अथवा पुरानी संस्कृत कहना योग्य है कि जिससे अब के संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों में (सो भी केवल वे कि जिन्हें पूर्वोक्त अर्थात् वेद भाषा के ज्ञान की समस्त सामग्री और अंगों से ज्ञान है ।

'यद्यपि अब महात्मा मुहम्मदीय मतावलम्बी बादशाहों की कृपा से हमें उस समुद्र का एक चुल्लू पानी मिलना बचकर शेष रह गया कि जिसके इतने बच रहने का भी आश्चर्य है, ईश्वर की सृष्टि जो कभी किसी वस्तु से रहित नहीं होती, अतएव लाख उपद्रव अग्नि से जली रस्सी की ऐंठन से उसके पूर्व रूप का अनुमान करना पड़ा, तिसपर ये सब आज मौजूद और प्रस्तुत मिलते फिर उस संस्कृत के चमकीली चमक की क्या दशा रही होगी स्थाली पुलक न्याय से जानने योग्य है ।'

तात्पर्य यह है कि द्विवेदी पूर्व भाषा में वाक्य-रचना सम्बन्धी कुछ ऐसी अनियमितताएं वर्तमान थीं, जिनका निराकरण होना साहित्यिक हिन्दी की शुद्धता अथवा परिष्कार की दृष्टि से आवश्यक था ।

----

१ सम्पूर्ण उदाहरण 'प्रेमघनसर्वस्व' से उद्धृत हैं ।

ख. ४. विरामादिक चिह्न

यह तो निर्विवाद सत्य है कि द्विवेदी-युग के पूर्व अर्थात् भारतेन्दु -युग में हिन्दी शैली पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ने के फलस्वरूप खड़ीबोली में विविध विराम चिह्नों तथा संकेत चिह्नों का अवतरण हो गया था, फिर भी उनके प्रयोग में प्राय: नियमबद्धता, सुस्थिरता एवं व्यापकता का अभाव था। अत: उक्त अभावों की पूर्ति भी द्विवेदीयुगीन भाषा के परिष्कार के अभियान का एक मुख्य अंग बन गई। इन अनियमितताओं से सम्बन्धित अनियमितताएं मुख्यत: तो दो प्रकार की हैं --

१. एक स्थिति के विराम के लिए अनेक प्रकार के चिह्नों का प्रयोग

इस युग के चिह्नों के स्वरूप-निर्धारण की विशेष प्रक्रिया न होने के कारण पूर्ण विराम के लिए कई प्रकार के चिह्न प्रयोग किए गए मिलते हैं। यथा-- ।, ।।, . , ० , — , आदि। इनके प्रयोग के उदाहरण अधोलिखित हैं --

(।, ।।) खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिन्दू कहलाके अपने मानव धर्म शास्त्र को न जानै। और सारे काम उसके विरुद्ध करै।। जो वचन ब्राह्मणों में दान दक्षिणा लेने की में अपने उपयोगी समझे उन्हें तो सर्वदा पढ़ाते सुनाते रहे। और जो वचन हमको हमारे धर्म की जड़ जान पड़ते हैं, उन्हें मानो मन ही से भुला दिये[1]।।

किसी नगर में उतरो तो जो तुम मांगते हो तुमको मिले।
और उन्होंने सीमा उल्लंघन की।[2]

---

१ शिवप्रसाद सितारे हिन्द -- मानव धर्म सार सन् १८७६ई०, द्वितीय संस्करण-- शिवप्रसाद की इस रचना के उक्त उदाहरण में विशेषता यह है कि इसमें कविता शैली की भांति एक वाक्य के अन्त में एक खड़ी पाई तथा दूसरे वाक्य के लिए दो खड़ी पाइयों का प्रयोग नियमपूर्वक किया गया है जो गद्य के लिए अपेक्षित नहीं है।

२ भार० -- कुरान (अनु०)

भारतेन्दु को किसी-किसी कृति में तो परिच्छेद के बीच में अन्य विराम चिह्नों का प्रयोग भले ही है, किन्तु परिच्छेद के अन्त में दोहरी खड़ी पाई (।।) का ही प्रयोग किया गया है, यथा--

उत्तर देशों में गौतम को गोडना कहते हैं इसी से गाड शब्द बना ० फारसी में मूर्तियों को बुत कहते हैं ० हरम हर्म्य से, सनम शम्भु से, दैर देवल से, देव देवताओं से और ऐसे ही देवता-वाचक अनेक शब्द दूसरे दूसरों से ।।[1]

(.,०) गाजी मियां और बारों कविता भेज दीजिए. मैं अपने से बाज आया० हाथ जोड़ता हूं कृपा कीजिए० आपकी उदारता पर न जाइये तो मेरी कृपणता पर जाइये० आनन्द कादम्बिनी में मैं नाम पाने से बाज आया.[2 & 3]

मित्रो देशहितैषियो ! पिष्टपेषण इस शब्द से मुंह सिकोड़ना० चाहै पाठकगण तुम्हारे लेखों की हेडिंग भी न पढ़े० चाहै इस विषय में केतना ही आक्षेप युक्त प्रस्ताव क्यों न मुद्रित करें कि तुम केवल पृष्टपेषण करते हो तुम अपने उत्साह को मत शिथिल करो लिखो लिखो ० फिर फिर लिखो ०[3]

(—) आकाश में सिमिट सिमिट लोप होने लगे हैं-- शरद् का आरम्भ हो गया--शीत अपना समान धीरे २ एकट्ठा करने लगा--कुआर का महीना है--उजाली रात है--ग्यारह बजे का समय है--सन्नाटा छाया हुआ है ।[4]

----

१ भार० -- अयोध्या

२ भारतेन्दु लिखित पत्र

३ हिन्दी प्रदीप, मार्च, १८८०, जि०३, संख्या ७ मदनमोहन मालवीय की कृति से ।

४ भट्ट -- सौ अ० एक सु० ।

(+) बाबू तोताराम वर्मा की कृति 'कबीर उपदेश सार' में पूर्ण विराम चिह्न का जो रूप मिलता है, वह निश्चय ही लेखक की स्वतन्त्र अभिरुचि का द्योतक है,यथा--

मैंने यह सोचकर कि उक्त उपदेशों में पढ़ने वालों का चित्त अवश्य प्रसन्न होगा + और कुछ पेश्चल परमार्थ क्या लाभ भी प्राप्त होगा कबीर जी के ग्रन्थों में से थोड़े से दोहे एकत्र किए हैं + ये दोहे कबीर जी जी की साखी कहलाते हैं + इन दोहों में ऐसे उपदेश हैं, जो सब किसी को हितकारी है +

भिन्न-भिन्न लेखकों की भिन्न-भिन्न शैली अथवा रुचि के अनुसार प्रयोग करने की बात तो दूर रही, इस युग की यह विशेषता है कि एक ही लेखक द्वारा किसी विशेष शैली को स्थिर रूप नहीं दिया जा सका है । इस तत्कालीन प्राय: लेखकों ने अलग-अलग रचनाओं में अथवा एक ही रचना में भिन्न-भिन्न विराम चिह्नों का प्रयोग करके अपनी प्रयोगात्मक प्रवृत्ति की स्वच्छन्दता का परिचय दिया है । उदाहरणस्वरूप सर्वप्रथम भारतेन्दु के प्रयोगों को लिया जा सकता है । उनकी हस्तलिखित एवं मुद्रित दोनों प्रकार की रचनाओं में बिन्दु (.) तथा (०) शून्य दोनों प्रकार के विराम चिह्न प्रयुक्त हुए हैं । यहां तक कि उनके पत्रादि की पाण्डुलिपियों में दोनों प्रकार के चिह्नों को एक साथ लाया गया है, (दे० (. , ०) के प्रयोग के अन्तर्गत भारतेन्दु के पत्र से लिया गया उदाहरण) । इतना ही नहीं, किसी-किसी पत्र में तो शून्य, बिन्दु एवं खड़ीपाई तीनों प्रकार के चिह्नों का प्रयोग हुआ है, यथा--

प्रिय वरेषु

अब तक आपका मनुष्य नहीं आया० यहां प्राणान्त कष्ट है० एक एक घड़ी जुग सी बीतती है ० इसमें आपको नुकसान न होगा मैं जिम्मेदार हूं. बल्कि थोक की थोक मैं बिकवा दूंगा । केवल इस समय का काम चला दीजिए. जैसे दो बेर आपने कृपा किये एक बेर और सही और जो आपको उनको रखकर धीरे धीरे न बेचना मंजूर होगा तो सब एक बारगी भी बिक जाय यह सब मैं प्राण में प्राण आने पर प्रबन्ध

कर दूंगा[१]।

इसी प्रकार की द्वैधता के सन्दर्भ में `बाबू तोताराम वर्मा' की रचना `कबीर उपदेश सार' के प्रयोगों के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं । इस कृति में कुछ वाक्यों के अन्त में तो लेखक ने (+) चिह्न का प्रयोग किया है तो कहीं पर (--) चिह्न का । (+) चिह्न के उदाहरण दिए जा चुके हैं । उसी रचना में (--) के कुछ प्रयोग निम्नवत् हैं --

`और आप भगवान ब्राह्मण का रूप धर कबीर जी के सन्मुख गये और कहा कि वन में क्यों दिन भर फिरता है-- कबीर के घर जा, वह रुपे और नाज सबको बांटता है-- कबीर जी ने अपने घर घर आकर सब वृत्तान्त सुना और भगवान की कृपा देख प्रेम में मग्न हो गये --'

बालकृष्ण भट्ट तथा अन्य लेखकों की कृतियों में भी विराम चिह्नों की द्वैधता वर्तमान मिलती है ।

२. दूसरी कोटि की विशेषताएं विराम चिह्नों के अभाव,अनावश्यक प्रयोग एवं अनुपयुक्त प्रयोगादि से सम्बन्धित हैं । अत: तत्कालीन विराम चिह्नों के प्रयोग सम्बन्धी अनियमितताओं के अन्तर्गत उक्त विशिष्टताओं का सर्वेक्षण भी आवश्यक है ।

(क) अभाव

वस्तुत: युगविशेष में विभिन्न स्थलों पर प्रयोग विराम-चिह्नों का अवतरण तो हो गया था, किन्तु रचना करते समय प्राय: लेखकगण अभ्यास के अभाव में अथवा भाषा रचना की अल्पज्ञता के कारण उन चिह्नों का प्रयोग नहीं कर पाते थे । यहां तक कि एक ही रचना में किसी पृष्ठ पर अथवा

---

१ उक्त पत्र भारतेन्दु के अन्तिम दिनों का है,अत: उनके प्रयोगों से विदित होता है कि धीरे-धीरे खड़ीपाई के प्रयोग की ओर भी ध्यान देने लगे थे ।

पृष्टांश पर विराम चिह्नों का प्रयोग यथास्थल किया गया है, किन्तु किसी पृष्ठ अथवा पृष्ठ के कुछ अंश पर इनका नितान्त अभाव है । इस प्रकार की अनियमिततायें तत्कालीन अनेक साहित्यकारों की रचनाओं में देखने को मिलती हैं । उदाहरणार्थ --

'श्रीरामानन्द स्वामी प्रसन्न हुए और परदा उठाकर कबीर जी को छाती से लगा लिया और भगवान का स्मरण और साधु सेवा का उपदेश करके विदा कर दिया कबीर प्रयोजन मात्र कपड़ा बुनने का उद्यम करते थे और मन सदा राम नाम में रहता था एक दिन कपड़ा बेचने बाजार में गए वहां किसी साधु ने कपड़ा मांगा कबीर जी ने उसे दे दिया परन्तु खाली[1] हाथ घर न गये बाहर छिप रहे कबीर के वाले चिन्ता में पड़ गए ।'

'अब गुण सिंधु का कुछ वरणन सुनना चाहिए जो इस बरनगांठ के दिन से उदास और मन मलीन रहने लगा किसी की बात उसे न भाता एकांत में रहना चाहता रात को नींद न आती उसके आकार से जान पड़ता कि उसके अन्त:करण में कोई ऐसा रोग उत्पन्न हुआ है, जिससे[2] इसका शरीर हर क्षण पीड़ित रहता है कोई कहता है कि....'

'और उसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय भक्ति है भक्ति वह गुण है जो अपने आगे तन मन धन लोक परलोक धर्म कर्म विद्या प्रतिष्ठादि किसी को कुछ नहीं समझती बस उसी का अवलम्बन करो उसको यह आज्ञा वेद वाक्य समझो कि प्रेम पात्र के ऊपर सब कुछ वार देना चाहिए फिर देख लोगे कि तुम्हारा जीवन सर्वशक्तिमान विहार स्थल माना जायगा और कभी कहीं----------------------

----

१ कबीर उपदेश सार -- तोताराम वर्मा ।

२ हरिश्चन्द्र मैगजीन--१८७४,पृ०१२० ।

कुछ भी तुम्हारे लिए दुर्लभ न रहेगा[१] ।

इस युग में समव्य पदों अथवा द्विरुक्तादि शब्दों के बीच में संयोजक चिह्न लगाने का प्रचलन अधिक नहीं था, अत: अधिकांश आवश्यक स्थल उस चिह्न से रहित हैं, तदर्थ भारतेन्दु की कृतियों से लिए गए उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

इतिहास चन्द्रमा का दर्शन नहीं होता[२]

खान पान उठक बैठक सब जातियों से न्यारी है[३]

प्रासाद पंक्ति समाकीर्ण नगर राशि इन्द्र की अमरावती की स्पर्द्धा कर रही थी[४]

विचित्र विचित्र बोलियां[५]

उक्त युग में सबसे अधिक सतर्कता प्रश्न-चिह्न के लगाने में बरती गई अन्यथा प्राय: रचनाओं में किसी न किसी विराम-चिह्न का अभाव पाया जाता है ।

(ख) अनावश्यक प्रयोग

विराम-चिह्नों के प्रयोग में दूसरी अनियमितता है इन चिह्नों का उन स्थलों पर भी प्रयोग जहां रचनागत दृष्टि से उनकी आवश्यकता नहीं समझी जाती (विशेषत: आधुनिक भाषा-रचना नियम के अनुसार) भले ही उस युग में इन स्थलों पर उनकी आवश्यकता का अनुभव किया जाता रहा हो ।

---

१ ब्राह्मण -- इस पत्रिका में विराम चिह्न का अभाव है । बीच-बीच में आवश्यकतानुसार प्रश्नसूचक चिह्न भले ही लगा दिया गया हो, किन्तु पूर्ण विराम चिह्न परिच्छेद (पैराग्राफ) के अन्त में ही लगाया गया है और परिच्छेद भी लम्बे लम्बे हैं । यह युग की विशेषता है ।

२ का०कु०भू० ।

३ ख० की उ०

४ इंगलैण्ड और भारत०

५ हिं०भा० ।

जैसे --

संयोजक अथवा विभाजक समुच्चयबोधक अव्ययों के पूर्व विराम-चिह्न का होना सर्वत्र आवश्यक नहीं है (जहां वाक्य के बाद पूर्णतः यति हो जाती है, वहीं आवश्यक होता है) किन्तु इस युग की अनेक कृतियों में ऐसे स्थलों पर भी अल्प विराम अथवा पूर्ण विरामादि लगाए गए हैं[1]। उदाहरणार्थ भारतेन्दु की कृतियों से लिए गए कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं --

'देवता हो, या दानव हो, या मनुष्य हो'

'आनद्ध में मृदंग, और घन[+] में ताल मुख्य हैं'

'मकर संक्रान्त, रथ सप्तमी[+] और माघी पूर्णिमा पूनम ये तीन दिन।वा माघ वदी तेरस चौदस मावस । वा माघ सुदी दशमी एकादशी द्वादशी[+] वा संक्रान्त के पीछे तीन दिन ।'

(ग) अनुपयुक्त अथवा अस्थानिक प्रयोग

प्रयोगगत सुस्थिरता की प्रवृत्ति के अभाव में विरामचिह्नों के कुछ ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं, जिनकी स्थिति स्थलविशेष के अनुकूल नहीं है । अन्य लेखकों की भाषा में तो ऐसे प्रयोग मिलते ही हैं, स्वयं भारतेन्दु की भाषा में भी ऐसे उदाहरण पर्याप्त रूप से मिलते हैं,यथा--

(१) पूर्ण विराम चिह्न के स्थान पर अल्प विरामचिह्न--

'अली ने वैसा ही किया, इधर फातिमा ने अली से कहा हमारा सिर तुम अपनी गोद में ले बैठो अब जीवन में कुछ क्षण बाकी है, अली ने कहा फातिमा । तुम्हारी ऐसी बातें हम सुन नहीं सकते, फातिमा ने उत्तर दिया अली । पथ खुला है ....[2]'

---

१ वि०सु०, सं०सा०, मा०म० से उद्धृत

+ इन स्थलों पर विराम चिह्न का न होना इस बात को सूचित करता है कि चिह्नों के उपयुक्त प्रयोग की चेतना लेखक में वर्तमान थी ।

२ प०प० ।

(२) प्रश्नसूचक अथवा विस्मयबोधक के स्थान पर अल्प,अर्द्ध अथवा पूर्ण विराम चिह्न--

क्या तब तुमको लज्जा न होगी कि जब तुम्हारी प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा और पूर्वजों का नाम नष्ट होकर कुध्वनि होगी,[1]
तू क्यों न मुझे राजप्रतिग्रह परांगमुख कहेगा ;[2]
तो सारा हिन्दुस्तान जो सीताफल क्यों कहता ।[3]
'आयुष्मती भव । आप लोग कौन हैं ।।
'यह क्या वन देवी आई है ।[4]
'पर भला आज इन लोगों को लीला कौन सी दिखाऊं ।[5]

(३) प्रश्न चिह्न के स्थान पर विस्मयबोधक चिह्न--

क्या भारतवर्ष के भिन्न २ प्रान्तों के लोग मिलकर कह सकते हैं कि हम सब की अमुक एक भाषा है ।[6]

तात्पर्य यह है कि द्विवेदी-युग के पूर्व विभिन्न स्थलों पर प्रयोग किए जाने वाले विराम चिह्न,यथा-- पूर्ण विराम चिह्न,अल्प विराम चिह्न, अर्द्ध विराम चिह्न, प्रश्नसूचक चिह्न, विस्मयादि बोधकचिह्न, अवतरण चिह्न,निर्देश चिह्न, संयाजक चिह्न, टीका चिह्न, हंसपद का समावेश हिन्दी में न्यूनाधिक रूप में हो तो गया था किन्तु साथ ही अभी उनके प्रयोग में अनिश्चितता भी वर्तमान थी । द्विवेदी-युग में उस अनिश्चितता को निश्चितता में परिणित करने का यथासाध्य प्रयास किया गया ।

---

१ अप० ।
२ सह० स० ह०
३ रा० का०स०
४ स० प्र०
५ स० ह०
६ हिन्दी प्रदीप,जि०६

१.३. निष्कर्ष

द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की स्थिति का अवलोकन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी भाषा की उन्नति के जिस व्रत को लेकर आगे बढ़े, उसका पूर्ण निर्वाह उनके जीवन की अल्पता के कारण नहीं हो सका। जहां तक हिन्दी साहित्य के विकास का प्रश्न है, उस समय विविध विषयक साहित्य का अभाव था। मौलिक कृतियों से अनूदित रचनाओं का आधिक्य था। मौलिक कृतियों में निबन्ध तो लिखे जा रहे थे, किन्तु उपन्यास, आलोचना, जीवनी आदि की न्यूनता थी। रचनाओं की भाषा-शैली भी परिमार्जित नहीं थी, अत: बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक भाषा के गठन, शब्दावली-प्रयोग, ध्वनि-संयोजन, व्याकरण तथा वाक्य-योजनादि की अव्यवस्था बनी ही रही। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा राजा शिवप्रसाद एवं राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा के समन्वित रूप अपनाये जाने पर भी कुछ लेखकगण खड़ीबोली में उर्दू-फारसी शब्दावली की ही भरमार कर रहे थे तथा कुछ अति आवश्यक स्थलों से भी फारसी शब्द का बहिष्कार करने के पक्ष में बने रहे। एक ओर भाषा को साहित्यिकतापूर्ण बनाने के उद्देश्य से कुछ लेखकों ने संस्कृत गर्भित भाषा के प्रयोग का व्रत लिया था तो दूसरी ओर भाषा की सरलता एवं व्यवहारिकता की दृष्टि से कतिपय साहित्यिकों द्वारा तद्भव तथा बोलियों के शब्दों के समावेश से भाषा को ग्रामीणता का बाना पहनाया जा रहा था। तत्कालीन साहित्यकारों में से किसी-किसी की एक ही रचना में कहीं पर संस्कृत शब्दों की बहुलता है तो कहीं तद्भव की। कहीं-कहीं पर मिश्रित भाषा का भी प्रयोग है। ऐसे प्रयोग भारतेन्दु तथा बालकृष्ण भट्ट जैसे अग्रणी लेखकों की रचनाओं में भी यत्र-तत्र मिलते हैं। अनूदित रचनाओं की खड़ीबोली अधिकांश मूल भाषाओं से ही अनुप्राणित है। तत्कालीन काव्यभाषा (ब्रजभाषा) के प्रयोग की प्रवृत्ति के कारण खड़ीबोली की रचनाओं में भी ब्रजभाषा का पुट मिलता है।

ध्वनि-संयोजन अथवा वर्तनी में त्रुटियां तो पहिले से ही चली आ रही थीं, उस समय कुछ लोगों के द्वारा भाषा सम्बन्धी नियमों के पालन करने पर भी भाषा वर्तनी दोष से मुक्त नहीं हो पाई थी । इधर भारतेन्दुकालीन खड़ीबोली भलीभांति व्याकरण सम्मत भी नहीं हो पाई थी । वस्तुत: भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने भाषा प्रचार-कार्य तो किया, किन्तु उसकी शुद्धता की ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाए थे । व्याकरणिक त्रुटियों में अधिक अनियमितता लिंग, वचन एवं कारकों की ही होती थी । संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के अवांछित प्रभाव के कारण तत्कालीन वाक्यों में शब्दों की क्रमहीनता तथा शिथिलता पाई जाती है । ऐसे दोष स्वयं भारतेन्दु की रचनाओं में हैं, विशेषत: अनूदित रचनाओं में । विराम चिह्नों का भी प्राय: अभाव ही रहा । अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में विराम चिह्नों की संख्या यद्यपि बढ़ भी गई, किन्तु उनके प्रयोगों में स्थानों के औचित्य पर विचार नहीं किया गया था ।

तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली साहित्य की वेदी पर प्रतिष्ठित तो हुई किन्तु उसमें एकादर्श की स्थापना नहीं हो पाई । स्वयं भारतेन्दु के सहयोगीगण भी इस विषय पर एकमत नहीं हो सके, फिर उनकी मृत्यु के पश्चात् तो `अपनी अपनी डफली अपना अपना राग` की स्थिति हो गई । भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त स्वच्छन्दवादिता के कारण ही हिन्दी भाषा तथा साहित्य के अनेक इतिहासकारों ने भारतेन्दु के निधन से लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने तक की अवधि को `अराजकता युग` की संज्ञा से अभिहित किया है । वस्तुत: इस अवधि में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में जागृति होने के कारण लेखकगण अपने निजी प्रयोगों (एक्सपेरिमेण्ट्स) में लग गए, अत: भाषा तथा साहित्य के इस काल को `प्रयोग युग` कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा ।

-0-

२

द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं

२

द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं

पूर्व विवरणों के अनुसार यह तो निश्चित है कि भारतेन्दु के जीवन-काल में हिन्दी भाषा के क्षेत्र में किसी निश्चित आदर्श की स्थापना नहीं हो पाई थी। फिर, उनकी मृत्यु के पश्चात् तो उसके प्रयोगों में और भी विविधता आ गई ।तत्कालीन लेखकगण भाषा के विषय में एक-दूसरे की नीतियों से प्राय: सहमत न होकर परस्पर तर्क-वितर्क में लग गए । ऐसे ही परिवेश में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन के माध्यम से साहित्य-जगत् में प्रवेश किया । यद्यपि उनमें साहित्यिक प्रतिभा नैसर्गिक रूप में वर्तमान थी कि किन्तु १६०३ ई० में सरस्वती का सम्पादन कार्य-भार सम्भालने के पश्चात् से उसके विकास का मार्ग और प्रशस्त हो गया । उस समय भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में अनेक समस्याएं उत्थित हो गई थीं । उनमें से जिन समस्याओं पर द्विवेदी जी तथा अन्य साहित्यकारों एवं भाषा-सेवियों का ध्यान मुख्यरूप से केंद्रित हुआ, वे थीं --

१. हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं को विकसित करने तथा विविध विषयक रचनाएं प्रस्तुत करने की समस्या ।
२. गद्य एवं पद्य की एक भाषा- सम्बन्धी समस्या ।
३. शब्दावली-प्रयोग-सम्बन्धी समस्या ।
४. भाषा की व्याकरणिकता की समस्या ।
५. लिपि की समस्या ।

२.१. हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं को विकसित करने तथा विविध विषयक रचनाएं प्रस्तुत करने की समस्या

जैसा कि कहा जा चुका है, भारतेन्दु-युग में हिन्दी साहित्य का विकास तो हुआ, किन्तु साहित्यिक विधाओं में विशेष अभिवृद्धि नहीं हो पाई थी। यहां तक कि अनुवादों की अपेक्षा मौलिक रचनाओं में अभी न्यूनता ही थी। मूल कृतियों में नाटक तथा वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निबन्ध ही सामान्य रूप से लिखे गए थे। पौराणिक आख्यायिकाओं के आधार पर कुछ उपन्यास भी लिखे गए, किन्तु उनमें भी प्राय: मौलिकता का अभाव रहा। द्विवेदी जी का ध्यान इस समस्या की ओर विशेष-रूप से आकर्षित हुआ। उन्होंने कविता, गद्य काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, आलोचना तथा जीवनी आदि साहित्यिक विधाओं को तो विकसित किया ही साथ ही ज्ञान - विज्ञान सम्बन्धी विविध विषयक रचनाएं प्रस्तुत करने के प्रति भी उन्मुख हुए। अत: उन्होंने स्व-सम्पादित पत्रिका 'सरस्वती' के माध्यम से विज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र, गणित, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष आदि विषयों पर स्वयं निबन्ध रचना की तथा अन्य नवोदित लेखकों को भी इस क्षेत्र में प्रोत्साहित किया।

२.२. गद्य एवं पद्य की एक भाषा सम्बन्धी समस्या

तत्कालीन दूसरी समस्या थी -- गद्य तथा पद्य दोनों की भाषा एक करने की। गद्य तथा पद्य की अलग-अलग भाषा (अर्थात् गद्य की भाषा खड़ीबोली तथा पद्य की भाषा मुख्यत: ब्रजभाषा) होने के कारण लोग हिन्दी को कठिन समझ-कर उसकी ओर से उदासीन हो रहे थे। 'खड़ीबोली में पद्य रचना' का प्रसंग भारतेन्दु के समय से ही चला आ रहा था, यद्यपि उस समय के अधिकांश कवियों ने उसे काव्य भाषा के लिए अनुपयुक्त ठहराया। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वरचित खड़ीबोली कविता को उपयुक्त नहीं बताया है[१]। इस युग में खड़ीबोली को पद्य-रचना का माध्यम

---

१ 'मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कुछ कविता बनाऊं पर वह मेरे चित्ता-नुसार नहीं बनी इससे निश्चय है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम है।'

(भारतेन्दु के पत्र से उद्धृत)

बनाने के विरोधकर्ताओं में राधाचरण गोस्वामी[1], प्रतापनारायण मिश्र आदि प्रमुख थे । इनके विपरीत पं० श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री, नाथूराम शर्मा आदि ने ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ीबोली को कविता का माध्यम बनाते हुए अपने विरोधियों के मतों का खण्डन किया ।

द्विवेदी जी के सम्मुख यह एक विचारणीय प्रश्न था । वह गद्य तथा पद्य की भाषा एक करने में ही हिन्दी तथा `हिन्दी जन` का हित समझते थे । अत: उन्होंने तत्कालीन बोलचाल की भाषा(खड़ीबोली) में कविता करना ही उपयुक्त समझा, जो कम हिन्दी पढ़े लिखे व्यक्तियों के लिए भी बोधगम्य हो सके ।

खड़ीबोली के पद्य के माध्यम के रूप में स्वीकार करने के प्रश्न पर द्विवेदी-युग में भी ब्रजभाषा के हिमायती विद्वान पहिले तो सहमत नहीं थे, किन्तु अंतत: उनमें से अधिकांश को द्विवेदी जी के छत्र के नीचे आना ही पड़ा ।

डा० ग्रियर्सन का मत था कि बोलचाल की भाषा में अच्छी कविता नहीं हो सकती । उनके कथनानुसार ` दो एक आदमियों ने गद्य की भाषा में कविता लिखने की कोशिश भी की किन्तु उन्हें बेतरह नाकामयाबी हुई और उपहास के सिवा उन्हें कुछ भी न मिला`[2] । द्विवेदी जी ने ग्रियर्सन के इस मत का विरोध किया ।उनका कहना था कि `बोलचाल की भाषा में कितनी ही अच्छी अच्छी कविताएं निकल चुकी हैं और बराबर निकलती जाती हैं ..... जब उर्दू और हिन्दी प्राय: एक ही भाषा है और उर्दू में अच्छी कविता होती है तब कोई कारण नहीं कि हिन्दी में न हो सके-- बात अनोखी चाहिए भाषा कोई होय`[3] ।

---

१ गोस्वामी जी ने सर्वप्रथम ११ नवम्बर १८८७ ई० के `हिन्दुस्तान्` में खड़ीबोली कविता के विरोध में जो तर्क प्रस्तुत किए थे, उनमें से कुछ अधोलिखित है --
(१) खड़ीबोली हिन्दी ब्रजभाषा से भिन्न कोई स्वतन्त्र रचना नहीं ।खड़ीबोली और ब्रजभाषा में केवल क्रिया का अन्तर है।(२)खड़ीबोली में कवित्त सवैया आदि हिन्दी के उत्तम छन्दों का निर्वाह नहीं हो सकता ।इसमें केवल उर्दू शेर गजल आदि का ही प्रयोग सम्भव है । (३) खड़ीबोली में उत्तम कविता नहीं है ।दयानन्दी,ईसाई और मिशनरी संस्थाओं ने जिस पद्य का प्रारम्भ इस भाषा में किया है, वह पूर्णतया काव्यगुण से वंचित है और रसिक समाज उसे `डाकिनी` समझता है ।
--~~हिंस०~~ हिं०सा० कोश, पृ०४६७ ।

२ हिं०भाषा की उ०, पृ०६६ । ३ वही । ~~`सम्पूर्णभाषा प्रचार सर्वसंग्रह`, पृ०१२~~ ।

खड़ीबोली को काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण करने के क्षेत्र में द्विवेदी जी को श्रीधर पाठक तथा नाथूराम शंकर शर्मा जैसे कवि-पुंगवों का समर्थन तथा सहयोग प्राप्त था। इन कवियों ने इस आन्दोलन में अपने विचार एवं कार्य--दोनों से द्विवेदी जी के मत का प्रतिपादन किया। खड़ीबोली के ललित एवं सुन्दर कविता-रचयिता के रूप में श्रीधर पाठक को खड़ीबोली के प्रथम श्रेष्ठ कवि की उपाधि दी गई[1]। इसी प्रकार नाथूरामशंकर शर्मा की खड़ीबोली की कविताओं को पढ़कर जार्ज ग्रियर्सन ने, जो खड़ीबोली कविता के पक्ष में नहीं थे और 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं को रूखी-सूखी और फीकी बताया करते थे, द्विवेदी जी को लिखा--' ये शंकर जी कौन है ? इनकी कविताएं पढ़कर मैंने अपनी सम्मति बदल ली है। और अब मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि खड़ीबोली में भी सुन्दर और सरस कविताएं हो सकती हैं[2]।'

इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि खड़ीबोली में कविता लिखना नहीं जानते थे, उन्होंने भी आगे चलकर खड़ीबोली को काव्यभाषा के रूप में अपनाया। राय देवीप्रसाद पूर्ण पहिले ब्रजभाषा के कवि थे (उनकी प्राय: कविताएं ब्रजभाषा में ही रची गई हैं) अत: जब उनसे 'सरस्वती' के सम्पादक ने पत्रिका में प्रकाशित करने के लिए खड़ीबोली(बोलचाल की भाषा) में कविता की मांग की तो उसके उत्तर में पूर्णाजी ने विनम्रतापूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट की[3]। किन्तु आगे चलकर उन्होंने खड़ीबोली में भी

---

१ 'राष्ट्रभाषा प्रचार सर्व संग्रह', पृ०१२। २ 'शंकरसर्वस्व-श्राद्ध', पृ०६

३ सन् १६०३ई० के 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई एक कविता 'वर्षा का आगमन' के साथ देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा सरस्वती के नाम भेजे गए पत्र का उक्त प्रसंग से संबंधित अंश इस प्रकार है --

'खड़ीबोली की कविता मुझसे बन नहीं पड़ेगी नहीं तो आज्ञा पालन अवश्य करता कुछ काल अभ्यास करने ही से उसमें सुगमता से छन्द बना सकूंगा देशभाषा में काव्य करने के दांव पेंच दूसरे हैं खड़ी बोली के दूसरे, हिन्दी के पढ़ने वाले सभी रामायण, सूरसागर रामचन्द्रिका इत्यादि रुचि से पढ़ते हैं तब जिस भाषा में वे ग्रन्थ हैं उसी में पद्य रचना करने से क्या हानि ? खड़ीबोली अदालत दर्बार बाजार की बोली है। 'पड़ीबोली' तो हम लोग घर में बोलते हैं खड़ीबोली का अधिकार गद्य पर रहने दीजिए मैं आपसे विनीत भाव से प्रार्थना करता हूं कि खड़ीबोली में काव्य चाहें कीजिए परन्तु ऐसी कोई कारवाई न कीजिए जिससे लोग प्रचलित पद्य भाषा में साहित्य देखने लगें।

(सर० पाण्डुलिपि)

कविताएं लिखीं, यद्यपि भाषा उर्दू मिश्रित थी । पं० श्रीधर पाठक तथा नाथूराम शर्मा पहिले ब्रजभाषा के ही कवि थे, किन्तु सामयिक रुचि के कारण ही उन्होंने खड़ीबोली को कविता का माध्यम बनाया । कालान्तर में अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध`, रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल `सनेही` प्रभृति कवियों ने भी ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ीबोली में काव्य-रचना करना अधिक श्रेयस्कर समझा ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी का खड़ीबोली कविता के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रहा । उन्होंने स्वयं कविता करके तथा अन्य कवियों[1] की कविताओं को `सरस्वती` में प्रकाशित करके अनेक नवोदित कवियों का मार्गदर्शन किया ।यहां तक कि गद्यकार के रूप में प्रसिद्ध लेखकों -- यथा, कामताप्रसाद गुरु, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, पदुमलाल-पुन्नालाल बख्शी आदि ने भी परिमार्जित खड़ीबोली में सम-सामयिक कविताओं की रचना की (इनकी रचनाएं `सरस्वती` की प्रतियों में वर्तमान हैं) । द्विवेदी जी एवं उनके सहयोगियों के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि सरस्वती पत्रिका के प्रवर्तन के कुछ ही वर्ष पश्चात् कविता के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो गया[2] ।

----

१ ऐसे अवसर पर जिन लोगों ने खड़ीबोली की कविता को उचित पथ पर चलाया उनमें से महावीर प्रसाद द्विवेदी अन्यतम हैं........... मुझको यह ज्ञात है कि जो खड़ी बोलचाल की कविताएं उनके पास उस समय सरस्वती में प्रकाशित करने के लिए जाती थीं उनका संशोधन वे बड़े परिश्रम से करते थे और संशोधित कविता को ही सरस्वती में प्रकाशित करते थे । इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता था कि खड़ीबोली की कविता करने वालों का ज्ञान बढ़ता था और वे यह जान सकते थे कि उनको किसमार्ग पर चलना है ।

-- अयोध्यासिंह उपाध्याय : `हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास`, पृ०५५५

२ `कुछ लोगों का खयाल है कि बोलचाल की हिन्दी में कविता को हुए अभी बीस ही पच्चीस वर्ष हुए । पर खोज से इस भाषा की कविता के ऐसे नमूने मिले हैं जो बहुत पुराने हैं । यदि इस तरह की कविता का जन्म पच्चीस ही तीस वर्ष पहले हुआ माना जाय तो भी सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि आज से कोई पन्द्रह वर्ष पूर्व इसके दो ही चार नमूने निकले थे । बस, कुछ ही नमूने निकल कर बन्द हो गये, इस तरह की कविता का प्रचार नहीं हुआ था । परन्तु जब से सरस्वती ने बोलचाल की भाषा में की गई कविता को आश्रय दिया तब से इसका प्रचार बढ़ने लगा । पन्द्रह वर्ष पहले शायद ही कभी किसी अखबार या मासिक पुस्तक में ऐसी कविता निकलती रही हो। पर अब किसी भी अखबार या सामयिक पुस्तक को उठा लीजिए प्राय: सर्वत्र ही आपको बोलचाल की भाषा में कविता मिलेगी । ब्रजभाषा में लिखी गई कविता बहुत कम देखने को मिलेगी । इससे सिद्ध है कि समय ज़माना ऐसी ही कविता मांगता है ।गद्य-

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

नवोदित कवियों में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी जी से बहुत प्रभावित हुए। द्विवेदी जी भी गुप्त की कविताओं में संशोधन कर उन्हें निरन्तर प्रोत्साहित करते रहते थे[1]। गुप्त जी ने खड़ीबोली को काव्योपयोगी बनाकर उसे सुन्दर तथा सुघड़ रूप प्रदान किया, वस्तुत: खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण में उनका योगदान अन्यतम है। उनके अतिरिक्त[2] लोचनप्रसाद पाण्डेय, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी `निराला`, रामनरेश त्रिपाठी, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा आदि ने द्विवेदीयुगीन खड़ीबोली कविता में साहित्य का भण्डार कर भर गद्य तथा पद्य की भाषा को एकात्मता प्रदान की।

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

की भाषा होनी भी एक ही चाहिए। बोलचाल की भाषा लोगों को समझ में शीघ्र आती है।`--(स०भाग १५ सं०४,पृ०२२८-- सम्पादकीय)

----

१ जब गुप्त जी ने अपनी पहिली कविता ब्रजभाषा में लिखकर `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ भेजी तो उसके उत्तर में म०प्र० द्विवेदी जी ने लिखा --
`आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गई है। `सरस्वती` में हम बोलचाल की भाषा में ही लिखी गई कविताएं छापना पसन्द करते हैं`।
(द्वि० -- आचार्य देव -- गुप्त, पृ०४६)

२ त्रिपाठी जी खड़ीबोली में काव्य रचना के पूर्ण हिमायती थे। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ~~बवब~~ खड़ीबोली कविता के पक्ष में नहीं थे, अत: इन्होंने खड़ीबोली की कविता की आलोचना कर उसका उपहास किया। इस सम्बन्ध में त्रिपाठी जी ने चतुर्वेदी जी को दिनांक ६-७-२२ को जो पत्र लिखा उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं--
`शैली से लेकर अनुपयुक्त शब्द तक मैं आपसे बिल्कुल सहमत हूं। पर पद्य के मामले में खड़ी-बोली कवियों के साथ आपने सरासर अन्याय किया है। आप यदि खड़ीबोली का गौरव बढ़ाना चाहते तो अच्छे उदाहरण भी आपको मालूम थे और न मालूम होते तो आपको अपनी कविताएं तो मालूम थीं। ब्रजभाषा में भी ऊल-जलूल कविताओं की कमी नहीं। ब्रजभाषा का कोई विरोधी ऐसे सैकड़ों उदाहरण दे सकता है. ....`।
त्रिपाठी जी तथा अन्य खड़ीबोली के कवियों की कविता-प्रवृत्ति का विरोध पद्मसिंह शर्मा ने भी किया, जैसा कि जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी को १६२६ को लिखे गए उनके पत्र की कुछ पंक्तियां सूचित करती हैं-- `ब्रजभाषा की हिमायत में लिखने का काम रखिए इसकी जरूरत है, मैदान खाली देखकर ब्रजभाषा के विरोधियों ने अधम मचा रखा है... आपके उद्योग से यह काम अच्छी तरह हो सकता है। मैं भी आपके साथ हूं। यह काम त्रिपाठी जी की चिकित्सा से ही आरम्भ किया जाय। ब्रजभाषा के विरोध में इन्होंने जो कुछ ऊं-जलूल लिखा है, उसका समाधान किया जाय। दूसरे लोगों पर भी नजर रखी जाय आशा है, आप इसका नेतृत्व ग्रहण करेंगे। त्रिपाठी जी के `ग्राम्यगीतों` पर भी कुछ लिखिए। बहुत अण्ट सण्ट लिखा है।....(दिनाक पूस सुदि११।८६)

२.३. शब्दावली-प्रयोग सम्बन्धी समस्या

उपर्युक्त प्रश्नों के साथ ही द्विवेदी जी के सम्मुख जो एक और विचारणीय समस्या थी, वह थी भाषा के स्वरूप-निर्धारण अर्थात् भाषा के व्यवहार में एक निश्चित आदर्श की स्थापना करके उसे व्यवहारोपयोगी बनाने की । जहां तक हिन्दी भाषा(खड़ीबोली) के व्यवहार का प्रश्न है, पहिले कहा जा चुका है कि इस क्षेत्र में द्विवेदी-पूर्व-युग में किसी निश्चित आदर्श का पालन नहीं किया जा रहा था । प्राय: लेखकगण अपने-अपने प्रयोगों को हठधर्मिता के आगे दूसरों की नीति से सहमत नहीं होते थे ।

द्विवेदी जी जिस प्रकार गद्य तथा पद्य को `एक भाषा` प्रयोग में लाना चाहते थे उसी प्रकार उस `एक भाषा` को सरल,सुष्ठ और बोधगम्य भी बनाना चाहते थे । अधिकांश लेखक हिन्दी को अधिक शुद्ध बनाने के प्रयास में उसमें संस्कृत के अधिकाधिक शब्दों को समाविष्ट कर उसे क्लिष्ट बनाते जा रहे थे जिसके परिणाम-स्वरूप साहित्यिक हिन्दी स्वाभाविकता से दूर होकर जटिलता का बाना धारण करती जा रही थी । द्विवेदी जी ने इस प्रकार की हिन्दी का विरोध कर उस हिन्दी का आश्रय लिया जो तत्कालिक व्यवहारिक शब्दों से युक्त एवं अधिकाधिक पाठकों की समझ में सरलता से आने योग्य हो । वह हिन्दी में संस्कृत शब्दों के प्रयोग के विरोधी नहीं थे, किन्तु स्वाभाविकरूप से आगत उपयुक्त शब्दों के स्थान पर अनायास संस्कृत शब्दों को रखना नहीं चाहते थे[1] ।

---

१. द्विवेदी जी के ही शब्दों में--
जब से इस देश में छापेखाने खुले और शिक्षा की वृद्धि हुई तब से हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिकता से होने लगा । संस्कृत के कठिन से कठिन शब्दों को हिन्दी में लिखने की चाल सी पड़ गई । किसी-किसी पुस्तक के शब्द यदि गिने जायं तो फीसदी ५० से भी अधिक संस्कृत के शब्द निकलेंगे । बंगला में तो इस तरह के शब्दों की और भी भरमार है । किसी-किसी बंगला पुस्तक में फी सदी ८८ शब्द विशुद्ध संस्कृत के देखे गए हैं । ये शब्द ऐसे नहीं कि इनकी जगह अपनी भाषा के सीधे सादे बोलचाल के शब्द लिखे ही न जा सकते हों । +++ पर कुछ चाल ही ऐसी पड़ गई है कि बोलचाल के शब्द लोगों को पसन्द ही नहीं आते । वे यथासम्भव संस्कृत के मुश्किल मुश्किल शब्द लिखना ही जरूरी समझते हैं । फल इसका यह हुआ कि हिन्दी दो तरह की हो गई है । एक तो वह जो सर्वसाधारण में बोली जाती है, दूसरी वह जो पुस्तकों, अखबारों और सामयिक पुस्तकों में लिखी जाती है । कुछ अखबारों के सम्पादक इस दोष को समझते हैं । इससे वे बहुधा बोलचाल ही की हिन्दी लिखते हैं ।उपन्यास की कुछ पुस्तकें भी सीधी सादी भाषा में लिखी गई हैं । जिन अखबारों और पुस्तकों की भाषा

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

शब्दावली के प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की विशेषता उनके औचित्य विचार की थी । उनका मत था कि संस्कृत, फ़ारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हो गए हैं, उनका प्रयोग हिन्दी में होना चाहिए । वे अब हिन्दी के शब्द बन गए हैं । उनसे घृणा करना उचित नहीं[१] ।

द्विवेदी जी ने देवीदत्त शुक्ल के नाम लिखे दिनांक ११ नवम्बर १९१५ के पत्र में भाषा-प्रयोग के प्रति अपना दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त किया है --

'अवकाश मिलने पर कुछ न कुछ लिख भेजा ही कीजिए । जहां तक हो सके भाषा सरल बोलचाल की हो । क्लिष्ट संस्कृत शब्द न आने पावें । मुहावरे का ख्याल रहे । वाक्य छोटे छोटे हों ।'

द्विवेदी जी की राय में यह आवश्यक नहीं था कि हिन्दी में विदेशी शब्दों को उनके मूल रूप में ही अपनाया जाय । उनका मत था कि विदेशी शब्दों[२] का उच्चारण एवं रूपादि हिन्दी के अनुरूप कर लेने से ही प्रयोग में सुविधा होगी । द्विवेदीजो

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
सरल होती है उनका प्रचार भी औरों से अधिक होता है । इस बात को जानकर भी लोग क्लिष्ट भाषा लिखकर भाषा-भेद बढ़ाना नहीं छोड़ते । इस बात का अफसोस है । कोई कारण नहीं कि जब तक बोलचाल की भाषा के शब्द मिलें, संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द लिखे जायं? + + + संस्कृत जानना हम लोगों का जरूर कर्तव्य है पर उसके मेल से अपनी बोलचाल की हिन्दी को दुर्बोध करना मुनासिब नहीं' (हिन्दी भाषा की उत्पत्ति-म०प्र०द्वि०)

----

१ दे० 'महावीर प्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' ।

२ इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने सर०, भाग १४ सं०३, पृ०१६६ पर 'हिन्दी में विदेशी अपभ्रंश' शीर्षक से अपना जो मत प्रकट किया है, उसका कुछ अंश इस प्रकार है :--
'उर्दू या अंगरेजी शब्दों का उच्चारण निरी हिन्दी (या संस्कृत) जानने वालों के लिए कठिन है । जो लोग इन विदेशी भाषाओं को जानते हैं वही कदाचित इनके शब्दों का ठीक ठीक उच्चारण कर सकते हैं..... हमारे कई लेखक और वक्ता लोग जो इन भाषाओं के जाने बिना ही अच्छे विद्वान हैं, विदेशी शब्दों को अपभ्रंश रूप में लिखते और बोलते हैं । साधारण लोगों में भी ये शब्द बहुधा इसी रूप में प्रचलित रहते हैं । ऐसी अवस्था में हिन्दी में आने वाले विदेशी शब्दों को उसी उच्चारण और रूप से लिखना चाहिए जो हिन्दी के विद्वानों ने उन्हें दिया है । हिन्दी में कठिनाई इस बात की है कि आजकल इसके कई लेखक बहुभाषी होने के कारण विदेशी शब्दों को उनके मूल रूप में लिखने से नहीं चूकते । पर क्या विदेशी शब्दों की शुद्धता से हिन्दी की योग्यता का परिचय मिल सकता है ? यदि विदेशी शब्दों के उच्चारण और हिज्जों के लिए हिन्दी पूरा प्रबन्ध किया जाय तो कई वर्णों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी और कई संकेत चिह्न नियत करने पड़ेंगे ।'

के विचार से क्लिष्ट भाषा का प्रयोग मात्र विद्वत्ता प्रदर्शन था । ऐसी विद्वत्ता से कोई लाभ नहीं जो पढ़ने वालों की समझ से परे हो[1]। उन्होंने 'किरातार्जुनीय' (संस्कृत से खड़ीबोली में अनुवाद) की भूमिका में संस्कृत की तुलना में खड़ीबोली को 'गंवारू' समझने वालों पर कटु आक्षेप किया है[2]।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा-सेवा क्षेत्र में पदार्पण करने के पूर्व ही बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि भाषा के स्वरूप-निर्धारण के प्रश्नों पर अपने मत प्रकाशित कर चुके थे । जायसवाल जी विषयानुसार भाषा-शैली के पक्ष में थे जिसके तत्कालीन अधिकाधिक लेखक सहमत थे । किन्तु वे फ़ारसी मिश्रित हिन्दी लिखने के पक्ष में नहीं थे[3]।

गुप्त जी हिन्दी की सरलता के हिमायती तो थे, किन्तु उस हिन्दी के समर्थक नहीं थे जो संस्कृत शब्दों से रहित तथा कृत्रिमतापूर्ण निर्मित हो । वह ऐसी हिन्दी को उपकारी समझते थे जो अन्य अहिन्दी प्रान्तों के निवासियों के लिए बोधगम्य हो[4]। हिन्दी के विरोध में आपने अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'अधखिले फूल' की आलोचना

---

१ म०प्र०द्वि० : हि०भा० की उ०

२ हमारा यह अनुवाद तो परीक्षार्थी छात्रों के लिए है और न संस्कृत सीखने की इच्छा रखने वाले और लोगों ही के लिए । संस्कृत के पारदर्शी पण्डितों के लिए तो यह हो ही नहीं सकता । इस बेचारी गंवारू 'भाषा' में किए गए अनुवाद से उनका क्या सम्पर्क ।-- किरातार्जुनीय(ह०लि० अनु०),पृ०७७(भूमिका) : महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

३ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी भाषा के स्वरूप के विषय में रखे गए कुछ प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न के उत्तर में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की साधु भाषा के उदाहरण देने के पश्चात् बाबू काशीप्रसाद जी लिखते हैं --
'भारतेन्दु जी ने (क) और (ख) की हिन्दी पसन्द की है । उनमें से (क) तो साधु भाषा का उदाहरण है और (ख) प्रचलित भाषा का । दोनों में से किसी में फ़ारसी शब्दों का नाम नहीं है,अत: फ़ारसी मिश्रित हिन्दी न लिखनी चाहिए।अब इन बातों का निर्णय करना रह गया है कि किस किस विषय के ग्रन्थ साधु भाषा में लिखे जाने चाहिए और प्रचलित भाषा में किस किस विषय की पुस्तकें लिखी जानी चाहिए ।
उपन्यास,जीवन चरित्र, दर्शन,विशेष विषय पर लेख इत्यादि साहित्यिक विषयक ग्रन्थों की भाषा साधु होनी चाहिए (हिन्दी प्रदीप,जि०२१,सं०११-१२, १८९८ई०,पृ०१२-१५) ।

४ हिन्दी के स्वरूप के विषय में बालमुकुन्द गुप्त का मत--'हमारे लिए इस समय वही हिन्दी अधिक उपकारी है, जिसे हिन्दी बोलने वाले तो समझ ही सकें,उनके सिवा उन प्रान्तों के लोग भी उसे कुछ न कुछ समझ सकें, जिनमें वह नहीं बोली जाती है । हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिए, इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती,बंगाली,मराठी आदि भी हमारी भाषा को समझने

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए थे--` हम ठेठ हिन्दी के तरफदार नहीं। ठेठ हिन्दी का हमारी समझ में कुछ अर्थ नहीं ।``भाषा में संस्कृत के अधिक शव्द न हों ` द्विवेदी जी के इस मत से गुप्त जी सहमत नहीं थे, न ही वह संस्कृत शव्दों को कृत्रिम रूप देने के समर्थक थे । यही कारण है कि द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त`अनस्थिरता` शव्द के विरोध में आप बराबर तर्क-वितर्क प्रस्तुत करते रहे । उन्होंने सरस्वती की भाषा को भी अनगढ़ बताकर उसकी खूब आलोचना प्रत्यालोचना की । `भारत मित्र` तथा `हिन्दी बंगवासी` के सम्पादन कार्य के माध्यम से गुप्त जी को हिन्दी भाषा सम्बन्धी विचारों को प्रदर्शित करने एवं कृतित्व का विस्तार करने व्यापक क्षेत्र मिला था ।

द्विवेदी जी एवं बालमुकुन्द जैसे हिन्दी-महारथियों का प्रभाव अन्य हिन्दी-सेनानियों पर भी विशेष रूप से पड़ा,अत: इस आन्दोलन में अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध`, पं० सुधाकर द्विवेदी, कामताप्रसाद गुरू, रामचन्द्र वर्मा,सन्तराम बी०ए०,मुकुटधर पाण्डेय,मथुराप्रसादमिश्र, वदरीनाथ भट्ट आदि भी इस विवाद में पीछे नहीं रहे ।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध` ने आरम्भिक कुछ कृतियों-- `अधखिला फूल`,`ठेठ हिन्दी का ठाट` आदि में सरल तथा ठेठ हिन्दी का प्रयोग किया था , किन्तु आगे चलकर काव्य-भाषा-निर्धारण हेतु उन्होंने बालमुकुन्द गुप्त एवं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समन्वित मार्ग को औचित्य प्रदान किया । यद्यपि उन्होंने संस्कृत गर्भित भाषा में `प्रियप्रवास` काव्य की रचना की,किन्तु यथार्थत: वे सर्वसाधारण के

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्टांश टिप्पणी)

योग्य होंगे । किसी देश की भाषा उस समय तक काम की नहीं होती जब तक उसमें उस देश की मूल भाषा बहुतायत के साथ शामिल नहीं होते ।`

--`गुप्त निबन्धावली`,पृ०५७०

लिए सरल तथा बोलचाल की भाषा का प्रयोग ही हितकर समझते थे[१]। हिन्दी भाषा को पुष्ट, व्यापक, विभिन्न भावद्योतक एवं राष्ट्रोपयोगी बनाने कीक दृष्टि से आप विदेशी एवं प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का मिश्रण आवश्यक समझते थे[२]।

पं० सुधाकर द्विवेदी भी हिन्दी के सर्व प्रचलित शब्दों को निकाल कर संस्कृत शब्दों की भरती करने के पक्ष में नहीं थे, चाहे वे बोलचाल के शब्द हों अथवा विदेशी शब्द[३]।

---

१ उपाध्याय जी के शब्दों में --`इस दृष्टि से और इस विचार से भी कि उर्दू और हिन्दी भाषा की रचनाएं अधिकतर पास पास हो जायें, कुछ मननशील विद्वानों का यह विचार हुआ कि खड़ीबोल चाल की कविता की भाषा जहां तक हो बोल-चाल के निकट हो और उसमें अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्द न भरें तो अच्छा। संस्कृत शब्दमयी रचना को सर्व साधारण समझ भी नहीं सकते। इसलिए भी बोलचाल की सरल भाषा में कविता रचने की आवश्यकता होती है। यह मैं स्वीकार करूंगा कि अन्य प्रान्तों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि जैसे गद्य संस्कृत भाषामय होता है वैसे पद्य भी हो क्योंकि संस्कृत के शब्द समान रूप से सब प्रान्तों में समझे जाते हैं। मेरा `प्रिय-प्रवास` इसी विचार से अधिकतर संस्कृतगर्भित है। मैं इसका विरोध नहीं करता। आवश्यकतानुसार कुछ ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जायं। परन्तु अधिकतर ऐसे ही ग्रन्थों की आवश्यकता है, जिनकी भाषा बोलचाल की हो, जिससे अधिक हिन्दी भाषा भाषी को लाभ पहुंचे।`

--सर०, भाग६, सं०४ `लैटिनी हिन्दी`, पृ०१५६-१६२

२ विदेशी एवं प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों के समावेश के विषय में उपाध्याय जी मत -- `यह स्वाभाविक है, विजयी जाति के अनेक शब्द विजित जाति की भाषा में मिल ही जाते हैं, क्योंकि परिस्थिति ऐसा कराती रहती है, किन्तु इससे चिन्तित न होना चाहिए। इससे भाषा पुष्ट और व्यापक होगी और उसमें अनेक उपयोगी विचार संचित हो जावेंगे। यत्न इस बात का होना चाहिए कि भाषा विजातीय शब्दों, वाक्यों और भावों को इस प्रकार ग्रहण करे कि उसकी विजातीयता हमारी जातीयता के रंग में निमग्न हो जावे`। (उपा० : हिं०भा० और सा०का वि०, पृ०१०५)

३ `आजकल कुछ शब्द अन्य प्रान्तों के भी हिन्दी भाषा में गृहीत हो गए हैं। कुछ विचारवान इसको अच्छा नहीं समझते, वे सोचते हैं, इससे अपनी भाषा का दारिद्र्य सूचित होता है। मैं कहता हूं इस विचार में गम्भीरता नहीं है। प्रथम तो हिन्दी भाषा राष्ट्रीय पद पर आरूढ़ हो रही है, इसलिए राष्ट्र की सम्पत्ति उसी की है। दूसरी बात यह है कि राष्ट्रोपयोगी जो व्यापक शब्द हैं अथवा जो कारण विशेष से ऐसे बन गये हैं, जो भावद्योतन में किसी शब्द से विशेष क्षमतावान् हैं, वे क्यों न ग्रहण कर लिए जावें`। (वही, पृ०१०६)

३ अगले पृष्ठ पर देखें

हिन्दी-आन्दोलनकर्त्ताओं में पं०कामताप्रसाद गुरु का स्थान भी प्रमुख है, विशेषत: भाषा के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में । गुरु जी गद्य तथा पद्य दोनों शैलियों की भाषा की शुद्धता के पक्षपाती थे । उनका कथन था कि हिन्दी में उन अरबी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग उचित नहीं, जिनके पर्यायवाची शब्द हिन्दी में वर्तमान हैं । साथ ही वह संस्कृत शब्दों का भी अधिक अथवा अस्वाभाविक रूप से प्रयोग हिन्दी में नहीं चाहते थे[१] ।

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं०-३)

३ इस सम्बन्ध में सुधाकर द्विवेदी की अधोलिखित अभिव्यक्तियां द्रष्टव्य हैं :--
`आजकल बहुत से लोग फ़ारसी शब्दों को निकाल निकाल कर हिन्दी में नए संस्कृत के शब्दों को भरती कर रहे हैं । वे लोग हिंदी ही से चिढ़ कर हिंदी के स्थान पर `आर्यभाषा`, हिन्दू के बदले `आर्य` बोलने लगे हैं । हिंदी प्रचारिणी सभा को नागरी प्रचारिणी कहते हैं । मैं इन बातों को बहुत नापसन्द करता हूं । जो शब्द आप से आप प्रचलित हो गए हैं उन्हें न बदलना चाहिए, उनके बदलने से कुछ भी फ़ायदा नहीं उलटा लोगों के न बदलने से नुकसान ही है ।`

`जो शब्द अपनी भाषा में आ गए हैं उन्हें रहने देना चाहिए उनके तर्जुमे से खुदाबख्श ईश्वरदत्त और बलदेवबख्श बलदेवदत्त हो जायंगे जिससे सुनने वाले न समझ कर घबड़ा जायेंगे कि ये क्या कहते है ।` -- सुधा० द्वि० : `रामकहानी`, पृ०४-५

---

१ संयुक्तप्रदेश की मर्दुमशुमारी के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने अपनी रिपोर्ट में आधुनिक हिन्दी के कुछ वाक्यों का अंग्रेजी में अनुवाद करके और उसमें के बिना काम के संस्कृत शब्दों के बदले (उपहास-पूर्वक) लैटिन शब्द रखकर हिन्दी के विषय में यह राय दी थी कि उच्च हिन्दी बिलकुल बनावटी भाषा है । सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब के प्रतिवेदन की प्रतिक्रिया में उनके कथनों का खण्डन करते हुए गुरु जी ने जो कुछ लिखा उसके कतिपय अंश इस प्रकार हैं :--

`हम संस्कृत शब्दों के निरर्थक उपयोग के पक्षपाती नहीं हैं, परन्तु इसके साथ ही हम उन अर्बी-फ़ारसी शब्दों को भी बनावटी समझते हैं जो साधारण देशी शब्दों के बदले मुसलमान और मुसलमानी हिन्दू काम में लाते हैं ....समय समय पर हिन्दी के कई लेखकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आजकल हिन्दी साधारण शिक्षितों की बोली है और आजकल के उर्दू पढ़े लिखे मुसलमानों के सिवा अपढ़ लोग कुछ भी नहीं समझते । हिन्दी में काम पड़ने पर ही संस्कृत शब्दों की सहायता ली जाती है पर उर्दू में देशी शब्दों के बदले ज़बरदस्ती फ़ारसी, अरबी शब्द रखे जाते हैं। ....नहीं जान पड़ता कि जो लोग अंग्रेजी और उर्दू के ग़ैर मामूली शब्दों का

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

हिन्दी के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में गुरु जी का `सरस्वती` १६१२ के अक्टूबर अंक में प्रकाशित `हिन्दी की आधुनिक अवस्था` शीर्षक लेख महत्त्वपूर्ण है । इसमें लेखक ने हिन्दी की तत्कालीन प्रचलित शैलियों में से किसी एक का अनुमोदन न करके उस शैली को अपनाना उचित समझा है, जो हिन्दी शब्दमय हो[1] । उन्होंने हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध` तथा मथुराप्रसाद मिश्र के ठेठ हिन्दी-प्रयोग के मत का समर्थन किया ।

कामता प्रसाद गुरु के उक्त लेख में व्यक्त किए हिन्दी के स्वरूप-निर्धारण सम्बन्धी विचारों की प्रतिक्रिया में श्री मुकुटधर पाण्डेय ने `सरस्वती` १६१६ के अंक में प्रकाशित `भविष्यत् भविष्यत् में हिन्दी का स्वरूप क्या हो` शीर्षक लेख में यह तर्कपूर्ण मत प्रस्तुत किया है कि बिना अन्य भाषाओं की शब्दावलियों के समावेश

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

अर्थ जानने के लिए बड़ी रुचि से उन भाषाओं के कोष देखते रहते हैं । वे लोग हिन्दी के एक दो असाधारण शब्दों का अर्थ ढूंढने का कष्ट क्यों नहीं उठाते और उस भाषा के विस्तार पर क्यों जलते हैं ।`

इसी लेख में गुरु जी ने सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब द्वारा `परन्तु` तथा `कठिनाई` शब्द को कठिन समझने पर यह प्रश्न किया है कि यदि इतने प्रचलित शब्द प्रयोग में न लाये जायं तो इनकी जगह पर कैसे शब्द रखे जायं ?

-- `लैटिनी हिन्दी`, सर०भाग ६, सं०४, पृ०१५६-१६२

---

१ `हमारी भाषा में किसी भी भाषा के कितने ही शब्द क्यों न आवें, हमें अभी केवल यह देखना है कि आगे को हमारी भाषा शैली कैसी होगी । आजकल हिन्दी में कुछ समय से बहुधा चार प्रकार की शैलियां पाई जाती हैं, यथा (१) संस्कृत शब्दमय, (२) हिन्दी शब्दमय, (३) फारसी (और अंग्रेजी), (४) खिचड़ी । इनमें से पहली तीन शैलियों में तो लेखकों का शुद्ध या अशुद्ध सिद्धान्त पाया जाता है, परन्तु चौथी शैली के लेखक अपने को किसी गुरु के चेले नहीं मानते ..... अभाग्यवश लोगों की धारणा जो हो रही है कि भविष्यत में यही खिचड़ी शैली सफल होगी और इसके अनुयायी बढ़ते हुए दिखाई देते हैं + + + + + पहली तीन शैलियों में केवल दूसरी ही अनुकरणीय है, क्योंकि उसी में हिन्दी हिन्दी रह सकती है । इसमें संस्कृत और फारसी शब्द तब मिलाये जायं जब हिन्दी शब्द न मिलें अथवा उनसे काम न चले ।`

--का०प्र०गुरु : `हिन्दी की आधुनिक अवस्था, सर०भाग१६, खण्ड२, सं०४, पृ०१६२।

के हिन्दी का विकास असम्भव है । साथ ही उन्होंने गुरु[1] जी के `खिचड़ी शैली` न अपनाने वाले सिद्धान्त का विनम्रतापूर्वक खण्डन किया है ।

---

१ `गुरु के लेख में जान पड़ता है कि आप शुद्ध हिन्दी शब्दों के पक्षपाती हैं । खिचड़ी शैली आपको बिल्कुल पसन्द नहीं । आप उर्दू-फारसी के सिर्फ उन्हीं शब्दों का प्रयोग उचित समझते हैं, जिनके पर्यायवाची शब्द हिन्दी में बिल्कुल नहीं हैं । आपको भय है कि भिन्न भिन्न भाषाओं के शब्दों के मिल जाने से हिन्दी स्वेच्छाचारिणी होकर अनेक रूप धारण कर लेगी जिससे उसका पहचानना कठिन हो जायगा ।

निवेदन इस पर अब यह है । गुरु जी यह बात खुद जानते हैं कि हिन्दी का शब्द-भण्डार अभी तक संकीर्ण ही बना है । पिछले पन्द्रह वर्षों में यद्यपि अनेक नये शब्दों की सृष्टि हुई है तथापि कहना ही पड़ता है कि हिन्दी में भाव प्रकाश की कठिनता अभी तक पूरी तरह नहीं गई । जब कोई लेखक किसी खास विषय पर लिखने बैठता है तब उसको इस बात का ठीक ठीक अनुभव होता है । इस अवस्था में शुद्ध हिन्दी शब्दों से कहां तक काम चल सकता है, यह गुरु जी खुद सोच सकते हैं । भाषा को उन्नत बनाने के लिए उसके शब्द भण्डार को विस्तीर्ण बनाने की जरूरत है ....

मैं नहीं सोचता गुरु जी किस खयाल से यह फरमाते हैं कि उर्दू के उन शब्दों का प्रयोग करना (चाहे वे प्रचलित भी क्यों न हों) जिनके कि पर्यायवाचक शब्द हिन्दी में पहले से ही हो, भाषा को अशुद्ध बनाने का दोषी होना है । हिन्दी में उर्दू के अप्रचलित शब्दों को घुसेड़ना किसी को भी इष्ट नहीं होगा । यहां मतलब है सिर्फ उर्दू के उन शब्दों से जिनका हिन्दी-जनता में खूब प्रचार है और जिन्हें लोग बोलने के समय अक्सर काम में लाते हैं । ....

आजकल हमारे साहित्य में हरिश्चन्द्र की शैली तो प्रचलित है ही और रहेगी ही, पर अब हिन्दी को राष्ट्रीयता के खयाल से उसमें बोलचाल में आने वाले विदेशी शब्द मिलाकर एक नई शैली का, जिसे गुरु जी `खिचड़ी शैली` कहते हैं प्रचार भी वांछनीय होना चाहिए । .... हिन्दी के शब्द-समूह को विस्तृत करने और उसके समानार्थ सूचक शब्दों की संख्या बढ़ाने के खयाल से उन्नति शील दल आजकल जानबूझकर बोलचाल में आने वाले विदेशी शब्दों का प्रयोग करने लगा है । ऐसा करने में उसका अभिप्राय केवल यह है कि वे शब्द आजकल के साहित्य अर्थात् लिखने की हिन्दी में प्रवेश प्राप्त कर लें । ..... दूसरी बात यह है कि इस खिचड़ी शैली के प्रचार से आजकल की हिन्दी को संस्कृताइज्म कहकर उसपर कठिन होने का इल्जाम लगाने वाले एक बड़े भारी दल का मुख बन्द हो जायेगा । ...... गुरु जी नियमों का `गोरखधंधा` तैयार कर हिन्दी में स्थिरता लाने के लिए शायद व्यग्र हो रहे हैं । उनसे प्रार्थना है कि वह इतने दिन जैसे धैर्य धारण किये रहे, वैसे ही कुछ दिन और खातिर जमा रक्खें ।`

-- स०, भाग २०, खण्ड१, सं०१, पृ०३०-३४ ।

गुरु जी द्वारा प्रयुक्त संस्कृत शब्दों पर आक्षेप करते हुए पाण्डेय जी का कहना था कि जब गुरु जी हिन्दी में संस्कृत शब्द मिश्रित शैली को नापसन्द करते हैं तो स्वयं अपने लेखों में संस्कृत की अधिकता क्यों रखते हैं[1]। पाण्डेय जी संस्कृत के शब्दों की सहायता के बिना हिन्दी का चलना कठिन बताने वालों में से थे, किन्तु द्विवेदी जी की भांति उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि जहां तक हो सके संस्कृत के उन बड़े-बड़े शब्दों से जिनका मतलब समझने में जन साधारण को कठिनता हो, बचाना चाहिए। साथ ही उर्दू-फारसी और अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों से काम लें तो अच्छा। ऐसे शब्दों का तत्सम या तद्भव जो रूप सर्वसाधारण में प्रचलित हो, वही रूप रहने देना चाहिए[2]। उत्तरप्रदेशीय लेखकों द्वारा अधिकाधिक (अनावश्यक रूप में) अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति से तत्कालीन हिन्दी-सेवी सन्तराम बी०ए० को भी आपत्ति थी। उनका विचार था कि अरबी-फारसी के समान भारत की प्रांतीय भाषाओं, यथा-- पंजाबी, गुजराती और मराठी आदि का समावेश भी हिन्दी में होना चाहिए। संस्कृत के प्रचलित शब्दों को कठिन ठहराकर उनका बहिष्कार संतराम जी के मत से अनुचित था। अपने `सरस्वती` के माध्यम से व्यक्त किए गए उनके विचार

----

१ `एक बात यह अवश्य सन्तोषजनक है कि आप जहां खिचड़ी आदि शैलियों को नापसन्द करते हैं, वहां आपको `संस्कृत-शब्द-मय शैली से भी विरक्ति है। पर आपसे प्रार्थना है कि आप एक निगाह अपने लेख पर ही डालें। उसे आप हिन्दी शब्द-मय समझते हैं या संस्कृत शब्द-मय ? `स्वयम्भू` `पूर्णतया` `आर्ष` आदि शब्दों के प्रयोग को आप कैसा समझते हैं ? `उच्च` `सदृश` `पूर्ण` और `पूर्व` आदि शब्दों के लिए प्रचलित हिन्दी शब्द नहीं थे क्या ?`

--`सरस्वती`, भाग २०, खण्ड १, सं०१, पृ० ३०-३४

२ वही

भी महत्वपूर्ण हैं[१]। हिन्दी की शैली-निर्धारण के सम्बन्ध में अपने मत-प्रकाशन में श्री गोपाल दामोदर सावरकर ने भाषा को बोधगम्य बनाने तथा उसके विकास के दृष्टिकोण से अन्य भाषाओं,यथा-- मराठी, बंगला, गुजराती उर्दू आदि के शब्दों को लेना उचित समझा ।

----

१ `हिन्दी अब पुराने पंडितों के पंजे से निकल कर उर्दू और अंग्रेजी पढ़े बाबुओं के अड्डे में आ डटी है यह विचार बड़ा ही शुभ है + + + + संयुक्त प्रान्तीय लेखकों में हिन्दी को सरल बनाने के नाम से उसमें फारसी और अरबी के शब्द घुसेड़ने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है । ये शब्द प्राय: ऐसे हैं, जिनका शुद्ध उच्चारण साधारण लोगों के लिए बहुत कठिन है । + + +

फिर अनेक ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है जिनकी कोई आवश्यकता नहीं । किन्तु, परन्तु, यदि, अतिरिक्त, ज्वर, असम्भव आदि के हिन्दी में होते हुए अगर,मगर, लेकिन, अलावा, वगैरह, बुखार, नामुमकिन, लिखने की क्या आवश्यकता है ? पर देखते हैं कि बालसखा आदि बालोपयोगी पत्रों में भी इन संस्कृत-शब्दों का बलपूर्वक बहिष्कार किया जाता है ।

फारसी और अरबी आदि विदेशी भाषाओं के आवश्यक शब्द लेने से -- जिनके समानार्थक शब्द हिन्दी में पहले से ही हैं, हिन्दी को कुछ लाभ नहीं, वरन अनावश्यक और समानार्थक शब्दों के बढ़ जाने से बालकों के मस्तिष्क पर हानिकारक बोझ पड़ने का डर है (यहां पं० कामताप्रसाद गुरु के मत समर्थ है)........ परन्तु संयुक्त प्रान्त के नव शिक्षित समाज में संस्कृत शब्दों के प्रति घृणा उत्पन्न हो रही है । वे हिन्दी से इन शब्दों को चुन-चुन कर निकाल डालना चाहते हैं ।..... सरल और क्लिष्ट भी दो सापेक्ष शब्द हैं । अरबी और फारसी के जो शब्द हमें क्लिष्ट जान पड़ते हैं वही अरब और फारस में जहां ये ~~बा~~ भाषाएं बोली जाती हैं,बहुत सरल हैं । बंगला संस्कृत प्रचुर भाषा है पर क्या इससे बंगालियों को यह बोलने और लिखने में क्लिष्ट जान पड़ती है ? ....अब प्रश्न होता है कि यदि हिन्दी के विद्वान फारसी,अरबी के प्रति इतना उदार भाव रखते हैं तो क्या पंजाबी,गुजराती और महाराष्ट्री आदि ने कोई भारी अपराध किया है जो उनके शब्दों के प्रयोग से हिन्दी में प्रांतीयता की दुर्गन्ध आती है ?` --सर०भाग२०सं०६,खं०१ `संयुक्तप्रान्त की हिन्दी`,पृ०३२५-३२७ ले०-सन्तराम बी०ए०

भाषा के स्वरूप-निर्माण में तत्सम शब्दों की बहुलता की जो नीति अपनाई जा रही है, उसकी आलोचना करने में बदरीनाथ भट्ट भी पीछे नहीं रहे। उन्हें यह स्वीकार्य नहीं था कि हिन्दी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत के शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करके हिन्दी की स्वाभाविकता को नष्ट किया जाय।[1]

तत्कालीन हिन्दी भाषा-सेवी पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने ,जो हिन्दी भाषा के उत्थान में सक्रिय योग दे रहे थे,शैली सम्बन्धी अनिश्चितता की आलोचना करते हुए इस बात पर बल दिया कि भाषा नियमानुकूल,सरल एवं बोधगम्य

---

१ इस विषय में 'सरस्वती' भाग १६, खण्ड १ , संख्या ४,पृ०१७६-१८१ में 'सम्पादकों और अनुवादकों का अधम' शीर्षक लेख में भट्ट जी ने अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है :--
'लल्लूजी लाल, राजा लक्ष्मण सिंह, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र आदि प्राचीन लेखकों की स्वाभाविकतापूर्ण भाषा में कतरब्योंत की कारस्तानी दिखलाना हिन्दी साहित्य के क्रमश: विकास के इतिहास का साधन नष्ट करके हिन्दी की जड़ पर कुठाराघात करना है। किसी को भी ऐसा करने का अधिकार नहीं, चाहे वह हिन्दी कोविदरत्न हो या हिन्दी अजागलस्तन। पर खेद की बात है कि अब ऐसा भी गजब देखने में आ रहा है। आज लल्लूजी लाल अथवा राजा साहब अथवा मिश्र जी अथवा दूसरे प्राचीन लेखकों की आत्माएं उन सम्पादकों अथवा संशोधक महोदयों से रो रोकर कह रही होंगी कि दया करो, जो भाषा हमने लिखी है, उसे वैसी ही रहने दो, हमारी स्वाभाविक भाषा वही है, उसे अपनी वनरंकुशता का शिकार न बनाओ। पर सम्पादक महोदय क्यों सुनने लगे--हम चौड़े बाज़ार सकड़ा।'

'इधर तत्समानन्दियों ने भी बड़ा बखेड़ा मचा रक्खा है। ये लोग भाषा की खास खूबियों के जरा कायल नहीं। ये हिन्दी के प्रत्येक शब्द को बदल कर वही पुराने कपड़े ज़बर्दस्ती पहनाना चाहते हैं। इनकी बदौलत हिन्दी एक प्रफुल्लित कुसुमोद्यान से बदल कर सङ्कुचित बीहड़ होती जा रही है। ज़रा ज़रा सी बात के लिए संस्कृत के व्याकरण की टांग तोड़ने वाले व्याकरणियों ने भी इनका खूब साथ दिया है।' (पृ०१८१)

होनी चाहिए[१]।

२.४. भाषा की व्याकरणिकता की समस्या

इधर भाषा के व्यावहारिक रूप को लेकर तो तर्क-वितर्क चलते ही रहे, साथ ही उसकी व्याकरणिकता की समस्या भी चरम सीमा पर थी । भारतेन्दु-युग के लेखकों का चरम लक्ष्य भाषा का प्रचार एवं प्रसार करना था, अत: उन्होंने अधिकाधिक रचनाएं करके हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरने में ही अपने कर्तव्य की पूर्णता समझी । प्राय: लेखकों का ध्यान भाषा के सुधार एवं परिमार्जन की ओर गया ही नहीं था ।

अस्तु, द्विवेदी-युग में जब भाषा-निर्माण का प्रश्न उठा तो लोगों को भाषा की रचनागत एवं व्याकरणिक अशुद्धियां खटकने लगीं ।परिणामस्वरूप तत्कालीन भाषा एवं साहित्य के विधायक गण का ध्यान भाषा की व्याकरणिकता की ओर आकर्षित होना अवश्यम्भावी हो गया ।

---

१ पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने तत्कालीन भाषागत शैली का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है --
'शैली का भी कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं, जितने लेखक हैं, उतने ही प्रकार की शैलियां बन गई हैं । कोई संस्कृत के बड़े-बड़े शब्द और समस्यन्त पद प्रयुक्त करता है, कोई ~~संस्कृत के बड़े बड़े शब्द और~~ कोई प्रचलित सरल संस्कृत शब्दों को छोड़कर ठेठ हिन्दी हिन्दी के शब्दों का प्रयोग करता है । कोई अरबी-फारसी के बड़े बड़े अलफाज काम में लाता है, कोई प्रचलित विदेशी शब्दों को छोड़ संस्कृत के कठिन शब्दों का व्यवहार करता और कोई सब की खिचड़ी पकाता है ।'
उनका कथन था कि --
'लिखने के पहले देख लेना चाहिए कि कैसी भाषा लिखने से सब की समझ में आ जायगा । अगर बोलचाल की भाषा में भाव भली भांति प्रकट हो सके तो क्लिष्ट भाषा की क्या आवश्यकता है ? यदि संस्कृत-शब्दों से भाव अधिक स्पष्टता और सुन्दरता के साथ व्यक्त हो तो तद्भव शब्द छोड़कर तत्सम शब्द प्रयुक्त करना युक्तियुक्त है । इससे भी काम न चले तो कठिन शब्दों का व्यवहार भी बुरा नहीं । 'मां-बाप' से काम न चले तो 'माता-पिता' के निकट जाने में क्या हानि है । आवश्यकता हो तो 'जनक जननी' की भी शरण लेनी चाहिए। तात्पर्य यह कि विषय के अनुकूल ही भाषा होनी चाहिए, पांडित्य प्रकट करने के लिए नहीं ।'

-- सन् १९२२ ई० में द्वादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,लाहौर के सभापति की हैसियत से दिए गए भाषण का अंश --'निबन्ध निश्चय -अभिभाषण पृ०१६३-१६५

उस समय भाषा के व्याकरण सम्बन्धी प्रश्नों के प्रमुख तीन वर्ग थे--

(१) व्याकरण के विषय-निरूपण-सम्बन्धी प्रश्न ।

(२) भाषा के व्याकरण के नियमों से बद्ध अथवा मुक्त रहने का प्रश्न ।

(३) रचनागत एवं व्याकरणिक रूप-निर्धारण का प्रश्न ।

१. व्याकरण के विषय-निरूपण सम्बन्धी प्रश्न--

व्याकरण में किन-किन विषयों का समावेश होना चाहिए, इसके सम्बन्ध में विभिन्न मत थे-- कुछ वैयाकरण केवल शब्द साधन एवं वाक्य विन्यास को ही व्याकरण का विषयक मानते थे तथा कुछ के मतानुसार साहित्य का इतिहास, वर्ण विचार, छन्द निरूपण, विराम चिह्न के उपयोग के नियम, रस, अलंकार, छन्द, कहावतें और मुहावरे भी व्याकरण के ही विषय होने चाहिए थे[१]।

पं० कामताप्रसाद गुरु ने व्याकरण के मूल विषयों को अपने व्याकरण पुस्तक में तीन वर्गों में विभाजित किया है --(क) वर्ण विचार, (ख) शब्द-साधन, (ग) वाक्य विन्यास (यद्यपि उन्होंने अपनी रचना में भाषा का इतिहास सन्दर्भ रूप में तथा विराम चिह्नादि के नियमों का उल्लेख रचना की दृष्टि से किया है)। उन्होंने साहित्य के इतिहास, छन्द निरूपण, रस, अलंकार, कहावतों, मुहावरों आदि विषयों का ज्ञान भाषा ज्ञान की पूर्णता के हेतु आवश्यक बताया है, किन्तु[२] इन्हें अपने आप में स्वतन्त्र विषय मानकर व्याकरण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं बताया है।

२. भाषा के व्याकरण के नियमों से बद्ध अथवा मुक्त रहने का प्रश्न--

जहां तक भाषा को व्याकरण के नियमों से बद्ध अथवा मुक्त होने का प्रश्न है, भारतेन्दु-युग से ही साहित्यिक हिन्दी खड़ीबोली पर जो अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ने लगा था, उससे हिन्दी के प्रयोग में विशृंखलता उत्पन्न हो गई थी ।अत: इसके निराकरण के हेतु हिन्दी का व्याकरण सम्मत प्रयोग आवश्यक था । द्विवेदी-युग में इस प्रश्न ने व्यापक रूप धारण किया । आचार्य महावीर प्रसाद का लक्ष्य भाषा को

----

१ दे० सर०, भाग २०, खं०२, सं०६, पृ०३२०-३२१ `हिन्दी कौमुदी समालोचन` ले०-देवदत्तशर्मा

२ दे० कामताप्रसाद गुरु : `हिन्दी व व्याकरण`, भूमिका, पृ०२

सुस्थिर एवं सुघड़ रूप प्रदान करना था, अतएव उन्होंने उसकी व्याकरणिकता पर विशेष बल दिया[1]।

द्विवेदी जी ने हिन्दी में एक अच्छे व्याकरण का अभाव ही हिन्दी भाषा के प्रयोग में अराजकता का कारण बताया[2]। भाषा की व्याकरण-बद्धता के अभियान में उन्हें पं० कामताप्रसाद गुरु, गोविन्दनारायण मिश्र जैसे वैयाकरणों का पर्याप्त सहयोग प्राप्त था।

इस आन्दोलन की कुछ विरोधी प्रतिक्रियाएं भी हुईं। कुछ लोगों ने

----

१ भाषा की अनस्थिरता से क्षुब्ध होकर द्विवेदी जी ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया था --

'यदि एक भाषा प्रधान न मान ली जाय और सब लोग उसी में अपने ज्ञानानुभव को लिपिबद्ध न करें तो भावी सन्तति को उनके ज्ञान और अनुभव से कुछ भी लाभ न हो और न भाषा ही सुन्दर, सुदृढ़, सुसज्जित और अलंकृत हो। इसी से भाषा को स्थिर करना, उसकी अनस्थिरता को यथाशक्ति रोकना भाषा-भाषियों का बहुत बड़ा कर्तव्य है। इस प्रकार की स्थिरता और सुन्दरता भाषा के पैरों में व्याकरण रूपी बेड़ी डालने से ही आ सकती है।

२ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा पं० श्रीधर पाठक को लिखे गए पत्र का अधोलिखित अंश इसका परिचायक है--

'हिन्दी में कोई अच्छा व्याकरण नहीं जिसे सब लोग माने। इससे जिसके जी में जो आता है, उसे ही वह लिखता है। यह भाषा का दुर्भाग्य है। इससे उसे कभी स्थिरता न प्राप्त होगी। अखबारों में हम अनेक ऐसे वाक्य देखते हैं जिनका पारजिंग ही नहीं हो सकता'।--द्विवेदी पत्रावली, पृ० ५६

यद्यपि पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी जी ने उक्त मत का खण्डन निम्नलिखित शब्दों में किया है--

'कुछ लोगों की यह धारणा हो गयी है कि हिन्दी भाषा में व्याकरण का अभाव है। परन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक है। जो हिन्दी से अनभिज्ञ हैं, वही ऐसी लचर बात कह सकते हैं। हिन्दी के विषय में ऐसी कल्पना करना उसका अपमान करना है। भला जिस भाषा में सूर, बिहारी, खानखाना से कवि हो गये हैं, उसमें व्याकरण का अभाव बताना क्या अनाड़ीपन नहीं? ऐसे सज्जनों से मैं दावे से कहता हूं कि हिंदी में व्याकरण है और सर्वांग सुन्दर पर हां यह जरूर है कि व्याकरण की छपी हुई कोई अच्छी पोथी नहीं है। जो एकाध है वह केवल आंसू पोंछने के लिए है।'

हिन्दी को व्याकरण के नियमों से जकड़ देने के सिद्धान्त की आलोचना की[1]। किन्तु अधिकांश व्यक्तियों ने हिन्दी की नियमतबद्धता के मत को ही स्वीकार किया। कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी भाषा की व्याकरणबद्धता के विरोधियों की शंकाओं के समाधान में तर्कपूर्ण सिद्धान्त उपस्थित किए। उनका कथन था कि भाषा वास्तव में व्याकरण के अधीन नहीं किन्तु इतना अवश्य है कि व्याकरण भाषा की शुद्धता तथा व्यावहारिकता का विवेचन करता है[2]।

----

१ गोपालदास तामसकर ने `सरस्वती` (भाग २३, खण्ड १, सं०५, पृ०३४६-३४६) के माध्यम से अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए --

`कुछ काल से हिन्दी के कुछ लेखकों और विद्वानों की प्रवृत्ति इस भाषा को बन्धनों से जकड़ कर रखने की ओर अग्रसर हुई है। व्याकरण अथवा संस्कृत भाषा के जो आचार्य हैं उनकी प्रवृत्ति तो इस ओर बहुत ही अधिक है। हाल में जबलपुर से निकलने वाली `श्री शारदा` नामक पत्रिका में श्री कामताप्रसाद गुरु जी ने `हिन्दी में विभक्ति संयोग` पर लेख लिखा है। इस लेख में भी वही प्रवृत्ति देख पड़ती है। हिन्दी पर साधारणत: दो प्रकार के बन्धन रखे जाते हैं--(१)वैयाकरण लोग भाषा को अपने नियमों के पाबन्द बनाना चाहते हैं, उसे इधर-उधर बिल्कुल हिलने डुलने नहीं देना चाहते। व्याकरण के नियमों का उल्लंघन न हो, इसलिए हिन्दी को ही बांध रखना ~~xxxxxx~~ चाहते हैं।(२) दूसरे प्रकार का बन्धन संस्कृत है।`

२ `व्याकरण भाषा के अधीन है और भाषा ही के अनुसार बदलता रहता है। वैयाकरण का काम यह नहीं कि वह अपनी ओर से नये नियम बनाकर भाषा बदल दे। वह इतना ही कह सकता है कि अमुक प्रयोग अधिक शुद्ध है अथवा अधिकता से किया जाता है, पर उसकी सम्मति मानना या न मानना सभ्य लोगों की इच्छा पर निर्भर है।

\+ \+ \+

`यहां अब प्रश्न हो सकता है कि यदि भाषा व्याकरण के आश्रित नहीं है और व्याकरण की सहायता पाकर `हमारी भाषा शुद्ध, रोचक और प्रमाणित नहीं हो सकती तो उसका निर्माण करने और उसे पढ़ने से क्या लाभ ? कुछ लोगों का यह भी आक्षेप है कि व्याकरण एक शुष्क और निरुपयोगी विषय है। इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि भाषा से व्याकरण का प्राय: वही सम्बन्ध है, जो प्राकृतिक विकारों से विज्ञान का है। वैज्ञानिक लोग ध्यानपूर्वक सृष्टिक्रम का निरीक्षण करते हैं और जिन नियमों का प्रभाव वे प्राकृतिक विकारों से देखते हैं उन्हीं का बहुधा सिद्धान्तवत् ग्रहण कर लेते हैं।`-- गुरु : `हिन्दी व्याकरण`, पृ०४,५।

व्याकरण-सम्मत भाषा के अनुमोदकों में प्रमुख थे -- बाबू बालमुकुंद गुप्त, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० कामताप्रसाद गुरु, गोविन्दनारायण मिश्र श्रीधर पाठक, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी एवं पद्मनारायण शर्मा आदि । इतना अवश्य है कि ये लेखक नियमों की रूढ़िवादिता को स्वीकार न करते हुए भाषा की गति के अनुरूप उसमें संशोधन करना चाहते थे[1] । अत: इनके प्रमुख शब्दादि की रचना एवं रूपात्मकता के सिद्धान्तों की स्थापना की समस्या भी मुखर हो उठी थी ।

३. रचनागत एवं व्याकरणिक रूप-निर्धारण का प्रश्न --

(अ) वर्ण-विन्यास सम्बन्धी प्रश्न--

वर्ण-विन्यास में पंचमाक्षरों का प्रयोग भाषा की शुद्धता की दृष्टि से आवश्यक होते हुए भी उसके स्थान पर अनेक लेखक अनुस्वार का प्रयोग करने लगे थे । इस प्रकार तत्कालीन कृतियों में प्रयोग की अनस्थिरता के कारण इस सम्बन्ध में द्वैध उत्पन्न हो गया था । बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने से पूर्व लिखे गए 'शकुन्तला' नाटक के संस्करणों में पंचमाक्षर तथा अनुस्वार सम्बन्धी द्विरूपता को देखकर स्वसम्पादित संस्करण में केवल अनुस्वार का प्रयोग एकरूपता की दृष्टि से आवश्यक समझा[2] । किन्तु

---

१ गोविन्दनारायण मिश्र जी के शब्दों में--
'जो भाषाएं सजीव हैं, जिनके बोलने वालों की गिनती करोड़ों से भी ऊपर है । उन (लिविंग लैंग्वेजेज) सजीव भाषाओं में थोड़े से लोगों का हठ वा दुराग्रहपूर्वक लेख प्रचलित करने की चेष्टा करना कदापि भाषा की प्रकृति को बदलने में समर्थ हो न होगी । व्याकरण के प्रत्येक नियम का बनाना भाषा की प्रकृति परीक्षा पर ही निर्भर करता है । व्याकरण बलपूर्वक किसी भाषा की प्रकृति का परिवर्तन नहीं कर सकता है ।
--गो०मिश्र : 'विभक्ति विचार', पृ०८ ।

२ दास जी ने 'शकुन्तला' की भूमिका में लिखा है --
'इस ग्रन्थ के जितने संस्करण मैंने देखे उनमें विशेषकर अनुस्वार और पंचम वर्ण के प्रयोग में बड़ा गड़बड़ पाया । एक नियम का अनुकरण किसी एक पृष्ठ में भी नहीं पाया था। यही अवस्था हिन्दी के प्राय: सभी ग्रन्थों की है । इस संस्करण में मैंने कहीं पंचम वर्ण का प्रयोग नहीं किया है । सब जगह अनुस्वार से ही काम लिया गया है । यह नया है ढंग देखा चाहिये हिन्दी के समालोचकों की इस ओर क्या सम्मति होती है ।'

किन्तु द्विवेदी जी को पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग मान्य नहीं था । इसके प्रत्यक्ष प्रमाण द्विवेदी जी के निजी प्रयोग एवं `सरस्वती` की पाण्डुलिपियों में सुधार हैं(दे० `वर्णविन्यास` पंचमाक्षर प्रयोग) । इनके अतिरिक्त `सरस्वती` के अंकों में अनुस्वार एवं पंचमाक्षर प्रयोग के नियमों से सम्बन्धित विचार भी प्रकाशित हुए किन्तु युग की रुझान प्रयोगगत सुविधानुसार अनुस्वार के व्यवहार की ओर ही थी,अत: आगे चलकर अधिकांश लेखक इसी धारा में अवगाहन करने लगे । यहां तक कि द्विवेदी जी के नाम से सम्पादित कृति `साहित्य सीकर`[१] में भी पंचमाक्षरों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग विकल्प से रायज बताया गया है ।

इसी प्रकार अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु) के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग भी तत्कालीन समस्याओं में एक था । सुविधा की दृष्टि से अधिकांश लेखक चन्द्रबिन्दु की अपेक्षा अनुस्वार का ही प्रयोग करने लगे थे, किन्तु इस ओर द्विवेदी जी जैसे भाषा-सुधारक एवं गुरु जैसे वैयाकरण का ही ध्यान अधिक गया । इन महानुभावों ने इस क्षेत्र की तत्कालीन अनियमितताओं की आलोचना करते हुए इनके प्रयोग से सम्बन्धित नियम भी प्रकाशित किए[२] । किन्तु युगविशेष को छोड़ कर आगे इनके मतों से कोई लाभ नहीं हो पाया और आज अनुस्वार का प्रयोग स ही अधिक व्यापक हो गया है । यहां तक कि आलोच्य-युग में भी अनेक मुद्रण संस्थाओं द्वारा मुद्रण की सुविधा-हेतु सर्वत्र अनुस्वार का ही व्यवहार किया गया ।

रूपान्तरित शब्दों के वर्ण-विन्यास में किए हु किये हुए-हुये,जायंगे-जावेंगे, आओ- आवो` जैसी द्विविधताएं भी भाषा के शुद्ध प्रयोगकर्ताओं केक सम्मुख विचारणीय समस्या के रूप में थीं । इस प्रकार की अनियमितताओं से द्विवेदी जी को अधिक स असन्तोष था और इन अनियमितताओं से सम्बन्धित आलोचना के लिए उन्होंने

---

१ दे०अच्छा, यह तो बताइए,अधिकांश लेखक पंचम वर्ण का काम अनुस्वार से लेते हैं । आपके व्याकरण से तो ऐसा करना गलत है । फिर इसके लिए आपने कोई नियम क्यों नहीं बनाया ? ग० अनुस्वार लिखना तो विकल्प से रायज हो गया ।`
--म०प्र० द्वि० : साहित्य सीकर `हिन्दी शब्दों का रूपान्तर`

२ दे० `सरस्वती` भाग ७,`द्विवेदी रचित हिन्दी भाषा और व्याकरण`तथा भाग १६ खं०१ सं० २ गुरु रचित `अनुस्वार और अनुनासिक` ।

उन्होंने विशेष रूप से अपनी लेखनी उठाई थी । `सरस्वती` में प्रकाशित लेख `हिन्दी-व्याकरण` में आपने तत्कालीन लेखकों की भाषा में पाई जाने वाली उक्त प्रकार की त्रुटियों पर पर्याप्त टीका टिप्पणी की है[१]। इसके अतिरिक्त अन्य माध्यमों से भी उन्होंने इस प्रयोग के प्रति अपनी क्षुब्धता व्यक्त की[२]। द्विवेदी जी के आदर्शों का अनुकरण कुछ विवेकशील लेखकों ने तो किया, फिर भी अन्य लेखकों द्वारा स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति अपनाई जाने के कारण यह द्वैध आगे भी बना रहा ।

ध्वनि-प्रयोग सम्बन्धी तत्कालीन समस्याओं में एक और प्रमुख समस्या फ़ारसी ध्वनियों यथा-- क़, ख़, ग़, ज़, फ़ को मूलरूप में अथवा हिन्दी-ध्वनि अनुकूल रूप में अपनाने की तथा उक्त फ़ारसी ध्वनियों की बिन्दी हटाकर उसके हिन्दी के अनुस्वार -प्रयोग की बात भारतेन्दु युग में चल तो पड़ी थी किन्तु ध्वनियों के शुद्ध प्रयोग कर्ताओं द्वारा यह मत मान्य नहीं था । नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा यह निर्णय लिया गया था कि फ़ारसी ध्वनियों का प्रयोग बिना बिन्दी हटाये शुद्ध रूप में ही किया जाय,तदनुसार `सरस्वती` पत्रिका में भी उक्त नीति ही अंगीकृत हुई । सभा के इस निर्णय का विरोध बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने किया था जब कि वह स्वयं उर्दूदां थे और उर्दू - पत्रिकाओं का सम्पादन भी कर चुके थे । फलत: उक्त प्रयोगों के पक्ष-विपक्ष में दो प्रतिकूल विचारधाराएं चल पड़ीं एक,नागरी प्रचारिणी सभा की नीति

---

१ सर०, भाग ७, सं०२ `भाषा और व्याकरण` ।

२ द्विवेदी जी के नाम से प्रकाशित रचना`साहित्य-सीकर में संगृहीत संवादात्मक नाटक `हिन्दी शब्दों के रूपान्तर` उक्त प्रसंग से सम्बन्धित कुछ वाक्य इस प्रकार हैं --

` हिन्दी के कुछ लेखक हिन्दी के कुछ शब्दों की बड़ी ही दुर्दशा करते हैं । वे उन्हें एक रूप में नहीं लिखते कोई `दिये` लिखता है, कोई `दिए`इस विषमता ने मेरे उदर में शूल उत्पन्न कर दिया है । `

-- पृ० ६६

के अनुमोदकों को, जिनमें द्विवेदी जी तथा पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय प्रमुख थे[1] तो दूसरी, सभा की नीति के खण्डन को, जिसके अग्रणी बाबू बालमुकुन्द गुप्त थे तथा पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी उनका प्रतिनिधित्व कर रहे थे[2]। बिन्दी लगाने के संबंध

---

१ उर्दू ध्वनियों के प्रयोग के सम्बन्ध में पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय का मंतव्य--

'जब फ़ारसी अरबी और तुर्की के शब्दों का प्रचार हुआ तो उनके शब्दगत अक्षरों की विशेष ~~ध्वन~~ ध्वनियों की ओर भी लोगों की दृष्टि आकर्षित हुई, क्योंकि बिना उन ध्वनियों की रक्षा किए शब्दों का शुद्धोच्चारण असम्भव था। परिणाम यह हुआ कि कुछ विशेष चिह्न द्वारा इस न्यूनता की पूर्ति की गई.... किन्तु कुछ विशेष भाषा मर्मज्ञ इस प्रणाली के प्रतिकूल हैं। उनका यह कथन है कि ग्राहक भाषा सदा ग्राह्य भाषाओं के शब्दों को अपने स्वाभाविक उच्चारण के अनुकूल बना लेती है। ऐसी अवस्था में हिन्दी वर्णों पर बिन्दु लगाकर अरबी, फ़ारसी अक्षरों की ध्वनियों की रक्षा करना युक्तिसंगत नहीं। ऐसा करने से व्यर्थ वर्णमाला के वर्णों का विस्तार होता है (उपाध्याय के उक्त कथन में बालमुकुन्द गुप्त तथा चतुर्वेदी जी के मतों की ओर संकेत किया गया है)। मेरा विचार है कि जब पठित समाज अरबी, फ़ारसी के विशेष अक्षरों का उच्चारण उसी रूप में करता है जिस रूप में उनका उच्चारण उन भाषाओं में होता है तो इस प्रकार के उच्चारणों की रक्षा के लिए हिन्दी भाषा के अक्षरों में विशेष संकेतों द्वारा कुछ परिवर्तन करने की जो प्रणाली गृहीत है वह सुरक्षित क्यों न रखी जावे?'

--हि०भा० और सा० का विकास, पृ०६८-६६

२ चतुर्वेदी जी ने अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाकर फ़ारसी ध्वनिकरण का विरोध इन शब्दों में किया --' बात है अरबी फ़ारसी के लफ़्ज़ों में नुक़्ता लगाए जाने की। तलफ़्फ़ुज़ के लिहाज़ से ही वे ऐसा करते हैं, पर यह नहीं सोचते कि इस बिन्दी से हिन्दी की चिंदी निकल रही है (तथापि स्वयं लेखक ने इस रचना में भी नुक़्ता का प्रयोग नियमपूर्वक किया है)। बिंदी की बीमारी यहां तक बढ़ी कि कन्नौज में भी नुक़्ता लग गया। ..... जो अरबी-फ़ारसी के आलिम-फ़ाज़िल नहीं हैं वे नुक़्ता लगाने में अक्सर भूल करते हैं। एक बार एक प्रसिद्ध विद्वान् वकील साहब ने अपनी वकालत के क में नुक़्ता लगा दिया था। बात यह है कि मौलवी साहब के मकतब की हवा खाए बिना नुक़्ता लगाना नहीं आ सकता। पर हिन्दी लिखने में इसकी ज़रूरत ही क्या? जो जानकर हैं वे नुक़्ता बिना भी ठीक पढ़ लेंगे। हां, जो भाषाविद हैं वे मजे में बिन्दी लगा सकते हैं। पर सब लोगों को इसके फेर में न पड़ना चाहिए। हिन्दी को बिंदी से पाक साफ रखना अच्छा है। सीधी सादी हिंदी को नई उलझन में फंसा उसे जटिल बना देना हानिकारक है।'

-- निबन्ध निचय: 'अभिभाषण', पृ०१५७-१५८

में मत वैषम्य होते हुए भी युग-विशेष की अधिकांश रचनाओं की भाषा में फारसी ध्वनियों का अपने शुद्ध रूप में ही प्रयोग मिलता है, किन्तु आगे चलकर अधिकांश प्रकाशन संस्थाओं, सम्पादकों एवं लेखकों द्वारा बिन्दी-रहित ध्वनि प्रयोग को ही नीति मान्य हुई। यहां तक कि नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा भी कालान्तर में उक्त नीति ही अनुमोदित हुई। और आज तो फारसी ध्वनियों की यह बिन्दी समाप्त प्राय: हो0 है।

भाषा की अल्पज्ञता अथवा प्रयोग की असावधानी के कारण तो ध्वनि नियोजन दोषपूर्ण था ही साथ ही अरबी-फारसी के ज्ञाताओं ने हिन्दी शब्दों के वर्ण-विन्यास में स्वर-व्यंजनादि के परिवर्तन से और भी त्रुटि[1] उत्पन्न कर दी थी, जिसकी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तीव्र आलोचना की।

(आ) शब्द-रचना सम्बन्धी प्रश्न --

जहां तक उपसर्ग एवं प्रत्ययों के प्रयोग से तत्कालीन शब्द-संरचना-प्रणाली का प्रश्न है, द्विवेदी जी भाषा की उन्नतिशीलता में रूढ़िवादिता को बाधक

----

१ भाषा की आत्मा, उसके प्राण, उसका सर्वस्व प्रादेशिक बोलियों ही में पाये जाते हैं। अगर ऐसा न हो तो बेरहम और जबरदस्त जुबादा लोग अपनी जुबादानी की तेज़ तलवार से भाषा को अल्पकाल ही में बेमौत मार डालें, क्योंकि वाजिदअली शाह के मकतब के मुरीद प्रान्तिक बोलियों और देहाती मुहाविरों से अज़हद नफरत करते हैं। यह अरबी फारसी और उर्दू के दास सत्य को सत, पति को पती, अनुभूति को अनुभूती, लक्ष्मी को लक्षमी, स्त्री को इस्त्री, पांच सौ को पान्सौ मेष राशि को मेख(खूटी) राशि और सदिच्छा को सदेच्छा लिखकर अपनी जुबादानी साबित करते हैं। यहां तक कि अपना नाम लिखने में वे नारायण को नरायण(न) प्रसाद को परशाद और गुप्त को गुप्ता तक कर डालते हैं। खुद तो वे नामो निशान या नमोनिशां की जगह नाम-निशान लिखते हैं, पर यदि कोई रद-बदल लिख दे तब तो उसे रद्दोबदल कराने दौड़ते हैं। गोया शब्दों के बनाने और बिगाड़ने के ठेकेदार आज़म यही हैं। इनकी कुटिल नीति ने चाणक्य की नीति को भी मात कर दिया।

--सर0 भाग ७ सं0२, पृ0६६

महावीर प्रसाद द्विवेदी : 'भाषा और व्याकरण'

तत्व मानते थे, अत: उन्होंने शब्द-निर्माण में उपसर्ग एवं प्रत्ययों का ऐसा नवीन प्रयोग किया जिसे उनके आलोचकों ने त्रुटिपूर्ण माना । जैसे `अनस्थिरता` -- इस शब्द का प्रयोग द्विवेदी जी ने `हिन्दी भाषा और व्याकरण` नामक स्वकृति में स्थिरता के विलोमार्थ में किया है । साथ ही इस शब्द-भेद का स्पष्टीकरण भी कर दिया है,[1] किन्तु `सरस्वती` में जब आपका उक्त लेख प्रकाशित हुआ तो तत्कालीन प्रमुख आलोचक पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने `साहित्य में हाईकोर्ट` शीर्षक एक पत्र में उनके `अनस्थिरता` शब्द के प्रयोग के स्पष्टीकरण की व्यंग्यपूर्ण आलोचना की ।[2] उन्होंने `अ` के स्थान पर `अन` उपसर्ग का प्रयोग अव्यवहारिक एवं अव्याकरणिक बताया ।

---

१ भाषा की परिवर्तनशीलता के विषय में `अस्थिरता` को `अनस्थिरता` शब्द केवल स्थिरता के प्रतिकूल अर्थ का बोधक है । जो स्थिर नहीं है वह अस्थिर है, परन्तु जिसमें अतिशय अस्थिरता है, जिसमें अस्थिरता की मात्रा अत्यन्त अधिक है, उसके लिए अनस्थिरता ही का प्रयोग हम अच्छा समझते हैं । कोई कोई भाषा दस ही वर्ष में नष्ट हो जाती है । अतएव ऐसी भाषा के अत्यन्त अस्तित्व गुणबोधक अनस्थिरता शब्द के रखने में दोष नहीं प्रत्युत गुण है । संस्कृत शब्द से वह अशुद्ध है तो हुआ करे हम संस्कृत नहीं किन्तु हिन्दी लिख रहे हैं ।`
-- `भाषा और व्याकरण`, सर०, भाग ७, सं०२, पृ०६३-६४

२ अब द्विवेदी जी `अनस्थिरता` की हिमायत किस प्रकार करते हैं वह सुनिये -- `अस्थिरता की जगह अनस्थिरता शब्द लिखना अनुचित नहीं । जिसमें अतिशय अस्थिरता है उसके लिए अनस्थिरता ही का प्रयोग हम अच्छा समझते हैं` किस व्याकरण की रु से ? आप आगे चलकर और भी कहते हैं `संस्कृत व्याकरण से यदि वह अशुद्ध है तो हुआ करे किन्तु हम हिन्दी लिख रहे हैं` क्यों महाराज जी । आप जैसे संस्कृत के विद्वान के योग्य यह उत्तर हुआ । बंगवासी के `टें टें वाले` यह बुद्धिमानी भले ही दिखलावें पर आपके मुंह से यह बात नहीं निकलनी चाहिए । अच्छा यह तो बताइये कि `रिषि` आदि लिखने के कारण तो पं० प्रतापनारायण की संस्कृतज्ञता पर तो इतनी दीर्घ शंका हो गई पर अपनी अनस्थिरता पर आपको लघु शंका भी नहीं हुई ? धन्य न्याय। `अनरिनि` की तरह अनस्थिरता शुद्ध है तो अनमंगल अनशुभ अनकाल, अनयश, अनपूर्ण, अन परिपक्व आदि शब्द मजे में व्यवहृत होने चाहिए । खैर जो हो `अनस्थिरता` ने आपकी विद्वता, उदारता आदि की थाह लगा दी । अब चाहे आप हाईकोर्ट को कौन कहे प्रीवी कौंसिल भी चले जायं तो बुन्द से भेंट नहीं होगी` ।
-- जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने `अनस्थिर` के साथ `ता` प्रत्यय के योग पर भी आपत्ति की । (यद्यपि संस्कृत शब्द-निर्माण के नियम से `ता` प्रत्यय का योग उपयुक्त है, किन्तु `अन` हिन्दी उपसर्ग के योग से `अनस्थिर` शब्द हिन्दी के शब्द की कोटि में आ जाता है, अत: हिन्दी प्रकृति के साथ हिन्दी प्रत्यय `पन` का प्रयोग गुप्त जी ने अधिक उपयुक्त समझा) द्विवेदी जी ने उनका सामना भी अपने निर्भीक विचारों के साथ किया । आपने अपने प्रयोग की समालोचना के प्रत्युत्तर में व्यंग्योक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जब संस्कृत + हिन्दी उपसर्ग + प्रकृति अथवा प्रकृति + प्रत्यय युक्त शब्दों का प्रयोग हिन्दी में होने लगा है तो उनका यह प्रयोग भी शुद्ध माना जाना चाहिए[१] ।

---

१ `हमारे समालोचक जी को `अनस्थिरता` हिन्दी में रखना मंजूर नहीं । क्यों ? उसमें एक `ता` है जो है । `पन` की नादिरशाही में `ता` का क्या काम ? अच्छी बात है आप और आपके सगे सहकारी सहोदर उसे गलत समझे रहें । हमने इसमें और इसके पहले लेख में अनस्थिर शब्द भी लिखा है । उसे आप हिन्दी के कोश में रहने दीजिए । इसी को हम गनीमत समझेंगे । आपकी इतनी उदारता से `अनस्थिरता` का भी कहीं न कहीं ठिकाना लग ही जायगा , क्योंकि अभी तक हिन्दी साहित्य के संसार में लोगों ने `नेकनीयती` का ऐनक आंखों पर नहीं लगाया । इच्छा तो हमारी यह थी कि `ता` से आपको इतनी नफरत है उसे हम `अनहित` `अनमिल` `अनरस` आदि शब्दों में भी लगा दें । पर `ता` का बहुत अधिक खर्च हम नहीं करना चाहते । यदि `ता` का खजाना यहीं खाली हो जायगा तो गुप्त विद्वान अपने अत्यन्त शुद्ध हिन्दी शब्द `निरधनता` के लिए `ता` बिठाकर `गुप्त` को `गुप्ता` कैसे बनावेंगे ? नायिका नाम `गुप्ता` सुना गया था पर अब `गुप्ता` नायक पैदा हो गये । । `गुप्ता` शब्द संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि सब भाषाओं के व्याकरण से सही है, पर `अनस्थिरता` नहीं । क्यों दुबादानों का हुक्म । और हुक्म भी कैसा ? `स्थिर` में `अन` लग जाय, पर `स्थिरता` में न लगने पावे । ये महात्मा संस्कृत के सैकड़ों शब्द तोड़ मरोड़ कर हिन्दी बना देंगे, निर्धनता को `निरधनता` कर देंगे, `चंचलता`, `सुन्दरता`, `सुकुमारता` आदि के आगे खुशी से एक `ई` बढ़ा देंगे पर हमारे समालोचक अनस्थिर के आगे `ता` न होने देंगे ।`

-- म० प्र० द्वि० : `भाषा और व्याकरण`, सर०, भाग ७, सं०८, पृ०८०

(इ) पद- रूप एवं प्रयोग सम्बन्धी प्रश्न --

द्विवेदी युग के पद-रूप एवं प्रयोग सम्बन्धी प्रश्नों में विभक्ति चिह्नों के प्रयोग का प्रश्न बहुचर्चित एवं व्यापक विषय था । विभक्तियां संज्ञा शब्दों के साथ सटा कर लिखी जायं अथवा अलग-- यह प्रश्न आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य क्षेत्र में पदार्पण के पूर्व ही उठ चुका था, किन्तु तत्कालीन मत-मतान्तरों का कोई निश्चित परिणाम नहीं निकलने से प्रयोग में मनमानापन बना ही रहा, अतः द्विवेदीकाल में पुनः इस विषय पर विचार अवश्यम्भावी है ।

सर्वप्रथम वेंकटेश्वर समाचार पत्र ~~दे~~ के जनवरी, १९०६ के अंक में पं० सखाराम देवस्कर का लेख विभक्तियों को संज्ञा-सर्वनाम के साथ सटा कर लिखने के संबंध में प्रकाशित हुआ । उनके मत का खण्डन मिर्जापुर निवासी सेठ लाला भगवानदास हालना ने किया और तब से इस विषय पर तर्क वितर्कों की झड़ी सी लग गई । इस विषय पर तत्कालीन अनेक हिन्दी सेवियों ने अपनी लेखनी उठाई । उनमें प्रमुख थे -- पं० सखाराम देवस्कर, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, वैद्यराज पं० किशोरी वल्लभ जी, पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, दुर्गा प्रसाद खेतान, अनन्तराम त्रिपाठी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री (विभक्तियों को मिलाकर लिखने के पक्ष में) तथा लाला भगवानदास हालना, पं० लज्जाराम शर्मा, अक्षयवट मिश्र, राधावल्लभ वैद्य, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मुकुन्दराम पाण्डेय, लाला भगवानदीन, रामचन्द्र शुक्ल (विभक्तियों को अलग लिखने के पक्ष में थे) । इनके अतिरिक्त अन्य विद्वज्जनों ने भी विषयी के पक्ष-विपक्ष में अपने विचार प्रकाशित किए । उक्त महानुभावों के विचार उस समय निकलने वाले अधिकांश पत्रों, यथा वेंकटेश्वर समाचार(बम्बई), हितवार्ता(कलकत्ता) भारत जीवन (बनारस), अभ्युदय (प्रयाग), बिहार बन्धु(बांकीपुर), शिक्षा (बांकीपुर), भारतमित्र आदि में प्रकाशित हुए[1] । इस समस्या के समाधान के निमित्त हिन्दी साहित्य महामंडल की भी स्थापना हुई । विभक्तियां प्रकृति से सटाकर लिखी जायं अथवा अलग-- इन

---

१ विभक्तियों के प्रयोग सम्बन्धी लेखों वाले उपर्युक्त पत्रों के अंकों को महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विचार वितण्डा शीर्षक के अन्तर्गत संगृहीत करके नागरी प्रचारिणी सभा को दान स्वरूप दे दिया था जो अभी भी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित है ।

प्रश्नों में सटाऊ सिद्धान्त के मानने वालों का मत था कि अन्य भारतीय भाषाओं यथा-- संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी आदि के व्याकरण के अनुसार हिन्दी पद-रचना भी होनी चाहिए अर्थात् विभक्तियों को सटाकर लिखने पर ही पद वाक्य की इकाई बन सकता है[1]। गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी की तुलना संस्कृत तथा प्राकृत भाषा से करते हुए अंग्रेजी व्याकरण के आधार पर विभक्तियों को प्रकृत शब्दों से सटाकर लिखने के पक्ष में मत निर्धारण करने वाले विदेशी भाषा-वैज्ञानिकों, यथा-- बीम्स , हार्नली, बॉप आदि की शंकाओं का खण्डन करते हुए हिन्दी की विभक्तियों को प्रकृति से सटाकर लिखने के नियम को ही सर्वोपरि रखा[2]।

मूल संज्ञा शब्दों से विभक्तियों को अलग लिखने के समर्थकों ने विभक्तियों को सटाकर लिखने वालों के मतों के विपरीत जो तर्क प्रस्तुत किए, उनमें प्रथम तो यह था कि हिन्दी की रचना संस्कृत, बंगाली,मराठी आदि भाषाओं से भिन्न है। संस्कृत में विभक्ति-प्रत्यय अलग से नहीं लगते, वरन् विभक्तियों के अनुसार शब्द ही परिवर्तित हो जाता है। किन्तु हिन्दी के विभक्ति-चिह्न अलग होते हैं, अतः उन्हें अलग ही रहने देना चाहिए[3]। दूसरा यह कि यदि विभक्ति के पूर्व अव्यय आ रहा हो तो विभक्ति का सटाकर लिखना सम्भव नहीं। यदि सटाऊ सिद्धान्त के मानने वालों(यथा-- दुर्गाप्रसाद खेतान, वैद्यराज पं० किशोरीवल्लभ, पं० जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी आदि) के मतानुसार अव्य को भी बीच में रहने दिया जाय अथवा स्वेच्छा से विभक्ति-चिह्नों के पश्चात् कर दिया जाय तो उसमें अर्थान्तर उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, दुर्गाप्रसाद खेतान आदि ने विभक्ति-प्रत्यय अलग लिखने के पक्षपातियों के उपर्युक्त तर्कों का समाधान विभिन्न उक्तियों द्वारा करने का प्रयत्न किया,किन्तु उनकी उक्तियां अकाट्य नहीं सिद्ध हो

---

१ अनन्तराम त्रिपाठी : `वेंकटेश्वर समाचार`,३० अप्रैल,१९०६ई० ।

२ दे० `हितवार्ता`, १ अप्रैल,२ अप्रैल, १५ अप्रैल, २२ अप्रैल, ६ मई, १३ मई, २७ मई आदि के अंक ।

३ दे० `भारतजीवन`, २४ मई, १९०६, अंक १३ ।

सकें। विभक्ति-प्रयोग पर उठाये गये तत्कालीन प्रश्नों ने व्यापक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया[1]। इस वाद-विवाद में विभक्ति-प्रत्ययों को संज्ञा शब्दों से अलग

---

१ इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों की ओर से जो वाद-विवाद प्रस्तुत किए गये उनमें से कुछ रोचक तर्क इस प्रकार है--

(क) विभक्ति-प्रत्ययों को प्रकृति से मिलाकर लिखने के पक्ष में--

जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का मत (भारत मित्र, २२ मई, सन् १९०९ई०)

'अलग लिखने वालों की सबसे बड़ी दलील यही है कि विभक्तियां मिलाकर लिखने से अर्थ समझने में कठिनता होती है। उदाहरण में 'उसने चावल' 'देवकी स्त्री' आदि वाक्य पेश किये गये हैं। मैं यह पहले ही कह चुका हूं कि यही उनका अमोघ अस्त्र है इसी से इस पर अधिक जोर दिया गया है। इसका उत्तर भी मैं पहले दे चुका हूं, परंतु जोड़ का तोड़ हुए बिना काम नहीं चलता है। अतएव मैं भी कुछ ऐसे वाक्य गढ़कर पेश करता हूं, जिसे विभक्तियां अलग लिखने के अर्थ में गड़बड़ी होती है (चतुर्वेदी जी ने कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, किन्तु विषय विस्तार के से बचाने के लिए कुछेक उदाहरण भी दिये जा रहे हैं।)--

१. वह हाथीपर खाता है
   वह हाथी पर(पंख) खाता है
२. रामका है
   राम का है। यानी है राम का क्या है ?

+ + + +

'देखिए व्याकरण कहता है कि भक्ति सहित शब्द पद कहाते हैं अर्थात् विभक्ति के बिना शब्द पद नहीं हो सकते अतएव शब्दों के साथ ही विभक्तियों को लिखना चाहिए।'

इसी प्रकार 'भारतमित्र' में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, दुर्गाप्रसाद खेतान आदि ने विभक्ति-प्रत्ययों को प्रकृति से अलग लिखने के सम्बन्ध में अन्य पत्रों में प्रकाशित लज्जाराम शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि के विचारों की व्यंग्यपूर्ण आलोचना की।

(ख) विभक्ति-प्रत्ययों को प्रकृति से अलग लिखने के पक्ष में --

'बिहारबन्धु' --बांकीपुर, २७ फरवरी सन् १९०९ में अक्षयवट मिश्र लिखते हैं --
'बहुत से विद्वानों का कथन है कि यदि हिन्दी में प्रकृति से विभक्ति और प्रत्यय को अलग लिखेंगे तो 'हिन्दी' राष्ट्रभाषा नहीं हो सकेगी।'

इसका उत्तर यही है -- अंग्रेजी में विभक्ति और प्रत्यय अलग लिखे जाते हैं वह राष्ट्रभाषा कैसे हो गई।' मिश्र जी ने इसी लेख में चन्द बरदायी से लेकर भारतेंदु तक केकवियों का साक्ष्य देकर यह पुष्टि किया कि प्रत्यय अलग होने चाहिए। इस सम्बन्ध में 'भारत जीवन' १७ मई १९०९ में लाला भगवानदीन ने लिखा--
'हम खूब जानते हैं कि जो लोग विभक्ति पृथक्-लिखनी चाहिए, क्योंकि उन्हें हठ है और पाणिनी की चपेट चपेट में पड़ गये हैं।

साथ ही दीन जी ने इस लेख में उन लोगों के मतों का भी खण्डन किया है, जिन्होंने अपने लेखों में यह व्यक्त किया है कि हिन्दी के पुराने कवि विभक्तियों को सटाकर लिखते थे। इस विषय में उन्होंने तुलसीदास की भाषा का उदाहरण भी दिया है।

लिखने के पक्षपातियों की संख्या अधिक थी ।

द्विवेदी जी ने यद्यपि विभक्ति-प्रत्यय-प्रयोग सम्बन्धी उक्त आंदोलन में भाग नहीं लिया, किन्तु उनके द्वारा समय-समय पर व्यक्त किए गए मतों[१] एवं सरस्वती के प्रयोगों से यह निश्चित है कि आप विभक्ति-प्रत्ययों को अलग लिखने के समर्थक थे ।

पद-प्रयोग सम्बन्धी समस्याओं में दूसरी समस्या थी शब्दों के लिंग सम्बन्धी नियम निर्धारण की । संस्कृत शब्दों, यथा-- अग्नि, आत्मा, मृत्यु, वायु आदि का लिंग संस्कृत के आचार्यों अथवा संस्कृत-व्याकरण का अनुसरण करने वाले लेखकों को छोड़कर शेष हिन्दी के लेखकों ने हिन्दी व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग ही स्वीकार कर लिया था, फिर भी संस्कृत, फारसी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अधिकांश शब्द ऐसे थे, जिनके लिंगीकरण में असमानता थी । यद्यपि सम्पन्न भाषा में शब्द-बाहुल्य होने कारण उभय लिंग शब्दों का होना अस्वाभाविक नहीं है तथापि प्रयोग की एकरूपता की दृष्टि से एक सर्वमान्य नियम का होना भी अपेक्षित है । अत: इस समस्या पर विचार करने वालों के दो भिन्न वर्ग थे -- एक वर्ग का मत था कि शब्दों का लिंगीकरण स्थान स्थान की बोलचाल पर निर्भर है । इसके अतिरिक्त अन्य भाषा से आगत शब्द का लिंग-निर्धारण मूल भाषा के व्याकरण के अनुसार ही रहने देना चाहिए[२] । दूसरे वर्ग के अनुसार

१ 'जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का योग होता है वह उसी का अंश हो जाता है, यह सत्य है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विभक्तियों को शब्दों से जोड़कर ~~लिखकर~~ लिखा जाय । संस्कृत व्याकरण में भी इस नियम का निर्देश नहीं है । पर उसमें विभक्तियां पृथक् रह ही नहीं सकतीं, उनकी सन्धि से शब्दों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं । परन्तु हिन्दी में ऐसी बात नहीं ।' (स०भाग १२, सं०१०, पृ०४७३)

२ इस सम्बन्ध में जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी द्वारा परामर्श मांगे जाने पर कुछ भाषाविदों ने पत्रों द्वारा समय-समय पर जो सम्मति दी वह इस प्रकार है --
'हिन्दी उर्दू शब्दों को स्त्रीलिंग और पुल्लिंग मानना कुछ देशों की बोलचाल पर भी है जैसे हम लोग दही और रथ को पुल्लिंग बोलते हैं परन्तु दिल्ली वाले स्त्रीलिंग मानते हैं ऐसे ही मूंग वगैरा का हाल है .... जबान का मामला बहुत नाजुक है उर्दू में इसकी बहुत पकड़ धकड़ होती है । दिल्ली लखनऊ की बोली टकसाली समझी जाती है हिंदी के लिए ऐसी कोई टकसाल नहीं है और इसलिए स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में बहुत गड़बड़ है और शब्दों के उच्चारण में भी हिन्दी वालों को पहिले तो कोई स्थान ऐसा मुकर्रर करना चाहिए कि जहां की बोली ठेठ हिंदी हो और मर्द औरत बराबर हिंदी बोलते हों--और हिन्दी के लिए वही टकसाल समझी जावे --( )
'जो औरतें पूर्वी या खड़ीबोली बोलती हैं वे तो हम आई कहती हैं जैसे 'हम देखि आई बाबा की कुंज गलियां' १ गीत का अखरा है और उर्दू बोलने वाली हम आये कहती है

(अगले पृष्ठ पर देखें)

शब्द चाहे किसी भाषा से पाये हों, किन्तु उनका लिंगादि हिन्दी की प्रकृति के अनुसार ही होना चाहिए। इनका कहना था कि जब संस्कृत के अनेक पुंल्लिंग शब्दों को विशुद्ध हिन्दी में स्त्रीलिंग मान लिया गया है तो फारसी से आये शब्दों का हिन्दीकरण करने में कोई आपत्ति नहीं[१]। आलोच्य-युग में लिंग-निर्धारण की

---

१ (पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी का अवशिष्टांश)

लिखने वालों को जो औरतों की बोली अपने लेख में लिखें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो वे औरतें पूर्वी या हिन्दी की खड़ीबोली बोलने वाली हैं तो हम आई और जो उर्दू बोलने वाली हिन्दू या मुसल्मान औरतें हैं तो आयें लिखना चाहिए और दोनों भाषा बोलने वाले मर्द तो अपनी तरफ से औरतों के वास्ते आई ही बोलते हैं..... उर्दू वाले भी वही लिखते हैं जो मैंने ऊपर लिखा है।'

(देवीप्रसाद जी का पत्र चतुर्वेदी जी के नाम दि० २९-९-१४)

'कृपा पत्र के जवाब में निवेदन है कि उर्दू वाले तलाश फंफट पेशवाज और गेंद को तो स्त्रीलिंग में लेते हैं दफा पीतल मूंग को पुंल्लिंग मानते हैं हिन्दी में यों ही रहना चाहिए (गेंद के स्त्रीलिंग होने का उदाहरण भी प्रस्तुत किया गया है)

(देवीप्रसाद जी का पत्र चतुर्वेदी जी के नाम दि०१-८-१६)

---

१ इस सम्बन्ध में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी को दिनांक २ मौपे १६७६ को लिखे गए गोविन्दनारायण मिश्र के पत्र का अधोलिखित अंश द्रष्टव्य है --

'शब्दों का बाहुल्य जिन सम्पन्न भाषाओं में रहता है, उनमें उभयलिंग शब्द भी रहते ही हैं। प्रयोग-बाहुल्य ही नियामक रहता है। मनमानी न होनी चाहिए। जिस नियमानुसार उर्दू में धर्म्मशाला आदि पुल्लिंग ही प्रयुक्त होते हैं ठीक वैसे ही प्राकृतिक नियम से हिन्दी में कबीला, ताजी, बेहूदी आदि स्त्रीलिंग में प्रयुक्त सर्वथा हिन्दी शब्द बन गये हैं। इनका प्रचार अब रोके न रुकेगा। उर्दू की शिक्षा के प्रताप से ही कुछ लोगों के कानों में ये खटकते हैं। हिन्दी की प्रकृति ने पवन, अग्नि, आत्मा आदि अनेकों पुंल्लिंग संस्कृत शब्दों को जब कि तत्सम विशुद्ध हिन्दी में स्त्रीलिंग बना डाला है, तो कोई कारण नहीं दिखता कि उर्दू में कबीला पुल्लिंग है तो हिन्दी में भी वैसा ही बना रहे। .... हिन्दी में उर्दू के नियम क्यों माने जायं ?

समस्या इतनी मुखर हो उठी थी कि एक-एक शब्द को लेकर परस्पर विचारों की झड़ी लग जाती थी । उभय लिंगों में प्रयुक्त शब्दों के विषय में प्रयोगकर्तागण बिना कुछ अन्य भाषाविदों का मत जाने हुए अथवा अपने तर्कों से सिद्ध किए बिना निश्चित निर्णय नहीं ले पाते थे[१] । उक्त समस्या को उठाने वालों में पं०जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी प्रमुख थे । उन्होंने तत्कालीन अनेक भाषाशास्त्रियों से द्विविध लिंगी शब्दों के विषय में परामर्श किया[२] तथा इस विषय पर `हिन्दी लिंग-विचार` शीर्षक से अपनी रचना भी प्रकाशित की[३] । चतुर्वेदी जी ने इस विषय पर विचार करने के लिए कुछ

----

१ इस विषय में पिछली पाद टिप्पणियों में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी को देवीप्रसाद जी द्वारा लिखे गये पत्रों के उद्धृत अंश द्रष्टव्य हैं । उनके अतिरिक्त कामताप्रसाद गुरु का दिनांक १-४-२३ को चतुर्वेदी जी को लिए गए पत्र का अंश द्रष्टव्य है --

`माधुरी की पूर्वोक्त संख्या में गुप्त जी ने अपनी `आहट` में झंझट को स्त्रीलिंग लिखा है । जब मैंने इस बार प्रेमचन्द जी का हवाला देते हुए लिखा था कि वे उसे (झंझट को) स्त्रीलिंग में लिखा है तब आपने उन्हें नवसिखुआ कहा था । अब आप गुप्त जी के विषय में इस प्रयोग के सम्बन्ध में क्या कहते हैं ? मैं समझता हूं कि अधिकांश प्रतिष्ठित लेखक इस शब्द को स्त्रीलिंग में लिखते हैं और मैं उन्हीं का अनुसरण करता हूं ।`

२ द्रष्टव्य -- पूर्व उद्धृत पादटिप्पणियां ।

३ श्री कामताप्रसाद गुरु का पत्र चतुर्वेदी जी के नाम दि० २२-१-१६--

`हिन्दी-लिंग-विचार में आपकी विनोद-प्रियता भरी हुई है । यह शुष्क विषय भी आपकी प्रवृत्ति से सरस हो रहा है । आनन्द का विषय तो यह है कि आपने इस महत्वपूर्ण विषय को अपनाया है । यथार्थ में ऐसे ही उपायों से हिन्दी के (व्याकरण के) लिंग की रक्षा हो सकती है । ईश्वर आप सरीखे लिंगोद्धारक को चिरायु करे । पुस्तक छोटी है तो भी उसमें आपकी खोज के चिह्न स्पष्ट हैं । कृपाकर `झंझट` के स्त्रीत्व के समर्थ को भी खोज कर डालिये ।`

गण्यमान विचारकों को एक समिति बनाने का भी प्रस्ताव रखा[१] ।

जहां तक लिंग, वचन और कारक के अनुसार शब्दों के रूपान्तरण का प्रश्न है, युग विशेष में यह विषय कोई विशेष समस्यात्मक नहीं था । यद्यपि प्रयोग की प्रवृत्ति की स्वच्छन्दता, रूढ़िवादिता अथवा भाषा को अल्पज्ञता के कारण इस क्षेत्र में कुछ अनियमिततारं वर्तमान थीं (इन्हें आगे विभिन्न शब्दों के रूप के अन्तर्गत दिया जायेगा) और द्विवेदी जी ने सरस्वती में प्रकाशित अपने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक निबन्ध में इन अनियमितताओं की ओर संकेत भी किया है, किन्तु प्राय: लेखक व्याकरण के सामान्य नियमों के अनुसार प्रयोग को ही उपयुक्त समझते थे ।

(ई) वाक्य-रचना सम्बन्धी प्रश्न --

हिन्दी-भाषा-निर्माण- सम्बन्धी समस्याओं में वाक्य रचना की समस्या भी पीछे नहीं रही । शब्द की समष्टि से बना वाक्य ही भाषा की पूर्ण इकाई है, अत: भावार्थ की शुद्धता एवं सटीकता के लिए वाक्य का सुगठित होना भी आवश्यक है । किन्तु युगपूर्व की खड़ीबोली की अविकसितता तथा युगविशेष तक

१ 'भ्रम, भूल, हठ, दुराग्रह, प्रान्तीयता चाहे जिस कारण से हो, हिंदी में उभयलिंगी शब्दों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है । यह हिन्दी के लिए हानिकारक है । यदि यही दशा रही, तो अनर्गलता बढ़ जायगी । इसलिए मेरी राय है कि पं० गोविन्दनारायण मिश्र, व पद्मसिंह शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० श्रीधरपाठक और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की एक समिति बना ली जाय जो समाज, पुस्तक, सांस, आत्मा, हठ, सामर्थ्य , प्रलय, यज्ञ, पीतल, कुशल आदि शब्दों का लिंग-निर्णय कर दें और वही शुद्ध माना जाय (जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी निबन्ध निचय -- हिन्दी-लिंग-विचार') समय की गति को कोई नहीं रोक सकता । हिन्दी जिन विदेशी शब्दों और वाक्यों की आवश्यकता होगी उन्हें वह कालान्तर में अवश्य ग्रहण करेगी, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शिक्षित लोग अपनी भाषा में अकारण ही विदेशी शब्दों और रचनाओं की भरमार करने लगें ।'

में उस पर अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषाओं के प्रभाव के फलस्वरूप[1] वाक्यों के शब्द-क्रम एवं अन्वयादि में प्राय: अनियमितता वर्तमान थी । फलत: हिन्दी की व्याकरणिक शुद्धता एवं सौष्ठव के विचार से वाक्य-रचना की नियमितता एवं सुगठितता की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया । द्विवेदी जी ने भी रचनाकारों

---

१ 'सरस्वती, भाग२० खं०२, सं०६ में 'विदेशी भाषा का प्रभाव' शीर्षक से पं० कामताप्रसाद गुरु ने इस विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं, उनके कुछ अंश इस प्रकार हैं--

'इन निरंकुश लेखकों के कारण हमारी भाषा की रचना पर विदेशी भाषाओं का जो प्रभाव पड़ा है, उसके कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं । सबसे पहले संस्कृत ही के प्रभाव को लीजिए । संस्कृत की हिन्दी टीकाओं में इसके नमूने पाए जाते हैं । मनुस्मृति के एक श्लोक की टीका का उदाहरण यह है--'उन महात्माओं करिके उक्त प्रकार से पूछे गये वे सामर्थ्य वाले मनुजी उन सब महर्षियों का सत्कार करिके यह बोले कि सुनिए' इसमें अनुवादक ने संस्कृत शब्दों के साथ-साथ उसकी रचना का भी अनुवाद कर दिया है । हिन्दी में ऐसी रचना इस अवसर पर स्वाभाविक नहीं जान पड़ती ।........

अब उर्दू वालों को लीजिए । ये लोग हिन्दी लिखते समय मौलवी साहब के इस वाक्य को हमेशा याद रखते हैं कि 'कूद पड़ा बीच मकान उसके, साथ अवाज़ धमके' ....

अंग्रेजी रचना के प्रभाव के उदाहरण हिन्दी में दिन-दिन बढ़ रहे हैं । अंग्रेजी रचना के प्रभाव के कई एक दोष नीचे लिखे उदाहरण में हैं--'उसकी मृत्यु के समाचार ने उसके स्वदेश को दुख की गहराई में डुबो दिया है, जिससे निकलने को वह एक लम्बा समय ले । उसकी दृढ़ स्वतन्त्रता और चालढाल के गाम्भीर्य से, देश-प्रेम के पक्ष के प्रति अटल भक्ति से, उसके हृदय की सहानुभूति और दया से उसने भारतवासियों के आदर और प्रशंसा को प्राप्त किया ....

[शेष पूर्व पृष्ठ पर]

का ध्यान इस ओर आकर्षित किया[1] ।अत: जब तत्कालीन व्याकरणकारों यथा-- गोविन्दनारायण मिश्र, कामताप्रसाद गुरु, श्रीधर पाठक, देवीप्रसाद, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी प्रभृत ने भाषा सुधार का अभियान चलाया तो वाक्य-रचना के सम्बन्ध में भी विभिन्न भाषाविदों से परामर्श लेकर निश्चित नीति का निर्धारण किया[2] ।विशेषता

---

१ दे० `भाषा और व्याकरण` -- म०प्र०द्वि०

२ इस सम्बन्ध में तत्कालीन निम्नलिखित पत्र द्रष्टव्य हैं--

(अ) व्याकरण के नियम-निर्देशन के कुछ प्रश्नों से युक्त चतुर्वेदी जी का पत्र श्रीधर-पाठक के नाम । पाठक जी ने उसी पत्र में प्रश्नों के उत्तर भी दे दिये हैं ।

`कलकत्ता फा०कृ०४, १९७३

अच्छा इन वाक्यों में आप किसे शुद्ध मानते हैं --

	प्रश्न	उत्तर
(क)	(१) वह तू और मैं चलूंगा (२) मैं तू और वह चलेंगे	मेरी समझ में दोनों ठीक है
(ख)	(३) मैं तू चलेगा (४) मैं तू चलेंगे	ये व्यवहार प्रयोग में नहीं आते जहांतक मुझे याद है ।
(ग)	(५) मैं वह चलेंगे (६) मैं वह चलूंगा	तथा
(घ)	(७) मैंने बात को पूरा नहीं सुना	ठीक
	(८) मैंने बात को पूरी नहीं सुनी	अठीक

-- बात पूरी नहीं सुनी कहना ठीक है

कृपा कर इसका उत्तर शीघ्र दीजिए । व्याकरण के लिए जरूरत है ।

(आ) देवीप्रसाद जी का चतुर्वेदी जी के नाम दिनांक १५-४-१७ को लिखा गया वह पत्र जिसमें उन्होंने वाक्य रचना के सम्बन्ध में चतुर्वेदी जी द्वारा भेजे गये सवालों के जवाब दिये हैं :--

सवाल १	वह तू और मैं चलूंगा	जवाब सामआ खराश(कान को खटकने वाला)
सवाल २	मैं तू और वह चलेंगे	जवाब सही
सवाल ३	मैं तू और वह चलेगा	जवाब (कान को कष्ट देने वाला)

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

तो यह है कि एक ही प्रकार के वाक्यों को कई विद्वानों से पुष्ट कराकर ही कोई निर्णय लिया जाता था। इस अभियान में चतुर्वेदी जी का उद्योग सराहनीय है, जिन्होंने वाक्य-रचना के सम्बन्ध में विभिन्न भाषा-विशारदों से सम्मति ली।

आलोच्य-युग में विराम चिह्नों के प्रयोग में अनियमितता भी एक समस्या थी। अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में द्विवेदी-युग-पूर्व से ही विराम-चिह्नों में वृद्धि हो गई थी किन्तु स्थल-औचित्य सम्बन्धी ज्ञान का अनेक लेखकों में अभाव था। इस दिशा में भी तत्कालीन व्याकरणकारों ने दृष्टिपात किया। इनमें से पं०कामताप्रसाद गुरु ने विराम-चिह्नों के प्रयोग पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला[१]।

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

सवाल ४ मैं तुम चलेंगे	जवाब सही
सवाल ५ मैं और वह चलेंगे	जवाब सही
सवाल ६ मैं और लड़की चलेगी	जवाब कान को कष्ट देने वाला

....

दूसरा सवाल बात को पूरा नहीं सुना सही है। इसमें से (को) निकाल दिया जावे तो पूरा की जगह पूरी और सुना की जगह सुनी कहना होगा।

+ + +

(इ) श्री गोविन्दनारायण मिश्र का पत्र चतुर्वेदी जी के नाम - काशी दि०१०बुधे सं० १९७६

१६ वें पृष्ठ के पूरे वाक्य को देखकर ही मैंने सूचना दी थी। मुख्य गौण का विचार और कर्ता क्रिया का सम्बन्ध विचार स्वत: आपको असंगति दिखा देंगे। आधार कौन था? निस्सन्देह राणा उदयपुर ही। था क्रिया की समीपता भी राणा पद से ही है। चाहे आप जिस प्रकार से ही क्यों न लिखें, था क्रिया पदस्थिर रखियेगा तो उदयपुर का राणा लिखना उचित होगा को की संगति ही `उदयपुर का राणा` पद से बैठती है। ऐसे वाक्य में दूसरी क्रिया का समावेश तो हो नहीं सकेगा। इस दशा में उदयपुर के राणा का अन्वय किस क्रिया से होगा? ....

`मैंने कहा है` वाक्य को आप अशुद्ध मानते हैं `मेरा लिखा है वा `मेरा कहा है`

२.५. लिपि की समस्या

जब भाषा-निर्माण का विवाद चल चुका था तो कुछ विद्वानों का ध्यान नागरी लिपि योजना की ओर भी आकर्षित हुआ । इन लोगों के सम्मुख लिपि के सम्बन्ध में अधोलिखित दृष्टिकोण थे --

कुछ लोगों के मतानुसार -- उच्चारण के अनुसार तो लिपि हो ही साथ ही लेखन की अपेक्षा लिपि के लिए प्रेस के सुभीते का ध्यान अधिक रखना चाहिए । अत: छापेखाने के अनुसार लिपि में संशोधन करना अपेक्षित है[१]। कुछ लोगों का मत इसके विपरीत था -- इनका कथन था कि देवनागरी लिपि स्वयं में पूर्ण एवं सक्षम है इसमें सुधार की आवश्यकता नहीं । इन लोगों ने सुधारवादियों के सुझावों पर आक्षेप भी किया[२]। बदरीनाथ भट्ट ने हिन्दी लिपि में बाह्य परिवर्तन करने की

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं०-१)
यहा गुरु द्वारा तत्कालिक विराम चिह्नों के प्रयोग के सम्बन्ध में की गई आलोचनाएं तथा साथ ही प्रयोग के सामान्य नियम-निर्देश का विवरण देना विषय-विस्तार के कारण असम्भव है, अत: दे० सर०भाग १८,खण्ड १ सं०४,पृ०१८३-१८७ ।

---

१ इस सम्बन्ध में गणेशराम मिश्र ने सर०,भाग१६,खण्ड१ सं०३ में तत्कालीन लिपि-सम्बन्धी कुछ दोषों का उल्लेख करते हुए अपने कुछ सुझाव इस प्रकार दिये हैं --
हस्तलेखन लिपि की अपेक्षा जो लिपि प्रेस के लिए ज़ियादह सुभीते की हो, उसी का प्रसार अधिक होना चाहिए....... अब तो प्रेस के सुभीते के अनुसार लिपि में परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है । लिपि के लिए छापेखाने की चाल नहीं रोकी जा सकती । छापेखाने के सुभीते के अनुसार लिपि में ही संशोधन करना चाहिए ।.... देवनागरी लिपि को प्रेस ने अपनाया अवश्य है, पर उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । प्रेस की यह कठिनता दूर कर दी जाय तो बड़ा काम हो ।यदि ऐसा न हुआ तो देवनागरी लिपि दूसरी लिपियों के आगे न बढ़ सकेगी ।

२ इस सम्बन्ध में नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १७(१९२३)`देवनागरी और हिन्दुस्तानी` से उद्धृत अधोलिखित अंश द्रष्टव्य है --
कदाचित् इस बात को स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि हमारी देवनागरी लिपि की बड़ी भारी विशेषता यह है कि जो भिन्न भिन्न प्रकार के नाद हमारे भारतीय नाद यन्त्रों द्वारा साधारण हो सकते हैं, उनके नामकरण भी उन्हीं नादों के अनुसार किए गए हैं । अ या क अक्षरों के सूचक नाद भी अ और क ही है यह नहीं है कि ए अलिफ या अक्फा तो अक्षरों का नाम हो और वे सूचित करें अ या मिलते जुलते नादों को ।

अपेक्षा उसके अभ्यान्तरिक दोषों को दूर करने पर अधिक बल दिया[१]।

---

१ सर० भाग २१, खण्ड १, सं०२ में 'नागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता' शीर्षक लेख भट्ट जी के विचारों का पूर्णत: वहन करता है, जिसके कुछ अंश अधोलिखित हैं:-- इधर कुछ नागरी प्रेमियों को नागरी का स्वरूप भी खटकने लगा है। अगर नागरी को वास्तविक त्रुटियां दूर करने के लिए ऐसा होता ~~रु~~ तो कोई हानि न थी। पर मालूम होता है कि उनका ध्यान त्रुटियां दूर करने के ऊपर उतना नहीं जितना कि उसको नई पोशाक पहनाने के ऊपर है। कोई कहता है, नागरी देर से लिखी जाती है, कोई सलाह देता है, ~~कोई~~ कि उसमें मात्राएं लगाने का ढंग बंगला जैसा होना चाहिए; किसी की राय है कि उसके अक्षरों में गोलाई की कमी है जिससे वह उतनी सुन्दर नहीं मालूम होती जितनी उर्दू या अंगरेजी या और कोई लिपि। ऐसी सलाह देने वाले सज्जनों की बात अगर मान ली जाय तो नागरी की असली त्रुटियां तो शायद उतनी दूर न हों हां उसका चोला ज़रूर बदल जाय। .... खेद है आभ्यान्तरिक त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा की जगह हम ऊपर बातों में लगे हुए अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं .... अच्छा तो अब हम यहां उनत्रुटियों का उल्लेख करते हैं जो हमारी राय में नागरी लिपि से दूर की जानी चाहिए.....

(१) इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ की शक्ल अि, अी, अु, अू, अे, अै होनी चाहिए जैसी कि व्यंजनों में होती है। क्यों बेफ़ायदे तीन मूर्तियां वर्ण-पंक्ति में जकड़ रक्खी जायं।

(२) 'ख' में कभी 'र व' का भ्रम हो जाता है। इसलिए उसकी जगह 'ष' से काम लिया जाय।

(३) 'ष' का उच्चारण 'श' से लिया जाय क्योंकि इनके उच्चारण में कोई ऐसा भेद नहीं।

(४) 'ण' जब दूसरे व्यंजनों से मिलाया जाता है तब 'रा' सा मालूम होता है। यह एक आम शिकायत है, उसकी जगह 'ण' का ही प्रयोग जारी किया जाय।

(५) 'ऋ' की कोई आवश्यकता नहीं 'रि' से सब काम चल सकता है। (ख़याल रहे कि उर्दू में हम स्वाद सीन, से आदि की हंसी उड़ाया करते हैं, 'ऌ' 'ॡ' की भी अलग आवश्यकता नहीं।

(६) पृ, प्रि, कृ, क्रि, लृ, में से प्रि, क्रि इस प्रकार के ही रूपों का प्रयोग होना चाहिए। 'ऌ' की जगह 'ल्रि' और 'श्री' की जगह 'श्री' रूप काम में लाना चाहिए।

(७) त्र, त्र में कुछ भेद नहीं फिर एक ही क्यों न रखा जाय?

....

नये अक्षर गढ़ डालने से पहले घर का कूड़ा करकट साफ़ कर देना अच्छा होगा।

उत्तर द्विवेदी-युग में काका साहेब कालेलकर ने लिपि सुधार के सम्बन्ध में अपने जो विचार व्यक्त किए वे बहुत कुछ भट्ट जी के विचारों के अनुकूल हैं।[1]

वस्तुत: लिपि के सम्बन्ध में दिए गए उक्त महानुभावों के सुझाव केवल प्रयोगमात्र (एक्सपेरिमेण्टल) हो रहे, व्यवहार में नहीं लाये जा सके, अत: द्विवेदी युग तथा उसके पश्चात् भी पूर्व लिपि शैली ही प्रचलित रही ।

द्विवेदी-युग में भाषा के क्षेत्र में उठाई गई विभिन्न समस्याओं के अध्ययन के पश्चात् यही कहना समीचीन होगा कि उक्त युग में भाषा के सर्वांगीण सुधार की ओर तत्कालिक भाषा-सेवियों का ध्यान समय-समय पर जाता रहा और उन्होंने अपने विचारों को हिन्दी के प्रयोगकर्ताओं के सम्मुख रखकर हिन्दी के उत्थान में यथासाध्य योगदान देने का प्रयास किया । ऐसे सुधारकर्ताओं में आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी का स्थान विशिष्ट है, जिन्होंने तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं अथवा स्वतन्त्र रचनाओं के माध्यम से ध्वनि प्रयोग से लेकर वाक्य योजनादि तक के औचित्य-अनौचित्य का विवेचन करके उपयुक्त विधि-विधान की ओर लोगों का ध्यानाकर्षण किया । इनके अतिरिक्त अन्य भाषासेवीगण, यथा-- बाबू बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्द नारायण मिश्र, काशीप्रसाद जायसवाल, कामताप्रसाद गुरु, देवीप्रसाद, श्रीधर पाठक, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि का योगदान भी विशेष महत्वपूर्ण है ।

----

१ काका साहेब कालेलकर की सुधार-योजना के तीन अंग थे --

(१) शिरोरेखा का हटा देना

(२) मात्रा के स्वरूप और स्थान में परिवर्तन करना। जैसे इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के बदले अि, अी, अु, अू आदि । आप ह्रस्व इ की मात्रा भी अक्षर के बाएं न रखकर दाहिनी ओर रखना चाहते थे जैसे `कि` की जगह `कि'।

(३) संयुक्ताक्षर लिखने में अक्षर को पाई हटा देने से वे आधे समझे जायं । जिन अक्षरों में पाई नहीं है उनका आधा बनाने के लिए उनके स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन कर दिया जाय । अर्द्ध `र` के कई रूप हैं । वे चाहते हैं कि `र` का एकही रूप रहे ----- आदि ।

आलोच्य-युग की सबसे प्रमुख समस्या थी, भाषा की अनस्थिरता।[1] तत्कालीन प्रयोगों की आलोचना-प्रत्यालोचना के साथ द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से अपने जिन विचारों को प्रकट किया वे तत्कालीन अधिकांश भाषा-प्रेमियों के लेखन-मार्ग के निर्देशक सिद्ध हुए।

-0-

---

१ तत्कालीन प्रयोगों की अस्थिरता को देखते हुए द्विवेदी जी ने लिखा --

जिन शब्दों को एक लेखक एक तरह से लिखता है उन्हीं को दूसरा दूसरी तरह से लिखता है। यह अनस्थिरता नहीं तो क्या है? किसी किसी लेखक के लेख में तो यहां तक अनस्थिरता रहती है कि एक ही जुम्ले में कहीं 'जब' के साथ 'तब' रहता है और कहीं 'तो'। यथा-- 'जब उसको अपनी डाढ़ी के दर्द का खयाल होता था तब वह बेगम को कोसता था और जब उस जिनकी सूरत याद पड़ती थी तो जी में डरता था' ....

बात यह है कि हिन्दी की अवस्था ही अनस्थिर है। लेखक क्या करे। एक लेखक लिखता है 'जिनने' 'उनने' 'इनने'; दूसरा लिखता है 'जिन्होंने', 'उन्होंने' 'इन्होंने'। एक लिखता है 'वहही' दूसरा लिखता है 'वही' और 'वोही'। एक लिखता है 'वे जाय'; दूसरा लिखता है 'वे जायें'। जो लेखक एक जगह पर यह लिखता है-- 'वह काम इस तरह हो' वह जरा दूर आगे चलकर लिखता है -- 'वह काम इस तरह होवे'। इस अस्थिरता का कहीं ठिकाना है?

३

तद्युगीन साधना तथा साधक

३

तत्कालीन साधन तथा साधक

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखकों एवं भाषा-प्रेमियों को हिन्दी के व्यवहार एवं विकास के सम्बन्ध में जिन प्रमुख समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनका उल्लेख किया जा चुका है । वस्तुत: ये समस्याएं न तो कोई आकस्मिक घटना थीं और न ही इनका प्रतिकार किसी निश्चित अवधि के अन्तर्गत सम्भव था । इन समस्याओं में से अधिकांश का सूत्रपात द्विवेदी जी के पूर्व ही अर्थात् भारतेन्दु-काल में ही हो गया था । आगे चलकर जैसे-जैसे खड़ीबोली का विस्तार अथवा प्रसार होता गया, समस्याएं भी बढ़ती गईं और इन्हीं समस्याओं के माध्यम से खड़ीबोली हिन्दी का विकास भी होता रहा ।

जैसा कि हम देख आये हैं, साहित्य में खड़ीबोली का जन्म शताब्दियों पूर्व हो गया था, किन्तु उसके स्वतन्त्र रूप का दर्शन ईसा की १६ वीं शताब्दी में होने लगा । कालान्तर में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन काल में साहित्यिक जागरण के साथ-साथ हिन्दी भाषा के प्रसार एवं विकास का प्रश्न भी मुखर हो गया । यद्यपि भारतेन्दु एवं उनकी मण्डली के लेखकों तथा तत्कालीन भाषा-सेवियों ने इस क्षेत्र में यथा-शक्ति प्रयास किया, किन्तु आशानुकूल सफलता नहीं प्राप्त हो सकी । आगे चलकर द्विवेदी-युग में इस प्रश्न ने आन्दोलन का रूप ले लिया । हिन्दी के उत्थान एवं विकास के सम्बन्ध में इन दिनों प्रमुखत: दो शक्तियां कार्य कर रही थीं -- एक राजनीतिक आन्दोलनकर्ताओं

की शक्ति और दूसरी साहित्य-सेनानियों की शक्ति । इधर राजनीतिक कार्यकर्ता (स्वतन्त्रता सैनानी,यथा-- महात्मा गांधी, महामना मालवीय जी तथा सहयोगीगण) राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार देश के प्रत्येक भू-भाग में करने में संलग्न थे,तो दूसरी ओर साहित्यिक हिन्दी का विकास करने तथा हिन्दी साहित्य को समृद्धि प्रदान करने के उद्देश्य से हिन्दी के पत्रकार एवं साहित्यकार हिन्दी-सेवा में रत थे । इसप्रकार द्विवेदी-युग में हिन्दी भाषा का बहुधा विकास हुआ । जिन प्रमुख साधनों अथवा माध्यमों से हिन्दी का क्षेत्र विकसित हुआ, वे हैं --

(१) सभाएं एवं संस्थाएं

(२) पत्र-पत्रिकाएं

(३) हिन्दी के उन्नायकगण

३.१ सभाएं एवं संस्थाएं

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही देश में राजनीतिक आन्दोलन बल पकड़ने लगा था । सम्पूर्ण देश स्वतन्त्रता की भावना से आप्लावित हो गया था । इस भावना को सक्रिय रूप देने के लिए जनसमाज की एकसूत्रता के साथ साथ एक सार्वदेशिक राष्ट्रभाषा के प्रचार की परम आवश्यकता थी और वह भाषा केवल खड़ीबोली हिन्दी हो सकती थी । इस कार्य में देश के नेतागण प्रवृत्त हुए और उन्होंने हिन्दी भाषी प्रान्तों के अतिरिक्त अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के प्रचार पर विशेष बल दिया । हिन्दी के प्रचार के साथ ही आवश्यकता इस बात की थी कि जो भाषा राष्ट्रव्यापी होने के योग्य है, वह स्वस्थ एवं परिमार्जित भी हो । अत: उन दिनों स्थान-स्थान पर हिन्दी भाषा को समृद्ध करने, उसमें सुधार करने तथा सत्साहित्य की रचना करने की चर्चा होने लगी थी । इस उद्देश्य से अनेक सभा-समितियां बनाई गईं, गोष्ठियों एवं सम्मेलनों का आयोजन किया गया तथा पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों की स्थापना की गई । द्विवेदी-युग में तो ऐसी संस्थाओं की बाढ़-सी आ गई । आलोच्य-युग में जो संस्थाएं हिन्दी की सेवा करने के लिए विशेषरूप से सक्रिय थीं --

आगरा नागरी प्रचारिणी सभा (आगरा)
आन्ध्र हिन्दी प्रचार संघ(आन्ध्र प्रदेश)
आरा नागरी प्रचारिणी सभा(आरा-बिहार)
इम्पीरियल लाइब्रेरी(कलकत्ता)[१]
गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (अहमदाबाद)
गुरुकुल महाविद्यालय(हरिद्वार)
ज्ञान मण्डल (काशी)
तमिल नाड हिन्दी प्रचार सभा
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा(मद्रास)
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा(केरल)
नागपुर विश्वविद्यालय हिन्दी समिति(नागपुर)
नागरी प्रचारिणी सभा (काशी)
नागरी प्रचारिणी सभा(कलकत्ता)
नागरी प्रचारिणी सभा(अजमेर)
नागरी प्रचारिणी सभा(गोरखपुर)
नागरी प्रचारिणी सभा(अमृतसर)
बंगलोर हिन्दी प्रचार संघ(बंगलोर)
बजरंग परिषद् (कलकत्ता)
बड़ा बाजार पुस्तकालय(कलकत्ता)
बलिया हिन्दी प्रचारिणी सभा(बलिया)
बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन(पटना)
भारत कला भवन(काशी)
भारतीय भवन पुस्तकालय(इलाहाबाद)
मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति(इन्दौर)
विद्या प्रचारिणी सभा(हिसार-पंजाब)
सिन्ध हिन्दी प्रचार सभा(करांची)
सोमेश्वर हिन्दी प्रेमी मण्डल(मदुरा)
हिन्दी प्रचार संघ(पूना)
हिन्दी प्रचारिणी सभा(धर्मपुरा-लाहौर)
हिन्दी प्रवर्द्धिनी सभा(प्रयाग)
हिन्दी मन्दिर (वर्धा)
हिन्दी विद्यापीठ(देवघर-बिहार)
हिन्दी विद्यापीठ(प्रयाग)
हिन्दी साहित्य परिषद्(कलकत्ता)
हिन्दी साहित्य भवन(करांची)
हिन्दी साहित्य सम्मेलन(प्रयाग)
हिन्दी साहित्य सम्मेलन(जौनपुर)
हिन्दी हितैषिणी सभा(मुजफ्फरपुर-बिहार)
हिन्दुस्तानी एकेडमी(प्रयाग)
हैदराबादहिन्दी प्रचार सभा(हैदराबाद)

हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से विभिन्न स्थानों पर स्थापित उपर्युक्त संस्थाओं की तालिका देखने से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य-युग में हिन्दी का प्रचार किसी विशेष क्षेत्र तक सीमित न रहकर देशव्यापी होता रहा । इन संस्थाओं में सबसे अधिक क्रियाशील संस्थाएं थीं --उत्तर में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग एवं दक्षिण में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,

---

१ सन् १९४८ में इसका नाम 'राष्ट्रीय ग्रन्थालय' पड़ा ।

मद्रास । काशी नागरी प्रचारिणी सभा सबसे प्राचीन संस्था है(जन्म सन्१८९३ई०) तथा अन्य स्थानों में भी इसी की उपशाखाएं हैं । हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग की स्थापना (१९१०ई०) भी इसी के अनुमोदन से हुई तत्पश्चात् समय-समय पर सम्मेलन की ओर से देश के विभिन्न भागों में सभाओं का आयोजन करके इसकी भी अनेक उपशाखाएं स्थापित की गईं । सम्मेलन की स्थापना से लेकर द्विवेदी-युग की अवधि तक में सम्मेलन की सभाओं का जो आयोजन किया गया उनका विवरण इस प्रकार है[1] :--

क्रम	समय	स्थान	अध्यक्ष
प्रथम	१९१०ई०	काशी	पं० मदनमोहन मालवीय
द्वितीय	१९११ई०	प्रयाग	पं०गोविन्दनारायण मिश्र
तृतीय	१९१२ई०	कलकत्ता	पं० बदरीनारायण चौधरी
चतुर्थ	१९१३ई०	भागलपुर	महात्मा मुंशीराम(स्वामी श्रद्धानन्द)
पंचम	१९१४ई०	लखनऊ	पं० श्रीधर पाठक
षष्ठ	१९१५ई०	प्रयाग	रा०ब० श्यामसुन्दरदास
सप्तम	१९१६ई०	जबलपुर	म०म० पाण्डेय रामावतार शर्मा
अष्टम	१९१८ई०	इन्दौर	महात्मा गांधी
नवम	१९१९ई०	बम्बई	पं० मदनमोहन मालवीय
दशम	१९२०ई०	पटना	रा०ब० पं० विष्णुदत्त शुक्ला
एकादश	१९२१ई०	कलकत्ता	डा० भगवानदास
द्वादश	१९२२ई०	लाहौर	पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी
त्रयोदश	१९२३ई०	कानपुर	बा० पुरुषोत्तमदास टण्डन
चतुर्दश	१९२४ई०	दिल्ली	पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय'हरिऔध'
पंचदश	१९२५ई०	देहरादून	पं० माधवराव सप्रे
षोडश	१९२६ई०	वृन्दावन	पं० अमृतलाल चक्रवर्ती
सप्तदश	१९२७ई०	भरतपुर	म०म०रा०ब० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

----

१ हिन्दी राष्ट्रभाषा प्रचार-सर्वसंग्रह से उद्धृत

अष्टदश	१९२८ई० मुजफ्फरपुर	पं० पद्मसिंह शर्मा
उन्नीसवां	१९२९ई० गोरखपुर	श्री गणेशशंकर विद्यार्थी
बीसवां	१९३०ई० कलकत्ता	बा० जगन्नाथदास रत्नाकर
इक्कीसवां	१९३१ई० झांसी	पं० किशोरीलाल गोस्वामी
बाईसवां	१९३२ई० ग्वालियर	राव राजा रा०ब०श्यामबिहारी मिश्र
तेईसवां	१९३३ई० दिल्ली	महाराज सर सयाजी गायकवाड़

इन समाजों का हिन्दी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इनमें हिन्दी प्रचार एवं निर्माण से सम्बन्धित अनेकानेक प्रकार की चर्चाएं होती थीं ।

इधर महात्मा गांधी तथा उनके अन्य हिन्दी-प्रेमी सहयोगियों के उद्योग से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा(मद्रास) की स्थापना हुई(१९१९ई०में) और आगे चल कर विभिन्न नामों से उसकी अन्य उपशाखाएं स्थापित हुईं । इनके संचालन के लिए वर्धा में हिन्दी प्रचार समिति की स्थापना हुई (१९३६ई०में) ।

समष्टि में उपर्युक्त संस्थाओं के कार्य थे --

(क) हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करना-- इसके लिए उत्तरप्रदेश के प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों तथा बिहार,मध्यप्रदेश,पंजाब एवं मद्रास आदि के महाविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था की गई । इनमें महिला विद्यालय भी निहित थे ।

(ख) अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी को स्थान दिलाना-- इस कार्य के लिए महात्मा गांधी तथा उनके सहयोगियों के प्रयास से केरल प्रान्त, कर्नाटक, तमिलनाड,आन्ध्रप्रदेश, सिन्ध आदि प्रान्तों में हिन्दी की संस्थाएं स्थापित की गईं जो अपना कार्य सुचारु रूप से कर रही थीं । उक्त प्रक्रिया में रामचरितमानस, सेवा सदन(प्रेमचन्दकृत), प्रसाद की कामायनी तथा अनेक उपन्यास, कहानियों का अनुवाद तमिल भाषा में तथा तमिल भाषा के कई ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी भाषा में किया गया ।कुछ एक तमिल भाषियों ने उत्साहित होकर हिन्दी में कविताएं भी लिखीं ।

(ग) देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी को स्थान दिलाना-- शिक्षा द्वारा हिन्दी के प्रचार के लिए यह आवश्यक था कि उस समय देश में जितने विश्वविद्यालय थे उनमें हिन्दी विषय को भी मान्यता दी जाती,अत: इन संस्थाओं द्वारा यह प्रयास भी किया गया ।

(घ) हिन्दी भाषा का ज्ञान देने की दृष्टि से हिन्दी की परीक्षाएं चलाना--इस अभियान के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग, प्रयाग महिला विद्यापीठ, प्रयाग, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,मद्रास,गोवर्धन साहित्य महाविद्यालय देवघर,पंजाब विश्वविद्यालय आदि में हिन्दी की परीक्षाओं के लिए हिन्दी की कक्षाएं खोली गईं । इनमें पढ़ने वाले छात्र - छात्राओं की संख्या भविष्य में उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई ।

(ङ०)हिन्दी सीखने वालों अथवा हिन्दी-रचनाकारों को पुरस्कृत करना-- हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं में अथवा प्रतियोगिताओं में विशेषयोग्यता प्राप्त विद्यार्थियों को तो पुरस्कार दिया ही जाता था, इसके अतिरिक्त कुछ संस्थाओं द्वारा हिन्दी के सर्वोत्तम ग्रन्थ रचयिता को भी पुरस्कृत करने की योजना की गई थी,जो आज भी वर्तमान है, यथा--काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से 'छन्नूलाल पुरस्कार','बटुकप्रसाद पुरस्कार','रत्नाकर पुरस्कार','देव पुरस्कार' आदि तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार', 'सेकसरिया पुरस्कार' (महिला साहित्यकार के लिए)' आदि । आगे चलकर पुरस्कारों में और भी वृद्धि की गई ।

(च) पुस्तकालयों का उद्देश्य था-- विविध विषयक साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओं का संग्रह इस अभिप्राय से करना कि भाषा एवं साहित्य के जिज्ञासु एवं सर्वसाधारण जन उनके अध्ययन का आनन्दपूर्ण लाभ उठा सकें । द्विवेदी युगीन पुस्तकालयों द्वारा लोगों में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रति अभिरुचि जागृत हुई । तद्युगीन पुस्तकालयों में सबसे प्राचीन पुस्तकालय भारती भवन पुस्तकालय,प्रयाग(स्थापना--१८८०ई०) है,जो द्विवेदी-युगपूर्व से लेकर आज तक सम्यक्रूप से एक ओर संस्कृत तथा हिन्दी के विद्वानों एवं शोधकर्ताओं को सामग्री प्रदान करने में सक्षम है तो दूसरी ओर सर्वसाधारण के मस्तिष्क को भी पौष्टिकता प्रदान करती है ।

यद्यपि उपर्युक्त संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य जन समाज में हिन्दी-भाषा-प्रचार करना था, किन्तु उनके उपर्युक्त कार्यों से हिन्दी भाषा के विकास में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई । उदाहरणस्वरूप-- हिन्दी की परीक्षाओं के लिए जो पुस्तकें छपवाई गईं अथवा ग्रन्थ लिखे गए उनकी भाषा की मौलिकता,शुद्धता एवं परिमार्जन पर विशेष बल दिया गया । इसी प्रकार हिन्दी के प्रचारार्थ रचित विविध

विषयक साहित्य की भाषा में सौष्ठव,प्रांजलता एवं बोधगम्यता आदि का विशेष ध्यान रखा गया । इसके अतिरिक्त इन कार्यों से हिन्दी भाषा के भण्डार की भी अभिवृद्धि हुई । भाषा-प्रचार का यह अभियान सार्वदेशिक था,अत: विभिन्न प्रान्तों की मूल भाषाओं के सम्पर्क में आने के कारण उसकी (हिन्दी की) रचना -पद्धति एवं शब्दावली का पर्याप्त विकास हुआ । साथ ही संस्कृत को हिन्दी का आधार मानने के कारण उसमें तत्सम के साथ-साथ एकरूपता का भी आविर्भाव हुआ । परिणामस्वरूप हिन्दी भाषी प्रान्तों के अतिरिक्त अहिन्दी भाषी प्रान्तों के लिए भी सुगम हुई ।

३.२. पत्र-पत्रिकाएं

साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के विकास में द्विवेदीयुगीन दैनिक पत्र एवं पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा । ये पत्र-पत्रिकाएं हिन्दी भाषा के प्रचार,विस्तार एवं सुधार की अखिल भारतीय माध्यम थीं । जब देश में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार की लहर उठी तो हर प्रान्त में हिन्दी पत्रों का प्रचलन हुआ । द्विवेदी-युग तक भारतवर्ष का कोई ऐसा प्रान्त नहीं रह गया था, जहां से हिन्दी भाषा का कोई पत्र अथवा पत्रिका नहीं निकलती हो । तत्कालीन प्रकाशित होने वाली वे पत्र-पत्रिकाएं जिनका सम्बन्ध हिन्दी (विशेषत: खड़ीबोली) के विकास से था अधोलिखित थीं --

अभ्युदय(प्रयाग)	आज (बनारस)
आनन्द कादम्बिनी (मिर्जापुर)	इन्दु(बनारस)
कल्याण (गोरखपुर)	काशी पत्रिका(काशी)
केरल कोकिल(केरल)	चांद (प्रयाग)
जासूस (गाजीपुर)	नागरी प्रचारिणी पत्रिका(काशी)
प्रभा (कानपुर)	बिहार बन्धु(बांकीपुर,पटना)
भारत जीवन(बनारस)	भारत मित्र(कलकत्ता)
मर्यादा(प्रयाग)	माधुरी(लखनऊ)
विद्या (बलिया)	विशाल भारत(कलकत्ता)

विश्वमित्र (कलकत्ता)	वीणा (इन्दौर)
वेंकटेश्वर समाचार (बम्बई)	शारदा (जबलपुर)
शिक्षा (बांकीपुर, पटना)	समालोचक (जबलपुर)
सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग)	सरस्वती (प्रयाग)
हंस (बनारस)	हितवार्ता (कलकत्ता)
हिन्दी प्रदीप (प्रयाग) १६०६तक	हिन्दी बंगवासी (कलकत्ता)
हिन्दोस्थान (कालाकांकर)	

इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी बहुमुखी उन्नति हुई। विविध विषयक साहित्यिक रचनाओं के साथ ही इनके द्वारा साहित्यिक खड़ीबोली का भी अन्यतम विकास हुआ । उस समय पत्र-पत्रिकाएं ही वह साधनविशेष थीं, जिनके द्वारा भाषा सम्बन्धी मत-मतान्तर का प्रकाशन हुआ करते थे । कभी-कभी भाषा-प्रयोग सम्बन्धी किसी एक ही विषय को लेकर ऐसी व्यापक चर्चा आरम्भ होती थी कि उससे कोई भी पत्र अछूता नहीं रह जाता था और उन पत्रों के माध्यम से भाषाविदों के विवादों की भड़ी-सी लग जाती थी । उदाहरणस्वरूप `हिन्दी में विभक्ति चिह्न मूल शब्द सटाकर लिखे जायं अथवा अलग`-- इस विषय पर जब १६०६ ई० में विवाद आरम्भ हुआ तो तत्कालीन अधिकांश पत्रों-- यथा, वेंकटेश्वर समाचार, हितवार्ता, भारतजीवन, भारत मित्र, अभ्युदय, बिहारबन्धु, शिक्षा आदि ने अनेक भाषाविदों के विभिन्न मतों के प्रकाशन में भाग लिया(दे० द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं २.४.३ इ) । इसी प्रकार अन्य विषय-सम्बन्धी विचारों की प्रकाशिका भी पत्रिकाएं ही थीं । यहां तक कि कतिपय पत्र-पत्रिकाओं की भाषा की आलोचना भी दूसरी पत्रिकाएं किया करती थीं । यथा-- एक ओर `भारत मित्र` के सम्पादक ने `सरस्वती` की भाषा को `अनगढ़` बताया । वह द्विवेदी जी के नये शब्द-प्रयोगों से सन्तुष्ट नहीं थे, तो दूसरी ओर `सरस्वती` के सम्पादक तथा `सरस्वती` की भाषा के अन्य अनुमोदक जन `भारत मित्र` एवं `हिन्दी बंगवासी` की भाषा को दोषपूर्ण सिद्ध किया । उधर हिन्दुस्तान की भाषा पर भी अनेक टीका-टिप्पणियां हुईं ।

वस्तुत: पत्रिका की अपनी भाषा-नीति होती है और उसके लेखकों को भी अपनी भाषा उसी नीति के अनुकूल ढालनी पड़ती है । अत: तद्युगीन पत्रिकाओं ने तत्कालीन भाषा-प्रयोग में प्राय: एकरसता स्थापित की । उस समय भाषा के विषय में स्वयं में विशेष रूप से सतर्क तथा आलोचना-प्रत्यालोचना प्रकाशित करने वाली पत्रिकाएं `भारतमित्र`, `हिन्दी बंगवासी`, `वेंकटेश्वर समाचार`, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका` तथा सबसे महत्वपूर्ण पत्रिका `सरस्वती` थी । `सरस्वती` के कारण ही साहित्य तथा भाषा (खड़ीबोली हिन्दी) दोनों ही क्षेत्रों में द्विवेदी जी तथा उनके युग की ख्याति बढ़ी । क्योंकि इस पत्रिका के द्वारा ही द्विवेदी जी की प्रेरणा से विविध विषयक साहित्यिक कृतियों का प्रसारण हुआ,नवलेखन को प्रोत्साहन मिला, खड़ीबोली में कविता करने की परम्परा चली । जहां तक भाषा का प्रश्न है, इस ओर `सरस्वती` के सम्पादक द्विवेदी जी विशेष रूप से सतर्क थे । जो कृतियां `सरस्वती` में छपने को आती थीं, उनकी भाषा का संस्कार द्विवेदी जी स्वयं अपने हाथों किया करते थे । किसी-किसी रचना की भाषा में तो उन्होंने इतना सुधार किया कि उसकी भाषा कृतिकार की न होकर सम्पादक की ही प्रतीत होती है ।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी भाषा एवं साहित्य की उन्नति एवं विकास के क्षेत्र में `सरस्वती` पत्रिका का योगदान अधिक रहा है । →
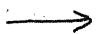
→ साथ ही इस क्षेत्र में द्विवेदी-युग अन्य पत्र-पत्रिकाओं का भी ऋणी रहा है[१]।

भारतेन्दु-युग तक की पत्रिकाएं हिन्दी का प्रचारक मात्र ही थी किन्तु द्विवेदी-युग में पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी भाषा (मुख्यत: खड़ीबोली) और उसके साहित्य के विकास में भारी योग दिया। आलोच्य-युग में प्राय: प्रत्येक अच्छे लेखक द्वारा कोई न कोई पत्रिका चलाई जा रही थी अथवा ये लेखक किसी न किसी पत्रिका के सम्पादन कार्य से सम्बद्ध होते थे, इस नाते वे खुलकर अपने विचारों को व्यक्त करते थे।

३.३. हिन्दी के उन्नायक-गण

द्विवेदी युगीन खड़ीबोली हिन्दी के विकास के सम्बन्ध में उन महानुभावों के नाम एवं कृतित्व क भी विशेष उल्लेखनीय है, जिनके सामूहिक अथवा व्यक्तिगत प्रयास से हिन्दी का बहुमुखी विकास हुआ। इनकी गणना निम्न-लिखित श्रेणियों में की जा सकती है -- (१) प्रचारक के रूप में, (२) सुधारक एवं निर्माता के रूप में, (३) साहित्य~~कार~~ साधक के रूप में।

---

१ हिन्दी साहित्य एवं भाषा के विकास में 'सरस्वती' के महत्व का निर्देशन करते हुए द्विवेदी जी के परवर्ती 'सरस्वती'-सम्पादक ने जो अपने भाव-भीने उद्गार व्यक्त किए हैं, उनके कुछ अंश इस प्रकार हैं --

'सरस्वती को निकलते पूरे २१ वर्ष हो चुके जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था उस समय हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य की क्या दशा थी, यह बात उन लोगों से छिपी नहीं, जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं। जिनके हृदय में उस समय साहित्य-प्रेम का अंकुर नहीं उगा था, या जो अल्प वयस्क होने के कारण हिन्दी-पुस्तकें पढ़ने और उनसे लाभ उठाने का सामर्थ्य न रखते थे वे भी उस समय के साहित्य का मिलान वर्तमानकाल के साहित्य से कर दोनों का अन्तर सहज ही जान सकते हैं' (स०भाग २२, खण्ड१, सं०१, पृ०१-२ 'सम्पादक की विदाई'-सम्पादक)।

'इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदी जी ने सरस्वती के द्वारा हिन्दी भाषा को एक स्थिर रूप दे दिया, उसकी शैली निश्चित कर दी और हिन्दी भाषाभाषियों की रुचि को परिमार्जित कर दिया। खड़ीबोली की कविता को आज जो पद प्राप्त है, उसमें उनका भी हाथ है' (वही, पृ०५ पं०महावीरप्रसाद द्विवेदी-सम्पादक)।

१. प्रचारक के रूप में

द्विवेदी-युग में हिन्दी के प्रचार के क्षेत्र में किए गए उद्योगों का उल्लेख संक्षेप में किया जा चुका है। साथ ही यह भी संकेत किया जा चुका है कि इस प्रचार कार्य के लिए राजनीतिक नेता, साहित्यकार तथा अन्य भाषा-प्रेमीगण कटिबद्ध हुए थे । इनमें एक तो वे लोग आते हैं जिन्होंने राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम की दृष्टि से देश में हिन्दी का प्रचार करने का प्रयास किया । इस वर्ग के व्यक्तियों में महामना मदनमोहन मालवीय एवं महात्मा गांधी का नाम अग्रगण्य है । शेष अन्य हिन्दीसेवी गण उनके सहयोगी के रूप में आते हैं ।

मालवीय जी द्विवेदी-युग के पूर्व से ही हिन्दी-भाषा-सेवा में रत हो गये थे । वे भारतीयों में स्वदेश-प्रेम की भावना को जाग्रत करने के लिए हिन्दी का प्रचार आवश्यक समझते थे । उन्होंने उत्तरप्रदेश की अदालतों और दफ्तरों में हिन्दी को व्यवहारिक भाषा के रूप में स्वीकृत कराया साथ ही उच्च शिक्षा के लिए हिन्दी में पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था भी की । उन्हीं की प्रेरणा से नागरी प्रचारिणी सभा एवं अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना (क्रमश: १८९३ई० एवं १९१०ई० में) हुई । हिन्दी के ज्ञान के प्रसार के निमित्त किए गए आपके कार्यों में सबसे महत्वपूर्ण कार्य था प्रयाग के 'भारती भवन पुस्तकालय' की प्रतिष्ठापना (सन् १८९०ई०) । इसके लिए उन्हें प्रयाग निवासी विद्या-प्रेमी लाला व्रजमोहन भल्ला से ४८००० रु० की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई जिसके आधार पर पुस्तकालय का संघटन किया जा सका । इसके अतिरिक्त आपने स्वेच्छा से तत्कालीन पत्रों, यथा-- हिन्दोस्थान, अभ्युदय, मर्यादा आदि का सम्पादन कार्य भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया था और भाषा के महत्वनिर्देशन में अपनी सम्पादकीय टिप्पणियां भी प्रकाशित करवाई थीं । वस्तुत: उत्तरभारत में हिन्दी प्रचार का श्रेय मालवीय जी को ही प्राप्त था ।

इधर राष्ट्रपिता गांधी जी ने भी अनुभव किया कि बिना राष्ट्रभाषा की उन्नति के भारतीयों की उन्नति सम्भव नहीं है और वह राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' ही हो सकती है । इस दृष्टिकोण से वे हिन्दी के उत्थान एवं प्रचार के लिए

कटिबद्ध हुए[१] और इस क्षेत्र में अन्य सेनानियों को तत्पर करने के लिए उन्होंने देश के कोने-कोने में शंखनाद करना आरम्भ किया । जिस प्रकार उत्तर भारत में हिन्दी प्रचार का कार्य मालवीय जी ने किया, उसी प्रकार गांधी जी का सबसे महत्वपूर्ण अभियान था-- अहिन्दी क्षेत्रों (विशेषत: दक्षिणी प्रान्तों) में हिन्दी का प्रचार करना । इन्दौर में होने वाले साहित्य सम्मेलन के आठवें अधिवेशन के सभापति पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् आपने दक्षिण में हिन्दी प्रचार का व्रत लिया और उसी वर्ष हिन्दी के प्रचार के लिए अपने पुत्र देवदास गांधी तथा हिन्दी के विद्वान् स्वामी सत्यदेव जी को मद्रास भेजा । इन लोगों ने अत्यन्त उत्साह पूर्वक अपने कार्य का सम्पादन किया । इसी उद्देश्य से मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हुई और आगे चलकर उसकी देखरेख राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति वर्धा की ओर से होती रही ।

गांधी जी द्वारा दक्षिण भारत(आन्ध्र प्रदेश,केरल, मैसूर राज्य एवं तमिलनाड) में हिन्दी प्रचार कार्य के अभियान में श्रीराम स्वामी अय्यर, श्रीमती एनीबेसेण्ट, पं० हरिहरशर्मा का योगदान भी महत्वपूर्ण है ।अहिन्दी भाषियों

---

१ इस विषय में 'सर०,भाग१६ खण्ड १ सं०१,पृ०५१' राष्ट्रभाषा सम्मेलन-सम्पादकीय' की कुछ पंक्तियां उल्लेखनीय हैं, यथा-- 'हां जब से इस विषय की चर्चा गांधी ने आरम्भ की है-- जब से उन्होंने इस बात पर जोर देना आरम्भ किया है कि बिना अपनी भाषा के प्रचार और आदर के अपनी यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती--तबसे इस चर्चा में अवश्य जान सी आ गई है । बात यह है कि चरित्रबल बहुत बड़ा बल है। साधारण आदमियों के मुख से निकली हुई वही बातें उतना असर नहीं रखती जितना असर किसी चरित्रवान्, सर्वसाधारण के श्रद्धा के भाजन और नामी पुरुष के मुख से निकली हुई रखती हैं । आज कोई दो वर्ष से गांधी जी ने देशी भाषाओं के प्रचार की आवश्यकता बताना आरम्भ किया है । जहां कहीं आप कुछ बोलते हैं भाषा के विषय में भी कुछ न कुछ कहे बिना बहुधा नहीं रहते । वे अब दिन पर दिन इसी मार्ग पर अधिकाधिक आगे बढ़ रहे हैं ।.....इसी से आशा होती है कि उन्होंने जो इस काम में हाथ लगाया है तो इसे उपाय भर पूरा करके ही छोड़ेंगे ।'

को हिन्दी सिखाने के उद्देश्य से श्रीमती एनीबेसेण्ट ने मद्रास में गोखले हाल में हिन्दी वर्ग का उद्घाटन किया । इस समारोह की अध्यक्षता श्री रामस्वामी अय्यर ने की । पं० हरिहर शर्मा ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मद्रास को संचालन किया ।

द्विवेदी-युग में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-कार्य में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी द्वारा दिए गए योगदान की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती । यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् से आप राजनैतिक कारणों से हिन्दी के विरोधी हो गए थे, किन्तु आलोच्ययुग में उन्होंने हिन्दी के राष्ट्रभाषाकरण का पूर्णतः अनुमोदन किया था । वह दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के सदस्य थे । इसके अतिरिक्त कई अधिवेशनों में अध्यक्ष पद को सुशोभित किया । हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध में आपने कई स्थानों पर भ्रमण करके लोगों में हिन्दी के प्रति रुचि जागृत की । एर्नाकुलम में हिन्दी पुस्तकालय का उद्घाटन कार्य भी आपके ही हाथों सम्पन्न हुआ ।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने राजनीतिक एवं सार्वजनिक सेवा कार्य में प्रवृत्त रहते हुए हिन्दी भाषा के प्रचार पर भी अधिक बल दिया । आपने राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करते हुए हिन्दी को ही उक्त भाषा के रूप में स्वीकार किया । लखनऊ की 'एक भाषा और एक लिपि प्रचार परिषद्' में तिलक ने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाये जाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था ।

स्वदेश-प्रेम की भावना के वशीभूत होकर हिन्दी का प्रचार करने वाले व्यक्तियों में लाला लाजपतराय का नाम भी अविस्मरणीय है । यद्यपि आपकी मातृ-भाषा पंजाबी थी किन्तु आपने पंजाब में हिन्दी आन्दोलन को बढ़ाने में सक्रिय रूप से योग दिया । आर्य समाज के हिन्दी प्रचार-कार्य में भी आपने पूर्णरूपेण भाग लिया ।

इसी प्रकार विनायक दामोदर सावरकर ने अपनी मातृभाषा मराठी की उन्नति के साथ-साथ हिन्दी की उन्नति पर भी विशेष ध्यान दिया । आपने अपने लेख 'राष्ट्रभाषा हिन्दी का नया स्वरूप' में संस्कृत निष्ठ हिन्दी को ही प्रत्येक स्थिति में राष्ट्रभाषा बनाने पर बल दिया । हिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी

में भाषण देने की परिपाटी चलाई और सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखने के लिए भी नागरिकों से अनुरोध किया ।

बंगला भाषी आचार्य क्षितिमोहन सेन भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के समर्थक थे । आपने हिन्दी के प्रचार कार्य में भाग लेकर तथा हिन्दी में अपनी रचनाएं प्रस्तुत कर हिन्दी भाषा को अपनी सेवाएं अर्पित की थीं, जिनके सम्मान स्वरूप आपके राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की ओर से 'महात्मा गांधी-पुरस्कार' भी प्रदान किया गया था ।

दूसरे प्रकार के लोगों में वे लोग आते हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रति अनुराग होने के कारण अथवा युग-विशेष की प्रवृत्तियों से प्रभावित होने के कारण स्वेच्छा से हिन्दी प्रचार की धारा में अवगाहन किया। इनमें विभिन्न संस्थाओं के संस्थापक, पत्र-पत्रिकाओं के प्रवर्तक एवं सम्पादक तथा साहित्यिक कृतियों के रचयितागण आते हैं । यथा --

मालवीय जी ने देश-प्रेम के वशीभूत होकर तो हिन्दी का प्रचार किया ही, उन्हें स्वयं हिन्दी भाषा के प्रति विशेष अनुराग भी था । उसके विषय में अनेक पत्र-पत्रिकाओं में वे अपने लेख भी छपवाते रहे । हिन्दी पत्रों का सम्पादन कार्य भी उनके हिन्दी-प्रेम का ही परिणाम है । जैसा कि कहा जा चुका है, हिन्दी भाषा के प्रचारार्थ ही उन्होंने भारती भवन पुस्तकालय की स्थापना की तथा नागरी-प्रचारिणी सभा एवं साहित्य सम्मेलन के कार्यों में पूर्ण सहयोग दिया ।आपमें पत्र-कारिता के सब गुण विद्यमान थे ।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी की सेवा दो रूपों में की -- एक तो उसके प्रचारार्थ अनेक उद्योग करके तथा दूसरे, हिन्दी में विविध साहित्यिक कृतियां प्रस्तुत करके । हिन्दी के प्रचार-क्षेत्र में आपका सबसे महत्वपूर्ण अभियान था-- अपने विद्यार्थी जीवन में ही नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना करना ।इस कार्य में आपको अपने दो मित्रों-- रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह का सक्रिय सहयोग प्राप्त था, अत: हिन्दी भाषा के विकास के इतिहास में दास जी के साथ उक्त दोनों सज्जनों के नाम भी विशेष उल्लेखनीय है । सभा की स्थापना के

अतिरिक्त दास जी के द्वारा न्यायालयों में हिन्दी-प्रवेश के आन्दोलन में भाग लेना, हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, हिन्दी शब्दसागर का सम्पादन, आर्य भाषा पुस्तकालय की स्थापना, सरस्वती पत्रिका का सम्पादन आदि कार्य हिन्दी के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान हैं।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी यद्यपि राजनैतिक क्रान्तिकारी नेता थे किन्तु हिन्दी की सेवा में भी वे आजीवन संलग्न रहे। उन्होंने पत्रकारिता के माध्यम से हिन्दी के प्रचार-कार्य में पूर्णयोग दिया। समय-समय पर 'अभ्युदय', 'प्रभा' तथा 'प्रताप' के सम्पादक भी रहे।

इसी प्रकार हिन्दी भाषा के प्रचार-कार्य में अन्य विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों एवं प्रवर्तकों, संस्थाओं के संस्थापकों आदि का महत्व उनके कृतित्वों के साथ मुखर हो उठता है।

इतना ही नहीं, वरन् तत्कालीन अनेक कवियों और लेखकों ने हिन्दी भाषा के महत्व-निर्देशन में अपनी लेखनी चलाकर भी इस अनुष्ठान में योग दिया[1]।

---

१ इस सन्दर्भ में समय-समय पर 'सरस्वती' के अंकों में प्रकाशित रामचरित उपाध्याय केशवप्रसाद मिश्र एवं सनेही जी की निम्नलिखित कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं --

'नागरी की नालिश' -- रामचरित उपाध्याय --

अब से भी कर नियम मुझे यदि पढ़ो पढ़ाओ;
तुम भी सब के साथ तुरत आगे बढ़ जाओ।
निज उन्नति के लिए करो तुम उन्नति मेरी;
आया है शुभ समय भूलकर करो न देरी।
सच कहती हूं मान लो भारत! यह मेरा वचन
करो न मेरे साथ ही अब अपना भी तुम पतन।'

(शेष दे० सर०, भाग१५ खण्ड १ संख्या२, पृ०७४)

केशवप्रसाद मिश्र : 'हमारी मातृभाषा हिन्दी और हमारे एम०ए०, बी०ए० सपूत'

हे मातृभाषे! आज क्यों मुख कमल तेरा म्ला है ?
क्यों भर रही है सांस ठंडी ? क्यों हुई तू ग्लान है ?
वह मधुर तेरी मुस्कराहट, वह प्रसन्न गम्भीरता,
वे सहज सुन्दर भाव तेरे, वह अलौकिक धीरता।।

....

चाहे विदेशी वर्णमाला आपके पीछे लगे
चाहे वृहस्पति से अधिक हो आप इंगलिश के सगे

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

हिन्दी के विकास और प्रचार-कार्य में योग देने वाले अहिन्दी-भाषी भारतियों में बाबूराव विष्णु पराडकर , माधवराव सप्रे (मराठीभाषा) एवं दुर्गाप्रसाद मिश्र (बंगला भाषी) के नाम भी उल्लेखनीय हैं । पराडकर जी ने ज्ञानमंडल (वाराणसी) से प्रकाशित होने वाले हिन्दी दैनिक पत्र `आज` के माध्यम से हिन्दी भाषा के उन्नयन का महत्वपूर्ण कार्य किया । आप आधुनिक पत्रकारिता के जन्मदाता माने जाते रहे हैं । अंग्रेजी शब्दों के आधार पर हिन्दी के नये नये शब्दों की रचना आपका महत्वपूर्ण कार्य रहा है । इसी प्रकार माधवराव सप्रे ने भी हिन्दी की उन्नति में पूर्ण योगदान दिया । आपने स्वयं हिन्दी में रुचि लेते हुए मध्यप्रदेश के अधिकांश लेखकों को हिन्दी की ओर आकर्षित किया । इन्होंने नागपुर में एक कम्पनी स्थापित की, जिसका उद्देश्य हिन्दी में अच्छे-अच्छे ग्रन्थों को प्रकाशित करना था । उसी के तत्वावधान में सन् १९०६ई० में हिन्दी ग्रन्थमाला का प्रकाश किया तथा लोकमान्य तिलक के `केसरी` पत्र से प्रेरित होकर हिन्दी केसरी पत्र भी निकाला ।इधर बंगला भाषी होते हुए भी दुर्गाप्रसाद मिश्र ने हिन्दी के प्रचार के लिए दैनिक पत्र `भारतमित्र` का प्रकाशन आरम्भ किया और स्वयं बहुत दिनों तक उसके सम्पादक भी थे । आपने भी नवीन शब्दों

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

जब तक नहीं निज मातृ-भाषा प्रीति होगी आपमें;
तब तक नहीं अन्तर पड़ेगा देश के संताप में ।`
(शेष दे०, सर०भाग१५,खण्ड १,सं०४,पृ०१७७-१७८)

सनेही : `मातृभाषा की महत्ता`--

सपूती हो तुम्हारी बस इसी में अब सपूती है ।
दिखा दो बोलती इस भांति से भाषा की तूती है ।
महारानी नहीं उर्दू अजी यह एक दूती है ।
चरण झुक झुक के सौ सौ बार यह हिन्दी को छूती है ।
नहीं है तत्व कोई और इस उर्दू के ढांचे में
ढली है देखिए यह पूर्णत: हिन्दी के ढांचे में ।
न रक्खे द्वेष इससे भी इसे भी सहचरी समझो ।
इसे भी मातृभाषा की नई कारीगरी समझो ।

(शेष दे० सर०,भाग १६,खण्ड १, सं०१, पृ०१६)

का प्रयोग कर हिन्दी भाषा की शब्दावली में वृद्धि की । हिन्दी भाषा के उत्थान में `सरस्वती` के योगदान के प्रसंग में इण्डियन प्रेस के संस्थापक बाबू चिन्तामणि घोष का महत्व स्वयं ही मुखर हो जाता है, जिन्होंने अपने प्रेस से `सरस्वती` जैसी पत्रिका को प्रकाशित करके उसके माध्यम से खड़ीबोली हिन्दी को व्यापकता प्रदान की । इसके अतिरिक्त उक्त प्रेस के तत्वावधान में अन्य अनेक हिन्दी के ग्रन्थ प्रकाशित हुए ।

द्विवेदी-युग में हिन्दी के विकासक्रम में योग देने वालों में भारतेन्दु के समकालीन फेडरिक पिंकाट का महत्व भी न्यून नहीं है । विदेशी होते हुए भी आपने इंगलैण्ड में हिन्दी का खूब प्रचार किया । आप भारतेन्दु की कृतियों का आदर करते हुए उन्हें सरल भाषा में लिखने की सम्मति देते रहे । उनकी मृत्यु के पश्चात भी उनका यह अभियान चलता रहा । इनके प्रयासों के अतिरिक्त तत्कालीन साहित्यिक कृतियों से जो हिन्दी भाषा का प्रसार एवं विकास हुआ उसका उल्लेख साहित्य-साधकों के कृतित्वों के प्रसंग में किया जायगा ।

२.सुधारक एवं निर्माता के रूप में

द्विवेदीयुगीन साहित्यिक खड़ीबोली के विकास-क्रम में योग देने वाले व्यक्तियों में उनका महत्व सबसे अधिक है, जिन्होंने भारतेन्दुकालीन भाषा के अव्यवस्थित रूप को संवार कर विशुद्ध साहित्यिकता का बाना पहनाने का प्रयास किया । इनमें भाषा तथा साहित्य के युगनिर्माता आचार्य महावीरप्रसादद्विवेदी का नाम सर्वोपरि है । अन्य महानुभावों में पं० बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी के स्वरूप के विषय में अपनी सम्मति प्रकाशित करवाते रहे),बाबू बालमुकुन्द गुप्त,अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्यामसुन्दरदास, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० कामताप्रसाद गुरु,जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० सुधाकर द्विवेदी, लाला भगवानदीन, मिश्रबन्धु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी,बाबू रामचन्द्र वर्मा, अमृतलाल चक्रवर्ती, दुर्गाप्रसाद मिश्र, श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त के कार्य भी उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त तत्कालीन भाषा-वैज्ञानिकों यथा-- ग्रियर्सन तथा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या,बीम्स,हार्नली, बाप आदि के भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से भी द्विवेदीयुगीन साहित्यिक खड़ीबोली का परिमार्जन हुआ ।

जैसा कि प्राय: कहा जा चुका है, भारतेन्दु-युग तक हिन्दी भाषा में अपेक्षित परिनिष्ठता नहीं आने पाई थी । लेखकगण अभी उसके प्रचार में लगे ही थे कि नायक(भारतेन्दु) के अवसान के पश्चात् उसके गठन में विशृंखलता उत्पन्न हो गई । ऐसे ही वातावरण के मध्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य-जगत् में प्रवेश किया । उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं को विकसित करने तथा गद्य और पद्य की भाषा एक(खड़ीबोली) करने के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया, वह था --खड़ीबोली हिन्दीका सुधार एवं संस्कार । भाषा-सुधार का व्रत उन्होंने`सरस्वती`पत्रिका का सम्पादन कार्य ग्रहण करने के उपरान्त लिया । उनकी स्वयं की भाषा पहिले इतनी परिमार्जित नहीं थी जैसा कि उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को देखने से विदित होता है, किन्तु कालान्तर में उन्होंने अपनी भाषा के परिष्कार के साथ-साथ अन्य लेखकों के भाषा-दोष को भी दूर करने का उद्योग किया[१] ।द्विवेदी जी सरल किन्तु सुष्ठ हिन्दी के पक्षपाती थे । न तो वे संस्कृत के कठिन से कठिन शब्दों का समावेश करके हिन्दी को कृत्रिम एवं बोझिल बनाना चाहते थे और न ही विदेशी शब्दों को भर्ती करके उसकी विशुद्धता को समाप्त करना ७ चाहते थे । शब्द -प्रयोग की रूढ़िवादिता को समाप्त कर नये-नये शब्दों का निर्माण करके उसे हिन्दी व्याकरण के अनुकूल बनाकर प्रयोग करना भी उनका स्वभाव था (दे० द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं २.४.३)। दूसरे शब्दों में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा के उस रूप का अनुमोदन किया जो रूढ़िवादिता से रहित,व्यवहारिक तथा व्याकरणसम्मत हो । फलत: उन्होंने शब्द भण्डार, व्याकरण एवं विरामचिह्नादि के दोषों को सुधार कर परिष्कृत हिन्दी का आदर्श प्रस्तुत किया ।

पं० बालकृष्ण भट्ट यद्यपि भारतेन्दु के सहयोगी थे और भाषा के सम्बन्ध में उन्हें भारतेन्दु का ही उत्तराधिकार प्राप्त था, किन्तु इस क्षेत्र में उनका दृष्टिकोण भारतेन्दु से व्यापक एवं उदार था । यही कारण है कि उनकी भाषा

---

१ द्विवेदी जी ने अपने हाथों जो सुधार किया है उसके प्रमाणार्थ `सरस्वती` में प्रकाशित होने के लिए भेजी गई अधिकांश लेखकों की पाण्डुलिपियां द्रष्टव्य हैं । कुछ नमूने के रूप में देखिए इसी सर्ग में `पत्र-पत्रिकाएं` ।

जैसा कि प्राय: कहा जा चुका है, भारतेन्दु-युग तक हिन्दी भाषा में अपेक्षित परिनिष्ठता नहीं आने पाई थी । लेखकगण अभी उसके प्रचार में लगे ही थे कि नायक(भारतेन्दु) के अवसान के पश्चात् उसके गठन में विशृंखलता उत्पन्न हो गई । ऐसे ही वातावरण के मध्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य-जगत् में प्रवेश किया । उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं को विकसित करने तथा गद्य और पद्य की भाषा एक(खड़ीबोली) करने के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया, वह था --खड़ीबोली हिन्दीका सुधार एवं संस्कार । भाषा-सुधार का व्रत उन्होंने `सरस्वती` पत्रिका का सम्पादन कार्य ग्रहण करने के उपरान्त लिया । उनकी स्वयं की भाषा पहिले इतनी परिमार्जित नहीं थी जैसा कि उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को देखने से विदित होता है, किन्तु कालान्तर में उन्होंने अपनी भाषा के परिष्कार के साथ-साथ अन्य लेखकों के भाषा-दोष को भी दूर करने का उद्योग किया[1] ।द्विवेदी जी सरल किन्तु सुष्ठ हिन्दी के पक्षपाती थे । न तो वे संस्कृत के कठिन से कठिन शब्दों का समावेश करके हिन्दी को कृत्रिम एवं बोझिल बनाना चाहते थे और न ही विदेशी शब्दों को भर्ती करके उसकी विशुद्धता को समाप्त करना व चाहते थे । शब्द -प्रयोग की रूढ़िवादिता को समाप्त कर नये-नये शब्दों का निर्माण करके उसे हिन्दी व्याकरण के अनुकूल बनाकर प्रयोग करना भी उनका स्वभाव था (दे० द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं २.४.२)। दूसरे शब्दों में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा के उस रूप का अनुमोदन किया जो रूढ़िवादिता से रहित,व्यवहारिक तथा व्याकरणसम्मत हो । फलत: उन्होंने शब्द भण्डार, व्याकरण एवं विरामचिह्नादि के दोषों को सुधार कर परिष्कृत हिन्दी का आदर्श प्रस्तुत किया ।

पं० बालकृष्ण भट्ट यद्यपि भारतेन्दु के सहयोगी थे और भाषा के सम्बन्ध में उन्हें भारतेन्दु का ही उत्तराधिकार प्राप्त था, किन्तु इस क्षेत्र में उनका दृष्टिकोण भारतेन्दु से व्यापक एवं उदार था । यही कारण है कि उनकी भाषा

---

१ द्विवेदी जी ने अपने हाथों जो सुधार किया है उसके प्रमाणार्थ `सरस्वती` में प्रकाशित होने के लिए भेजी गई अधिकांश लेखकों की पाण्डुलिपियां द्रष्टव्य हैं । कुछ नमूने के रूप में देखिए इसी सर्ग में `पत्र-पत्रिकाएं` ।

(खड़ीबोली) भारतेन्दु की भाषा से कहीं अधिक परिमार्जित है। भारतेन्दु के अग्रज होते हुए भी वे भारतेन्दु के बहुत दिनों पश्चात् (१६१४ई०) तक जीवित रहे, अत: द्विवेदी-युग में भाषा-सुधार की प्रवृत्ति को स्व सम्पादित पत्रिका 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से साकार किया तथा पत्रादि द्वारा भी अन्य लेखकों को हिन्दी के स्वरूप के विषय में परामर्श देते रहे।

हिन्दी भाषा के स्वरूप को लेकर बाबू बालमुकुन्द गुप्त का तर्क-वितर्क तो द्विवेदी जी से प्राय: ही चलता रहता था। उनकी भाषा-नीति द्विवेदी जी की भाषा-नीति से कहीं-कहीं भिन्नता रखती थी। द्विवेदी जी द्वारा निर्मित शब्दों को वह कृत्रिम तथा हिन्दी व्याकरण के प्रतिकूल बताते थे (दे० द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं २.४.३)। वह भाषा में संस्कृत शब्दों के आधिक्य के विरोध में न होकर सरल शब्दों के समावेश के पक्ष में थे। किसी भी रूप में वह ऐसी भाषा का निर्माण करना चाहते थे, जो हिन्दी-अहिन्दी-दोनों प्रकार के लोगों के लिए बोधगम्य हो सके। अपनी पत्रिकाओं की भाषा में तथा निज की रचनाओं की भाषा में उन्होंने सदा ही इस बात का ध्यान रखा। इसके अतिरिक्त हिन्दी के उक्त रूप के समर्थन में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा सदा ही अपना मत प्रकाशित करवाते थे। भाषा-निर्माण के सम्बन्ध में इनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक था। द्विवेदी जी से 'अनस्थिरता' शब्द तथा वेंकटेश्वर समाचार के सम्पादक लज्जाराम मेहता से 'शेष' शब्द को लेकर जो तर्क वितर्क किया, वह उनके उक्त दृष्टिकोण का पोषक है। कभी-कभी इनकी अपनी ही मण्डली के लोगों में किसी एक शब्द के प्रयोग को लेकर घण्टों तर्क चलता रहता था।[१] गुप्त जी के भाषा-सुधार-कार्य में श्री अमृतलाल

१ जिस समय बाबू बालमुकुन्द गुप्त 'हिन्दी बंगवासी' के सह सम्पादक हुए उस समय तीन भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषा-भाषियों --गुप्त जी, पं० प्रभुदयाल पाण्डेय तथा अमृतलाल चक्रवर्ती का सम्मिलन हुआ। बाबू बालमुकुन्द गुप्त कृत 'हिन्दी भाषा के परिचय में उनके मित्र श्री अमृतलाल चक्रवर्ती इन भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के हिन्दी भाषा के लिए सम्मिलित प्रयास को हिन्दी के लिए लाभकारी बताते हुए कहते हैं--

'कदाचित् इन भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों का एकत्र हिन्दी लिखने में आरूढ़ होना हिन्दी भाषा के लिए कुछ लाभकारी हुआ। तीनों नवयौवन का प्राय: सारा आवेग लिखित हिन्दी भाषा को सुघड़ बनाने में ही खर्च होता था। किसी किसी दिन एक ही शब्द के पीछे दो-दो तीन तीन बजे रात तक तीनों में कठिन लड़ाई होती थी इस प्रकार से हिन्दी भाषा सम्बन्धी कितने ही झगडे उस समय तीनों आपस में

चक्रवर्ती की विशेष रुचि थी । चक्रवर्ती जी ने हिन्दी की लेखन-शैली में एकात्मता की स्थापना के लिए किए गए प्रयासों में बाबू बालमुकुन्द गुप्त के परिश्रम को अप्रतिम बताया है । अहिन्दी प्रदेश बंगला के निवासी होते हुए भी आप सम्पादक होने के नाते शब्दों के मर्म को जानते थे तथा उनके प्रयोग के औचित्य-अनौचित्य पर भी दृष्टि रखते थे ।

इधर पं०गोविन्दनारायण मिश्र, पं० कामताप्रसाद गुरु एवं पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने हिन्दी भाषा के व्याकरण सम्बन्धी कृतियों से हिन्दी के प्रयोग में व्याकरणिक नियमबद्धता का निर्देश किया । सन् १९०९ई० में जो हिन्दी की विभक्तियों के सम्बन्ध में मत-मतान्तर प्रस्तुत किए जा रहे थे उसमें पं०गोविन्दनारायण मिश्र ने विभक्ति चिह्नों को मूल शब्दों से सटाकर लिखना चाहिए-- इस मत की पुष्टि संस्कृत व्याकरण एवं भाषा को आधार मानकर की और अपने इस मन्तव्य का प्रकाशन तत्कालीन अनेक पत्रों के माध्यम से किया । इस आन्दोलन में अन्य अनेक भाषाशास्त्रियों ने भाग लिया (दे० खण्ड एक २.४.३(इ)) ।

पं० कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी भाषा को व्याकरण सम्मत बनाने के उद्देश्य से 'हिन्दी व्याकरण' की रचना की जो हिन्दी सीखने वालों के लिए

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

तय कर लेते थे और आज दिन उन तय किए हुए सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दी के प्रायः सभी वर्तमान लेखक अपनी भाषा निःसंकोच गठित करते हैं ।'

---

१ चक्रवर्ती जी ने बाबू बालमुकुन्द गुप्त कृत 'हिन्दी भाषा' के परिचय में लिखा है-- 'जिस समय उन्होंने 'हिन्दी बंगवासी' में आकर हिन्दी लिखने में परिश्रम करना आरम्भ किया था उस समय की हिन्दी से वर्तमान हिन्दी की तुलना करने वाले निःसंकोच कह देंगे कि हिन्दी भाषा के लिए मानो युगान्तर उपस्थित हुआ है.... इस समय की लेखनशैली में बहुत कुछ एकता देखी जाती है। बंगाल से लेकर बिहार, संयुक्तप्रान्त, पंजाब, मध्यप्रदेश, राजस्थान--प्रत्येक हिन्दी भूमि की हिन्दी अब बहुत कुछ एक ही लेखक की लेखनी से निकली हुई प्रतीत होती है । ध्यान से भाषा का विचार करने वाले आनन्द के साथ इस परिवर्तन का अनुभव करते होंगे । इस परिवर्तन में बाबू बालमुकुन्द गुप्त का परिश्रम साधारण नहीं है ।'

आधार ग्रन्थ बन गई । आपने हिन्दी के विभक्ति-चिह्नों के प्रयोग सम्बन्धी आंदोलन में भी भाग लिया था । इनके अतिरिक्त आपने नाटकादि की भाषा-शैली सम्बन्धी समस्याओं पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये ।

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने हिन्दी भाषा के विभिन्न व्याकरणिक पक्षों पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी के `लिंग-प्रयोग` पर विशेष विचार व्यक्त किए । उनका हिन्दी शब्दों के लिंग निर्धारण के सम्बन्ध में प्रमाण एकत्रित करने का क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा ।

पं० सुधाकर द्विवेदी हिन्दी में सायास संस्कृत के शब्दों के समावेश के विरुद्ध थे । वे सामान्य बोलचाल की भाषा के उस रूप के प्रयोग के समर्थक थे जिसमें हिन्दी के निजी शब्दों के साथ-साथ तद्भव तथा बोलियों के शब्द अधिक हों और आवश्यकतानुसार अरबी-फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हों । संस्कृत के भी वे ही शब्द प्रयोग में लाये गये हों जो सरल एवं बोधगम्य हों । इसी उद्देश्य से आपने अपनी रचना `रामकहानी का बालकाण्ड` में सामान्य व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के लोकप्रचलित नामों का ढेर लगा दिया है । उक्त कृति की भूमिका में आपने स्वयं लिखा है --`आगे हिन्दी में लिखी मेरी राम कहानी को धीरे-धीरे ध्यान देकर पढ़ा जाय फिर हिन्दी को सुधारने की तदबीर करें । रामकहानी में वे ही शब्द लिखे गए हैं जो कि बनारस के आस पास बोले जाते हैं ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने एक तो खड़ीबोली को काव्योपयोगी बनाया, दूसरे हिन्दी भाषा के विकास एवं स्वरूप पर वैज्ञानिक दृष्टि कोण से प्रकाश डाला[1] । आपमें भाषा को सरल से सरल और क्लिष्ट से क्लिष्ट बनाकर लिखने की अद्भुत क्षमता थी । भाषा के व्यवहार के सम्बन्ध में विषयानुकूल भाषा के प्रयोग के पक्षपाती थे ।

मिश्रबन्धुओं (श्याम विहारी मिश्र एवं शुकदेव विहारी मिश्र) ने भाषा की शुद्धि एवं उसकी व्याकरणनिष्ठता पर अधिक ध्यानदिया । ये बन्धु सरल किन्तु तत्सम प्रधान भाषा के प्रयोग के पक्षपाती थे । इनकी प्रवृत्ति भाषा के

---

१ द्रष्टव्य -- अयोध्यासिंह उपाध्याय : `हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास`

संशोधन की ओर रही हैं। ये अपनी भाषा में तो उत्तरोत्तर सुधार ही करते थे, दूसरों को भी इस सम्बन्ध में परामर्श देते थे । इनके भाषा-संशोधन की प्रवृत्ति का प्रमाण इनकी एक ही रचना `भारतवर्ष का इतिहास` के प्रथम एवं द्वितीय संस्करण की तुलना करने से मिल जाता है[१]।

लाला भगवान दीन, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं रामचन्द्र वर्मा ने हिन्दी भाषा के स्वरूप आदि का विश्लेषण कर उसकी शास्त्रीय उपादेयता का विवेचन किया । लाला भगवान दीन ने हिन्दी की शब्द-शक्तियों का विश्लेषण किया, गुलेरी जी ने पुरानी हिन्दी का आदर्श रखकर नवीन हिन्दी की ऐतिहासिक महत्ता समझाई और बाबू रामचन्द्र वर्मा हिन्दी शब्द-सागर का सम्पादन करने के साथ ही हिन्दी की व्याकरणिक शुद्धता के प्रति सजग रहे ।

इनके अतिरिक्त गोपालराम गहमरी, पद्म सिंह शर्मा एवं मु० प्रेमचन्द ने भी तत्कालीन भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने -अपने विचार व्यक्त किए । ये तीनों व्यक्ति हिन्दी में संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों को भर कर भाषा को दुरूह और बोझिल बनाने के विरुद्ध थे । इन महानुभावों ने हिन्दी के व्यावहारिक रूप को प्रमुखता दी । पं० पद्मसिंह शर्मा तथा मुंशी प्रेमचन्द ने हिन्दी की शब्द-योजना लिंग निर्णय आदि में उर्दू-फारसी का भी सहारा लिया । भाषा के सम्बन्ध में पद्म सिंह शर्मा के विचारों का संकलन हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी` नाम से प्रकाशित हुआ है ।

यहाँ तक कि अहिन्दी भाषी विद्वज्जन अमृतलाल चक्रवर्ती, दुर्गाप्रसाद मिश्र प्रभृत ने भी हिन्दी के निर्माण में पूर्ण सहयोग दिया । अमृतलाल चक्रवर्ती के योगदान के सम्बन्ध में बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सन्दर्भ में बताया जा चुका है, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने भी `भारत मित्र` पत्रिका के माध्यम से इस क्षेत्र में पर्याप्त योग दिया ।

---

१ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित स्वरचित ग्रन्थ `भारतवर्ष का इतिहास` के प्रथम संस्करण में इन बन्धुओं ने द्वितीय संस्करण के लिए जो भाषा सम्बन्धी संशोधन किया है, वह द्रष्टव्य है ।

इतना ही नहीं, वरन् तत्कालीन देशी एवं विदेशी भाषा-वैज्ञानिक, यथा-- सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, बीम्स,बाप,हार्नली,ग्रियर्सन आदि ने हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके वास्तविक तथा प्रयोगिक रूप का उदाहरण भाषा के जिज्ञासुओं के समक्ष रखा । बीम्स,बाप,हार्नली आदि ने भी हिन्दी की विभक्तियों को प्रकृत शब्दों से सटाकर लिखने के नियम के पक्ष में अपना मत प्रकट किया ।

खड़ीबोली हिन्दी के निर्माण में जहां तक नाथूराम शर्मा 'शंकर', श्रीधर पाठक तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों के योगदान की बात है, इन्होंने खड़ीबोली की कर्कशता एवं ठोसत्व को दूर कर उसे माधुर्य एवं कोमलता का बाना पहना कर पद्य-रचना के योग्य बनाया । इस प्रकार काव्य-रचना की उस द्विविधा को दूर किया जिसके कारण कविगण कविता के लिए ब्रजभाषा की तुलना में खड़ीबोली को अनुपयुक्त ठहराते थे ।

निष्कर्ष यह है कि द्विवेदी-युग में हिन्दी भाषा के सुधार एवं निर्माण के हेतु अनेक व्यक्ति अग्रसर हुए, जिसके फलस्वरूप हिन्दी का वर्तमान रूप देखने को मिलता है ।

3. साहित्य-साधक के रूप में

द्विवेदीयुगीन हिन्दी (विशेषतः खड़ीबोली) के उन्नायकों में तत्कालीन साहित्यकारों का महत्व कहीं अधिक है,जिन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों के माध्यम से भाषा का प्रचार-प्रसार, सुधार, संस्कार एवं विकास करके उसे स्थायित्व प्रदान किया । यद्यपि भारतेन्दु के जीवन-काल से ही लोगों में साहित्य-सृजन की अभि-रुचि का विकास अधिक मात्रा में होने लगा था, किन्तु उस समय तक द्विवेदी-युग की अपेक्षा साहित्यिक प्रतिभाओं की संख्या न्यून थी । आलोच्य-युग में उत्तरोत्तर साहित्य-सर्जकों की संख्या में वृद्धि होने लगी । द्विवेदी-युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इस युग में नवलेखन को अधिक प्रोत्साहन मिला और यह कार्य स्वयं युग-पुरुष महावीर प्रसाद द्विवेदी के अभियान का परिणाम था । उन्होंने संस्कारी लेखकों की कृतियों का तो समादर किया ही, साथ ही साहित्य-सृजन के प्रति उत्सुक

युवागण को उनके कार्यों के लिए प्रेरणा देकर ,उन्हें उचित निर्देश देकर साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कराया । परिणामत: इस युग में साहित्य-साधकों के एक वृहद् समुदाय का निर्माण हो गया । यद्यपि इन साहित्यिकों की असंख्य रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अथवा स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हुईं किन्तु खड़ी बोली हिन्दी के विकास में वे ही कृतियां विशेष सहयोगिनी सिद्ध हुईं जो लोक प्रचलित हुईं अथवा जिनका प्रभाव विद्वत् समाज अथवा जन समाज पर अधिक पड़ा । अत: तत्कालीन खड़ी बोली हिन्दी की उन्नति और विकास में साहित्यकारों के योगदान के महत्व- निर्देशन के हेतु हमें उन प्रमुख साहित्यकारों की प्रमुख कृतियों का भी उल्लेख करना समीचीन होगा जो उक्त लक्ष्य की पूरक सिद्ध हुईं । प्रमुख शैलीकार के रूप में इन साहित्य-साधकों की साधना का उल्लेख अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है--

क. गद्यकार के रूप में
ख. पद्यकार के रूप में
ग. पद्यकार एवं गद्यकार के रूप में

क. गद्यकार के रूप में--

इस श्रेणी के साहित्यकारों में वे साहित्य-साधक आते हैं, जिन्होंने गद्य की विविध विधाओं से हिन्दी भाषा एवं साहित्य को समुन्नत किया। यद्यपि इनमें से भी प्राय: गद्य-लेखक ऐसे रहे हैं,जिन्होंने अपने लेखनकार्य का आरम्भ पद्य के माध्यमब से किया,किन्तु उसमें रम नहीं पाये अथवा जिन्होंबे यदि पद्य-रचना की भी तो उसमें निपुणता नहीं प्राप्त कर सके । ऐसे लेखकों की कोटि में सिद्धहस्त गद्यकार पं० गोविन्दनारायण मिश्र,आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, लाला भगवानदीन, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० कामताप्रसाद गुरु और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी आ जाते हैं ।

फिर भी युग की आवश्यकता अथवा प्रवृत्ति के अनुसार तत्कालीन अधिकांश लेखकगण पद्य की अपेक्षा गद्य-क्षेत्र की ओर प्रवृत्त हुए ।

गद्यकार के रूप में हिन्दी की सेवाकरने वालों में सर्वप्रथम युग-प्रणेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (जन्म सन् १८६४-मृत्यु १९३८ निवास दौलतपुर, कानपुर की कृतियों पर विचार करते समय उनकी 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित होने वाली फुटकल रचनाएं अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं । यों तो उनकी रचनाएं अन्य पत्रिकाओं में भी निकलती रहीं, किन्तु अधिकांश कृतियों का माध्यम सरस्वती

ही थी । यहां तक कि भाव की दृष्टि से न भी सही किन्तु भाषा की दृष्टि से दूसरों की भी रचनाएं द्विवेदी जी की ही प्रतीत होती थीं, क्योंकि उन रचनाओं के भाषा- प्रयोग पर आपका पूर्ण अथवा आंशिक हस्तक्षेप होता ही था । इसके अतिरिक्त उसमें प्रकाशित सम्पादकीय लेख तत्कालीन भाषा-प्रयोग सम्बन्धी आलोचनाओं अथवा निर्देश से युक्त होते थे ।

ऐसी स्थिति में `सरस्वती` को यदि द्विवेदी जी की ही कृति मान ली जाय तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी । क्योंकि जैसा अभी कहा जा चुका है, उसकी विषय-वस्तु एवं भाषा-शैली सब पर द्विवेदी जी के निजत्व की छाप थी । यही कारण है कि जिन लोगों पर `सरस्वती` की कृपा हुई उन्होंने द्विवेदी जी के अनुकूल ही अपनी भाषा-शैली को भी रूप प्रदान किया । द्विवेदी जी ने विविध विषयों एवं शैलियों, यथा-- काव्य, नाटक, प्रहसन, आख्यानक, जीवनवृत्त, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, पुरातत्व, ज्योतिष, भाषा एवं व्याकरण सम्बन्धी असंख्य रचनाओं से `सरस्वती` के भण्डार की अभिवृद्धि की । आपकी उक्त प्रकार की रचनाओं में अनूदित रचनाएं भी अधिक हैं ये रचनाएं अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला और मराठी भाषाओं की कृतियों की अनुवाद हैं । इन रचनाओं की भाषा पर कुछेक स्थलों को छोड़कर लेखक के निज व्यक्तित्व का ही प्रतिबिम्ब है । जहां तक भाषा के परिमार्जन एवं उसकी व्याकरणनिष्ठता की बात है, द्विवेदी जी की आरम्भिक रचनाओं में की अपेक्षा परवर्ती रचनाओं की भाषा अधिक परिमार्जित, पुष्ट एवं प्रौढ़ है । अत: पाठकों के सम्मुख जब एक ओर द्विवेदी जी की आरम्भिक भाषा का रूप आया और दूसरी ओर उनके ही द्वारा सुधारी गई शुष्ट भाषा का स्वरूप आया तो उन पाठकों के इस सुधार की प्रवृत्ति से विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई । आपकी भाषा सम्बन्धी नीति का दिग्दर्शन करने वाली सबसे महत्वपूर्ण रचना `हिन्दी भाषा और व्याकरण` है । उक्त रचना में द्विवेदी जी द्वारा अशुद्ध प्रयोगों के सन्दर्भ में उदाहरण रूप में बाबू बालमुकुन्द गुप्त के भाषा-दोष की आलोचना करने पर गुप्त जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने इस रचना में द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त `अनस्थिरता` शब्द को दोषपूर्ण बताते हुए द्विवेदी जी के प्रयोगों की भरपूर आलोचना की । वे आलोचनात्मक मत गुप्त जी द्वारा सम्पादित भारत मित्र की कई संख्याओं में प्रकाशित हुए और इस प्रकार दोनों

और से आलोचना-प्रत्यालोचना के बाणों की झड़ी-सी लग गई ।

खड़ीबोली में काव्य-रचना भी द्विवेदी जी के भाषा एवं साहित्य क्षेत्र के अभियानों में से प्रमुख अभियान था । आपने कविता-रचना के लिए अनेक कवियों को प्रोत्साहित कर उन्हें कविता के महत्व को समझाते हुए काव्य की रीति निर्देशित कर तथा उदाहरण रूप में स्वयं कविताएं लिखकर अनेक नवीन प्रतिभाओं का मार्ग प्रदर्शन किया । यद्यपि आप स्वयं इस क्षेत्र में निपुण नहीं हो पाये,किन्तु आपकी प्रेरणा से उस युग में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवि अवश्य उत्पन्न हो गए ।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त अन्य प्रमुख गद्यकारों में पं०गोविन्द-नारायण मिश्र (जन्म १८५६- मृत्यु १६२६ निवास-सागर,रायपुर जबलपुर) का योगदान भी महत्वपूर्ण है । आप संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं के विद्वान् थे । आपने द्विवेदीयुगीन हिन्दी-आन्दोलन में पूर्णत:योग दिया । आपने प्राय: आलोचनात्मक एवं विचारात्मक निबन्धों की सृष्टि की है । सन् १६०६ के विभक्ति प्रयोग-संबंधी आन्दोलन में आप द्वारा दिए गए योग का उल्लेख इसी प्रकरण में हिन्दी के निर्माताओं के कार्यों के अन्तर्गत किया जा चुका है । वस्तुत: हिन्दी भाषा के विकास में आपका सबसे बड़ा योगदान यही है कि आपने हिन्दी के निर्माण सम्बन्धी आंदोलन में भाग लेकर स्वरचित विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों द्वारा हिन्दी के जिज्ञासुओं को प्रकाश दिया । पुस्तक रूप में आपकी रचना `विभक्ति विचार` एवं `गोविन्द निबन्धावली` प्रसिद्ध हैं । भाषा संस्कृत गर्भित एवं पाण्डित्यपूर्ण है ।

पं० सुधाकर द्विवेदी (जन्म सन् १८६०,मृत्यु १६१०,निवास काशी मिश्र जी की ही भांति गण्यमान्य निबन्धकार थे । आपने हिन्दी की वैज्ञानिकता पर विचार करके `हिन्दी भाषा का व्याकरण` एवं हिन्दी वैज्ञानिक कोश प्रस्तुत किया । इसके अतिरिक्त आपने कुछ अन्य निबन्धों की रचना की । आपकी भाषा सरल और सुबोध है,किन्तु संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है । कहीं-कहीं पर नितान्त बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग किया है ।

बाबू देवकीनन्दन खत्री (जन्म सन् १८६१ मृत्यु सन १६१३,निवास काशी तथा बाबू गोपालराम गहमरी (जन्म सन् १८६६,मृत्यु सन १६४६,निवास - गहमर गाजीपुर) तो अपनी कृतियों से हिन्दी के निर्माता, प्रचारक एवं उन्नायक सभी रूपों

में अपना विशेष स्थान रखते हैं । इन साहित्यकारों ने तत्कालीन प्रवृत्ति के नोरस वातावरण में तिलस्मी- ऐयारी एवं जासूसी उपन्यासों की रचनाएं प्रस्तुत कर हिन्दी जगत में हलचल मचा दी । द्विवेदी-युग के पूर्व ही (क्रमश: १८८८ई० एवं १८९६ई०) प्रकाशित खत्री जी की `चन्द्रकान्ता` और चन्द्रकान्ता सन्तति` नामक कृतियों ने द्विवेदी-युग तक इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की कि सर्वसाधारण जनता उन्हें पढ़ने के लिए हिन्दी आकृष्ट हुई । अत: इनके उपन्यासों ने भाषा का किंचित् ज्ञान न रखने वालों को भी हिन्दी भाषा का पारंगत बना दिया । उक्त कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य-युग में ही प्रकाशित खत्री जी की कृतियां `भूतनाथ`, `गुप्त गोदान`, `अनूठी बेगम` भी उस युग के लिए प्रभावपूर्ण रचनाएं थीं । इधर गोपालराम गहमरी ने यद्यपि नाटककार एवं निबन्धकार के रूप में भी हिन्दी की सेवा की, किन्तु जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में इन्होंने अधिक ख्याति प्राप्त की । द्विवेदी युग के पूर्व से लेकर लगभग जीवनपर्यन्त आप जासूसी उपन्यास एवं कहानियां लिखते रहे हैं । इन्होंने हिन्दी साहित्य को लगभग पचीस-तीस उपन्यास तथा कहानी-संग्रहों के उपहार भेंट किए ।

उक्त दोनों उपन्यासकारों की भाषा सरल तथा सुबोध है । अत: इनके उपन्यास साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट भले ही न हों, किन्तु भाषा के विकास की दृष्टि से इनका महत्व अधिक है ।

गहमरी जी ने बंगला नाटकों और उपन्यासों के अनुवाद भी प्रस्तुत किए । साथ ही आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे । स्वयं जासूस नामक पत्रिका चलाई तथा कुछ दिनों तक समालोचक पत्रिका के सम्पादक भी रहे । इन्हीं के माध्यम से आप अपनी आलोचनाएं प्रकाशित करवाते रहते थे । आप हिन्दी भाषा के निर्माताओं में से भी एक थे ।

पं० गौरीचन्द्र हीराचन्द ओझा (जन्म सन १८६३-मृत्यु १९४७ई० निवास रोहड़ा, उदयपुर, अजमेर) को इतिहास पुरातत्त्व और विभिन्न लिपियों का पूर्ण ज्ञान था, अस्तु इन्होंने अपने निवासक्षेत्र राजस्थान के विभिन्न राज्यों का इतिहास लिखकर साहित्य तथा इतिहास दोनों ही क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की । आपके निबन्धों का संग्रह `ओझा निबन्ध संग्रह` नाम से प्रकाशित है ।

भाषा के विकास के सम्बन्ध में बाबू बालमुकुन्द गुप्त(जन्म सन् १८६५- मृत्यु सन् १९०७ ई० निवास- दिल्ली,कलकत्ता) का उल्लेख किए बिना तो द्विवेदी-युग की पूर्णता सम्भव ही नहीं । आप मुख्यत: पत्रकार थे और इसी क्षेत्र में रहते हुए आपने तत्कालीन परिस्थितियों पर आधारित अनेक आलोचनापूर्ण निबन्ध लिखे । आपके अधिकांश निबन्ध आपकी स्व सम्पादित पत्रिका `भारत-मित्र` प्रकाशित हुए । इसके अतिरिक्त आप हिन्दी बंगवासी,भारत प्रताप, अवध पत्र, नया जमाना आदि पत्रों में भी बराबर लिखते रहे । आपको आपके आलोचनात्मक निबन्धों तथा पत्रों के कारण प्रसिद्धि प्राप्त हुई । आपके पत्रों के संग्रह `शिवशम्भु के चिट्ठे`, `चिट्ठे और खत` अधिक प्रसिद्ध है । आपके निबन्धों का संग्रह `गुप्त निबन्धावली` नाम से प्रकाशित है । आरम्भ में आपने बंगला तथा संस्कृत उपन्यास एवं नाटकों के अनुवाद भी किए । भाषा के सम्बन्ध में आपका द्विवेदी जी से प्राय: तर्क-वितर्क चलता रहता था(जैसा कि द्विवेदी जी के प्रसंग में कहा जा चुका है) आपने द्विवेदी जी द्वारा अपनाए गए भाषा सम्बन्धी अनुचित सिद्धान्त की कटु आलोचना की । आपकी आरम्भिक भाषा उर्दूपन लिए हुए अवश्य थी,किन्तु उसके प्रौढ़ रूप में सरल तत्सम शब्दों की प्रधानता थी । आपकी भाषा के प्रौढ़ रूप की प्रशंसा आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी भी करने लगे थे[१] ।

---

१ इस सम्बन्ध में पं० रामधारी सिंह `दिनकर` द्वारा रायकृष्णदास के एकत्रित संस्मरणों में से एक संस्मरण उल्लेखनीय है --

जब सन् १९१० में द्विवेदी जी राय साहब(राय कृष्णदास) के अतिथि हुए, उस समय राय साहब की उम्र अठारह साल की थी । राय साहब ने उस समय द्विवेदी जी से पूछा था ` हिन्दी सबसे अच्छी कौन लिखता है?` द्विवेदी बोले, `लिखता था` राय साहब ने पूछा `कौन ? ` द्विवेदी जी ने कहा, `बालमुकुन्द गुप्त ।`

--(कला मर्मज्ञ श्री रायकृष्णदास--रामधारी सिंह दिनकर--धर्मयुग, ३० जनवरी, १९७२)

द्विवेदी-युगीन टीकाकारों में लाला भगवानदीन(जन्म सन् १८६६-मृत्यु सन् १९३०ई० - निवास फतहपुर-छतरपुर,प्रयाग,काशी) का स्थान अनन्य है। साहित्य क्षेत्र में आपकी केशव की 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया', 'रसिक प्रिया' एवं बिहारी की सतसई पर लिखी गई पाण्डित्यपूर्ण टीकाएं उक्त कवियों के पाठकों के लिए आज भी आधार बनी हुई है। इन टीकाकारों के माध्यम से ही आपकी भाषा का प्रभाव हिन्दी के पाठकों पर पड़ा। आपने कई वर्ष तक नागरी प्रचारिणी सभा के शब्दकोश विभाग में भी कार्य किया।

पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री(जन्म सन १८७०-मृत्यु सन् १९३१-निवास मध्यप्रदेश) ने मुख्यत: आलोचना के माध्यम से हिन्दी साहित्य एवं भाषा की सेवा की। आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त को आधार बनाकर हिन्दी की आलोचना पद्धति को ही आलोचना कर डाली। मराठी लेखक चिपलूणकर शास्त्री के 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध का अनुवाद भी हिन्दी में किया। इस अनुवाद से साहित्यिक जगत में ख्याति प्राप्त कर आपने उनके 'निबन्धमालादर्श' का ही अनुवाद हिन्दी में किया। इसके अतिरिक्त अन्य मराठी ग्रन्थों का अनुवाद भी हिन्दी में किया। निरन्तर मराठी भाषा का प्रभाव ग्रहण करने तथा स्वयं भी संस्कृत के पक्षपाती होने के कारण आपने संस्कृत की पदावलियों से युक्त भाषा का प्रयोग किया है।

हिन्दी के निर्माण एवं विकास के क्षेत्र में किए गए मिश्रबन्धुओं (श्यामबिहारी मिश्र जन्म सन् १८७५- मृत्यु सन् १९४७ई०) एवं शुकदेव बिहारी मिश्र (जन्म सन् १८७८- मृत्यु सन् १९५१निवास लखनऊ) के सम्मिलित कृतित्व भी भुलाये नहीं जा सकते। हिन्दी के निर्माता और सुधारक के रूप में इनके योगदान का उल्लेख किया जा चुका है। मिश्रबन्धुओं में श्यामबिहारी एवं शुकदेवबिहारी के साथ उनके बड़े भ्राता गणेशबिहारी की गणना भी होती है,किन्तु साहित्य रचना में केवल श्यामबिहारी और शुकदेव बिहारी का ही योगदान है। इनकी विशेषता यह है कि इन दोनों भाइयों ने समान मानसिक स्तर की धुरी पर स्थित होकर अपनी रचनाएं प्रस्तुत की। यद्यपि इन्होंने काव्य-रचनाएं भी कीं,किन्तु मुख्यरूप से ये इतिहास लेखक और समीक्षक थे। देश-विदेश,यथा-- भारत, रूस,जापान आदि के इतिहास के साथ

हिन्दी साहित्य के इतिहास की भी रचना की । 'मिश्रबन्धु विनोद' (हिन्दी - साहित्य का इतिहास-- चार भागों में) तथा 'हिन्दी नव रत्न' आपकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं । इनके अतिरिक्त रीतिकालीन कवि -- देव, बिहारी, भूषण के काव्यों की टीकाएं भी कीं तथा ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की भी रचना की । आपकी भाषा सरल, सुबोध किन्तु विदेशी शब्दों से रहित है ।

खड़ी बोली हिन्दी के निर्माण एवं विकास में योगदान देने वाले महानुभावों में पं० कामताप्रसाद गुरु (जन्म सन् १८७५-निवास काशी) का भी महत्वपूर्ण स्थान है । आपकी पहुंच गद्य की विविध विधाओं यथा-- निबन्ध, नाटक एवं उपन्यास से लेकर काव्य के क्षेत्र तक थी, किन्तु हिन्दी जगत् को आपने जो सर्वोपरि उपहार भेंट किया है, वह है 'हिन्दी व्याकरण' । द्विवेदी-युग में सर्वांगपूर्ण व्याकरण का सर्वथा अभाव था, इस अभाव की पूर्ति आपने अपनी उक्त रचना द्वारा की । यहां तक कि शिक्षण संस्थाओं के विभिन्न वर्गों के हेतु आपने इसके कई संक्षिप्त संस्करण भी निकाले । उक्त ग्रन्थ के प्रकाशित होने के साथ ही 'सरस्वती' में व्याकरण सम्बन्धी आपके कई लेख प्रकाशित हुए थे । निस्सन्देह गुरु ने ऐसे समय में जब हिन्दी भाषा के स्वरूप - निर्धारण में अनेकानेक प्रयोग हो रहे थे, उसके व्याकरणिक पक्ष पर प्रकाश डालकर अपनी उक्त कृति द्वारा भाषा-प्रयोग का नियम निर्देशित करके अपने 'गुरुत्व' को प्रमाणित कर दिया। साहित्य एवं साहित्यिक भाषा की दृष्टि से आपकी अन्य रचनाओं, यथा-- सत्यप्रेम, पार्वती, यशोदा (उपन्यास) तथा सुदर्शन (नाटक) का महत्व भी उस युग में कम नहीं था । जहां तक भाषा का प्रश्न है, व्याकरणकार होने के कारण आपने परिनिष्ठित खड़ीबोली का प्रयोग किया है ।

बाबू श्यामसुन्दरदास (जन्म सन् १८७५-मृत्यु सन् १९४५-निवास-काशी) जिस प्रकार हिन्दी के प्रचारकों एवं निर्माताओं में अपना विलक्षण अस्तित्व रखते थे, उसी प्रकार साहित्यकारों में भी एक अनमोल रत्न की भांति थे । प्रचारक, सुधारक एवं निर्माता के रूप में आपने हिन्दी की जो सेवाएं अर्पित कीं, उनका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है । इनके अतिरिक्त साहित्य स्रष्टा के आपने हिन्दी के उन्नयन में जो योग दिया है, वह चिरस्मरणीय है । साहित्य-क्षेत्र में आपके मौलिक

अनुदित, सम्पादित, संकलित एवं विद्यालय की पाठ्य पुस्तकों के रूप में प्रकाशित ग्रन्थों तथा निबन्धों की संख्या लगभग सौ से ऊपर है। इन कृतियों द्वारा आपने हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्पूर्ण अभावों की पूर्ति की और आपके साहित्यिक जीवन का यही लक्ष्य भी था। खड़ीबोली हिन्दी के विकास में हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज सम्बन्धी विवरणों के ग्रन्थ, भाषा-वैज्ञानिक ग्रन्थ, हिन्दी साहित्य पर आधारित ग्रन्थ, हिन्दी शब्दकोश तथा भाषा एवं साहित्य पर लिखे गए अन्य फुटकल निबन्धों के संग्रह विशेष महत्त्व रखते हैं। आपकी उक्त प्रकार की रचनाओं से व्यवहारिक एवं सैद्धान्तिक--दोनों रूपों में हिन्दी की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हुआ है। स्वयं भाषा में आपने सदा ही विषय के औचित्य का ध्यान रखा है। यद्यपि आप हिन्दी में संस्कृत के सरल शब्दों के साथ ही यथास्थल अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोग के भी पक्षपाती थे, किन्तु प्रमुखता आप शुद्ध हिन्दी को ही देते थे। हिन्दी के प्रति की गई सेवाओं के उपलक्ष्य में आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य वाचस्पति' तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने 'डी०लिट्०' की उपाधि से विभूषित किया।

पं० पद्म सिंह शर्मा (जन्म सन् १८७६- मृत्यु सन् १९३२ निवास बिजनौर) भी द्विवेदी-युग के प्रख्यात निबन्धकारों, आलोचकों की कोटि में आते हैं। आलोचक के रूप में आपने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। आप अपने युग के कई पत्रों के संपादक भी रह चुके थे। हिन्दी के निर्माण में योग देने के अतिरिक्त आपने 'बिहारी सतसई' की टीका एवं फुटकल रचनाओं द्वारा हिन्दी भाषा के विस्तार में योग दिया। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पर दिए गए आपके भाषणों का संग्रह बहुत रोचक ग्रन्थ है। आपकी भाषा में प्राय: अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

अपने उपन्यासों में शिष्ट, संयत एवं सरल भाषा का प्रयोग करके हिन्दी-क्षेत्र को शस्य-श्यामला करने वालों में उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द (जन्म सन् १८८०-मृत्यु सन् १९३६-निवास - लमही गांव (काशी) का स्थान अनूठा है। उनके पूर्व बाबू देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी प्रभृति लेखकों ने तिलस्मी-ऐयारी एवं जासूसी उपन्यासों को प्रस्तुत कर जनसाधारण से लेकर शिक्षित तक में लोकप्रचलित

भाषा के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी थी, परन्तु ऐसी भाषा को पूर्णत: साहित्यिक भाषा की संज्ञा नहीं दी जा रही थी, किन्तु प्रेमचन्द ने अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण की भाव-भूमि पर रचित समन्वयवादी उपन्यासों के माध्यम से समन्वयवादी भाषा का जो आदर्श रखा वह सब को मान्य हुआ । प्रेमचन्द की कृतियों की भाषा ऐसी है सरल एवं व्यवहारिक होते हुए भी शुद्ध तथा व्याकरण निष्ट है । आवश्यकतानुसार अरबी-फारसी तथा ग्रामीण शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया गया है । यों तो आपने उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त निबन्ध,नाटक तथा जीवनी आदि पर भी लेखनी चलाई है, किन्तु आपकी प्रसिद्धि कथाकार के रूप में ही है ।

प्रेमचन्द जी ने अपना लेखन-कार्य लगभग १६०१ से आरम्भ किया किन्तु आरम्भ में आप उर्दू में लिखते रहे बाद में हिन्दी के क्षेत्र में पदार्पण किया। कुल मिलाकर आपने लगभग तेरह उपन्यास तथा तीन सौ से ऊपर कहानियां लिखीं । उपन्यासों में `सेवा सदन`, `निर्मला` ,`गोदान` और `गबन` बहुत ही प्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार किन्तु शेष उपन्यास भी विषयवस्तु एवं भाषा की दृष्टि से बेजोड़ हैं । इसी प्रकार कहानियों में `ईदगाह`,`जलूस`,`दो बैलों की जोड़ी`,`शतरंज के खिलाड़ी` `ठाकुर का कुआं` ,`पंच परमेश्वर`,`सवा सेर गेहूं`,`कफन` आदि सम सामयिक परिस्थितियों पर आधारित राजनीतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कहानियां द्विवेदी-युग से लेकर आज के नवपीढ़ी तक के मानस को अभिसिंचित करती रहती हैं । बालवर्ग में हिन्दी के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने वाली रचनाएं भी आपने कीं ।

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त मुंशी जी ने विदेशी लेखक जार्ज इलियट, टाल्सटाय, अनातोले फ्रांस, गाल्सवर्दी तथा उर्दू लेखक रतननाथ सरशार की कृतियों का अनुवाद भी हिन्दी में किया । लेखन के अतिरिक्त प्रेमचन्द जी एक कुशल पत्रकार भी थे आपने `मर्यादा`,`माधुरी`,`जागरण` तथा `हंस` का सम्पादन भी किया था । जागरण तथा हंस क में आपके आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए थे । अपने इन समस्त कृत्यों से मुंशी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी साहित्य एवं भाषा दोनों के विकास में अपूर्व योगदान दिया ।

सरदार पूर्णसिंह (जन्म सन् १८८१-मृत्यु सन् १९३१- निवास एटबाबाद(पंजाब) ने निज की मातृभाषा पंजाबी होते हुए भी साहित्य रचना हिन्दी में की, यद्यपि आपने हिन्दी साहित्य को अपने कुछ ही निबन्धों, यथा आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, सच्ची वीरता आदि द्वारा योग दिया किन्तु इन्हीं रचनाओं के कारण आपकी ख्याति निबन्धकार के रूप में हो गई। आपके निबन्ध `सरस्वती` में प्रकाशित हुए हैं। अध्यापक होने के नाते आपका दृष्टिकोण उदार रहा है, परिणामस्वरूप भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।

इसी प्रकार पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (जन्म सन् १८८३-मृत्यु सन् १९२२, निवास--जयपुर,अजमेर,काशी) अपनी केवल तीन कहानियों--`सुखमय-जीवन`, `उसने कहा था` तथा `बुद्धू का कांटा` के माध्यम से ही हिन्दी जगत में प्रसिद्ध हुए। `उसने कहा था` आपकी सर्वत: प्रचलित कहानी है। कहानियों के अतिरिक्त आपके निबन्ध `कछुआ धरम` तथा `मारेसि मोहिं कुठांव` भी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। आपने कुछ काव्यों की समीक्षा भी प्रस्तुत की है। `पुरानी हिन्दी` में हिन्दी के विकास का शास्त्रीय विवेचन किया है। कहानियों की भाषा कृत्रिमता से रहित स्वाभाविक एवं व्यवहारिक है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (जन्म सन् १८८३, मृत्यु सन् १९४०, निवास--अगोना(बस्ती),मीराजापुर, प्रयाग,काशी) तो द्विवेदी युगीन आलोचक एवं निबन्धकार के रूप में अपना विलक्षण व्यक्तित्व रखते ही थे। आपने गम्भीर चिन्तनपूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। `चिन्तामणि` ऐसे ही निबन्धों का संग्रह है। मनोविज्ञान,इतिहास, संस्कृति, शिक्षा,व्यवहार आदि से सम्बन्धित लेखों का दूसरी भाषाओं से अनुवाद भी किया है। बंगला उपन्यासों का अनुवाद आपने क्रमश: `कल्पना का आनन्द (अंग्रेजी से) तथा शशांक(बंगला से) नाम से किया है। तुलसी और सूर पर आपकी समीक्षाएं उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। हिन्दी शब्द सागर का सम्पादन आपकी भाषा तात्त्विक विवेचन की अपूर्व कृति है। इसके अतिरिक्त आपने हिन्दी साहित्य का समीक्षापूर्ण इतिहास (हिन्दी साहित्य का इतिहास` नाम से) प्रस्तुत कर इतिहास के क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। वास्तव में समय की आवश्यकतानुसार आपने अपनी आलोचनात्मक कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य एवं भाषा की जो उन्नति की वह महत्वपूर्ण है।

शुक्ल जी की भांति बाबू गुलाबराय(जन्म सन् १८८८--मृत्यु सन्--१९६३-- निवास--आगरा) ने भी आलोचक तथा निबन्धकार के रूप में साहित्यकार के दायित्व का निर्वाह किया । यद्यपि साहित्य की अन्य विधाएं भी आपसे अछूती नहीं थीं, किन्तु आलोचना में आपकी गहरी पैठ थी । आपकी आलोचनात्मक प्रतिभा द्विवेदी जी के पश्चात् ही मुखर हुई किन्तु इसकी नींव द्विवेदी युग में पड़ चुकी थी । उस समय तक आप कुछ फुटकल किन्तु ठोस चिन्तन के धरातल पर रचनाएं कर पाए थे । उसके पश्चात् की जो रचनाएं प्रकाश में आईं उनमें `हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास` तथा `सिद्धान्त और अध्ययन` विशेष प्रसिद्ध हैं ।

निज साहित्य द्वारा हिन्दी भाषा के विकासकर्ताओं में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी(जन्म सन् १८९४--मृत्यु सन् १९७१--निवास--खैरागढ़ छत्तीसगढ़(मध्यप्रदेश) का स्थान भी प्रमुख है । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् (१९२०-१९२७) `सरस्वती` का सम्पादन भार ग्रहण करने तथा भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी द्वारा ही निर्देशित होने के कारण आपकी भाषा पर द्विवेदी जी का पूर्ण प्रभाव है । बी०ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आपने साहित्य जगत् में प्रवेश किया । आपकी अधिकांश रचनाएं `सरस्वती` में ही छपती थीं । तत्कालीन अनेक साहित्यिकों की भांति यद्यपि आपकी प्रतिभा भी बहुमुखी थी किन्तु आलोचक तथा निबन्धकार के रूप में अधिक प्रसिद्धि मिली । `सरस्वती`में प्रकाशित निबन्ध रचनाओं के अतिरिक्त उस युग में आपकी दो आलोचनात्मक कृतियां हिन्दी साहित्य विमर्श(१९२३ई०) तथा विश्व साहित्य (१९२४ई०) प्रकाशित हुईं । उसके कुछ वर्ष पश्चात् अर्थात् द्विवेदी-युग(जो आलोचना के लिए निर्धारित किया गया है) के पश्चात् आपकी अन्य कृतियां,यथा-- हिन्दी कहानी साहित्य, हिन्दी उपन्यास साहित्य आदि प्रकाश में आईं ।

इनके अतिरिक्त जिन अन्य गद्यकारों ने अपनी रचनाओं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हिन्दी के विकास में योग दिया, वे हैं-- पं० किशोरीलाल गोस्वामी(उपन्यासकार), पं० माधव प्रसाद मिश्र(आलोचक,निबन्धकार)बाबू ब्रजनन्दनसहाय(उपन्यासकार), पं०अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी (वैयाकरण),सन्त राम बी०ए०(निबन्धकार), बाबू रामचन्द्र वर्मा (निबन्धकार,कोशकार),बाबू ब्रजरत्नदास (सम्पादक,निबन्धकार, हिन्दी साहित्य के इतिहासकार),वृन्दावनलाल वर्मा(उपन्यासकार),

विश्वम्भरनाथ शर्मा `कौशिक` (कथाकार), बदरीनाथ भट्ट (नाटककार), आचार्य चतुरसेन-शास्त्री (उपन्यासकार), राधिकारमण प्रसाद सिंह (कथाकार)--`इन्दु` में प्रकाशित `कानों में कंगना` (प्रसिद्ध कहानी), राहुल सांकृत्यायन (निबन्धकार, कथाकार), सुदर्शन (कथाकार), सेठ गोविन्ददास (नाटककार), चण्डीप्रसाद हृदयेश (कथाकार), गोविन्द-वल्लभ पंत (नाटककार), भगवतीप्रसाद वाजपेयी (कथाकार) आदि[१]।

ख. पद्यकार के रूप में--

गद्यकारों की भांति ही तत्कालीन पद्यकारों ने भी युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्राय: गद्य रूप में कुछ न कुछ लिखा अवश्य, उनकी काव्य-प्रतिभा एवं कवित्व की प्रभविष्णुता ने उन्हें पद्यकार के रूप में ही प्रतिष्ठित किया । जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है उस युग में काव्य-रचना की ओर उत्प्रेरित करने में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी अधिक श्रेय है, अत: साहित्यिक प्रतिभाओं की स्वभावगत रुचि तथा द्विवेदी जी की प्रेरणा के सम्मिश्रण से आलोच्य युग में खड़ीबोली पद्य के रचयिताओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई । उस काल में जिन रचनाकारों की पद्यात्मक कृतियां तत्कालीन हिन्दी के विकास में कारणीभूत हुईं वे इस प्रकार हैं --

पं० नाथूराम शर्मा (जन्मसन्--१८५६-- मृत्यु सन्--१९३२ -- निवास कानपुर एवं श्रीधर पाठक (जन्म सन् १८५६ मृत्यु सन् १९२८-- निवास आगरा) खड़ीबोली में काव्य-रचना के पूर्ण समर्थक थे । इन्होंने इस आन्दोलन में द्विवेदी जी का साथ सक्रिय रूप से दिया । आरम्भ में ये दोनों कवि ब्रजभाषा में ही कविताएं किया करते थे, किन्तु आगे चलकर खड़ीबोली को ही काव्य का माध्यम बनाया । इनकी मुक्तक कविताओं का प्रचार `सरस्वती` के द्वारा अधिक हुआ । शर्मा जी की कविताओं का प्रचार `सरस्वती` के द्वारा अधिक हुआ । शर्मा जी की कविताओं का एक संग्रह `शंकर सर्वस्व` प्रकाशित है । श्रीधर पाठक ने अपनी मौलिक रचनाओं से तो कविता का मार्ग प्रशस्त किया ही

१उक्त गद्यकारों का विवरण-क्रम भी जन्म की वरीयता के अनुसार रखा गया है ।

साथ ही अंग्रेजी, संस्कृत और ब्रजभाषा की कविताओं का भी खड़ीबोली में पद्यानुवाद करके हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाया । युग की आवश्यकतानुसार उक्त दोनों कवियों द्वारा रचित स्वदेश प्रेम, समाज सुधार, शिक्षा सुधार एवं भाषोन्नति सम्बन्धी कविताओं का हिन्दी पाठकों के मध्य खूब प्रचार हुआ । कविता में सुधारवादी प्रवृत्ति वर्तमान होने के कारण इनकी भाषा प्राय: चलती हुई तथा सरद पदावलियों से युक्त है ।

रायदेवी शर्मा प्रसाद 'पूर्ण' (जन्म सन् १८६८ मृत्यु सन् १६१५-- निवास मध्यप्रदेश) पहले ब्रजभाषा में ही कविताएं लिखा करते थे । उनके मतानुसार खड़ी बोली में सुन्दर काव्य रचना असम्भव थी, किन्तु बाद में द्विवेदी जी के आग्रह से इन्होंने खड़ीबोली में कविता का सृजन करने का अभ्यास किया । इनकी कविताएं 'सरस्वती' के अंकों में प्रकाशित हुई हैं । अन्य खड़ीबोली की काव्य-कृतियां-प्रदर्शनी स्वागत, वसन्त वियोग उनकी खड़ीबोली कवित्व कला की प्रमाण हैं ।

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (जन्म सन् १८६५-- मृत्यु सन् १६४१-- निवास-- निजामाबाद, आजमगढ़) खड़ीबोली को काव्य भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं । अपने पद्य ही की भांति गद्य साहित्य में भी भारी योगदान दिया, किन्तु आपकी प्रतिभा का विकास कवि रूप में ही हुआ । यद्यपि आपने आरम्भ में ब्रजभाषा में ही लिखा[१] किन्तु कालान्तर में खड़ीबोली में मुक्तक काव्य एवं प्रियप्रवास तथा वैदेही वनवास जैसे महाकाव्यों की रचना करके आप खड़ी बोली हिन्दी के प्रथम कवि विशेषण से अभिहित हुए ।

भाषा-प्रयोग के क्षेत्र में आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ओर तो आपने सरलता तथा बोलचाल की भाषा का पोषण करते हुए 'चोखे चौपदे' जैसी रचनाएं कीं तो दूसरी ओर विषय-वस्तु की गहनता के अनुकूल अत्यधिक संस्कृत गर्भित भाषा में 'प्रियप्रवास' की रचना की । वास्तव में प्रियप्रवास

---

१ वस्तुस्थिति यह है कि द्विवेदी युगीन लगभग सम्पूर्ण कवियों ने कविता लेखन का कार्य आरम्भ में ब्रज में ही किया, तत्पश्चात् खड़ीबोली अपनाई ।

की भाषा में कवि के पाण्डित्य की पूरी छाप है । इस रचना की भाषा संस्कृत-निष्ठ होती हुई भी कोमल पदावलियों से युक्त है,अत: भाषा की क्लिष्टता से रचना की सरसता में किसी प्रकार का अभाव नहीं आने पाया और यही कारण है कि रचना के भावों के साथ-साथ भाषा भी लोगों के द्वारा आदर्श रूप में स्वीकार्य हुई ।

खड़ीबोली -कविता के क्षेत्र में पं० रामचरित उपाध्याय(जन्म सन्१८७२- मृत्यु सन् १९३८-- निवास गाजीपुर) का कृतित्व विशेष महत्वपूर्ण है । आपका ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली दोनों पर समान अधिकार था,किन्तु द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से आपने खड़ीबोली में काव्य-रचना कर हिन्दी साहित्य को `रामचरित-चिन्तामणि` जैसा रत्न प्रदान किया । उक्त रचना विशुद्ध खड़ीबोली में प्रबन्धकाव्य है । आपकी अधिकांश रचनाएं `सरस्वती`पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं । इन रचनाओं की भाषा सरल एवं व्यवहारोपयोगी है । आपकी रचनाओं में `रामचरित चिन्तामणि` की प्रसिद्धि अधिक है ।

गयाप्रसाद शुक्ल `सनेही` (जन्म सन् १८८३--मृत्यु सन् १९७२--निवास उन्नाव) तो काव्य के स्नेही ही थे । आपकी कविताएं पहिले `रसिक मित्र` `प्रताप` में आदि पत्रों में प्रकाशित हुई तत्पश्चात् द्विवेदी जी का प्रोत्साहन प्राप्त कर `सरस्वती` में प्रकाशित होने लगीं । बाद में इन कृतियों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करवाया गया । विदेशी सत्ता के विरुद्ध तथा देशभक्ति से पूर्ण होने के कारण आपकी रचना पर अंग्रेजों का दबाव पड़ता था, अत: ऐसी रचनाएं आप `त्रिशूल` नाम से प्रकाशित करवाने लगे । आपको हिन्दी के साथ ही उर्दू-फारसी का भी अच्छा ज्ञान था, अत: त्रिशूल नाम से प्रकाशित होने वाली रचनाओं की भाषा में उर्दू-फारसी के शब्द भी पाये जाते हैं। राष्ट्रप्रेम एवं सामाजिकता से सम्बन्धित होने के कारण आपकी कविताएं हिन्दी जगत में अधिक प्रसिद्ध हुई । आपने खड़ीबोली और ब्रजभाषा में काव्य-रचना के विवाद में खड़ीबोली का पक्ष लिया और ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों में रचनाएं करके खड़ीबोली को सशक्त एवं प्रभावशाली प्रमाणित कर दिया ।

मैथिलीशरण गुप्त(जन्म सन् १८८६--मृत्यु सन् १९६४ निवास--चिरगांव ,झांसी) तो पूर्णत: खड़ीबोली के ही कवि थे । रचना-प्रक्रिया सं० के

आरम्भिक काल से ही इन्हें द्विवेदी जी से प्रेरणा प्राप्त होने लगी थी । वस्तुत: द्विवेदी जी ही इनके काव्य गुरु,साहित्य-प्रेरक एवं निर्देशक थे । ध्वनि-प्रयोग,शब्द चयन एवं छन्दरचना के लिए इन्हें आचार्य द्विवेदी जी के निर्देशन में बहुत दिनों तक साधना करनी पड़ी । इसी साधना ने आपको महाकाव्यकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया । आपकी रचनाएं `सरस्वती` में बराबर प्रकाशित होती रहीं । ये रचनाएं `सरस्वती` के पाठकों के लिए भाव एवं भाषा दोनों ही क्षेत्रों में प्रेरणादायक सिद्ध हुईं । `सरस्वती` में प्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप में प्रकाशित आपकी कृतियां,यथा-- `रंग में भंग`,`जयद्रथ वध`,`भारत -भारती`, `साकेत`, `यशोधरा` ,`द्वापर` आदि प्रसिद्ध हैं । इनमें से द्विवेदी-युग में आपकी सबसे प्रसिद्ध कृति `भारत-भारती` की जो बहुत दिनों तक भारत के नवयुवकों की कंठ-हार बनी रही । अपनी उक्त कृतियों के माध्यम से गुप्त जी ने खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण और उसके विकास में अन्यतम योगदान दिया । शिक्षा के माध्यम के रूप में आपकी कविताएं और भी अधिक प्रसिद्ध हुईं ।

राष्ट्रीयता,देशभक्ति एवं सामाजिकता की भित्ति पर कविता निर्मित करने वाले कवियों में पं० माखनलाल चतुर्वेदी (जन्म सन् १८८८--मृत्यु सन् १९६२ निवास खण्डवा,होशंगाबाद), रामनरेश त्रिपाठी (जन्मसन् १८८९--मृत्यु सन्१९६२, निवास--कोइरीपुर-जौनपुर) , सियारामशरण (जन्म सन् १८९५, मृ. सन् १९६३ निवास--चिरगांव झांसी) एवं सुभद्राकुमारी चौहान (जन्म सन् १९०४--मृत्यु सन् १९४८ निवास--प्रयाग जबलपुर) का भी विशिष्ट स्थान है । बाल,युवा,वृद्ध सब के मानस के तार को झंकृत करने वाली कविताएं हिन्दी का व्यापक रूप से प्रचार करने में सिद्धहस्त हुईं । इनकी कविताओं की व्यापकता का कारण उनमें निहित भावों के साथ -साथ भाषा की सरलता,शुद्धता एवं बोधगम्यता रही है । यही कारण है कि चतुर्वेदी जी की `चाह नहीं ` मैं सुरबाला के गहनों गूंथा जाऊं .... ` , रामनरेश त्रिपाठी की `मैं ढूंढ़-ता तुझे था अब कुंज और बन में ....` अथवा `हे प्रभो आनन्द दाता..... ` सुभद्राकुमारी चौहान की `वीरों का कैसा हो वसन्त` अथवा खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी` आदि पंक्तियों से सम्बन्धित कविताएं आज भी जन-मानस पर छाई हुई हैं । सियारामशरण गुप्त की रचना `मौर्य विजय` भी भारत के अतीत गौरव की याद दिलाने वाली एक अनूठी कृति है । भारतीय मानस में नव चेतना की लहर दौड़ाने वाली इन कवियों की रचनाएं सरल एवं बोधगम्य भाषा में

लिखी गई हैं ।

यद्यपि चतुर्वेदी जी, रामनरेश त्रिपाठी तथा सियारामशरण गुप्त ने हिन्दी की सेवा गद्य की विविध विधाओं, यथा--उपन्यास,नाटक,कहानी एवं निबन्ध-रचना के द्वारा भी की है, किन्तु प्रतिष्ठा उन्हें काव्यकार के रूप में ही प्राप्त हुई है ।

इधर महाप्राण `निराला` (जन्म सन् १८९६--मृत्यु सन् १९६१ निवास मेदिनीपुर,कलकत्ता,बंगाल,प्रयाग) ने छायावादी आधार-शिला पर स्थापित किन्तु (कोमलता से रहित) गुरु पार्थ,यथार्थता तथा ठोस आध्यात्मिकता की भित्ति पर निर्मित कविताओं द्वारा नवचेतना का संचार किया । बंगाल में जन्म तथा निवास के कारण आपकी मातृभाषा लगभग बंगला ही हो गई थी किन्तु `मर्यादा` और `सरस्वती` पत्रिकाओं से आपने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया । इस कार्य में आपको आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से भी प्रोत्साहन मिला । हिन्दी का ज्ञान प्राप्त होने पर कर लेने पर कवि निराला `समन्वय` तथा `मतवाला` (कलकत्ता) पत्रों के सम्पादक हुए । इन्हीं पत्रों में आपकी तत्कालीन रचनाएं प्रकाशित हुई थीं । आपकी कविता संग्रह (अनामिका` (प्रथम तथा द्वितीय संस्करण--क्रमश: १९१६ से १९२३ई० तक तथा १९२३ई० से १९३०ई० तक की रचनाओं का संग्रह) तथा परिमल` (१९३०ई०) की कविताएं द्विवेदी-युग में ही लिखी गई थीं । उसके पश्चात् की अनेक रचनाओं में आपकी काव्य प्रतिभा अधिक मुखरित होती दिखाई देती है । उक्त संग्रहों की रचनाओं में `जुही की कली` (प्रथम कविता), `खण्डहर के प्रति` `राम की शक्ति पूजा` , `जागो फिर एक बार`, `छत्रपति शिवाजी`,`भिक्षुक`, `विधवा` आदि कविताएं कवि के स्वतन्त्र प्रवृत्ति तथा नवीन विचारधारा का द्योतन करती हुई मानव-मानस एवं हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने वाली हैं । सरस्वती की आराधना में रत तपस्वी की लेखनी से निःसृत कविता --`वर दे, वीणा - वादिनि , वर दे ।..... प्राय: सांस्कृतिक कार्यक्रमों के शुभारम्भ में वन्दना के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं ।

कवि `निराला` की काव्य-शैली की विशिष्टता उसकी छन्दमुक्तता है । इसके साथ ही आपने छन्दबद्ध कविताएं भी लिखी हैं । सामान्य घटनाओं के वर्णन में सरल तथा बौद्धिकतापूर्ण कविताओं में दुरूह भाषा का प्रयोग है ।

आपने यद्यपि कथा, निबन्ध, रेखाचित्र और समालोचना की भी रचना की है, किन्तु द्विवेदी-युग तक केवल कवि के रूप में ही प्रतिष्ठित हो सके थे ।

आधुनिक कवि पंत (जन्म सन १६००--निवास कौसानी, अल्मोड़ा प्रयाग) लेखन-कार्य का सूत्रपात जब वे ७ वर्ष के थे तभी हो गया था । १६०७ से १६१८ ई० तक की कविताओं के कवि ने आरम्भिक अवस्था के रूप में माना है । १८वर्ष की आयु के पश्चात् लिखी गई कविताओं में प्रौढ़ता आने लगी । यहां तक कि सन् १६१६ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित कृतियों--'छाया' और 'उच्छ्वास' के कारण आपको युगप्रवर्तक का श्रेय प्राप्त हो गया था । कवि की स्वयं की उक्तियों के अनुसार मैथिलीशरण गुप्त एवं अयोध्या सिंह उपाध्याय की रचनाओं से उन्होंने छन्द-योजना की सीख ली । किन्तु इनकी विचारधारा सबसे नवीन थी । आप काव्य-जगत में पूर्ण छायावादी विचारधारा को लेकर उतरे और वह विचारधारा आगे चलकर मानववाद पर आधारित दृष्टिकोण में परिणत हुई । आपकी कृतियां तो अनेक हैं किन्तु द्विवेदी-युग तक उच्छ्वास से लेकर 'गुंजन' तक की रचनाएं प्रकाश में आ चुकी थीं और उस समय ये ही रचनाएं हिन्दी पाठकों के लिए प्रेरणा की स्रोत बनीं ।

जहां तक भाषा की बात है कवि पंत की कृतियां द्विवेदी-युगीन भाषा की उर्वरा भूमि में ही अंकुरित हुईं, उसी में पल्लवित हुईं तथा उसी में फलवती हुई हैं । हां उस निर्मित भाषा में कवि का नवीन योगदान यह रहा है कि इन्होंने काव्य के लिए खड़ीबोली की रूक्षता एवं कर्कशता को दूर कर, उसमें कोमल कान्त पदावली का समावेश कर उसे कमनीयता तथा कोमलता का बाना पहनाया ।

तत्कालीन अन्य कवियों में लोचन प्रसाद पाण्डेय, राधेश्याम[1] कथावाचक, ठाकुर गोपाल शरण सिंह, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', मुकुटधर पाण्डेय,

---

१ लोक नाट्य शैली के आधार पर खड़ीबोली रचित इनकी कृति 'राधेश्याम रामायण' का महत्व साहित्य की दृष्टि से भले ही न्यून हो किन्तु जनसमाज में खड़ीबोली के विस्तार की दृष्टि से इसकी उपादेयता अधिक रही है ।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'[१] आदि की समाजोपयोगी, राष्ट्रवादी एवं सुधारवादी कविताओं से भी खड़ीबोली के विकास में पर्याप्त सहयोग मिला ।

ग. गद्यकार एवं पद्यकार के रूप में --

प्राय: ऐसा देखा गया है कि बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी विरला ही साहित्यकार ऐसा होता है, जो साहित्य के द्विविध शैलियों यथा--गद्य और पद्य में समानरूपसे रम पाता हो । द्विवेदी युगीन साहित्यकारों में बाबू जयशंकर प्रसाद (जन्म सन १८८९ मृत्यु सन १९३७--निवास काशी) उसी विरल की कोटि में आते हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के दोनों क्षेत्रों में समान धुरी पर स्थित होकर अपनी कृतियों से साहित्य एवं भाषा को सम्पन्नता प्रदान की ।

कविता के क्षेत्र में प्रसाद जी ने परम्परा से हटकर जिस नूतन धारा को प्रवाहित किया वह थी, छायावादी विचारधारा । उन्होंने काव्य में छायावाद का प्रवर्तन कर अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया । यही परिवर्तन प्रसाद को तत्कालीन साहित्यकारों की भीड़ से अलग कर देता है । इसी विशिष्टता के परिणामस्वरूप आपकी सम्पूर्ण काव्य कृतियां --[२] 'झरना', 'आंसू', 'लहर' तथा 'कामायनी' तत्कालीन काव्यप्रेमियों के द्वारा आदृत एवं गृहीत हुईं ।

----

१ बालकृष्ण शर्मा की ख्याति द्विवेदी युग में उनकी कुछ फुटकल रचनाओं एवं 'उर्मिला' रचना के कारण हुई। उर्मिला की रचना की प्रेरणा इन्हें द्विवेदी जी से मिली । ये पं० माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त तथा गणेशशंकर विद्यार्थी से अधिक प्रभावित थे । विद्यार्थी जी के सम्पर्क के परिणामस्वरूप आपने वर्षों तक 'प्रताप' का सम्पादन किया ।

२ कामायनी का प्रकाशन यद्यपि द्विवेदी युग के लिए निर्धारित काल क्रम के पश्चात् अर्थात् सन १९३५ ई० में हुआ किन्तु उस समय तक भाषा के स्वरूप में अकस्मात् कोई परिवर्तन तो हुआ नहीं था । इतना अवश्य है कि कामायनी की भाषा कवि की भाषागत प्रौढ़ता एवं सुष्ठता का वहन करती है ।

गद्य कृतियों में क्या नाटक, क्या कथा साहित्य-- दोनों में ही कलाकार की प्रतिमा समारूप से मुखर हुई है । आपकी नाट्य कृतियां लगभग बारह हैं । उनमें से `स्कन्दगुप्त`, `जनमेजय का नाग यज्ञ`, `एक घूंट`, `चन्द्रगुप्त` तथा `ध्रुवस्वामिनी` अधिक विख्यातइ हुईं । उपन्यासों में `कंकाल` एवं `तितली` तथा अनेक कहानियों में `आकाशदीप` तथा `पुरस्कार` अतुलनीय रचनाएं हैं ।

जहां तक भाषा की बात है, प्रसाद जी की काव्य प्रवृत्तियां अथवा गद्य शैली द्विवेदी जी से भिन्न भले ही थी किन्तु भाषा में प्राय: एकरसता है । कविता की भाषा संस्कृत पदावलियों से पूर्ण होती हुई भी ध्वन्यात्मक कठोरता से रहित, माधुर्य से पूर्ण है । यहां तक कि आपके गद्य की भाषा में भी प्राय: काव्य की सी कमनीयता पाई जाती है ।

कुछ अंशों में प्रसाद जी की भांति ही प्रतिभावाले साहित्यकारों में बाबू रायकृष्णदास(जन्म सन १८९२, निवास काशी) तथा श्री वियोगीहरि (जन्म-१८९६, निवास--छतरपुर राज(मध्यप्रदेश) के कृतित्व भी उल्लेखनीय हैं । इन दोनों लेखकों कवियों में पद्य एवं गद्य लेखन में समान रुचि थी । रायकृष्णदास एक ओर तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कृतित्व से प्रोत्साहित थे, दूसरी ओर द्विवेदी जी, मैथिलीशरण गुप्त एवं प्रसाद के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का प्रभाव भी आप पर पर्याप्त रूप से पड़ा । फलस्वरूप आपने साहित्य -जगत् को अपनी भावप्रधान कविताओं और कहानियों की पुष्पांजलि अर्पित की । रचनाओं की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों पक्ष आपके अग्रज साहित्यकारों से प्रभावित हैं । द्विवेदी युग में रचित आपकी खड़ीबोली की कृतियां हैं--भावुक(काव्य) साधना, छायापथ, प्रवाल(गद्यकाव्य का संकलन), अनाख्या, सुधांशु, आंखों की थाह(कहानी संग्रह) । आपकी रुचि पूर्णत: कलात्मक रही है जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में आप द्वारा स्थापित `कला भवन`(१९२०ई० में स्थापित) आज भी भारत के गौरव को बढ़ा रहा है ।

महात्मा गांधी से प्रभावित होने के कारण श्री वियोगीहरि जी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक तथा सुधारवादी रहा है । अत: आपके साहित्य में भी उक्त प्रवृत्तियां वर्तमान हैं । अपने उद्गारों को व्यक्त करने तथा उसे जन-समुदाय तक पहुंचाने के लिए आपने पद्य तथा गद्य दोनों का ही आश्रय लिया । धर्म, दर्शन, भक्ति एवं

सामाजिक सुधार की भावना से अनुप्राणित आपकी रचनाएं खड़ीबोली हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण निधियां हैं । निबन्धों में अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए प्रायः अन्यान्य कवियों की कविताओं के उद्धरण देने में आप पटु हैं-- `दोनों पर प्रेम` आपकी ऐसी कृति का उदाहरण है । इस निबन्ध का प्रचार बहुत हुआ । भाषा चलती हुई तत्सम-तद्भव तथा यत्र-तत्र अरबी-फारसी के शब्दों से युक्त है ।

हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए आपने १६२५ में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जी के साथ प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की ।

उक्त सम्पूर्ण साहित्य-साधकों ने हिन्दी साहित्य को विविध शैलियों एवं विधाओं के जो उपहार दिए,उनका हिन्दी भाषा(खड़ीबोली) के निर्माण और विकास की दृष्टि से व्यापक महत्व है । यद्यपि विषय एवं शैली की विविधता के अनुरूप तत्कालीन हिन्दी अनेक रूपों में पल्लवित एवं पुष्पित होती रही,किन्तु उसके मूल में एकादर्शता, परिनिष्ठता एवं ~~व्यापक~~ व्याकरणिकता निहित थी । इसी एकादर्शता के कारण द्विवेदीयुगीन भाषा को ऐसी पुष्टता प्राप्त हुई कि आज भी उसका अस्तित्व ज्यों का त्यों बना हुआ है ।

उपर्युल्लिखित प्रमुख साधनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी साधन थे जिनके माध्यम से साधकगण अपनी साधना को सफल करने में समर्थ हो सके, ये थे -- मुद्रण कला का दैनन्दिन विकास, पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकादि को इतस्ततः रेल एवं पोस्ट द्वारा भेजने की सुविधा और सर्वोपरिजनता में शिक्षा का प्रचार एवं साहित्य के अध्ययन के प्रति अभिरुचि ।

इस प्रकार हिन्दी जगत के तत्कालीन साधकों ~~व~~ तथा उनकेद्वारा निर्मित साधनों एवं उपलब्धियों द्वारा हिन्दी के स्वरूप में युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। आलोच्य युग में हिन्दी के प्रचार , प्रसार एवं विकास के क्षेत्र में विभिन्न साधनों के अभियान के निष्कर्ष रूप में द्वादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन(लाहौर) में सभापति के पद से पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी द्वारा दिए गए भाषण के कुछ अंश उल्लेखनीय हैं,यथा--

"इसमें सन्देह नहीं कि इधर दस बारह वर्षों से हिन्दी ने आशातीत उन्नति की है, और कर रही है । प्रायः सब प्रान्तों में इसका प्रचार दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है । देश के प्रायः सब विद्वानों ने इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है,

और करते जाते हैं ......'

'सचित्र और अचित्र मासिक पत्र-पत्रिकाओं की भी यथेष्ट संख्या है । पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों की कौन कहे दैनिक पत्र भी आधे दर्जन से ज्यादा निकल रहे हैं । सभा-समितियां और नाटक-मण्डलियां भी बड़े बड़े नगरों में स्थापित हो अपना-अपना काम मजे में कर रही हैं । पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थान-स्थान पर स्थापित हो रहे हैं । काशी ज्ञान मण्डल और प्रयाग की विज्ञान परिषद् विशेष उल्लेख के योग्य हैं । इनसे हिन्दी का बड़ा उपकार हुआ है । हिन्दी विद्यापीठ का भी श्रीगणेश हो गया है । सभी हिन्दी के प्रचार और उन्नति में दत्तचित्त हैं । रजवाड़ों में भी हिन्दी की घुसपैठ होती जाती है । बड़ौदा, ग्वालियर, अलवर, बीकानेर, इन्दौर और रीवां के नरेशों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का च आदर कर दूरदर्शिता दिखाई है ।....'

'महात्मा गांधी की कृपा से कांग्रेस में भी हिन्दी पहुंचकर अपना आसन जमा बैठी है । हिन्दी के लेखकों, लेखिकों और कवियों की संख्या बढ़ रही है ।"

(निबन्धनियम-अभिभाषण--जग० चतुर्वेदी)

वस्तुत: आज हिन्दी के प्रश्न पर कुछ प्रान्तों में भले ही संकीर्णता व्याप्त हो गई है, किन्तु द्विवेदी-युग में देश के प्रत्येक भाग के भाषा-प्रेमी जन हिन्दी के उन्नयन के लिए प्रयत्नशील थे । उत्तरप्रदेश तो उसका गढ़ था ही, इसके अतिरिक्त पंजाब, गुजरात, बंगाल, आसाम, केरल, कर्नाटक, तमिलनाड, आन्ध्र, महाराष्ट्र आदि सब प्रदेशों में हिन्दी की संस्थाएं स्थापित की गई और उनके तत्वावधान में हिन्दी के विकास का क्षेत्र व्यापक हुआ ।

-0-

खण्ड-- दो

युग की सिद्धि

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी-साहित्य-जगत में प्रवेश करने के पूर्व खड़ीबोली की स्थिति, उनके युग में हिन्दी भाषा के क्षेत्र में उत्थित विभिन्न समस्याओं तथा हिन्दी भाषा के विकास, प्रसार एवं निर्माण-सम्बन्धी तत्कालीन कृतित्वों का विवेचन प्रथम खण्ड में किया जा चुका है ।

प्रस्तुत खण्ड का विषय है-- द्विवेदी युगीन साहित्यिक खड़ीबोली के शैलीगत स्वरूप का विश्लेषण इस दृष्टि से करना कि उस काल में खड़ीबोली अपने प्रयोग में किन-किन स्थितियों से गुजर रही थी तथा उन विभिन्न स्थितियों से गुजरने के उपरान्त उसकी अन्तिम परिणति क्या थी अथवा तत्कालीन भाषा के परम्परागत रूपों में कौन-कौन से संशोधन हुए अथवा अनेक प्रयोगों के फलस्वरूप वर्तमान कालिक भाषा की किन-किन शैलियों का सूत्रपात उस युग में हो चुका था, आदि ।

जैसा कि पूर्व के अध्यायों में देख आये हैं, द्विवेदी युग हिन्दी भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में क्रान्ति लाने वाला युग रहा है । भाषा तथा साहित्य जगत में जागृति होने के कारण इन क्षेत्रों में अनेक समस्याओं का भी उत्थान हो गया था, जिनके समाधान के लिए पर्याप्त प्रयास किये गये(दे० प्रथम खण्ड,अध्याय १, २)।

जहां तक भाषा(खड़ीबोली हिन्दी) के स्वरूप का प्रश्न है, पूर्वकालों की अपेक्षा इस युग में उसका अधिक विकास हुआ । जैसे-जैसे भारत के विभिन्न क्षेत्रों(हिन्दी अथवा अहिन्दी क्षेत्रों) में हिन्दी का प्रचार बढ़ा और उसमें रचनाएं प्रस्तुत की जाने लगीं, वैसे- वैसे उसके प्रयोगों में और भी विविधता उत्पन्न होने लगी और यही विविधता उसके विकास में सहयोगिनी सिद्ध हुई । अर्थात् युगपूर्व से वर्तमान प्रयोगगत अनेकादर्शता के कारण तद्युगीन भाषा(खड़ीबोली) के वर्ण-विन्यास,शब्दावली, पदयोजना एवं वाक्यप्रयोग में द्वैधता अधिक उत्पन्न हो गई थी । किन्तु तत्कालीन भाषा-सेवियों एवं सुधारकों द्वारा भाषा में एकादर्श की स्थापना करने के प्रयास ने उसकी द्वैधता को उत्तरोत्तर एकात्मता में परिवर्तित करके कालान्तर में परिनिष्ठित साहित्यिक हिन्दी का स्वरूप स्थापित किया । वस्तुत: साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के विकास में द्विवेदी-युग के योगदान के सन्दर्भ में उक्त प्रयासों का प्रतिफल ही `युग की सिद्धि` है ।

द्विवेदी-युग के आरम्भ में पूर्व संस्कार वाले अथवा नवोदित लेखकों की भाषा अनियमित एवं अपरिमार्जित थी, किन्तु आगे चलकर उन्होंने स्वयं अथवा दूसरों के मार्ग-निर्देशन पर अपनी भाषा में पर्याप्त सुधार किया । फिर भी तत्कालीन कुछ प्रयोग ऐसे थे,जो भाषा-रचना के अनुकूल होते हुए भी भविष्य में ग्राह्य नहीं हुए अथवा जिनमें सुधार-संस्कार करने के उपरान्त भी द्विविधता बनी रही और आज भी इन विषयों से सम्बन्धित मतभेद जारी है ।

उक्त विषयान्तर्गत तत्कालीन भाषा का विश्लेषण अधोलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया जायेगा :--

१. वर्ण-विन्यास
२. शब्द-योजना
३. पद-रचना
४. पदबन्ध
५. वाक्य-पद्धति
६. विरामादि चिह्न
७. अर्थ ।

१

वर्ण-विन्यास

१

वर्ण-विन्यास

द्विवेदी-युगीन साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी की आरम्भिक अवस्था में भाषा के अन्य संगठनों की अपेक्षा वर्ण-विधान में अधिक अनियमितताएं दृष्टिगत होती हैं । इन अनियमितताओं में अधिकांश तो युग-पूर्व की परम्परा की देन है तथा कुछ तत्कालीन लेखकों की भाषा-प्रयोग सम्बन्धी अनभिज्ञता अथवा स्वच्छन्दवादिता की ।

तत्कालीन भाषा की वर्ण-योजना का अवलोकन करते समय भिन्न-भिन्न लेखकों की शैली में तो भिन्नताएं मिलती ही हैं, यहां तक कि एक ही लेखक की एक कृति में यदि वर्तनी दोषपूर्ण है तो दूसरे में सुधार दी गई है(स्वयं आचार्य द्विवेदी की आरम्भिक रचनाओं से बाद की रचनाओं की तुलना करने पर यह अन्तर स्पष्ट प्रकट हो जाता है) । इतना ही नहीं, वरन् एक लेखक की एक ही कृति यदि भिन्न-भिन्न प्रकाशनों से प्रकाशित है, तो उन दोनों प्रकाशनों की नीति के अनुसार भी वर्ण-विन्यास की शैली में अन्तर है ।उदाहरण-स्वरूप जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की रचना `अनुप्रास का अन्वेषण` ली जा सकती है । उक्त रचना की कलकत्ता से प्रकाशित तथा गंगापुस्तक माला से प्रकाशित प्रतियों में परस्पर पंचमाक्षर अनुस्वार, अनुनासिक सम्बन्धी भिन्नताएं वर्तमान हैं । इसी प्रकार प्रेमचन्द के `निर्मला` और `सेवासदन` की सरस्वती प्रेस बनारस तथा हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से प्रकाशित प्रतियों में विभिन्न अनुस्वार, अनुनासिक सम्बन्धी भेद पाया जाता है । प्राय: किसी-किसी रचना के एक ही पृष्ठ पर ध्वनि-प्रयोग का अन्तर वर्तमान है[१] ।

---

१ दे० ब्रजनन्दनसहाय कृत `विस्मृत सम्राट` एवं `लालचीन`। ब्रजनन्दनसहाय की हस्तलिखित प्रतियों में भी अनेक दोष वर्तमान हैं ।

यह सब होते हुए भी उत्तर द्विवेदीयुग तक अधिकांश वर्तनी-दोषों को सुधार कर वर्णविन्यास सम्बन्धी स्थिरता (समरूपता) प्रदान करने का बहुमूल्य प्रयास किया गया है। अत: द्विवेदी-युगीन वर्णविन्यास के अध्ययन में युग की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए सामान्यताओं की ओर जाना अपेक्षित है। इतना ही नहीं, वरन् वर्तनी में नियमितता को अवतारणा कर उसे आलंकारिक ढंग से सजाना भी वर्ण-विन्यास से ही संबंधित है। इस दृष्टिकोण से उक्त विषय का अध्ययन अधोलिखित उपशीर्षकों में अपेक्षितहै --

क. विशिष्टताएं

ख. सामान्यताएं

ग. आलंकारिकता [अनुप्रासिकता]

१. क. विशिष्टताएं

क. १. स्वर-सम्बन्धी

[अ] ह्रस्व स्वर का दीर्घीकरण

भारतेन्दुयुगीन रचनाओं में भाषा- सम्बन्धी अल्पज्ञता अथवा अति सतर्कता तथा कुछ अंशों में मुद्रण सम्बन्धी असावधानी के कारण उक्त प्रकार का दोष दिखाई पड़ता है। यहां तक की स्वयं भारतेन्दु की रचनाएं भी इस दोष से वंचित नहीं हैं, किन्तु द्विवेदी-युगीन मुद्रित रचनाओं में ऐसी अनियमितता नहीं मिलती, यदि कुछ प्रयोग मिलते भी हैं तो वह भी हस्तलिखित रचनाओं में,[1] यथा--

समाधी, लड़कीयां, ग्रन्थी, लीये, दृष्टी, वायू,[2] रीती,[3] प्रतिनिधी, मलयगिरी,[4] लेकीन[5]।

इस प्रकार के दोषों का सुधार द्विवेदी जी मुद्रण के पूर्व ही कर दिया करते थे। उदाहरणार्थ-- उपर्युक्त उदाहरणों को पाण्डुलिपियों में ही काटकर उनके शुद्ध रूप लिख दिए गए हैं।

स्वयं सुधार करने के अतिरिक्त द्विवेदी जी लेखकों को इन भूलों के प्रति सतर्क भी करते रहते थे।

---

१ वर्तनी सम्बन्धी यह दोष उन्हीं लेखकों की भाषा में मिलता है, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, फिर भी हिन्दी में लिखने का प्रयास किया है।

२ 'सर०', फ०१९०६-- पूर्ण सिंह : 'कन्यादान'। ३ सत्यदेव : 'सर०', फ०१९०८।

४ बाबूराव विष्णु पराड़कर : 'सर०', पां०, १९०६। ५ श्री बंगमहिला : 'सर०' पां० १९०४।

(आ) दीर्घ स्वर का ह्रस्वीकरण

ह्रस्व स्वर के दीर्घीकरण की भांति दीर्घ स्वर के ह्रस्वीकरण के रूप भी भारतेन्दु तथा उनके युग की भाषा में प्राय: मिलते हैं, किन्तु द्विवेदीयुग में यह दोष भी नहीं के बराबर है । `सरस्वती` की पाण्डुलिपियों में यदि यत्र-तत्र ऐसी वर्तनी के उदाहरण मिले भी हैं तो वे भी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सुधार दिये गये हैं । ये दोष भी उन्हीं लेखकों की भाषा में है जो हिन्दी भाषी नहीं है, यथा--

खेति, लाठि, कणि, नहि[1] ।

इनके अतिरिक्त बख्शी जी तथा गिरधर शर्मा आदि के हस्तलेखों में भी इतस्तत: ऐसे उदाहरण वर्तमान हैं, यथा-- आशिर्वाद, राष्ट्रिय गान आदि । किन्तु ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर के प्रयोग के सुधारों की भांति उपर्युक्त त्रुटियां भी पाण्डुलिपियों में ही सुधार दी गई हैं ।

स्वरों के हस्वीकरण में सर्वत्र लेखक की अनभिज्ञता ही कारणीभूत नहीं है, वरन् कहीं कहीं कविता में मात्रा अथवा वर्णों के सन्तुलन के उद्देश्य से भी ह्रस्वीकरण की शैली प्रयोग में लाई गई है, यथा--

अम्भोज सारे विन पत्र जीण, भुजंग होते विन वीर्य्य दीन[2]
बता तुही किस लोक को गई[3]
कंप उठा सहसा उर दिग्वधु[4]
तम तुहिन बरस दो कन कन[5]
चिन्ता छुट जाय विपद की[6]

(दे० व्यंजन सम्बन्धी विशेषताओं के अन्तर्गत भी)

(इ) स्वर-वृद्धि

/ए/ > /ऐ/ तथा /ओ/ > /औ/

तत्कालीन भाषा में उच्चारणगत स्वर वृद्धि भी भारतेन्दु-युग की परम्परा की ही देन है । उच्चारण के अनुसार ही लेखन में भी यह संस्कार मिलता है । युग की आरंभिक

---

१ स०पा० १९०४, १९०८, १९२० बंग महिला तथा विदेश में निवासित सत्यदेव तथा लक्ष्मण-सिंह की रचनाओं में प्रयुक्त । २ स०भाग ६ सं०१ पृ०१५(कविता)-- गुप्त । ३ स० होर० अंक द्वि० - र०काल १९०१ । ४ प्रिय प्रवास, पृ०१६ । ५ `प्रसाद` : `आंसू`, पृ०५५ । ६ वही ।

कृतियों में इस प्रकार के वर्ण-विन्यास सम्बन्धी प्रयोग अधिक मिलते हैं किन्तु इसमें उत्तरोत्तर संस्कार होता गया है । महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके समवयस्क लेखकों ने ऐसे शब्दों का प्रयोग अधिक किया है । उदाहरणार्थ --

उन्हैं, चाहैं, जावै, बातैं, कहैं[1]; हमैं, उन्हैं, पाठौं, जीवौं,[2]
हमैं, धावैंगे, देखैं[3],पढ़ै, करैं, बैलौं, तीनौं[4], पुस्तकैं,[6] करैं, हमैं,करैंगे,[5]
करै, रियासतैं, बातैं, हमैं, मानैं, ठहरै, पडै, रहै, मिलैगा, रहैगा,
रहैंगे, हमैं,[7] हमैं, शक्लैं,[8] तौ, चलैं,क्यौंकि[9] ।

उपर्युक्त प्रयोगों से यह प्रतीत होता है कि ओ औ का जो भारतेन्दु के समय में अधिक प्रचलन था, वह आलोच्यकाल में समाप्तप्राय था,किन्तु ए ऐ का प्रयोग स्वयं द्विवेदी जी तथा उनकी पत्रिका `सरस्वती` के लेखक तब तक करते रहे, जब तक उनके इस प्रयोग की आलोचना नहीं हुई । बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने `सरस्वती` के लेखकों को इस वर्तनी की भरपूर आलोचना की । उनके इन प्रयोगों को उन्होंने `देहाती चाल` के नाम से सम्बोधित किया, जिसको प्रतिक्रियास्वरूप द्विवेदी जी ने स्वर वृद्धि सम्बन्धी उक्त वर्तनी को दोषपूर्ण स्वीकार करते हुए[10] अपने लेखन के साथ-साथ दूसरों के लेखन की त्रुटियों को भी सुधारने का प्रयत्न किया । उनके इस सुधार-कार्य का समारम्भ `सरस्वती` की १९०६ की पाण्डुलिपियों से हुआ मिलता है ।

----

१ म० प्र० द्वि० : बे०वि० रत्ना`,पृ०१,२ । २ वही `सर०`पा०, १९०३ ।
३ वही, `सर०`,पां०, १९०६ । ४ वही- लोअर प्रा० १९०६। ५ मिश्रबन्धु : सर०पां० १९०३ । ६ वही-`सर०`,भाग ५(१९०४) । ७ वही : भारत का इति०, तृ० संस्करण के लिए संशोधन, भू० । ८ शुक्ल -- सर० भाग ५(१९०४),पृ०१५४,१५५ शुक्ल जी की इस रचना में प्राय:`ए`ध्वनि का ही प्रयोग है । `ऐ` ध्वनि विरल है । इससे यह विदित होता है कि `ए` के प्रयोग की प्रवृत्ति ही अब व्यापक होने लगी थी । ९ बदरी० भट्ट : `चुंगी की उम्मेदवारी` एवं कुरुवन दहन में प्रयुक्त। किन्तु भट्ट जी की प्रथम कृति चुंगी के उम्मीदवार से उद्धृत अधोलिखित द्विविध प्रयोग भविष्य में भाषा के सुधार का संकेत देते हैं, यथा-- करे(पृ०२०,२३) सकै हैं(पृ०२३)।१० `सरस्वती`,१९०६(भाग५) के एक निबन्ध में द्विवेदी जी बाबू बालमुकुन्द गुप्त की आलोचना के उत्तर में लिखते हैं कि `हमारे जुबांदां समालोचक फरमाते हैं कि पंजाब,युक्तप्रदेश, दिल्ली,आगरा, काशी, पटना के लेखक `करैं`,`हमैं`बोलते और लिखते हैं `करें`,`सकें` नहीं । बेहतर है हम अपनी देहाती चाल छोड़ने की कोशिश करेंगे पर आपकी थोड़ी सी उदारता दिखाइए । आप अपने प्रपंचरूप से कहिए कि `सहानुभूती` `अप्रम्पार`,`स्मर्ण` और `देव्यापराध` लिखना छोड़ दें ।`

ई। स्वर-लोप (।अ। स्वर का लोप)

हिन्दी शब्दों के उच्चारण में अन्त्य ।अ। ध्वनि प्राय: अनुच्चरित रहती है,अत: कुछ शब्दों के उच्चारण में उनके साथ लगने वाले प्रत्ययों के साथ अन्त्य व्यंजन का संयोग हो जाता है,यथा-- उस्के, उस्को, सुन्ने, सक्ता आदि । क्योंकि हिन्दी की प्रकृति उच्चारण के अनुसार ध्वनि अवस्थापन की रही है, इसलिए ऐसे प्रयोग पूर्णत: दोषपूर्ण नहीं माने जाकर भारतेन्दु युगीन (द्विवेदी-पूर्व) भाषा में बहु प्रचलित थे,किन्तु व्याकरणिक प्रक्रिया की दृष्टि से तो रचनागत दोष आ ही जाता है,अत: द्विवेदी-युग में भाषासुधार के आयाम के अन्तर्गत ऐसे प्रयोगों में भी प्राय: सुधार करके ~~श~~ पूर्ण शब्द लिखने की शैली को शुद्ध माना जाने लगा,यथा-- गौरीदत्त बाजपेयी, श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल, पूर्णसिंह, प्रेमचन्द, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, काशीप्रसाद, मिश्रबन्धु आदि की लेखनशैली में पूर्व संस्कार वर्तमान भी था तो`सरस्वती` में प्रकाशनार्थ प्रेषित उनकी रचनाओं में द्विवेदी जी प्राय: सुधार कर दिया करते थे (सरस्वती की पाण्डुलिपियों में अन्य सुधारों के साथ इस प्रकार के सुधारों की संख्या भी अधिक है) जिससे मुद्रित रूप में उनकी भाषा इस दोष से मुक्त रहती थी । कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रयुक्त `अप्रम्पार`,`स्मर्ण` जैसे शब्दों के प्रयोग की भी द्विवेदी जी ने आलोचना की । तात्पर्य यह है कि उत्तर द्विवेदी काल तक ऐसी त्रुटियों का प्राय: समाधान हो गया था ।

क.२. व्यंजन - सम्बन्धी

१.व्यंजन-परिवर्तन

।१। /ड़/>/ड/ तथा /ड/ >/ड़/

`ड़` के स्थान पर `ड` लिखने की जो असावधानी भारतेन्दु-युग से चली आ रही थी, वह द्विवेदी-युग के आरम्भिक काल तक भी चलती रही । ऐसे प्रयोग आचार्य महावीर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, रायकृष्णदास आदि जैसे भाषा-तत्वज्ञ व्यक्तियों की भाषा में भी मिलते हैं, जैसे--

पडते, ~~बड~~ बडे बडे[१] , छोड, बडे बडे, बिगडती पीडा[२], पडती[३],
लडकपन, बडा[४], पडा,पडो वडे रु डक[५],वडा,वडी[६] आदि ।

----

१ म०प्र० द्वि०,भा०वि०,पृ०२ । २ म०प्र०द्वि०--बे०दि० रत्ना,पृ०२४,६६। ३ म०प्र०द्वि० सर० पा० नैषध चरित चर्या। ४ म०प्र०द्वि० , अपर प्रा०रो०पा०१६०४ । ५ रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए पत्र से । ६ रायकृष्णदास-- सर०पा० १६०६ ।

किन्तु वर्तनी की यह अनियमितता उक्त लेखकों तथा अन्य सुधारवादी प्रवृत्ति के लेखकों की आरम्भिक रचनाओं में ही वर्तमान है । इनकी परवर्ती रचनाओं में ऐसी अशुद्धियां प्राय: नहीं हैं । यहां तक कि स्वयं द्विवेदी जी की प्रारम्भिक रचना `बेकन विचार रत्नावली` में जहां एक ओर `लडको` `पीडा` आदि जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहीं एक ही पृष्ठ पर अशुद्ध शब्द के साथ ही शुद्ध शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जैसे -- लडको (अशुद्ध), झगडे (शुद्ध) । इतना अवश्य है कि इन त्रुटियों की ओर लेखकों का ध्यान पहिले अधिक नहीं गया और यदि ध्यानाकर्षण हुआ भी होगा तो उनकी लेखनी यस विकृत रूप में ही इतनी पुष्ट पड़ गई थी कि वे सहसा अपनी लिपि में परिमार्जन नहीं कर पाये । किन्तु मुद्रण के समय प्राय: ऐसी अशुद्धियों को सुधार देते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर ऐसे प्रयोग करने वाले लेखकों की भाषा में पर्याप्त परिमार्जन हो गया । (प्रमाण के लिए `सरस्वती` १६००-१६०४ तक की प्रतियों से उनके परवर्ती प्रतियों की तुलना ही पर्याप्त होगी) । किन्तु तब भी कुछ लेखक ऐसे थे, जो अपनी रचनाओं की राशि की राशि प्रस्तुत करने के उपरान्त भी अपनी इस वर्तनी में कोई संशोधन नहीं कर सके । उदाहरणस्वरूप द्विवेदी-युग के पश्चात् लिखी गई राहुल सांकृत्यायन की रचना `निम्नर-प्रदेश में` की पाण्डुलिपि द्रष्टव्य है, जिसमें लडके, घोडे, पडी, पहाडी, चौडाई जैसे शब्द भरे पड़े हैं ।

`ड` के स्थान पर `ड़` लिखने की त्रुटि यदि भारतेन्दु-युग में भाषा की अनभिज्ञता के कारण हो भी जाती थी तो द्विवेदी-युग में इसका समापन हो गया था । यद्यपि द्विवेदी जी ने अपनी आरम्भिक रचनाओं में कुछ स्थलों में असावधानी वश इसका प्रयोग कर भी दिया है (जैसे--विड़म्बना, गड़स्थल--भा०वि०,पृ०१२,६८) किन्तु उनकी बाद की रचनाएं तथा अन्य लेखकों की वृत्तियां इस दोष से प्राय: मुक्त हैं ।

।२। ।व। > ।ब। तथा ।व। > ।ब।

भारतेन्दु-युग की भांति इस युग में भी प्राय: लेखक लेखन की क्षिप्रता के कारण `ब` को `व` रूप में लिख दिया करते थे, जिससे `ब` `व` हो जाता था । यद्यपि उच्चारण `ब` का ही किया जाता था किन्तु भाषा का अनवज्ञान रखने वालों के लिए यह रूप भ्रामक भी हो सकता है तथा परिनिष्ठित हिन्दी के दृष्टिकोण से तो यह प्रयोग अनुपयुक्त ही माना जायेगा । ऐसे प्रयोग तत्कालीन लेखकों की पाण्डुलिपियों में

बहुतायत से भरे पड़े हैं । यहां तक कि हिन्दी के निर्माता स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी बहुत दिनों तक स्वयं अपनी इस त्रुटि से अनभिज्ञ रहे, किन्तु बाद में इस त्रुटि का बोध होने पर उन्होंने उसमें संस्कार करना आरम्भ कर दिया । उन्होंने `सरस्वती` के आरम्भ से लेकर १९०६ तक के अंकों में प्रकाशनार्थ जो सामग्रियां प्रस्तुत की थीं, उनमें ऐसी अनेक अशुद्धियां हैं, किन्तु ये अशुद्धियां उसके पश्चात की प्रतियों की रचनाओं में प्राय: न्यूनतर होती गई हैं । प्रयोग की इस साधना से आपकी सुधारवादी प्रवृत्ति ही वर्तमान थी ।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त तत्कालीन अनेक लेखक ऐसे थे, जो अनेक कृतियों के निर्माण के पश्चात भी अपने इस दोष से वंचित नहीं हो पाये थे । हां, इतना अवश्य था कि उनको यह भूल सामान्य मानी जाती थी, अत: मुद्रकगण स्वयं उसे सुधार कर मुद्रित करते थे[1] । तात्कालिक कुछ लेखकों की हस्तलिखित रचनाओं से लिये गये `ब` `व` के विन्यास से निर्मित कुछ शब्द इस प्रकार हैं --

साहव, खूव,[5] वडे;[2] शव्दों, सम्वन्ध;[3] वडी, वावरी;[4]
संवन्ध, सवसे;[6] वहुत, वडा; तव, वुद्धि,[7] साहव, वैठे, वैठेगी,[8]
वडी, वाहर;[9] तव, अव, कव, वल; कव, एव, वातें, वडी आदि ।

यद्यपि वख्शी जी की भाषा में इस प्रकार के प्रयोग अधिक हैं किन्तु साथ ही उपर्युक्त रचनाओं में प्रयुक्त द्वैध रूपों, यथा-- `वहिन` - `बहिन`, `वावू` `बाद` आदि से यह परिलक्षित होता है कि वह उत्तरोत्तर सुधार की ओर अग्रसर हो रहे थे । फिर भी जैसा कि /ड/>/ड/ के प्रयोग के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, सांकृत्यायन जी की लेखनी सदा ही पूर्ण रही । इस सन्दर्भ में इस दोष से उनकी हस्तलिखित कृति `किन्नर प्रदेश में` प्रयुक्त `वनाया`, `सुवो`, `वारहों`, `सवेरे` आदि शब्द द्रष्टव्य हैं ।

---

१ द्विवेदी जी ने `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई सामग्रियों की अन्य त्रुटियों में तो सुधार किया है, किन्तु ब व सम्बन्धी त्रुटि पर सुधार के हेतु लेखनी नहीं चलाई है । इस त्रुटि को मुद्रण के समय ही सुधारा गया है ।

२ गिरिजाप्रसाद -- सर०,पा० १९०३, बापूदेव शास्त्री, ३ व्रजनन्दनसहाय--सर०,पा०, १९०६-- शब्द रहस्य, ४ रायकृष्णदास -- सर०पा०,१९०९- सूक्तियों की टीका,
५ सत्यदेव -- सर०पा० १९०९ - राजनीति विज्ञान, ६ गौरीचरण गोस्वामी -- सर० पा०१९१६--मद्रास प्रान्त में हिंदी, ७ पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी-- सर०पा०१९१७ गूंगी कहानी, ८ वही--सर०,पा० १९१७-कविता, ९ वही, सर० पा० १९२० निबन्ध ।

भारतेन्दु-युग में उच्चारण की सुविधा अथवा बोलचाल की ग्रामीणता के कारण संस्कृत शब्दों में जो `व` के स्थान पर `ब` ध्वनि का प्रयोग किया जाता था, वह द्विवेदी-युग में समाप्तप्राय था । `ब` के स्थान पर `व` का प्रयोग इसलिए हो जाता था कि लेखक शीघ्रतावश `ब` के बीच की लकीर देना भूल जाते थे, किन्तु `व` के परिवर्तन में कोई सुविधा नहीं थी, अत: तद्युगीन लेखक उसे शुद्ध रूप में ही लिखना उचित समझते थे । दूसरे, `व` के स्थान पर `ब` प्रयोग करके शब्द की तत्समता को सायास समाप्त करने में भाषा का कोई हित नहीं था, अत: लेखकों ने `व` को शुद्ध रूप में ही ग्रहण किया । फिर भी बोलचाल की सुविधानुसार अथवा परम्परा की रूढ़िवादिता वश कुछ कृतियों में `व` के स्थान पर `ब` का प्रयोग ही हो गया है, उदाहरणार्थ --

बिषय, बिचार;[1] ब्यतीत; बर्तमान, प्रगतिबादी;[2] बाणी, ब्याप्त;[3] छबि, बिमल ।[4]

उपर्युक्त शब्द लेखकों द्वारा उनकी पाण्डुलिपियों में तो प्रयुक्त हैं, किन्तु `सरस्वती` सम्पादक (द्विवेदी जी) ने सर० १९०३ की पाण्डुलिप में रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रयुक्त शब्दों को छोड़ कर शेष सभी शब्दों में `ब` को काटकर `व` बना दिया है ~~(दे० वर्तनी सुधार)~~। अत: `सरस्वती` की मुद्रित प्रतियों में यह दोष नहीं रह गया है । इसके अतिरिक्त तत्कालीन अन्य पत्र-पत्रिकाएं तथा रचनाएं भी इस दोष से सर्वथा वंचित हैं ।

(३) ।ढ़। > ।ढ।

।ड़। > ।ड। के प्रयोग की भांति उत्क्षिप्त ध्वनि ।ढ़। के लेखन में भी कहीं-कहीं नीचे की बिन्दी का लोप कर देने से ।ढ। हो गया है, जैसे --

चढाई, आरूढ, पढा ;[5] पढा, पढाई;[6] बढाना, साढे, छिढे[7]

किन्तु वर्तनी का यह रूप द्विवेदी-युग में न व्यापक था और न अधिक दिनों तक लेखन में वर्तमान रहा । तत्कालीन भाषा-सुधार की प्रवृत्ति से यह दोष भी जाता रहा । भविष्य में यदि किसी लेखक की लेखनी में यह दुर्बलता वर्तमान भी थी तो मुद्रण में इस

----

१ रामचन्द्र शुक्ल-- सर०, पा० १९०३ । २ मिश्रबन्धु-- सर०पा० १९०८न्याय और दया।
३ लोचन प्रसाद पाण्डेय -- सर०पा० १९१७- बिन्दु और सिन्धु ।४ रामचन्द्र शुक्ल --सर० पा०१९१७ -- वह छबि(कविता)। ५ म०प्र०द्वि०--भा०वि०,पृ०३७,बे०वि० रत्ना,पृ०२५ देवीदत्त के नाम पत्र में क्रमश: । ६ रामचन्द्र शुक्ल -- हस्तलिखित पत्र
७ रा० सां० --`किन्नर देश में`,पा० ।

त्रुटि को नहीं आने दिया गया । इस प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की स्वयं की प्रवृत्ति भी सुधारोन्मुख रही है तभी तो एक ओर आपने उपर्यंकित 'ढ' युक्त शब्दों का प्रयोग किया तो उन्हीं रचनाओं में चढ़ा बढ़ा (बे०वि० र०,पृ०६७) आदि शब्दों में 'ढ़' के शुद्ध रूप का भी प्रयोग किया है । आपकी बाद की रचनाएं ऐसी दोषपूर्ण वर्तनी से रहित हैं ।

(४) ।ण। > ।न। तथा ।न। > ।ण।

भारतेन्दुकाल में हिन्दी भाषा पर बंगला का प्रभाव अधिक होने तथा उच्चारण की शिथिलता के कारण प्राय: शब्दों में 'ण' 'न' में परिवर्तित हो जाया करता था ।ऐसे प्रयोग में ग्रामीणता अथवा बोलियों के पुट भी कारणीभूत था । किन्तु द्विवेदीयुगीन भाषा इस दोष से सर्वथा रहित है,क्योंकि एक तो इस युग में बंगला की अपेक्षा संस्कृत ग्रन्थों से अधिक अनुवाद हुआ । दूसरे, तत्कालीनभाषा के विद्वान अपनी भाषा को संस्कृतनिष्ठ बनाकर उसे ग्रामीणता के दोष से वंचित करने में प्रयत्नशील थे । इसके उपरान्त भी यदि कतिपय लेखक शब्द के अर्द्ध तत्सम उच्चारण के अनुसार 'ण' के स्थान पर 'न' का प्रयोग कर भी देते थे तो पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक उनका संशोधन कर देते थे, जैसे स०पा०१६०६ में संगृहीत पूर्णसिंह की रचना 'कन्यादान' में प्रयुक्त 'साधारन','निवारनार्थ' आदि शब्दों में द्विवेदी जी ने 'न' को काट कर 'ण' लिखा है ।

इसी प्रकार 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग भी इस युग की भाषा में विरल ही मिलता है । यद्यपि १६१७ की 'सरस्वती' के अंकों में कुछ उदाहरण यथा 'माणते', 'फागण' (देवीप्रसाद की हस्तलिखित रचना में) तथा करणि (सनेही जी की मुद्रित कविता में) आदि मिले हैं,किन्तु तत्कालीन भाषा के अथाह शब्द-समुद्र में ये शब्द विलीन हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कहीं-कहीं पर सुधार भी कर दिया है, जैसे 'फागण' शब्द काट कर उन्होंने 'फागुन' लिखा है ।

(५) ।स। > ।श।

'विकाश' शब्द में 'श' का परम्परागत उच्चारण एवं लेखन द्विवेदीयुग का सामान्य नियम था। संस्कृत वर्णविन्यास के अनुसार उक्त शब्द में 'श' एवं 'स' दोनों ही ध्वनियां उपयुक्त हैं ,किन्तु आधुनिक हिन्दी तथा संस्कृत दोनों में 'विकास' शब्द का ही प्रयोग होता है,'विकाश' का नहीं । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की रचना

`बेकन विचार रत्नावली` में यद्यपि एक ही पृष्ठ(१०२) पर `विकाश` तथा `विकास` दोनों ही शब्द आये हैं, किन्तु इसे परिवर्तन का उदाहरण कहना इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि उनकी परवर्ती कृतियों तथा अन्य लेखकों की रचनाओं में `विकाश` शब्द का ही व्यवहार मिलता है, उदाहरण के लिए `सरस्वती` भाग १५ सं०१, पृ०२०, २३- नाथूराम शर्मा की रचना, सर०मा०१९१७ मोतीलाल तथा रामचन्द्र शुक्ल की रचना एवं `इन्दु`, जन०१९१४, पृ० ५८ आदि द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन अन्य अनेक लेखकों की भाषा में यह प्रयोग मिलता है।

२. व्यंजन विपर्यय

भारतेन्दुयुगीन कतिपय लेखकों की भाषा में लेखक की अनभिज्ञता तथा प्रूफादि की असावधानी के कारण कुछ शब्दों में व्यंजन ध्वनि के विपर्यय के प्रमाण भी मिलते हैं, किन्तु द्विवेदीयुग में भाषा में परिमार्जन होने के कारण ऐसे शब्द नहीं के बराबर हैं। यदि व्यंजन-विपर्यय-युक्त कोई शब्द है भी तो वह है `चिह्न` के स्थान पर `चिन्ह`[१] शब्द। यद्यपि आज उच्चारण एवं लेखन दोनों में द्वितीय कोटि की वर्तनी भी मान्य हो गई है, किन्तु वर्तनी की शुद्धता के पक्षपातीगण को आज भी इस रूप से आपत्ति है, फलस्वरूप आज भी उक्त शब्द की वर्तनी में द्वैध बना हुआ है।

३. व्यंजन-लोप

इस कोटि के शब्दों में सर्वप्रथम `उद्देश` शब्द को लिया जा सकता है। आधुनिक हिन्दी के अन्त्य व्यंजन `श` भी `य` के साथ संयुक्त करके निर्मित शब्द `उद्देश्य` संज्ञा रूप में शुद्ध माना जाता है, किन्तु द्विवेदीजी तथा तत्कालीन अन्य भाषाविशारदों ने संज्ञारूप में उद्देश` तथा विशेषण रूप में `उद्देश्य` शब्द शुद्ध माना है। यहां तक कि द्विवेदी जी ने १९१६ की `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई ईश्वरदत्त शर्मा की रचना में प्रयुक्त `उद्देश्य` का संशोधन `उद्देश` रूप में किया है। इनके अतिरिक्त इस प्रयोग के अधोलिखित कुछ उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं --

इनके इस व्यर्थ मानसिक काम के झगड़े का कौन सा `उद्देश` है। |
उसका `उद्देश` ठीक ठीक न समझे जाने के कारण | [२]

---

१ सर०, भाग २, पृ०१९ ३ तथा भाग ४पृ०३४१ एवं हिन्दी भा० और सा० का वि०-उपाध्याय, पृ०९८। २ कामताप्रसाद गुरु : `सरकार और भाषा`, सर०, भाग१४ सं० ३।

लेखक का मुख्य `उद्देश` अनुस्वार और अनुनासिक है[1]

उसका `उद्देश` चातुरन्त राज्य की स्थापना है[2] आदि ।

अन्य व्यंजन लुप्त कुछ शब्द बोलियों के प्रभाव रूप में अथवा शब्द के तद्भवीकरण के कारण ही प्रयुक्त हैं, जैसे --

कीजे[3] ‖ प्रयोग-- दया कीजे हे दया निधान ‖

लीजे[4], चोटी[5], व्यञ्जन[6], व्यञ्जनों, सुयोग[7] ।

उपर्युक्त `सुयोग` शब्द का प्रयोग गुलाबराय जी ने `सुयोग्य` अर्थ में किया है ।

स्वर-लोप की भांति व्यंजन-लोप में भी कभी-कभी कविता की रचना-प्रक्रिया में मात्राओं अथवा वर्णों का सन्तुलन कारणीभूत होता है । ऊपर दिए गए उदाहरणों में कीजे, लीजे का प्रयोग इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत आता है । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं,यथा--

अन्न खाया औ[8] यहाँ का जल पिया,मधुर तेरी मुस्कराहट वह प्रसन्न गंभीरता[9]

सदन के सब थे इकट्ठे[10] कभी,असनि-पात-सगा[11] यह सूचना

तुरत[12] वे अति कुण्ठित हो उठे

४. व्यंजन-संयोग

‖अ‖ पंचमाक्षर संयोग

व्यंजन संयोग में सबसे रोचक विषय है-- पंचमाक्षरों का योग । संस्कृत शब्दों की शुद्धता की दृष्टि से उचित यही है कि अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण में नियमानुसार पंचम वर्ण का ही प्रयोग किया जाय और ऐसा ही प्रयोग भारतेन्दु युग से हिन्दी तथा संस्कृत के

----

१ कामताप्रसाद गुरू : `अनुस्वार और अनुनासिक`--सर०,भाग १८ सं०५,पृ०२५६ ।

२ मिश्रबन्धु : `भा० का इति०,पा०,तृतीय खण्ड ।

३ श्री हरिवंश मिश्र : `कविता`,सर०भाग १६ ख०१,स० ३। ४ गुप्त : `भारत भारती`पृ० १५०

५ सुधाकर द्विवेदी : `रामकहानी`मु०,पृ०६,६३ ।

६ म०प्र० द्वि० : `बे०वि० रत्ना`,पृ०१०६ ।७ गुलाबराय -`नई शैली की चित्रकारी` सर० पा०,१६१६ । ८ सर०भाग ३७, ख०२ सं०४, पृ०२३२ -- शुक्ल । गुरू की कविता `सहगमन` में भी `औ` का प्रयोग हुआ है । ९ सर०भाग ३५ ख०१ सं०४,पृ०१७७--केशव मिश्र।

१०, ११, १२ हरि औध : `प्रियप्रवास`, पृ०११,१३ ।

ज्ञातागण करते आ रहे थे, किन्तु उक्त युग में ही पंचमाक्षरों के स्थान पर लेखन की सुविधा के कारण विकल्प से अनुस्वार का प्रयोग होने लगा था । यही स्थिति द्विवेदी जी के सम्मुख थी । द्विवेदी जी संस्कृत शब्दों में पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार लगाने के पक्ष में स्वयं नहीं थे, जैसा कि उनके निजी प्रयोगों तथा 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशनार्थ आई हुई अनेक लेखकों यथा-- कामताप्रसाद गुरु, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, बदरीनाथ भट्ट, माणिक्यचन्द जैन, विश्वनाथ सिंह, लक्ष्मण स्वरूप, गोविन्ददास आदि की पाण्डुलिपियों में किए गए सुधारों से ज्ञात होता है ~~(दे० वर्तनी सुधार)~~ । यद्यपि द्विवेदी जी के नाम से प्रकाशित 'निबन्ध संग्रह --'साहित्य-सीकर' में संगृहीत निबन्ध 'हिन्दी शब्दों के रूपान्तर' में अनुस्वार लिखना विकल्प से रायज बताया गया है[1] । द्विवेदी जी के निरन्तर संशोधन करने का परिणाम यह हुआ कि जो लेखक अनुस्वार का प्रयोग करने लगे थे उन्होंने भी पंचमाक्षर प्रयोग की नीति को ही अपनी लेखन-शैली में ग्रहण किया । द्विवेदी जी की ही भांति बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी पंचमाक्षरों के प्रयोग में बहुत सतर्कता से काम लेते थे । तात्पर्य यह है कि तत्कालीन अधिकांश लेखकों की स्वतन्त्र रचनाओं तथा प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में पंचमाक्षरों का प्रयोग नियमित रूप से हुआ है । उदाहरण स्वरूप --

(क) <u>पत्र-पत्रिकाओं में</u>

मङ्गल, शङ्कर, अङ्ग, प्रसङ्ग;[2] अखण्ड, पुण्य, उदण्ड, मण्डल, घमण्ड;[3] ढङ्ग, अङ्ग;[4] सभी रङ्ग बदरङ्ग हुए बन रहे एक ही रङ्ग हुई अहोमति मङ्ग;[5] सर्वाङ्ग, पङ्ख, सुन्दर;[6] रूपान्तरित, हिन्दी, सम्बोधन;[7] बङ्गाली, हिन्दी, पञ्जाब;[8] सङ्गठित, सम्बन्ध;[9] सम्बन्ध, अनुसन्धानके;[10] अञ्जलि में[11]

(ख) <u>स्वतन्त्र प्रकाशित ग्रन्थों में</u>

मनोवाञ्छा, शिवशम्भु, आनन्द, रङ्ग, मङ्ग, घण्टों, अखण्ड, वरञ्च;[12]

---

१ दे० सा०सी०--म०प्र० द्वि० । २ सर०भाग११, सं०३, पृ०१३०(कविता) नाथूराम शंकर शर्मा । ३ वही, पृ०१३१ । ४ सर०भाग११ सं०६, पृ०४२(कविता)--गुप्त । ५ सर०पा०१६१७(कविता) बदरीनाथ भट्ट । ६ भारतमित्र, सन् १६०६ । ७ हितवार्ता । ८ भारतजीवन । ६ भारतबन्धु । १० शिक्षा । ११ बिहारबन्धु । १२ शि०श० के चिट्ठे -- बा०मु०गु० ।

जङ्गल में मङ्गल, अलङ्गाकार, प्रसङ्ग, पण्डितों, सङ्कोच, तङ्ग, मनोरञ्जन[1]; बङ्किम, अपाङ्ग, वञ्चल, रञ्जित, खण्ड[2], मण्डल, कुन्तल, सम्बन्ध; अङ्कित, रञ्जित, चिरन्तन, कण्ठ, गम्भीर[3]।

इसके उपरान्त भी कुछ लेखकों तथा प्रकाशकों द्वारा पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग उचित समझा जा रहा था। बाबू श्यामसुन्दरदास ने पंचमाक्षर तथा अनुस्वार की अनियमितता समाप्त करने के लिए केवल अनुस्वार के प्रयोग का ही अभियान चलाया जैसा कि उन्होंने `शकुन्तला` की भूमिका में लिखा है (दे० द्विवेदी युग में भाषा की प्रमुख समस्याएं) । इनके अतिरिक्त सुधाकर द्विवेदी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, बदरीनाथ भट्ट प्रभृति की रचनाओं से लिए गए कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं --

ब्रह्मांड, शतानंद, मंगल[4]; संघर्ष, चंद, कुटुंब, असंभव[5]; प्रसंग, पंडितों[6], हिंदी, भांडार; बहिरंग, संकुचित, असंभव, सुंदर[7]; मंदिर, पंडित[8] ।

वास्तव में पंचमाक्षरों के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग में पुस्तकों अथवा पत्रिकाओं के सम्पादक, प्रकाशक की निज की नीति अथवा मुद्रक की अपनी सुविधा भी बहुत कुछ कारणीभूत है । उदाहरण के रूप में-- गंगा पुस्तक माला, लखनऊ के तत्वावधान में प्रकाशित बदरीनाथ भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी एवं मिश्रबन्धु की उपर्युक्त रचना में (जिनसे उदाहरण लिए गए हैं) सर्वत्र अनुस्वार के प्रयोग का ही विधान है, जब कि बदरीनाथ भट्ट की सरस्वती की पाण्डुलिपि में नियमपूर्वक पंचमाक्षरों का प्रयोग हुआ है (दे० इसी प्रकरण में पत्र-पत्रिकाओं में पंचमाक्षर प्रयोग के अन्तर्गत बदरीनाथ भट्ट के प्रयोग के उदाहरण) तथा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की एक ही कृति `अनुप्रास का अन्वेषण` के कलकत्ता(सं०१९७५) से प्रकाशित अंक में सर्वत्र पंचमाक्षर का प्रयोग हुआ है तो गंगापुस्तक माला, लखनऊ से `निबन्ध नियम` में संगृहीत निबन्ध के रूप में प्रकाशित अंक में अनुस्वार का,

---

+ अपवादस्वरूप पंचमाक्षर का प्रयोग किया है अन्यथा पंचमाक्षर प्रयोग का नियम केवल संस्कृत शब्दों के प्रयोग में ही अपनाया गया है । १ म०प्र०द्वि०- किरातार्जुनीय, पा०। २,३ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी- पचमात्र । २ प्रसाद -- झरना । ४ सुधा०द्वि०- रामकहानी। ५बदरीनाथ भट्ट - हिंदी। ६ जगन्नाथ प्रसाद चतु०- निबन्ध नियम । ७ मिश्रबन्धु -मिश्रबंधु-विनोद । ८ वेंकटेश्वर समाचार ।

यथा--

कलकत्ता से प्रकाशित अंक में	लखनऊ से प्रकाशित अंक में
पूजामण्डन, शङ्का समाधान, पाखण्डी पंडों, पण्डितों, कर्मकाण्डो, पञ्चामृत पञ्चगव्य, चन्दन, गङ्गाजल, खण्डन-मण्डन ।	पूजामंडन, शंका समाधान, पाखंडी पंडों, पंडितों, कर्मकांडो, पंचामृतपंचगव्य, चंदन, गंगाजल, खंडन मंडन ।

इतना ही नहीं, वरन् किसी किसी लेखक की एक ही कृति के एक ही अथवा भिन्न पृष्ठों पर वर्तनी द्वैध के उदाहरण प्राय: मिलते हैं, जैसे-- बदरीनाथ भट्ट रचित `कुरुवनदहन` के पृष्ठ ३१ पर --

`आनन्द`, `विटपाङ्गो` तथा भयंकर, पचंड, उद्दंड आदि ।

इसी प्रकार ब्रजनन्दनसहाय रचित `विस्तृत-सम्राट` के पृ०३ पर --

`विहङ्ग`, `किञ्चित` तथा रंग, शृंगार, संचारण आदि ।

वर्तनी का यह द्वैध पत्र-पत्रिकाओं में भी वर्तमान ह था । बनारस से ही निकलने वाले पत्र `आज` में जहां प चमाक्षर का प्रयोग होता था, वहीं बनारस से ही निकलने वाली पत्रिका `नागरी प्रचारिणी` प चमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करती थीं । अत: वर्तनी के इस दोहरे प्रयोग से यह जानना कठिन हो जाता है कि किस लेखक की नीति क्या थी ।

फिर भी `सरस्वती` के अंकों की पाण्डुलिपियों में विभिन्न लेखकों द्वारा प चमाक्षरों के स्थान पर किए गए अनुस्वार -प्रयोग (जिनमें द्विवेदी जी ने बहुत सतर्कता-पूर्वक सुधार किया है) तथा अन्य रचनाओं की भाषा में अनुस्वार का व्यवहार हुआ देखकर इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि अधिकांश लेखकों की प्रवृत्ति अनुस्वार-प्रयोग करने की ही थी, भले ही उन्हें हिन्दी की परिनिष्ठता को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से अथवा प्रकाशकों एवं सम्पादकों की आज्ञा पालन के विचार से प चमाक्षरों का प्रयोग करना पड़ा है हो । आज भाषा को सरल एवं स्वाभाविक बनाने के प्रयास में पंचमाक्षर प्रयोग के नियम में शिथिलता आ गई है तदनुसार अनुस्वार के प्रयोग में वृद्धि हो गई है तथा प चमाक्षर प्रयोग में न्यूनता ।

आचार्य द्विवेदी जी के प्रयोग के सम्बन्ध में एक विशेषता यह है कि उन्होंने विदेशी (मुख्यत: अंग्रेजी) शब्दों की वर्तनी में निर्धारित नीति के अनुसार प्राय: अनुस्वार से ही

काम लिया है यथा--

वाशिंगटन, इंगलैंड, गवर्नमेंट, कौंसिल, टाइपिंग, मैनेजिंग[1] आदि ।

किन्तु प चमत्कार प्रयोग में लेखकों के दुष्ट हो जाने के कारण कभी-कभी विदेशी शब्दों में भी `णत्व` का प्रयोग कर जाया करते थे । इस बात को उन्होंने `सरस्वती` १६०५ के नवम्बर अंक के लेख में स्वयं ही स्वीकार किया है[2]।

(आ) रकार संयोग

व्यंजन के पूर्व आने वाले रकार संयोग में तो इस युग में कोई विशिष्टता नहीं पाई जाती । सामान्य शैली के अनुरूप संयोगी व्यंजन के ऊपर रेफ(˚) लगा दिया गया है, जैसे ।र्क।, ।र्ख।, ।र्ग। आदि । किन्तु पश्च व्यंजन यदि ।र। है और उसके साथ किसी व्यंजन का संयोग होता है तो इस संयोग में अधिकांशत: व्याकरण के सामान्य नियमों का पालन होते हुए भी कतिपय रचनाओं में भारतेन्दुकालीन अनियमितता की परम्परा दृष्टिगत होती है । उदाहरण स्वरूप --।ट।, ।ड।, ।ढ। का संयोग यदि ।र। के साथ होता है तो संयुक्त होकर ये ध्वनियाँ क्रमश: ट्र, ड्र, ढ्र में परिवर्तित हो जाती है, किन्तु अन्य व्यंजनों के साथ र (ॢ) रूप में प्रयुक्त होता है, यथा-- क्र,ग्र, प्र,म्र आदि । द्विवेदीयुगीन अधिकांश रचनाओं में तो ऐसी संयुक्त ध्वनियाँ उक्त रूपों में ही मिलती है, किन्तु कहीं कहीं अन्य व्यंजनों के साथ भी ।ट।,।ड।, ।ढ। के साथ लगने वाले रकार का रूप प्रयुक्त है, यथा--

शीघ्र[3]; शीघ्र, रामचन्द्र, कुप्रथा, विक्रम[4];फ्रायर;प्रकार, प्राण[5],प्रकाशित,प्रद[6]

रकार संयोग में प्राय: रचनाओं में द्वैध रूप भी वर्तमान है यथा `काव्यवाटिका` के एक शीर्षक में ।प। का संयोगी ।र। `ॢ` रूप में है तो वर्णन में `्र` रूप में यथा-- `प्रौढ प्रेम` तथा `प्रेम` । इसी प्रकार बख्शी जी की एक ही रचना के एक ही पृष्ठ पर उक्त दोनों रूप वर्तमान हैं, जैसे --

प्रकार, प्रवृत्त
प्राण, प्रकार, प्रजा | [7]

---

३ कुरुवन दहन -- बदरी० भट्ट, पृ०४३ । ४ काव्यवाटिका, पृ०६३,२२५,२२८ ।
५ हिंदी -- बदरी०भट्ट,पृ०४३ । ६ पंचपात्र -- बख्शी,पृ०८३,८४, ११२ ।
७ पंचपात्र-- बख्शी,पृ०८४ ।

१,२ की पाद-टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

किन्तु इन प्रयोगों में लेखक की लिपि की विशेषता न होकर मुद्रण का टाइप ही मुख्यरूप से कारणीभूत है, क्योंकि ऐसी अनियमितताएं भारतेन्दु-युग की लिपि में भले ही वर्तमान हों, किन्तु इस युग के हस्त लेखों में दिखाई नहीं देती ।

(छ) (र्) के संयोग में संयोगी व्यंजन का द्वित्व हो जाना

संस्कृत शब्द-रचना के नियमानुसार (र्) का संयोगी व्यंजन द्वित्व हो जाता है । अर्थात् जिस संयुक्त व्यंजना का आद्य व्यंजन (र्) होता है उस व्यंजन के उच्चारण में बलाघात होने के कारण वह द्वित्व हो जाता है, यथा-- कर्म्म, मर्म्म, मार्य्या, निर्म्माण आदि । भारतेन्दुकाल में संस्कृत के नियमों का यथाविधि पालन करने वाले लेखक तो ऐसी वर्तनी का प्रयोग करते ही थे, द्विवेदी-युग में भी वर्ण-विन्यास में विशुद्धता का निर्वाह करने वाले अधिकांश लेखकों की भाषा में इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग मिलता है । उदाहरणस्वरूप--

चर्च्चा, धर्म्म, कार्य्य, कर्म्म, पर्य्यन्त, निर्म्मल, निर्म्माण[3] ।

कर्म्म, कार्य्य, आश्चर्य्य, ~~पूव~~ पूर्व्वक[4] ।

निर्म्माण, मर्म्म, ~~अज~~ अर्ज्जुन, पर्व्वतों, बल-वीर्य्य, कार्य्य कलाप, क्षात्रधर्म्म, धर्म्म भीरु[5] ।

कार्य्य, निर्म्मल, धर्म्मप्राणता, आश्चर्य्य, कर्म्मवादी, सूर्य्य[6] ।

सूर्य्य, पर्य्यन्त[7] ।

किन्तु तत्कालीन कुछ रचनाओं के द्वैध प्रयोगों से यह परिणाम निकलता है कि आलोच्यकाल में ही व्यंजन के द्वित्व हो जाने के नियम में शिथिलता आने लगी थी, जिसके फलस्वरूप दोहरे व्यंजन के स्थान पर एक ही व्यंजन से कार्य लेने वाली प्रथा का विकास हुआ और आगे चलकर इसी प्रथा का अनुसरण किया गया ।

पूर्वपृष्ठ की पाद-टिप्पणी---

१- रसज्ञ रंजन, पृ०८० तथा सा०सी०, पृ०१७, १०७, १११ । २- उन्होंने लिखा है `सच तो यह है कि गलती कौन नहीं करता । भाषा की अपरिपक्व दशा में तो यह बात और भी अधिक सम्भव है । हमने अपने पहले लेख में लिखा है कि विदेशी शब्दों में णत्व-विचार की जरूरत नहीं, पर जब हम `इंडियन` लिखने लगते हैं तब उस बात को बहुधा भूल जाते हैं और `इण्डियन` लिख जाते हैं, यह पूर्व अभ्यास का फल है ।` ३- सर० की १९०३से१९२४ के अंकों में क्रमश: ।४- इन्दु-जनवरी १९१४ के पृष्ठों से उद्धृत ।५- महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत आरम्भिक रचना `बेकन विचार` से लेकर प्रौढ रचना `किरातार्जुनीय` का पाण्डुलिपि से उद्धृत । ६- बाबू बालमुकुन्द गुप्त रचित `हिन्दी भाषा` तथा `शिवशम्भु के चिट्ठे` से उद्धृत । ७- मिश्रबन्धु -- भा० का इति० ।

वर्तनी के कुछ विविध प्रयोगों के उदाहरण इस प्रकार हैं :--

कार्य्यों,[1] आश्चर्य्यों, कार्य, कार्यों,[2] कार्यकलाप,[3] धर्म्मराज,[4] कार्य्य, सर्वदा, पदार्थ, धैर्य[5] ।

द्विवेदीयुगीन युवा-लेखकों ने ही आगे चलकर द्वित्व-ध्वनि रूप की वर्तनी को समाप्त कर दिया ।

(ई) दो महाप्राण ध्वनियों का संयोग

व्याकरणकार भले ही दो महाप्राण ध्वनि के संयोग को भाषा के सम-सामयिक प्रयोग को देखते हुए उचित ठहरा दें कि उच्चारण के समय यदि देखा जाय तो पूर्व ध्वनि के महाप्राण होते हुए भी उसकी अल्प प्राण ध्वन्यात्मकता होती है, ऐसी स्थिति में पूर्व ध्वनि का अल्पप्राण रहना ही उपयुक्त है और इस योजना-पद्धति को प्राय: विद्वानों ने स्वीकार भी किया है । तदुपरान्त भी `ट्+ठ` के योग की प्रथा जो भारतेन्दुयुग से चली आ रही थी, कुछ अंशों में द्विवेदी-युग तक भी वर्तमान थी, इतना अवश्य है कि यह प्रयोग पुराने संस्कार वाले लेखकों की भाषा में ही वर्तमान है, जैसे--

इकट्ठा,[6] एकट्ठा,[7] गट्ठा,[8] चिट्ठे,[9] मुट्ठी,[10] घिघ्घी[11] आदि ।

`सरस्वती` की पाण्डुलिपियों में प्रयुक्त उक्त ध्वनि-संयोग में द्विवेदी जी द्वारा सुधार न किये जाने के कारण यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी को इस प्रयोग से विशेष आपत्ति नहीं थी, किन्तु आगे की रचनाओं में इस वर्तनी में स्वयं ही सुधार होता गया है, यहां तक कि द्विवेदी जी के ही निबन्ध-संग्रह `साहित्य सीकर` में `चिट्ठी` के स्थान पर चिट्ठी तथा ठ्ठे के स्थान पर `ठट्टे` लिखा है । इसके अतिरिक्त बख्शी जी ने भी जहां एक ओर `सरस्वती` में `गट्ठा` में दोनों महाप्राण ध्वनियों का संयोग किया है, वहीं `पचपात्र` में `मुट्ठी` शब्द में `ट्+ठ` का योग किया है ।

१-सा०सी०-म०प्र०द्वि०,पृ०३३,३४ ।२- वही । ३- सर०भाग १५, सं०१,पृ०२४ ।४-सर०,भाग ११,सं०६(कविता)--मै०श०गु०,पृ०४२६,४२७ ।५- वही । ६- सुधाकर द्वि०-- रामकहानी । ७-सुधाकर द्वि०- राममारद्वाज मिलन एवं गुरु--हि०व्याकरण । गुरु के हिन्दी व्याकरण में सर्वत्र `ट्+ठ` का ही योग हुआ है ।८- पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी--सर०पा०१६१७।६-जग० चतुर्वेदी--अनु०का अन्वे० । १०- बा०मु० गु०--शि०श० के चि० तथा पारसनाथ सिंह--सर०पा० १६१६ ।११- जग० चतु०--निब० नियम,पृ०२८ । ऐसे प्रयोग विरल हैं ।

क.३. स्वर-व्यंजन मिश्रित भेद-सम्बन्धी

उच्चारण की सुगमता अथवा बोली में ग्रामीणता के फलस्वरूप ऐसे प्रयोग भारतेन्दु-युगीन भाषा में अधिक हुए हैं, किन्तु द्विवेदीयुगीन साहित्यिक खड़ीबोली में ऐसी वर्तनी की संख्या न्यून है। 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में कतिपय लेखकों की रचनाओं में इसप्रकार के वर्ण-विन्यास सम्बन्धी कुछ उदाहरण मिलते भी हैं, तो द्विवेदी जी ने अपनी लेखनी से उन पाण्डुलिपियों में ही उनका सुधार कर दिया है। फिर भी इस वर्ण-विन्यास की प्रवृत्ति के अध्ययन के हेतु उन उदाहरणों को प्रस्तुत करना आवश्यक है, यथा--

जलयान[1], नैनों, यग्य[2], प्रेम मै[3], समै, उदे सिंह[4] आदि।

उपर्युक्त शब्दों को काटकर द्विवेदी जी ने उनके स्थान पर शुद्ध वर्तनी के शब्द की प्रतिस्थापना की है, यथा-- जलयान, नैनों, यज्ञ, प्रेममय, समय, उदय सिंह।

क.४. अनुनासिक ध्वनि सम्बन्धी

चन्द्रबिन्दु (ँ) एवं अनुस्वार (ं)

द्विवेदी युगीन अनुनासिक ध्वनियों के संकेत चिह्न 'चन्द्रबिन्दु' एवं 'अनुस्वार' प्रयोग में भी पञ्चमाक्षर प्रयोग की भांति अनेकरूपता अधिक है। अत: तद्युगीन प्रयोग की प्रक्रिया के अनुसार उक्त विषय का अध्ययन अधोलिखित वर्गों में कियाजा सकता है --

(१) चन्द्रबिन्दु का उचित प्रयोग

तत्कालीन अधिकांश रचनाओं में ह्रस्व तथा दीर्घ अकारान्त अथवा उकारान्त अक्षरों के साथ चन्द्रबिन्दु का प्रयोग उच्चारणानुसार उचित रीति से हुआ है, यथा --

कँपा, सकूँगा, हँसते हँसते, आँच, दूँगा[5] आदि।

पाँच, अँगरेजी, आँख, हूँ, कहाँ[6] आदि।

गोलियाँ, हड्डियाँ, यहाँ, बँटा, पहुँचा, कहाँ, अँगरेजी[7] आदि।

समालोचनायँ, जहाँ, प्रतियाँ, वहाँ[8] आदि।

----

१ -सर० पां०, १९०४-'राजधर्म' -- मिश्रबन्धु। २- वही १९०९-'कन्यादान' पूर्ण सिंह। ३-वही १९१७-'छोटों का काम': विश्वनाथ सिंह। ४- वही- महाराणा प्रताप का ताम्र०- देवी प्रसाद। ५-सर०भाग ११ सं०९, पृ०४२६(कविता)--मै०श०गुप्त। ६- सर०भाग २५, सं०१, सं०४, पृ०१७७(कविता)--केशवप्र० मिश्र। ७- सा०सी०--म०प्र० द्वि०। ८- मिश्र० विनोद--भू०, पृ०४ -- मिश्रबन्धु।

पहुँचा, देखूँ, आँखों, छुँआ, आँसू, बूँद छुँआ[1] आदि
बाधाएँ, आँखों, कहाँ, करूँ, हूँ, सकूँगा[2]

(सन्दर्भित रचनाओं के अतिरिक्त दे० पञ्चपात्र -- बख्शी; हिंदी -- बदरीनाथ भट्ट; निबन्ध निचय -- जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी; विस्मृत सम्राट- ब्रजनन्दन सहाय आदि कृतियां)

(२) अनुस्वार का उचित प्रयोग

शब्द में पूर्ववर्ती स्वर के उच्चारण के पश्चात् नासिका द्वारा उच्चरित होने वाली ध्वनि का चिह्न अनुस्वार होता है ।

इनके अतिरिक्त जिन मात्राओं का कुछ अंश वर्ण के ऊपर लगता है उन मात्राओं पर मुद्रण की सुविधा के लिए अनुनासिक स्वर संकेत चन्द्रबिन्दु के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग होता है ।

पञ्चमाक्षरों के स्थान पर भी अनुस्वार-प्रयोग की प्रथा उस काल में वर्तमान थी ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण स्थितियों में द्विवेदी युगीन बहुसंख्यक लेखक अनुस्वार का प्रयोग यथावत् करते थे, उदाहरणार्थ --

हंस, अलंकृत, स्वयंवर, प्रशंसा, विशेषांश सारांश,[3] चीनांशुक,[4] स्वयं[5]

(पञ्चमाक्षरों के स्थान पर अनुस्वार-प्रयोग के लिए दे० पञ्चमाक्षर संयोग १.क २.४(अ))

पुस्तकें, हमें, नहीं, वीरों,[6] परछाईं, झाईं[7]

उपर्युक्त उदाहरण तो द्विवेदी-युग के सामान्य प्रयोग के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु अन्य प्रयोग विशिष्टता के रूप में द्रष्टव्य हैं --

(३) अनुस्वार के स्थान पर चन्द्रबिन्दु

आलोच्ययुगीन भाषा में इस प्रकार की वर्तनी की दो कोटियां मिलती हैं--एक-- जहां उच्चारण तो अनुस्वार का है, किन्तु चिह्न अनुनासिक स्वर का है, यथा--`ढ ` अथवा `ढंग` शब्द में अनुनासिक ध्वनि पञ्चमाक्षर अथवा अनुस्वार होना चाहिए, किन्तु `सरस्वती` की प्रतियों में सर्वत्र `ढग` ही लिखा हुआ मिलता है, जैसे --

---

१- झरना -- प्रसाद । २- भाषा वि०-- श्यामसुन्दरदास०मु०२। ३- रसज्ञरंजन--म०प्र०द्वि०) ४- झरना-- प्रसाद । ५- हिंदी, पृ०२४--बदरीनाथ भट्ट । ६- रसज्ञ-रंजन--म०प्र०द्वि० । ७- झरना-- प्रसाद ।

बेढँगा, ढँग[१] ।

सम्भवत: द्विवेदी जी `ढँग` में `ढ` को पूर्णत: स्वरगत अनुनासिक ध्वनि मानते थे, अत: उच्चारण के अनुसार `बेढँग` शब्द लिखना उन्होंने दोषपूर्ण नहीं समझा । किन्तु अन्य अनेक कृतियों में `ढंग` के अनुस्वार अथवा पञ्चमाक्षर युक्त मिलता है स्वयं द्विवेदी जी के निबन्ध संग्रह `साहित्य सीकर` में `ढङ्ग` शब्द प्रयुक्त है(पृ०८९) और यही परम्परा आज भी वर्तमान है, अत: उक्त `ढँग` शब्द की वर्तनी आधुनिक प्रयोग की कसौटी पर दोषपूर्ण है ।

दूसरी कोटि `ई`, `ए`, `ऐ`, `ओ`, `औ` की मात्राओं वाले अक्षरों के साथ लगने वाले चन्द्रबिन्दुओं से सम्बन्धित है,जो यद्यपि अनुनासिक उच्चारण के अनुकूल है,यथा--

कहीँ, नहीँ, मैँ, कहैँ, हैँ,[२] बातोँ,[३] कविओँ, मुसल्मानोँ, पहाड़ोँ,
सौँधी सौँधी,[४] इसमेँ,[५] सोँचे,[६] पिँजड़े, शब्दोँ,[७] नहीँ, प्रमाणोँ,वाक्योँ ।

किन्तु मुद्रण की असुविधा को बचाने के लिए ऐसे स्थलों पर अधिकांशत: अनुस्वार का प्रयोग ही उचित समझा जाने लगा था । यदि हस्तलेखन में ऐसी वर्तनी का प्रयोग हो भी जाता था तो मुद्रण के समय उसे अनुस्वार में परिवर्तित कर दिया जाता था, जैसा कि तत्कालीन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है । फिर[८] भी यदि मुद्रित रचनाओं में ऐसे प्रयोग मिलते भी हैं तो वे लेखक अथवा प्रकाशक के संस्कारवश अथवा पाण्डुलिपियों में उचित रीति से संशोधन न किए जाने के कारण[९] । अत: तत्कालीन उक्त वर्तनी का संशोधित रूप

१- सर०भाग १५,सं०१,पृ०२४-नाथूराम प्रेमी तथा सर०भाग१६ सं०४पृ०१८१-१८५तक के लेख `समालोचना` में म०प्र०द्वि० द्वारा सर्वत्र प्रयुक्त।किन्नर देश में राहुल सा०पृ०७ ऐसे प्रयोग सर्वत्र नहीं हैं । प्राय: अनुस्वार से ही काम लिया गया है ।२- रामव० सुधा, द्वि०मु०१,१२।३- किन्नर देश में --राहुल सा०,पृ०७।४-सर०पा०अग०१९१७ -केशव मिश्र। ऐसे प्रयोग सन्दर्भित रचना में कहीं कहीं ही है अन्यथा सर्वत्र अनुस्वार ही लगाये गये है ।५-वही,नवम्बर१९१७, प्रार्थना--कर्ण।६- सर०भाग१७ ख०१ स०३,पृ०१५७(कविता) सनेही।७- इस पत्रिका मे अनुस्वार के प्रयोग भी मिलते हैं ।८-इसके उपरान्त भी कुछ लेखकों की रचनाओं में चन्द्रबिन्दुओं का प्रयोग ही सर्वत्र हुआ है, जैसे--सुधारकर द्विवेदीकृत--रामकहानी ।९- सरस्वती की मुद्रित रचना में कुछेक स्थलों पर ऐसे प्रयोग मिले है,किन्तु कामताप्रसाद गुरु के इस कथन से कि `सरस्वती` में अनुनासिक का प्रयोग केवल उन्हीं स्वरों के साथ किया जाता है,जिनकी मात्राओं का कोई खण्ड वर्ण के ऊपरी भाग में नहीं आता इस प्रकार की छपाई का उद्देश्य केवल प्रेस वालों का सुभीता है(सर०पा०सित०१९१७ अनुनासिक तथा अनुस्वारप्रयोग) यह सिद्ध हो जाता है कि `सरस्वती` पत्रिका में भी उक्त स्वरों के साथ चन्द्रबिन्दु के प्रयोग की प्रवृत्ति नहीं थी ।

ही आगे चलकर सर्वमान्य हुआ । इस प्रगति का संकेत कुछ रचनाओं में हुए द्विविध प्रयोगों से भी मिल जाता है, यथा--

चन्द्रबिन्दु -- सौंधी सौंधी[1] ।

अनुस्वार -- नहीं, में, ज्यों, त्यों, हैं आदि[2] ।

(च४) चन्द्रबिन्दु के स्थान पर अनुस्वार

पं० कामताप्रसाद गुरु ने १९१७ई० में `सरस्वती` पत्रिका में प्रकाशित स्वरचित निबन्ध `अनुस्वार तथा अनुनासिक` में हिन्दी में अनुस्वार तथा अनुनासिक(चन्द्रबिन्दु) प्रयोग के सम्बन्ध में अपना मत प्रकाशित करते हुए लिखा है कि `हिन्दी में अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु) लिखने का प्रचार अभी थोड़े ही वर्षों से हुआ है । यद्यपि संस्कृत में इसका प्रयोग अनादिकाल से होता आया है, तथापि हिन्दी में अभी तक बिन्दु का प्रयोग होता रहा है और उसके अनुस्वार तथा अनुनासिक दोनों उच्चारण सूचित होते थे`--गुरु के इस कथनानुसार तथा स्वयं के पर्यवेक्षण से यह तो सिद्ध होता है कि हिन्दी में चन्द्रबिन्दु के स्थान पर पहिले सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग होता था, फिर भी ~~भारतेन्दु~~ अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु) का प्रयोग भारतेन्दु के युग तक नियमपूर्वक होने लगा था । यद्यपि द्विवेदी युग तक आते आते अधिकांश रचनाओं में चन्द्रबिन्दु नियमानुसार लगाया जाने लगा था तथापि तत्कालीन लेखकों की पाण्डुलिपियों ~~कुछ~~ में कुछ एवं पत्र-पत्रिकाओं में चन्द्रबिन्दु के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग भी वर्तमान है । ऐसे प्रयोगों के उदाहरण `सरस्वती` की आरम्भिक (अर्थात् लगभग १९०५ तक की) प्रतियों की हस्तलिखित एवं प्रकाशित कृतियों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, यथा--

आंखें, सामग्रियां[3] ; भंवर, पहुंच, हूं, यहां, कांगा[4] ।
शक्तियां, यहां, भांति, मंडलियां[5]।

किन्तु जब द्विवेदी जी भाषा-सुधार कार्य के लिए कटिबद्ध हुए तो यह क्षेत्र भी उनसे अछूता नहीं रहा । उनके सुधारों का परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में `सरस्वती` उक्त त्रुटि से वंचित हो गई । सन् १९०६ की `सरस्वती` की प्रतियों में पाई जाने वाली अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु एवं अनुस्वार सम्बन्धी द्विविध प्रयोग इस बात के प्रमाण हैं कि द्विवेदी तथा उनके सहयोगियों ने अनुनासिक प्रयोग के क्षेत्र में सतर्कता आरम्भ कर दी थी, जैसे --

---

१- सन्दर्भ अन्यत्र दिया जा चुका है । ~~व०~~२-सर०पां०सित०१९१७ इस कृति में अनुस्वार अधिक हैं। ३- सर० पां०१९०३ ।४- वही १९०५ ।५- सर०भाग ५(१९०४) सं०४ ।

अनुस्वार-- कोठरियां, आंगन , हूं ।
अनुनासिक--सँभले, टँगा, माँग, पहुँचा ।[१]

सरस्वती के अतिरिक्त कुछ अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी अनुनासिक के साथ ही अनुस्वार के भी उदाहरण मिलते हैं, जैसे --

फंसे,[२] हूं,[३] हां ।[४] भांति, यहां हूं ।[५]

पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राय: स्वतन्त्र कृतियों में भी द्वैध रूप[६] मिलते हैं,यथा--

पहुँच, पाँचवीं, गाँव, लाँघ, बारहवां, वहां कहां[७]
यहाँ वहाँ, बाँध, कहां, यहां, वहां
आंधी, कुंवर, फांक, पहुँच, हँसा, फँसा[८]

अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग के लिए प्रयोगकर्ता की अनभिज्ञता को प्रमुख कारण मानना न्यायसंगत नहीं है । यथार्थता यह है कि मानव की यह प्रवृत्ति सदा ऐसी ही रही है कि व्यवहारिक रूप में वह प्राय: वही मार्ग ग्रहण करता है,जो सरल एवं सुविधाजनक होता है, अत: अनुनासिक एवं अनुस्वार सम्बन्धी प्रयोगों में भी भाषा-तत्वज्ञों द्वारा अधिक सतर्कता रखते हुए भी कालान्तर में लेखन तथा मुद्रण की सुविधानुसार अनुस्वार से ही दोनों का काम लिया जाने लगा । उदाहरण स्वयं आचार्य द्विवेदी के पत्रों की भाषा में ही वर्तमान हैं,यथा--

फंस,यहां, हूं, चलूंगा, जायं[९] आदि ।

इसी प्रकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्वारा चन्द्रबिन्दु के प्रयोग सम्बन्धी औचित्य का विशेष ध्यान रखते हुए भी उनकी `भारतमित्र' प्रेस से प्रकाशित कृति `शिवशम्भु के चिट्ठे' में सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग हुआ है, यथा--

कल्पनाएं, गाव, ऊंची, यहां, वहां आदि ।

यहां तक कि `प चमाक्षर और अनुस्वार' सम्बन्धी प्रयोगों की भांति अनुनासिक तथा अनुस्वार प्रयोग में भी एक ही लेखक के अलग अलग प्रकाशनों से प्रकाशित ग्रन्थों में अलग

१- सर०१६०६,स०५ । २-अभ्युदय ।३- भारतजीवन । ४- हितवार्ता । ५- वेंकटेश्वर समाचार। ६- भा० वर्ष का इति० पां०भाग३--मिश्र । ७- विस्मृत सम्राट--ब्रज०सहाय इनकी इस रचना में अनुनासिक का प्रयोग ही अधिक हुआ है । ८- अनु० का अन्वे०--जग० चतु०--चतुर्वेदी जी की इस रचना में अनुस्वार की ही प्रधानता है । ६- पं० शिवाधार को महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखा गया पत्र दि०दि० १४ मई, १६२० ।

अलग रूप मिलते हैं । उदाहरणार्थ--जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी को कलकत्ते से प्रकाशित कृति `अनुप्रास का अन्वेषण` में अनुस्वार प्रयोग की नीति गृहीत हुई है तो लखनऊ (गंगा पुस्तक माला) से प्रकाशित उक्त कृति (जो निबन्ध नियम में संगृहीत है) में अनुनासिक चन्द्रबिन्दु का प्रयोग हुआ है ।

तात्पर्य यह कि अनुनासिक और अनुस्वार के इस द्वन्द्व में अनुस्वार प्रयोग को ही विजय हुई, फलत: आज कतिपय लेखकों के निजी प्रयोगों को छोड़कर सर्वत्र अनुस्वार ही देखने को मिलता है ।

(५) अनावश्यक अनुनासिकता

लेखन में अनावश्यक रूप से अनुनासिकता होने के कारण प्रमुख दो कारण हैं-- पहला कारण है, किसी अक्षर के अनुनासिक उच्चारण का रूढ़िगत अभ्यास। यद्यपि उसकी वर्तनी अनुनासिकता रहित होती है, किन्तु उच्चारण की रूढ़ता के कारण लेखन में भी उसे अनुनासिक कर दिया जाता है । द्विवेदी जी की आरम्भिक रचनाओं के कुछ शब्दों की वर्तनी इसी श्रेणी में आती है, जैसे --

पुंछना, पुंछता, पुंछते, पुंछ, पांछ, कालिमां ।
मानों, मांनो, योहों, करैहोंगे, हीं, नें करनें ।[1]

किन्तु आपकी बाद की परिमार्जित भाषा की वर्तनी इस दोष से सर्वथा वंचित है । यद्यपि `पूछना` क्रिया में `पू` का अनुनासिकीकरण करना द्विवेदी जी तथा कुछ लेखकों का संस्कार बन गया था, जैसा कि `सरस्वती` की रचनाओं के प्रयोग से ज्ञात होता है, जैसे-- पुंछे[2], पूंछिये[3], पूंछ[4] सका आदि । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य रूढ़िगत उदाहरण भी मिलते हैं, यथा-- दुनियां[5], टोंका[6] किन्तु साथ ही भाषा में सुधार की प्रवृत्ति वर्तमान होने के कारण इन त्रुटियों का समाधान होता रहा ।

दूसरी कोटि में वे शब्द आते हैं जिनमें प्रयोग की असावधानी तथा भाषा की अल्पज्ञता के कारण अनुस्वार आदि लगा दिए जाते हैं, यथा--

पहंचान[7], उपहांस[8], यें, भीं[9], सें ।

[illegible]

१- बे०वि०रत्ना, हि०शि०तृ०भाग, मा०विलास से उद्धृत। २-सर०भाग४, १९०३। ३- सर०पां० १९०६-देवकीदत्त शुक्ल ।४-सर०भाग १६ खं०१, सं०५(कविता)मुकुट पाण्डेय ।५-लाल चीन-ब्रजनन्दनसहाय ।६-सर०भाग ४, १९०३। ७-बे०वि०रत्ना-द्वि० ।८- सर०पां०१९०६। ९-चुंगी की उम्मीदवारी--बदरी० भट्ट ।

ऐसे वर्तनी के शब्द बहुत कम हैं । जो हैं भी वे उन्हीं कृतियों में हैं,जिनकी भाषा अन्य रूपों में भी दोषपूर्ण मानी जाती है ।

(६) अनुनासिकता का लोप

तत्कालीन भाषा के वर्ण-विन्यास में कहीं-कहीं अनुनासिक संकेतों के न होने में दो प्रवृत्तियां वर्तमान हैं--एक तो, लेखन की असावधानता वश छोटी-छोटी त्रुटियों पर ध्यान न देना । यथा--वटुओ[1],नही[2], पण्डितो[3] आदि । ऐसे प्रयोग तत्कालीन कुछ लेखकों,यथा--सुधाकर द्विवेदी, पूर्ण सिंह, व्रजनन्दनसहाय एवं कवि निराला आदि की पाण्डुलिपियों में देखे जा सकते हैं । इनके अतिरिक्त द्विवेदी जी की भी आरम्भिक रचनाओं में यत्र-तत्र ऐसी त्रुटियां मिलती हैं ।

दूसरी प्रवृत्ति है-- अनुनासिक व्यंजनों के साथ अनुनासिक स्वर-संकेत की आवश्यकता न समझना[4] । यह प्रवृत्ति द्विवेदी-युग ने परम्परा से ग्रहण की थी । तत्कालीन अनेक लेखकों की भाषा में 'मे[5], मै[6], मा[7] आदि का प्रयोग उक्त प्रवृत्ति का ही प्रतिफल है । द्विवेदी जी की आरम्भिक रचनाओं में तो 'उन्होंने' 'उन्होने'[8] शब्द में 'हो' के आगे अनुनासिक ध्वनि 'ने' के वर्तमान होने के कारण 'हो' के साथ भी अनुस्वार लगाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है ।किन्तु आगे चलकर द्विवेदी जी ने उक्त त्रुटि में सुधार कर लिया तथा अन्य लेखकों की भाषा से भी यह दोष जाता रहा । द्विवेदीयुग में ही अधिकांश लेखकों ने नियमानुसार उपर्युक्त शब्दों में अनुनासिक-संकेत का प्रयोग किया है ।

(७) अनुस्वार विन्यास की विशिष्ट शैली

कवि निराला की अनुस्वार योजना सम्बन्धी अधोलिखित शैली विचित्र है--[9]

मात्राओं, अक्षरों, वन्दियों, क्योंकि आदि ।

यह शैली उनके हस्तलेखन तक ही सीमित रह गई । इस शैली का अनुसरण तत्कालीन अन्य लेखकों ने नहीं किया और न ही मुद्रण में इसका निर्वाह हुआ ।

---

१ रामभारद्वाज मिलन--सुधा०द्वि०।२- सर०पा०१६०६ एवं १६२० व्रज०सहाय एवं निराला, व्रज०सहाय की रचना में सर्वत्र 'नही' का ही प्रयोग है । ३- नैषधचरित०-द्वि०।४-भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युग के सन्धिकाल के कुछ भाषाविदों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार भी व्यक्त किये थे । तदनुसार हिन्दी प्रदीप में ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं ।जैसे-- दोनो, जनो आदि । ५ नैषध चरित०--द्वि० तथा सर०पा०१६२०--निराला ।६- नैषधचरित०- द्वि० ।७-सुदर्शन--(गुरु) प चपात्र(बख्शी), चोखे चौपदे(हरिऔध)मिलन-(रामनरेश त्रिपाठी) आदि कृतियों में प्रयुक्त। ८- नैषधचरित चर्चा--द्वि० तथा सर०पा०१६०६--विप्रलेखन -द्वि०। ६- सर०पा० १६२०- बंगभाषा का उच्चारण ।

क.५.विसर्ग-सम्बन्धी

विसर्ग-प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदी-युग की विशेषता यह है कि इस काल में भाषा को अधिक-से-अधिक संस्कृतनिष्ठ बनाने के उद्देश्य से संस्कृत शब्दों को तत्सम रूप में ही ग्रहण करने की जो प्रवृत्ति विराजमान रही है, उसके परिणामस्वरूप विसर्ग-युक्त शब्दों की वर्तनी में भी कोई परिवर्तन न करके उन्हें ज्यों का त्यों रहने दिया गया है। उदाहरणस्वरूप-- `दु:ख` शब्द को ले सकते हैं। भारतेन्दु युग में इसके नियम में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं बर्ती गई है। `दु:ख` तथा `दु:ख` में विभिन्न प्रत्ययों के योग से बने शब्द,यथा-- दु:खवाद, दु:खान्त, दु:खिनी, दु:खित आदि अपने शुद्ध रूप में तत्कालीन कृतियों(बाबू बालमुकुन्द गुप्त,महावीर प्रसाद द्विवेदी की रचनाओं द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में संगृहीत प्रेमचन्द की कृति सर० में प्रकाशित नाथूराम शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त,केशव प्रसाद मिश्र तथा निराला तथा इन्दु में प्रकाशित प्रसाद आदि कीकृतियों)में प्रयुक्त किए गये हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य शब्द,जैसे क्रमश:, साधारण:, क्र: क्रि: हि: आदि का प्रयोग भी (प्रसाद,मिश्रबन्धु, बख्शी जी आदि की भाषा में) वर्तमान है।

विसर्ग-प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदीयुगीन विशेषता यह है कि जहां भारतेन्दु अथवा उनके मण्डल के लेखकों द्वारा विसर्ग का प्रयोग हिन्दी तथा विदेशी शब्दों के साथ भी हुआ मिलता है, वहां द्विवेदी-युग में केवल संस्कृत शब्दों के साथ ही इसका प्रयोग हुआ है। जैसे- `दु:ख` में यदि `ड़ा` प्रत्यय लगाकर हिन्दी शब्द बनाया गया तो द्विवेदी जी ने उसे `दुखड़ा` लिखा `दु:खड़ा` नहीं[1]। इसी प्रकार फारसी शब्दों में `है` के स्थान पर विसर्ग का प्रयोग न करके `है` को 'आ' में परिवर्तित कर देने की प्रणाली को औचित्य प्रदान किया गया।[2]

क्र ६.हल्-चिह्न(्) प्रयोग सम्बन्धी

यह संकेत संस्कृत व व्यंजनों की स्वर-रहितता का सूचक है। हिन्दी में इसका आगम संस्कृत के माध्यम से हुआ है और दो रूपों में यह व्यवहृत होता है-- एक, बिना पाई वाले व्यंजनों को दूसरे व्यंजन के साथ संयुक्त करने में तथा दूसरा, संस्कृत के व्यंजनान्त शब्दों के

१- सर०भा०१६०६- कन्यादान`, पूर्णसिंह। २- इस सम्बन्ध में उपाध्याय जी लिखते हैं-- फारसी की ध्वनि के हे(मुख़फी) का प्रयोग हिन्दी में आ ही जाता है--रोजा,कूजा, सब्जा, जर्रा आदि। कुछ लोगों ने इस `है` के स्थान पर विसर्ग लिखना प्रारम्भ किया था अब भी कोई इसी प्रकार लिखना पसन्द करते हैं, जैसे रोज़:, कूज़:, सब्ज़:, जर्र: आदि। परन्तु अधिक सम्मति इसके विरुद्ध है। मैं भी प्रथम प्रणाली को ही अधिकतर युक्तिसंगत समझता हूं (हिंभा० और सा० का वि०--उपाध्याय,पृ०१०१)।

के अन्त में । भारतेन्दु युगीन भाषा में व्यंजनों के संयोग में इसका प्रयोग अधिक किया गया है । यहां तक कि बहुधा पाई वाले व्यंजनों के ह्रस्वीकरण में भी इस चिह्न का प्रयोग मिलता है,जैसे-- स्नान, त्याग, मनुष्य, स्वप्न, जिस्से आदि । किन्तु द्विवेदी-युग तक इसका प्रयोग क्रमशः उत्तरोत्तर कम होने लगा था । तद्युगीन भाषा में कतिपय स्थलों को छोड़कर हल चिह्न० का प्रयोग बिना पाई वाले वर्णों के ह्रस्वीकरण में ही करने का प्रयास किया गया है । उदाहरणार्थ--

अङ्०कुरित, अलङ्०कृत, उद्घाटन, हृद्गत[1]

सङ्०ग्राम, सङ्०घर्ष, उद्वेल, उद्भ्रान्त[2]

निरङ्०कुशता, सङ्०कुचित[3] , सङ्०गृहीत[4],पद्म[5]

संस्कृत-रचना-पद्धति के अनुसार ।ङ०। के संयोगी व्यंजन को उसके नीचे लिखने का विधान होना चाहिए और सरस्वती की आरम्भिक कृतियों में प्राय: ऐसा ही पाया जाता है[6], यथा-- अङ्कुर, प्रियङ्गु आदि । किन्तु उक्त संयोगों में संयोगी अक्षर के उ-ऊकारान्त एवं ऋकारान्त(मात्राओं से युक्त) होने के कारण मुद्रण में असुविधा का अनुभव कर प्रयोगकर्ताओं ने ।ङ०। को हलन्त करके संयुक्त करने की उपर्युक्त शैली (अङ्०कुरित, निरङ्०कुशता आदि) को अधिक प्रमुखता दी । उसके अनुसरण स्वरूप बिना उपर्युक्त मात्राओं वाले अक्षरों का संयोग भी ।ङ०। को हलन्त करके ही किया जाने लगा,यथा-- सङ्०ग्राम, सङ्०घर्ष आदि । किन्तु बाद की कृतियों में ।ङ०। को अनुस्वार में परिवर्तित करने की प्रथा ही चल पड़ी[6] ।

इधर ।द। को हलन्त न करके उसके संयोगी व्यंजन को शिरोरेखा -रहित करके उसके नीचे जोड़कर लिखने की शैली[7] भी उसी युग में[8] चल पड़ी थी, जैसे--

सिद्धि,बुद्धि,युद्ध पद्माकर, अद्भुत

उक्त द्विविध प्रयोगों से इस बात का संकेत मिलता है कि आगे चलकर वर्ण-संयोग में हल चिह्नों का प्रयोग न्यून होता गया ।

जहां तक संस्कृत के व्यंजनान्त शब्दों के अन्त में हल चिह्न के प्रयोग की बात है,

----

१ द्विवेदी--रसज्ञ रंजन एवं सर० भाग २२ खं०१, सं०१,पृ०१-२ में प्रयुक्त ।२-रा०च०उपा० सर०भाग२२ खं०१ सं०१ तथा वही भाग २२ खं०१ सं०४(कविता) में प्रयुक्त ।३-बदरी०भट्ट--सर०भाग १६, खं०१ सं०४। ४-नलिन मो० सान्याल--स०भाग २५ खं०२ सं०२ ।५- इन्दु,जन० सन १६१४, पृ०१ ।६- सर०भाग ६ सं०१,पृ०१५(कविता)--गुप्त । ६-द्विवेदी जी कृति-रसज्ञ रंजन में `अलङ्०कृत` तथा `अलंकृत` दोनों ही रूप मिलते हैं । शेष दे०प चमत्कार संयोग भी ।७- सर०भाग २३ खं०१ सं०४--द्विवेदी । ८- रसज्ञ रंजन--द्विवेदी ।

द्विवेदी युगीन भाषा में विसर्ग की भांति इसका प्रयोग भी नियमित रूप से हुआ है । भारतेन्दु-युग में कहीं-कहीं यदि शब्द का हिन्दीकरण करके हल चिह्न का लोप भी कर दिया गया है, तो द्विवेदी-युगीन भाषा अपनी शुद्धता को अक्षुण्ण रखती हुई इस दोष से प्राय: वंचित है । कुछ रचनाओं से उद्धृत प्रयोग इस प्रकार हैं--

अर्थात्[1] पुण्यवान्; अर्थात् पृथक्, बुद्धिमान्, अकस्मात्, गड़गड़,
तृणवत्[2]; विराट्[3]; परिषद्[4];हटात्[5]; भाग्यवान्, अर्थात्
दीप्तिमान्[6] विद्यमान् आदि ।

क.७.फारसी तथा अंगरेजी ध्वन्यनुकूल वर्णों के नीचे बिन्दी(.)के प्रयोग सम्बन्धी

हिन्दी भाषा में प्रयुक्त फारसी की ध्वनियों, यथा-- क़, ख़,ग़, ज़,फ़ तथा अंग्रेजी के ज़,फ़ के प्रयोग से सम्बन्धित द्विवेदीयुगीन विशेषता यह है कि उस युग में जैसे संस्कृत-शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर ध्यान दिया जाता था, उसी प्रकार अधिकाधिक लेखकगण उक्त विदेशी ध्वनियों को भी बिना किसी परिवर्तन के प्रयोग करने के पक्षपाती थे(दे० हिन्दी की प्रमुख समस्यायें-अ०सि० उपाध्याय का मत सं०१- २.२)। यद्यपि इसके विपरीत कुछ हिन्दी निर्माता इन ध्वनियों से बिन्दी को हटाकर उनको हिन्दी ध्वनि के अनुकूल बनाकर लिखने में ही हिन्दी का हित समझते थे (दे० हिन्दी की प्रमुख समस्यायें- जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी का मत सं०१--२.२) तदपि अधिकांश लेखकगण उनकी बिन्दियों का परित्याग नहीं कर पाये थे । तात्पर्य यह है कि वर्तनी की शुद्धता की दृष्टि से उक्त ध्वनियों का मूलरूप से प्रयोग उस युद्ध की सामान्य रीति थी,जैसा कि तत्कालीन प्रयोगों से प्रकट होता है । कुछ लेखकों की रचनाओं से लिये गये,कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं --

ग़रज़, नाराज़, इज्ज़त[7] ; ख़ूबी[8]; इज्ज़त,नाराज़, ज़रूर, चीज़ें[9];
ग़लत,कमज़ोरी,ज़ोर, ग़दर[10], हज़ार, दफ़े, ज़रा, चीज़, अख़बारों[11],
क़लम, ज़माने;आदि,• ख़ास; ख़ासा, सफ़ेद,बर्फ़,ज़मीन,साफ़,ख़बर

१-किराता०--द्विवेदी। २- रसज्ञ रंजन--द्विवेदी ।३- सा०सी०--द्विवेदी ।४-निबन्ध नियम--जग०चतु०।५- पं चपात्र--बख्शी । ६- सर०पा०नवम्बर१६१७(लेख)--बुद्धिनाथ झा ।७-सुधा० द्वि०--राम क०भू०-१।८-म०प्र०द्वि०--किराता०,पा०भू०७३। ६- म० प्र० द्वि०--आलोचनांजलि, पृ० १३७ । १०- म०प्र० द्वि०-- सा० सी० । ११- मिश्रबन्धु-- मिश्र०वि० भू०पृ०६ ।

खरीदेगा, फिक्र, ताकत;[1] सफ़ाफ, इज्जत, वरगला, फिजूल;[2]
तअल्लुकेदार, फारसी, अंगरेजी;[3] जिल्म, हजारों;[4] नजर,
खिताब, गारत, खराब, जरा, कमजोर;[5] बेजरूरत;[6] गजट;[7]
फानोग्राफ ।[8]

किन्तु जैसा कि द्विवेदी-युगीन भाषा सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन में हम देख चुके हैं, हिन्दी मुद्रण की असुविधा तथा उच्चारण की अनियमितता को दूर करने की दृष्टि से उक्त ध्वनियों से नुक्ता (.) हटाने का प्रश्न उसी युग में छिड़ गया था । उत्तर द्विवेदी युग तक कई लेखकों तथा मुद्रकों ने नुक्ते को हटाने का अभियान आरम्भ भी कर दिया था, जिसके फलस्वरूप तद्युगीन रचनाओं में कहीं-कहीं बिन्दु का प्रयोग नहीं भी हुआ है, यथा--

चीज, जिन्दगी;[9] हाजिर, फारसी, फारिस आदि ।[10]

क.८. रूपान्तरित पदों की वर्तनी- सम्बन्धी

आलोच्य-युग में कुछ रूपान्तरित पदों(विशेषत: क्रिया) की वर्तनी के प्राय: दोहरे रूप प्रचलित थे ।जैसे -- क्रिया-- किया- किआ, हुआ- हुवा, हुए-हुवे, जाए- जाये, जावे, देखिए- देखिये, वस्तुएं- वस्तुयें, कवियों-कविओं आदि । उक्त द्वैध-रूपों में प्रथम रूप तो वह है जो खड़ीबोली की परिनिष्ठता की तुला पर खरा उतरता है और जो भाषा के स्वरूप के निर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुमोदित था (ऊपर दिये गये उदाहरणों में प्रथम प्रकार केशब्द इसी कोटि में आते हैं) ।दूसरा वह रूप था जो युग-विशेष में परम्परागत रूढ़िवादिता के फलस्वरूप प्रयोग में भले ही लाया जा रहा था, किन्तु सैद्धान्तिक रूप से उसे सर्वमान्यता प्राप्त नहीं थी(इस वर्ग में दूसरे प्रकार के शब्द-रूप आते हैं)। इन वर्तनी-भेदों को स्पष्टरूप से समझने के लिए

१-बख्शी-- पंचपात्र,पृ०५८,५६,६७। २-बदरी०भट्ट-- चुंगी की उम्मीदवारी।३- सर० भाग५,पृ०१४१- सम्पादकीय।४- सर०पा०नव०१६१७ श्रीमन्नारायण ।५- इन्दु-जन०१६२७, पृ०२। ६- अभ्युदय । ७- सर०पा० १६०६ देवनागरी में गवर्नमेंट गजट--देवीदत्त शुक्ल । ८- अभ्युदय । ६- द्वि०अभि०ग्र०--प्रेमचन्द,पृ०२३७ । १०- शि०श० के चिट्ठे--बा०मु०गु० पृ०२२,२३ आदि ।

अधोलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है --

८.१ क्रिया के भूतकालिक एवं सम्भावनार्थ रूपों(सम्भवनार्थ से ही निर्मित आज्ञार्थक एवं भविष्यत्कालीन रूपों में भी) जैसे-- हुआ, आओ, आयेगा, जाएगा आदि में ।व। का आदेश होना । उदाहरणार्थ --

हुवा, हुवा[1]

आवो, बुझावो, दिखावो, गावो[2]

उक्त प्रयोग अधिक नहीं है (दे० पाद टिप्पणी)

आवे, आवेगा, आवेंगे, आवेगी, उठावे, कंपावे, गिनावे, घबड़ाये,
चढ़ावेंगे, छिपावे, जावे, जावें, जावेगा, जावेंगे, जावेगी, ढोवेगा [3]
दिखावे, देवे, देवेंगे, पावे, लावेगा, होवे, होवेगा आदि ।

इस प्रकार के प्रयोग तत्कालीन अधिकांश लेखकों की भाषा में मिलते हैं, जिसका कुछ संकेत पाद टिप्पणी के अन्तर्गत दिये गये सन्दर्भों से ही मिल जाता है । यद्यपि युग-प्रवृत्ति के अनुसार इस प्रयोग में भी पर्याप्त सुधार हुआ । स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी इस ओर ध्यान दिया । किन्तु कुछ पूर्व-संस्कारों से युक्त लेखक इस प्रकार के वर्ण-विन्यास से अपनी लेखनी को मुक्त नहीं कर पाये ।

८.२ एकारान्त संज्ञा, अव्यय तथा क्रिया पदों, यथा-- वस्तुएं, लिए, देखिए, जाए, आदि में ।य। व्यंजन का आदेश, जैसे --

वस्तुयें, (के) लिये, (इस) लिये, चाहिये, देखिये, कीजिये, हुये आदि[4]

उपर्यांकित प्रयोगों में `वस्तुयें`, `हुये` आदि रूप तत्कालीन भाषा में विरल हैं किन्तु अन्य रूप प्रायः लेखकों की भाषा में मिल जाते हैं । प्रसाद की रचना `चित्राधार`

१- भा० का इति०(तृतीय सं० के लिए संशोधन)--मिश्र तथा पंचपात्र--बख्शी। २- केवल द्विवेदी जी की रचनाओं यथा--के देवीदत्त शुक्ल के नाम लिखित पत्र, लोअर प्राइमरी साइंस रीडर, १९०५ स०पा०१९०६(हस्तलेखन), स०पा०१९०६ प्रणय की महिमा में प्रयुक्त। आगे चलकर द्विवेदी जी ने इसमें भी सुधार करके ।व। रहित वर्तनी को ही ग्रहण किया । ऐसे प्रयोग द्विवेदी जी के एवं उनके युग में अधिक नहीं हुए और कालान्तर में।व। ध्वनि का लोप इसलिए हो गया, क्योंकि उच्चारण में ।व। अनुच्चरित ही रह जाता है ।
३-इन्दु और सरस्वती पत्रिका के पृष्ठों तथा राम क०(सुधा०द्वि०), शिवशम्भु के चिट्ठे(बा० मु०गु०), मिश्र०विनोद(मिश्रबन्धु), सा०सी०(द्विवेदी), पत्र(द्विवेदी), पचपात्र(बख्शी)हि०सा० का कवि०(उपाध्याय) काव्यवाटिका(रा०च०उपा० की रचना), नन्दननिकुंज(चण्डीप्रसाद की रचना) से उद्धृत। इन्दु से उदाहरण प्रसाद की रचनाओं से तथा सर० उद्धृत उदा०मुख्यत: शुक्ल और उपाध्याय`हरिऔध` की कृतियों से लिये गये हैं।४-सर०१९०४,१९१६,१९१७,१९२२ की पाण्डुलिपियों, वेंकटेश्वर समाचार, प्रसादकृत `चित्राधार` (शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

तथा रामचन्द्र शुक्ल की रचना `गोस्वामी तुलसीदास` में लगभग उक्त शैली ही विराजमान है । यद्यपि कहीं-कहीं उपर्युक्त प्रयोग भी देखने को मिल जाते हैं,जैसे `लेटे लेटे हुए`, रोते हुए (चित्राधार पृ०४३ तथा १०३ पर क्रमश:) । द्विवेदी जी उक्त प्रकार के एकारान्त पदों में ।य। का आदेश नियम-विरुद्ध मानते थे, अत: इस प्रकार के प्रयोगों को सुधारने के लिए उन्होंने सरस्वती की पाण्डुलिपियों में बहुत तत्परता से अपनी लेखनी चलाई है । यही कारण है कि `सरस्वती` की मुद्रित प्रतियों में ऐसे प्रयोग नहीं मिलते ।

८.३.`या` कारान्त संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं क्रिया(भूतकालिक) पदों, यथा-- कवियों, ये , नये , आए आदि से ।य। ध्वनि का लोप कर देना, उदाहरणार्थ--

कविओं, बोलिओं[१]

ए (प्रयोग-- फिर यदि ए विज्ञापन,[+] ए जगह उजागर....

ए जग पावन वेद है, ए बातें)[२]

नए, नए-नए[३]

किआ आए,किए,दिए,गए,लाए गए, फैलाए आदि[४][५]

उक्त प्रयोगों के समर्थन में नागरी प्रचारिणी सभा का विचार था कि जहां उच्चारण में स्वर से काम निकलता है वहां व्यंजन की आवश्यकता नहीं है,क्योंकि ऐसे प्रयोगों में ।य। ध्वनि अनुच्चरित ही रह जाती है, इसी दृष्टिकोण से तत्कालीन प्रतिनिधि लेखकगण उक्त शैली का ही निर्वाह कर रहे थे । किन्तु द्विवेदी जी इसके विरुद्ध नियमानुसार ध्वनि-प्रयोग के पक्ष में थे,अत: उन्होंने उक्त रूपान्तरित शब्दों

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
रामचन्द्र शुक्ल रचित `गोस्वामी तुलसीदास` आदि के पृष्ठों से उद्धृत ।

---

१ रामक०(मू)--सुधा०द्वि० । मिश्र जी के इस प्रयोग में सुधाकर द्विवेदी जी ने `ए` के स्थान पर `ये` बनाया है ।२- सर०पा० १९०३(लेख) --मिश्रबन्धु, सर०पा० १९१७(कविता) उपाध्याय, चुभते चौपदे उपाध्याय । ३- रामक०--(मू०) सुधा०द्वि० तथा द्वि०अभि०ग्र० (पृ०१५६-- लेख) शुक्ल । ४- सर०पा० (१९०५)-- वेणी प्रसाद । ऐसे प्रयोग बहुत कम है । ५- सर०पा०१९०६(मिश्रबन्धु), १९१७(रा०च०उपा०) , मिश्रबन्धु विनोद(मिश्र०),हि०सा० का इति (शुक्ल),हिन्दी (बदरी०भट्ट) आदि से उद्धृत । `मिश्रबन्धु विनोद` (मिश्र०) एवं हिंदी(बदरी०भट्ट) में तो सर्वत्र ऐसे ही प्रयोग हुए हैं ।

की वर्तनी का खण्डन करते हुए `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई अनेक लेखकों की कृतियों में उक्त प्रकार की वर्तनी का सुधार भी किया है । `सरस्वती` की पाण्डुलिपियों में ऐसे सुधार बहुसंख्यक हैं) । ये- ए के प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदी जी द्वारा अनुमोदित नियम के विरुद्ध एक प्रश्न यह उठा था कि जब `इसलिए`, `चाहिए` आदि लिखते हैं तो क्रिया के `लिए`, `दिए` रूप से क्या आपत्ति है ? इस प्रश्न का समाधान यह कह कर किया गया कि जब इन (पूर्वोक्त) शब्दों का आकारान्त नहीं होता, अर्थात् `इसलिया`, `चाहिया` आदि नहीं लिखा जाता तो `इसलिये`, `चाहिये` क्यों लिखा जाय[1] ?

८.४. `रखना` क्रिया के रूपान्तर में ।ख्। व्यंजनागम-- `रखना` के भूतकालिक एवं सम्भावनार्थ उच्चारण में बलाघात के कारण मध्य में ।ख्। का आदेश करके उच्चारण के अनुकूल रक्खा, रक्खे आदि लिखने की जो प्रथा द्विवेदी-युग-पूर्व से चली आ रही थी, वही द्विवेदी युग में भी सर्वमान्य थी । अत: आलोच्ययुगीन प्राय: सभी लेखकों की भाषा में रक्खा, रक्खे रूप ही मिलता है[2] ।

परन्तु उक्त युग में ही कुछ द्विविध प्रयोगों की वर्तमानता से ।ख्। के क्रमश: लोप होने का भी संकेत मिलता है । अयोध्यासिंह उपाध्याय की कृति `चोखे चौपदे` में रक्खे तथा `रखे` दोनों ही रूप मिलते हैं[3] । उनकी बाद की रचना `हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास` में `रखा` रूप ही वर्तमान है । इसी प्रकार `प्रभा` पत्रिका की प्रति में भी दोनों रूप व्यवहृत हैं । इस रूप-परिवर्तन में मुद्रण की सुविधा ही कारणीभूत है अन्यथा यह प्रयोग युगविशेष में दोषपूर्ण नहीं समझा गया ।

'रखना' क्रिया के रूपों को छोड़कर रूपान्तरित शब्दों की वर्तनी सम्बन्धी उक्त द्विविधताएं भी भाषा की सुनिश्चितता एवं एकादर्शता की स्थापना के अभियान में बाधक सिद्ध हो रही थी । अत: इन द्विविधताओं एवं अनेकताओं को दूर करने की समस्या भी आलोच्य युग में उठ खड़ी हुई थी । (दे० `द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं`) । कालान्तर में परस्पर की आलोचनाओं- प्रत्यालोचनाओं द्वारा इस दिशा में भी पर्याप्त सुधार हुआ ।

---

१ -दे०सा०सी०-- द्विवेदी । २- दे० बख्शी--पञ्चपात्र, पृ०६१, द्विवेदी--सर०भाग ५ सं०५, पृ०१४१, प्रेमचन्द-- द्वि० अभि०ग्र०, पृ०२३६, ब्रजनन्दनस०-- लाल चीन, पृ०१८५ आदि । ३ दे० उक्त कृति के पृष्ठ २३, २४, ३८ आदि ।

वर्तनी-सम्बन्धी उपर्युक्त विशिष्टताओं के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि द्विवेदी युग में भी कुछ तो परम्परावश तथा कुछ लेखकों के निजी संस्कार तथा तत्कालीन परिस्थितियों के कारण वर्ण-विन्यास में अनियमितता तथा द्वैधता वर्तमान थी, किन्तु साथ ही हिन्दी भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में जागरूकता होने के कारण भाषा की अनिश्चितता तथा द्वैधता हटा कर उसे निश्चित स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा भी की जा रही थी और उत्तर द्विवेदी-काल तक आते-आते इस अभियान में पूर्णत: तो नहीं, किन्तु अधिकांशत: सफलता तो मिल ही गई। अर्थात् उत्तर-द्विवेदीकाल तक वर्तनी-सम्बन्धी बहुत सी द्विविधताओं को समाप्त कर भाषा में पर्याप्त सुधार कर लिया गयाथा।

१.ख.सामान्यताएं

इस शीर्षक के अन्तर्गत द्विवेदी-युगीन भाषा के उस रूप का अध्ययन होगा जिसमें वह अनेक परिवर्तनों-अपरिवर्तनों के मार्ग से होती हुई एक निश्चित स्वरूप पर पहुंच गई थी अर्थात् जिसे सामान्यत: परिनिष्ठित साहित्यिक हिन्दी के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। जैसा कि अभी देख चुके हैं, आलोच्यकाल के आरम्भ में वर्ण-विन्यास के क्षेत्र में अनेक विभिन्नताएं विराजमान तो थीं, किन्तु धीरे-धीरे एक-दूसरे के सुझावों एवं प्रयोगकर्ताओं की निजी साधना के फलस्वरूप बहुत सी असम्मानताएं समाप्त हो गईं। यदि किसी लेखक के लेखन में किसी प्रकार की असावधानी अथवा दुर्बलता रह भी जाती थी तो वह पत्रिकाओं के सम्पादकों अथवा पुस्तक-प्रकाशकों द्वारा सुधार दी जाने लगी। फिर भी किसी भी भाषा में द्विविधता तो उसकी विकासशीलता का प्रतीक है, अत: वर्तनी के प्रयोग के सम्बन्ध में भी एकादर्शता स्थापित करने के अनेक प्रयासों के उपरान्त भी कहीं न कहीं द्वैध रूपता बनी रही, वह भी उसकी सामान्यता ही समझी जानी चाहिए। तत्कालीन भाषा के वर्णविन्यास के सामान्यरूप का अध्ययन अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करना समीचीन होगा --

ख.१. स्वर-विन्यास

१. मूल स्वर

[१] [अ] से [औ] तक

इन ध्वनियों के नियोजन में प्राय: भाषा के सामान्य नियमों का ही पालन किया

गया । यद्यपि कुछ लेखकों की भाषा-सम्बन्धी व्यक्तिगत अल्पज्ञता अथवा स्थानीय प्रभाव अथवा प्रयोग सम्बन्धी स्वच्छन्दवादिता के कारण कहीं-कहीं पर वर्ण-विन्यास-सम्बन्धी अव्यवस्था वर्तमान थी भी तो उसे सम्पादकों,प्रकाशकों एवं भाषा सुधारकों द्वारा संशोधित कर(दे०स्वर सम्बन्धी विशिष्टताएं) स्वरों की वर्तनी के जिस सामान्यरूप को व्यवहार में लाया गया, वह इस प्रकार है --

स्वर	आदि	मध्य	अन्त्य
।अ।	अनेक	नगर	लाभ[1]
।आ।	आकार	प्रकार	कामना
।ऑ।[2]	ऑफ,ऑक्सफोर्ड	जॉन,मैकॉले	--
।इ।	इधर	दिन	आदि
।ई।	ईसवी	प्राचीन	बड़ी
।उ।	उसमें	पुस्तक	साधु
।ऊ।	ऊपर	[illegible]	जादू
।ऋ।	ऋण	हृदय	मातृ-पितृ
।ॠ।	(हिन्दी में इस रूप के स्थान पर ह्रस्व रूप ही प्रयुक्त होता है)		
।ए।	एक,एकान्त[3]	मेरा	रूपे
।ऐ।	ऐसा	जैसा	है, कहै[4]
।ओ।	ओर	विरोध	कहो
।औ।	और,औरत	कौन	तौ,कहौ[5]

१- हिन्दी में ।अ। स्वर युक्त व्यंजन का उच्चारण स्वर-रहित व्यंजन के समान ही होता है । यही कारण है कि हिन्दी वर्णमाला में व्यंजन ध्वनियां हलन्त(क्,ख्,ग्,घ्) आदि रूपों में न लिखी जाकर स्वरयुक्त रूप(यथा--क,ख,ग, घ आदि) में लिखी जाती है।

२- उत्तरद्विवेदीकाल तक अंग्रेजी शब्दों के शुद्ध उच्चारण में [illegible] । तथा लेखन के दृष्टिकोण से हिन्दी वर्णविन्यास के अन्तर्गत यह ध्वनि आ गई थी, किन्तु उस समय तक सर्वत: वर्तित नहीं हो पाई थी । इसका प्रयोग कुछ ही रचनाओं में मिलता है ।

३- ।ए। ध्वनि का उच्चारण दीर्घ एवं ह्रस्व दोनों प्रकार से होता है जैसे `एक` में ।ए। के उच्चारण में जहां दीर्घता है,वहीं `एकान्त` में ।ए। के उच्चारण में ह्रस्वता आ जाती है ।

४,५-- स्वर-वृद्धि का यह रूप यथा कहै,करै,जावै,बातैं तौ, कहौ आदि पुरानी परम्परा के लेखन में तो मिलता है किन्तु ऐसे प्रयोगों में उन्हीं दिनों सुधार भी होने लगा था, जिसके फलस्वरूप नवोदित लेखकों ने इस शैली का आश्रय नहीं लिया (दे०विशिष्टताएं स्वरवृद्धि)।

(२) अनुनासिक स्वर

अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार लगाने की पुरानी रीति का प्रचलन इस युग में पुन: आवर्तित हो गया था और आज भी अनुस्वार की ही प्रथा वर्तमान है, किन्तु युग-विशेष में ऊपर की मात्राओं वाले स्वरों को छोड़कर शेष में अनुनासिक चिह्न लगाने का ही अधिक प्रचलन था । ऊपर की मात्राओं वाले स्वरों में प्राय: तो अनुस्वार ही लगाया जाता था, किन्तु कुछ पुरानी परिपाटी के लेखक भाषा की अधिक शुद्धता के विचार से उनपर भी चन्द्रबिन्दु ही लगाते थे, इस प्रकार उक्त स्वर के प्रयोग में प्राय: द्वैध स्वीकार कर लिया गया था, यथा--

स्वर	आदि	मध्य	अन्त्य
।अं।	अंगरेजी, अंगरेजी	बंगला, बंगला	जायं, जायं
।आं।	आंख, आंख	भांति, भांति	यहां, यहां
।इं।	इंगलैंड	[illegible], पिंजड़े	--
।ईं।	ईंधन	सींचना, सींच	नहीं, नहीं
।उं।	उंगली, उंगली	पहुंचा, पहुंचा	--
।ऊं।	ऊंघता	डूंगा, [illegible]	जाऊं, हूं
।एं।	--	करेंगे	में
।ऐं।	ऐंठन	कहेंगे	हैं, हैं
।ओं।	ओंकार	होंगे	बातों,[1] प्रमा
।औं।	औंधा	कौंधना	बातौं

----

१ ।ओं। ही स्वर वृद्धि की परम्परा के कारण ।औं। हो गया है । ऐसे प्रयोग आलोच्य-युग में अधिक नहीं हुए हैं ।

(३) विसर्ग (:) - प्रयोग

विसर्गों का प्रयोग हिन्दी में आगत संस्कृत शब्दों की रचना में नियमानुसार हुआ है । भारतेन्दु युगीन भाषा में इनका प्रयोग हिन्दी, फारसी शब्दों में भी कर दिया गया है, किन्तु द्विवेदी-युग में केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों में ही विसर्ग लगाये गये हैं , अन्यत्र नहीं । द्विवेदी-युग की इसी विशेषता को दृष्टिगत कराने के उद्देश्य से इनके उदाहरण विशिष्टताओं के अन्तर्गत रखे गये हैं ।(दे० विशिष्टताएं-विसर्ग प्रयोग)।

२. संयुक्त स्वर -- संयुक्त स्वरों में भी प्राय: अनियमितता का प्रश्न नहीं उठता, अत: तत्कालीन प्रवृत्तिमात्र के उद्बोधन के लिए यहां कुछ उदाहरण दे दिये जा रहे हैं --

स्वर	प्रयोग	स्वर	प्रयोग
अ+इ	सेवइया, गवइया	आ +ऊ	नाऊ, नाऊ
अ+ई	गई, नई, कई	आ +ए	आए, साए
अ+ए	गए, अतएव	आ+ओ	आओ, गाओ
आ+इ	काइयाँ, दाइयाँ	इ + ए	देखिए, कीजिए
आ+ई	आई, कुटाई	ओ+ ई	कोई, धोई
आ+उ	राउत, नाउन	ओ+ए	बोए, सोए

ख.२.व्यंजन-विन्यास

१. मूल व्यंजन -- मूल व्यंजनों के प्रयोग में अधिक अनियमितता नहीं है । लिपिगत समता के कारण तथा सूक्ष्मरूप से ध्यान न देने के कारण कतिपय व्यंजनों ड,ड़,ढ,ढ़,ब,व का अस्थानिक प्रयोग प्रारम्भिक कृतियों में हुआ मिलता है, किन्तु कालक्रम से इन त्रुटियों को सुधार कर एक स्तरीयता स्थापित की गई ।

[क] स्पर्श व्यंजन

अल्पप्राण	आदि	मध्य	अन्त्य
/क/	कथन	ठिकाना	ठीक
/ग/	गवाही	अगर	प्रयोग
/च/	चाहता	लाचारी	पहुंच
/ज/	जगत	निर्जीव	आज
/ट/	टीका	नाटक	पेट
/ड/	डाड, डिगती	मंडन	--
/ड़/[1]	--	पड़ते	बड़े
/त/	ताप	पतली	बात
/द/	दोष	पदार्थ	आदि
/प/	पत्र	उपाय	आप
/ब/	बाधा	सबसे	सब

महाप्राण			
/ख/	खल	लिखने	लिखा, लाख
/घ/	घर	लघुता	बाघ
/छ/	छपे	पिछला	पूछ
/झ/	झरना	समझने	समझ
/ठ/	ठहर	कठिन	कंठ, उठो
/ढ/	ढोंग	मेढक	--
/ढ़/[2]	--	दृढ़ता	ढूढ़, ढाढ़
/थ/	--	मैथिल	प्रथा
/ध/	धन	सुधार	सीधो
/फ/	फेर	साफाई	साफ
/भ/	भला	अभाव	लाभ

१, २ दे० विशिष्टताएं- वर्तनी परिवर्तन ।

(ख) अनुनासिक व्यंजन

अनुनासिक व्यंजनों में ।ङ०।, । ञ। का प्रयोग स्वतन्त्ररूप से नहीं होता ।शेष व्यंजन,यथा-- ण, न, म का प्रयोग प्राय: उचित रीति से ही हुआ है । केवल ण--न के प्रयोग में कहीं कहीं विकल्प दिखाई देता है, किन्तु उन्हें नग य किया जा सकता है । मूल रूप में इन ध्वनियों का प्रयोग इस प्रकार है --

	आदि	मध्य	अन्त्य
।ण।	--	गणना	ऋण
।न।	नाम	उनका	ज्ञान
।म।	कामना	अमर	नियम

(ग) अन्तस्थ व्यंजन

।य।	यामिनी	नियम	किया, काया
।र।	राम	भारत	आदर
।ल।	लिखने	पालन	सरल
।व।	वक्तृता	केवल	अभाव

(घ) ऊष्म व्यंजन

ऊष्म ध्वनियों में हिन्दी बोलियों के प्रभाव स्वरूप अथवा उच्चारण में ग्रामीणता का पुट होने के कारण 'श' के स्थान पर 'स' का उच्चारण तथा बंगला प्रभाव अथवा अति सतर्कता के वशीभूत होकर 'स' के स्थान पर 'श'की ध्वनि बोलचाल में भले ही हो जाती हो,किन्तु द्विवेदी-युगीन लिखित भाषा में इन ध्वनियों का प्रयोग यथास्थान ही हुआ है --

ध्वनि	आदि	मध्य	अन्त्य
।श।	शब्द	कृशानु	विकाश
।ष।	षट्-ऋतु	भाष	भाषा
।स।	सरल	असाध्य	भरोसा
।ह।	हमारी	सहज	तरह

(च) फारसी एवं अंग्रेजी ध्वनियां

हिन्दी में आगत फारसी एवं अंग्रेजी व्यंजनों यथा क़,ख़,ग़,ज़,फ़ का नुक्ता(.) सहित प्रयोग द्विवेदी-युग की विशिष्टता एवं समानता दोनों के अन्तर्गत रखा जा सकता है । विशिष्टता इस रूप में कि भारतेन्दु युग में इनके प्रयोग में जो अनियमितता वर्तमान थी(कहीं-कहीं तो नुक्ता-सहित अर्थात् तत्सम रूप में प्रयुक्त हैं तथा कहीं नुक्ता-रहित तद्‌भव रूप में) वह इस युग में बहुत न्यून हो गई थी । और समानता इस रूप में कि प्राय: लेखक इनका प्रयोग अन्य शब्दों की भांति शुद्धरूप में ही करने लगे थे । यद्यपि कुछ विरोधी विचार भी इसी युग में उठ चुके थे किन्तु उन्हें व्यवहारिक रूप में ग्रहण करते कुछ समय लग गया । यहां तक कि आज अधिकांशत: बिन्दी का लोप करके ही लिखा जाता है । किन्तु उस युग में जो इसका शुद्धरूप से प्रयोग होता था उसके कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं (शेष दे० विशिष्टताओं के अन्तर्गत भी) —

	आदि	मध्य	अन्त्य
(क़)	क़लम	ताक़त	शौक़
(ख़)	ख़ूबी,ख़ास	अख़बारों	तारीख़
(ग़)	ग़लत	काग़ज़	बाग़
(ज़)	ज़िला, ज़ीरो	नज़र, मैगज़ीन	नाराज़
(फ़)	फ़ारसी, फ़ोनोग्राफ़	सफ़र, ट्रान्सफ़र	साफ़, दफ़े

२. संयुक्त व्यंजन

द्विवेदीयुगीन खड़ीबोली में दो अथवा दो से अधिक व्यंजनों का संयोग एवं उनका शब्दों में प्रयोग प्राय: आधुनिक पद्धति के अनुकूल है । यदि कुछ संयोगों में अथवा प्रयोगों में भिन्नता है भी तो उनका उल्लेख विशिष्टताओं के अन्तर्गत कर दिया गया है । विभिन्न व्यंजनों के संयोग से बने व्यंजनों के कुछ उदाहरण जो उस समय सामान्यत: प्रचलित थे, इस प्रकार हैं --

(क) पाई वाले व्यंजन

पाई वाले व्यंजनों के संयोग में पूर्व व्यंजन की पाई को हटा कर पश्च ध्वनि से जोड़ने का विधान है, यथा--

ख् -- मुख्य, व्याख्या, कादिरबख़्श
ग् -- भाग्य, योग्य
घ् -- कृतघ्न
च् -- परिच्छेद
ज् -- ज्योति
ञ -- मञ्जरी, पञ्चायत
त् -- उत्पत्ति, साहित्य, उत्कर्ष, महात्म, स्वत्व
थ् -- मिथ्या, पृथ्वी
ध् -- ध्यान, ध्वनि
न् -- तन्वी, पन्थ, जन्म
प् -- समाप्त, प्यास
ब् -- शब्द, उपलब्ध, ब्यास
भ् -- अभ्यास
म् -- तुम्हारा, गाम्भीर्य, सम्बन्ध
य् -- कार्य्य
ल -- कल्पनाएं, मल्हारराव
व् -- काव्य
श् -- निश्चल+, निश्चय+, अवश्य, अश्लील, कवीश्वर
ष -- सन्निविष्ट, पराकाष्ठा, वैष्णव, मनुष्य
स् --संस्कार, प्रशस्त, स्थान, स्पर्श, समस्या, स्वयमेव

अपवाद

उक्त नियम के विरुद्ध कुछ संयोगों में भिन्नता पाई जाती है, यथा--

---

+ दोनों रूप प्रचलित थे। दोनों उदाहरण एक ही रचना के एक ही पृष्ठ पर मिले हैं।

(१) यदि पश्य वर्ण ।न। होता है तो पूर्व वर्ण की पाई नहीं हटती वरन् ।न। पाई रहित होकर नीचे जुड़ जाता है, यथा-- विघ्न, कृतघ्न , प्रयत्न स्वप्न आदि ।

(२) यदि पश्य वर्ण ।र। होता है तो (्र) रूप में परिवर्तित होकर आद्य वर्ण के नीचे लग जाता है, यथा-- व्यग्र, अनुप्रास, अपभ्रष्ट, व्रज, सहस्र आदि ।

(३) किन्तु यदि ।त। तथा ।श। के साथ /र/ का संयोग होता[1] है तो ।त। और ।श। का रूप भी परिवर्तित हो जाता है, यथा-- मात्र , बहुश्रुत ।

(४) ज् + ञ के संयोग में दोनों वर्णों के विकार से एक नया रूप बनता है, यथा--अज्ञात, बहुज्ञ ।

(ख) बिना पाई वाले व्यंजन संयोग

बिना पाई वाले व्यंजनों में ।क। तथा ।फ। ध्वनियों में कुछ ध्वनियों के साथ ह्रास होता है, किन्तु शेष ध्वनियों में (।र। को छोड़कर) कोई ह्रास नहीं होता, वरन् पश्य ध्वनि में ही ह्रास होता है अथवा विकार हो जाता है, यथा--

क् -- रक्खे, वाक्य, क्लिष्टता, शुक्ल आदि ।

ट् -- ~~नाट्य~~ नाट्य

ठ् -- पाठ्य

ड् -- गड्ढा

ढ् -- धनाढ्य, धनाढ्य

द् -- बद्ध, उद्भावना, पद्मिनी, पद्य, तद्विषयक आदि ।

कुछ वर्णों के साथ 'हल्' द्वारा योग किया गया है, जैसे --[2]

हृद्गत, उद्घाटन, उद्बोधन

फ्[3] --दफ्तरों

ह -- चिह्न , आह्लाद, ~~ब~~ ब्रह्म आदि ।

---

१ भारतेन्दु युग में कुछेक लेखकों का प्रयास ।श। के अपरिवर्तित रूप में प्रयोग करने का था, जैसे 'श्रीकृष्ण' किन्तु यह रूप चल नहीं पाया । २- कहीं-कहीं संयोगी व्यंजन को पूर्व व्यंजन के नीचे लिखने की शैली भी अपनाई गई है, यथा-- उद्भव , तद्भव ।

३ ।फ्। का संयोग संस्कृत अथवा हिन्दी शब्दों में नहीं होता ।

रकार संयोग

।र। का संयोग किसी व्यंजन के साथ होता है तो उसका रूप नितान्त परिवर्तित होकर संयोगी वर्ण के ऊपर (ॅ) रूप में लगता है, यथा-- तार्किक, बहिर्गत, निर्जीव, अर्थ, उर्दू, निर्बल, सार्वदेशिक, दर्शन आदि ।

यदि किसी व्यंजन का संयोग `र` के साथ होता है, अर्थात् `र` पश्चवर्ण होता है `क`, `द`, `फ`, `ह` में उसी रूप में लगता है, जिस प्रकार पाई वाले व्यंजनों के साथ जैसे-- क्रम, द्रुतगति, फ्रेंच, फ्रेडरिक[1], ह्रास आदि किन्तु ट, ट्, ड् आदि के संयोग में `र` (्र) रूप में लगता है यथा-- कृच्छ्रसाध्य, राष्ट्र, ट्राम पीट्रोडेलावेल आदि ।

(ग) पंचमाक्षर प्रयोग

पंचमाक्षर का योग अपने वर्ग के वर्णों के साथ ही होता है । द्विवेदीयुगीन भाषा-रचना में इस नियम का सर्वत: पालन किया गया है, यथा--

ङ -- सङ्घर्ष, पङ्क्ष, सर्वाङ्ग, शङ्कर आदि ।

ञ -- वरञ्च, मनोवाञ्छा, अञ्जलि आदि ।

ण -- घण्टों, कण्ठ, अखण्ड आदि ।

न् -- चिरन्तन, पन्थ, सुन्दर, सम्बन्ध आदि ।

म् -- सम्पादक, सम्बोधन, गम्भीर आदि ।

अपवाद

किन्तु कुछ स्थितियों में इनका योग अन्य व्यंजनों के साथ भी होता है । अत: द्विवेदीयुगीन भाषा में भी ऐसे व्यंजन प्रयुक्त हैं, यथा-- पुण्य, जन्म, तन्वी, ग्राम्य, तुम्हारा आदि ।

उक्त पंचमाक्षरों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग भी द्विवेदीयुगीन भाषा में हुआ है (दे० विशिष्टताएं-- पंचमाक्षर प्रयोग) ।

(घ) द्वित्व व्यंजन

दो समान वर्णों के योग से बने द्वित्व व्यंजनों से बने शब्द इस प्रकार हैं --

----

१- हिन्दी अथवा संस्कृत शब्दों में `फ़्र०००' `फ़ + र` का संयोग नहीं होता ।

~~२- महावीरप्रसाद द्विवेदी रचित `रसज्ञ रंजन` में एक ही पृष्ठ पर प्रयुक्त तथा प्रयु` दोनों शब्द प्रयुक्त हैं ।~~

(घ) द्वित्व व्यंजन

व्यंजन		शब्द	व्यंजन	शब्द
क्+क	--	मक्का, हक्का, बक्का	द्+द	-- उद्दाम, उद्देश्य
ग्+ग	--	बग्गी, पग्गड़बाज़	न्+न	--उन्नायक, सन्निविष्ट
घ्+घ	--	घिघ्घी+	प्+प	--बप्पा, चुप्पी
च्+च	--	सच्चरित्र, सच्चाई	ब्+ब	--फब्बू, धब्बा
ज्+ज	--	लज्जा, सज्जन	म्+म	--सम्मान, सम्मेलन
ट्+ट	--	टट्टियों वाली, मिट्ठी+	र्+र	-- कर्रा, मुहर्रम
ठ्+ठ	--	चिठ्ठी, मुठ्ठी	य्+य	-- गाम्भीर्य्य, सूर्य्य°
ड्+ड	--	गुड्डी, उजड्ड	ल्+ल	-- मुल्ला, हल्ला
श्+श	--	अक्षुण्ण, विषराश	व्+व	-- पूर्व्वोक्त°
त्+त	--	उन्मत्त, चित्त	स्+स	-- दुस्साहस, हिस्सा

(च) हल चिह्न (्) प्रयोग

व्यंजनों के योग में तथा संस्कृत शब्दों के अन्त्य व्यंजन के स्वर-रहित उच्चारण में हल चिह्नों का नियमानुसार प्रयोग हुआ है । जैसे जैसे दो ध्वनियों को एक दूसरे के साथ पूर्व अथवा पश्यध्वनि में ह्रास अथवा विकार करके मिलाकर लिखने की पद्धति का विकास होता गया वैसे वैसे दो ध्वनियों के योग में हल लगाने की प्रथा का भी लोप होता गया ,अत: द्विवेदी-युग में वर्णों के योग में तो इनका प्रयोग अधिक नहीं हुआ है किन्तु संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होने के कारण हलन्त शब्दों में इसका नियमित रूप से प्रयोग मिलता है । उदाहरण के लिए देखिए--विशिष्टताएं--हल चिह्न(्) सम्बन्धी' ।

+ हिन्दी में दो महाप्राण ध्वनियों का योग नहीं होता किन्तु द्विवेदी युग में भारतेन्दु की परम्परा के अनुरूप कहीं कहीं ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं (दे०विशिष्टताएं--दो महाप्राण ध्वनियों का योग)

° ।य। तथा ।व। का द्वित्व रूप ।र। के संयोग में ही मिलता है । संस्कृत शैली के अनुसार निर्मित ध्वनि के इन रूपों का प्रयोग द्विवेदीयुग तक तो प्राय: होता रहा, किन्तु बाद में इनकी परम्परा नहीं चली, क्योंकि उच्चारण में द्वित्व की आवश्यकता नहीं होती ।

ख.३.सन्धि-योजना

वर्णविन्यासान्तर्गत जहां तक सन्धि-योजना की बात है, हिन्दी में आगत संस्कृत शब्दों के साथ ही उनकी सन्धि के नियम भी गृहीत कर लिये गये हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सन्धि के विभिन्न नियमों से बने संस्कृत के शब्द हिन्दी में ज्यों के त्यों प्रयोग में लाये जाते हैं और आलोच्य युग में भी सामान्यत: ऐसा ही हुआ है। अत: मात्र वर्णविन्यास की दृष्टि से तत्कालीन सन्धियों का अवलोकन करके इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि द्विवेदी-पूर्व भाषा में अन्य त्रुटियों की भांति सन्ध्य शब्दों की वर्तनी में भी इतस्तत: दोष पाये जाते हैं, किन्तु द्विवेदीयुग के में इस क्षेत्र में किये गये सुधारों के फलस्वरूप कतिपय अपवादों को छोड़कर प्राय: वर्तनी दोष नहीं मिलते। स्वर, व्यंजन एवं विसर्ग सन्धियों[१] की वर्तनी सामान्यत: विधिवत् ही है, उदाहरणार्थ--

१. स्वर-सन्धि -- स्वर-सन्धियों में दीर्घ सन्धि के अन्तर्गत बने शब्द अधिक प्रयुक्त हैं, इनके अतिरिक्त अन्य नियमों के अन्तर्गत बने शब्द भी प्रयोगों में लाये गये हैं 'अयादि सन्धि' युक्त शब्द नायक सायक, साधक आदि एकाकी माने जाते हैं, अत: ऐसे शब्दों को देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी है। 'पूर्वरूप सन्धि' के शब्द यथा-सोऽपि, योऽसि हिन्दी में प्रयुक्त नहीं होते। शेष कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं--

चपलांग, पथ्यापथ्य, चिरानन्द, निगुणाराधना, यथावसर
दयार्द्र, हिमाच्छादित, अलौकिकालोकमयी, बहूपार्जित, कटूक्ति
स्वेच्छा, वदनेन्दु, विस्तारोन्मुख, अल्पोपयोगी, महोदधि,
सभ्योपचार, अत्यानन्द, रामगिर्याश्रम, अभ्यागत आदि।

(उर्दू शब्द) -- तनोबदन, रद्दोबदल आदि।

२. व्यंजन सन्धि-- हिन्दी में आये हुए अधिकांश संस्कृत शब्द स्वरान्त हो गये हैं, ऐसी स्थिति में हिन्दी में व्यंजन सन्धि के उदाहरण कम मिलते हैं। शेष स्वरान्त शब्द के साथ आदि व्यंजन वाले शब्दों का योग शिरोरेखा अथवा संयोजक चिह्न के माध्यम से किया जाता है, जिससे युक्त शब्दों की वर्तनी में कोई विकार नहीं होता (दे० शब्द-योजना शब्दयोग-पद्धति)। कुछेक व्यंजन-सन्धि के उदाहरण इस प्रकार हैं--

---

१ उदाहरणार्थ केवल सामासिक पद उद्धृत किए गये हैं, क्योंकि उपसर्ग-प्रत्यय से निर्मित शब्द तो यथावत् एकाकी शब्द के रूप में हिन्दी में रूढ़ हो गये हैं।

चपलांग,

शरच्चन्द्रदास, प्रायश्चित्त, विद्वज्जन, सत्पुत्र, हृत्पटल[1]

सत्सत्व, विद्वद्रत्न, सद्गुण, हृद्गत[2], असद्व्यवहार, सद्वस्तु,

शरन्मेघ, छविच्छटा, मधुच्छन्दर आदि ।

३. विसर्ग-सन्धि -- विसर्ग सन्धियां भी प्राय: यथोचित रूप में प्रयुक्त हैं, यथा--

मनोभावों, मनोयोग, वयोविकाश, अन्तरंग, निरालस्य,

अन्तर्वेदना, निस्सहाय, दुस्साहस, अन्त:पुर आदि ।

इतना अवश्य है कि प्राय: लेखक की स्वच्छन्दवादिता अथवा नियम की अल्पज्ञता के कारण कहीं-कहीं अनियमिततायें मिल ही जाती हैं, जैसे `वाग्व्यापुरी`[3], `वाक्युद्ध`[4] मन:कष्ट[5] आदि शब्दों को सन्धि अपेक्षित होते हुए भी लेखक ने उन्हें संयुक्त नहीं किया है ।

इसी प्रकार `नयाऽलोक`[6] में हिन्दी तथा संस्कृत शब्दों की जो सन्धि की गई है यह अस्वाभाविक तो है ही साथ ही सन्धि के नियम के अनुकूल नहीं है ।

चण्डीप्रसाद हृदयेश की रचना (नन्दननिकुंज, पृ०२७) में प्रयुक्त `जीवन्मुक्त` शब्द में ।न। के स्वरान्त होते हुए भी उच्चारण के अनुसार ।न। को स्वर रहित करके ।म। के साथ संयुक्त कर दिया गया है जैसा कि हिन्दी शब्दों के साथ प्राय: होता है, यथा-- उन्ने, उस्के, इस्के, उस्ने, आदि ।

उक्त कुछ अनियमितताओं के होते हुए भी यह निश्चय है कि वर्तनी सम्बन्धी अन्य प्रयोगों की भांति सन्धियों की वर्तनी भी सुधारोन्मुखी ही रही है ।

ग. आलंकारिकता
(अनुप्रासिकता)

अभी तक तो आलोच्ययुगीन वर्णविन्यास के अन्तर्गत वर्तनी की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर विचार किया गया। अब भाषा में सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना के दृष्टिकोण से वर्ण-विन्यासिक सौन्दर्य पर भी प्रकाश डालना अपेक्षित है ।

१- इस शब्द की वर्तनी दोषपूर्ण है, क्योंकि ।य। का संयोग पूर्व व्यंजन ।व। से होना चाहिए न कि ।द। से (बेकन विचार रत्ना०--द्विवेदी)। २- मूललेख में `मधुछन्दर` लिखा गया था जिसे सुधार कर `मधुच्छन्दर` बनाया गया है (दे०भा०का हस्ति०, तृतीय सं० के लिए संशोधन--मिश्र) इससे वर्तनी में सुधार की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है ।३-४--नन्दननिकुंज--चण्डी० हृद०। ५- इन्दु १९१४। ६- सर०भा०२ खं०१ सं०१ (कविता) रा०च०उपा० ।

भाषा के अलंकरण की प्रवृत्ति में भाषा की ~~वर्ण~~ का `वर्ण` की सुसंगति का ध्यान रखते हुए समान वर्णों की क्रमबद्धता से निर्मित शब्दों की व्यवस्था भी एक महत्वपूर्ण अंग है। वर्ण साम्य की उक्त प्रक्रिया ही `अनुप्रास` है।

द्विवेदी-युग में जहां एक ओर भाषा की शुद्धता एवं परिनिष्ठता पर ध्यान देने का प्रयास किया गया, वहीं उसकी आलंकारिता भी उपेक्षित नहीं रही। इस युग की भाषा पर प्रकाश डालने पर यह स्पष्टतया विदित होता है कि उसमें सानुप्रासिकता अधिक है--विशेषत: पद्य की भाषा में।

भारतेन्दुकाल में प्राय: गद्य की शैली भी सानुप्रासिक है, किन्तु द्विवेदी-युग में गद्य एवं पद्य की शैलियों में परस्पर भारी अन्तर हो जाने के कारण अनुप्रास मुख्यत: पद्य का ही विषय रह गया था (आज के गद्य से तो रही-सही अनुप्रासिकता का भी लोप हो गया है)। यद्यपि तद्युगीन भाषा के निर्माता एवं आलोचक पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने हिन्दी गद्य में भी अनुप्रासिकता की वर्तमानता का संकेत देते हुए विषय से सम्बन्धित ~~विषय~~ निबन्ध लिखकर अनुप्रास की जो छटा प्रस्तुत की है, उसका कुछ अंश इस प्रकार है--

> `इसलिए मैंने पद्य का परित्याग कर गद्य की ओर ही गमन किया, और वहां राजा-रईस, राजा-रंक, राव-उमराव, सेठ-साहूकार, कवि-कोविद, ज्ञानी-ध्यानी, योगी-यती, साधु-सन्यासी से लेकर नौकर-चाकर, तेली-तमोली, बनिया-बक्काल, कहार-कलवार, मेहतर-चमार, कोरी-किसान और लुच्चे-लफंगे तक की बातचीत, गपशप, बात-विचार, रहन-सहन, खान पान, रफ़्तार-गुफ़्तार, चाल चलन, चालढाल, मेल मुलाकात, रंगरूप, आकृति-प्रकृति, जान-पहचान हेलमेल, प्रेम प्रीति, आवभाव, जातपांत, रीत रस्म, रस्मरवाज, रीतनीत पहनावे-ओढ़ावे, डाल डौल, ठाट-बाट, बोलचाल, संगसाथ, संगत-सोहबत में अनुप्रास का अमल दखल पाया।`[1]

यह निबन्ध उन्होंने (जैसा कि स्वयं लिखा है) बंगवासी के सम्पादक बिहारीलाल जी द्वारा बंगला भाषा की सानुप्रासिकता की प्रशंसा की प्रतिक्रिया में लिखा था[2]।

किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अनुप्रासिकता कविता की भाषा का ही विशेष गुण है और खड़ीबोली कविता की भाषा को मधुरता और कमनीयता के परिधान से

१- निबन्ध नियम--अनुप्रास का अन्वेषण--जग० चतुर्वेदी। `अनुप्रास` का अन्वेषण नाम से

मण्डित करने में इसका विशेष योगदान है। आलोच्य युग के प्राय: सभी कवियों ने अपनी कविता-कामिनी को अनुप्रास से सुसज्जित किया। अनुप्रास के भेदों में लाटानुप्रास को छोड़कर (यह अनुप्रास विरल है) अन्य सब कोटियां इस युग को कविता की भाषा में वर्तमान हैं। कविता-शैली में तुकान्तता होने के कारण प्राय: सभी कवियों ने अन्त्यानुप्रास युक्त रचना की है। उदाहरणार्थ कुछ प्रयोग अधोलिखित हैं-- रामचरित उपाध्याय की कविता में आलंकारिकता की प्रचुरता विद्यमान है--

नहीं देश को क्लेश का लेश होवे
समावेश आवेश का वेश होवे
रहे भक्ति भी शक्ति में व्यक्त होवे
रहे मुक्ति में मुक्ति संसक्त होवे[१]।

`हरिऔध` जी ने अपनी रचना चोखे-चौपदे एवं चुभते चौपदे में अनुप्रासों की भरमार कर दी है, ये अनुप्रास ठेठ हिन्दी शब्दों की व्यंजना में हैं, यथा--

लाख लट्टूटे बाल की जो लट गया
लट लटकती देख मुह लटका रहा[२]

....

किन्तु हरिऔध जी की संस्कृतनिष्ठ भाषा में भी अनुप्रासिकता का अभाव नहीं है। संस्कृत पदावली- निर्मित अधोलिखित चरणों छेक,वृत्ति,श्रुति एवं अन्त्य सभी अनुप्रास जटित हैं--

हरित तृण-राजि-विराजित भूमि, बनी रहती है बहु-छविधाम
बिहंस जिस पर प्रति दिवस प्रभात, बरस जाता है मुक्ता दाम
पहन कमनीय कुसुम का हार, पवन से करती है कल-केलि[३]
उड़े मंजुल दल-पुंज-दुकूल बिलसती है अलबेली बेलि

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में संगृहीत कवि गोपालशरण सिंह की कविता में अनुप्रास ही अनुप्रास दिखायी देता है, यथा--

मणि-मालाएं, सुरराज- सदन - सी, कलकोमल किरणें,सुधा-सलिल
कितनी ही कोमल कलियां, सूने सदनों में, सुख-शैय्या,लोनी लोनी लतिकाएं

१-रा०च०उपा०(कविता)--सर०भाग२३ खं०१,सं०४। २- हरिऔध--चोखे चौपदे।३-द्वि०अभि० ग्र०,पृ०१५८(उद्यान)।४- वही,पृ०[illegible]। ५- वह कुछ दिन कितने सुन्दर थे(कविता)--प्रसाद।

भोली भाली,[1] क्लेश-कथाएं, विविध व्यथाएं, घन की भी घोर
घटाएं आदि ।

इसी प्रकार कविवर प्रसाद की मुक्तक कविताओं से उद्धृत कुछ अलंकार भी अवलोकनीय हैं । इतना अवश्य है कि उनकी रचनाओं में वर्ण अथवा वर्णों की आवृत्ति अधिक न होने के कारण `छेक` अनुप्रास के उदाहरण अधिक मिलते हैं, यथा--

जब सावन घन सघन बरसते इन आंखों की छाया भर थे
+ + +
रस जल कन मालती मुकुल से जो मदमाते गन्ध विधुर थे
+ + +
मिले घूमते जब सरिता के हरित कूल युग मधु अधर थे[2] ।

अथवा

भींग रहा है रजनी का वह सुन्दर कोमल कवरी भार
+ + +
किसी तरह से भूल भटका आ पहुंचा हूं तेरे द्वार
+ + +
डरो न इतना धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार
+ + +
चरणों से ही लिपटा लिपटा कर लूंगा निज पदनिधरि
अब तो छोड़ नहीं सकता हूं पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार[3] ।

इसी प्रकार पं० रामनरेश त्रिपाठी की रचना `पथिक` भी मुख्यत: छेक एवं श्रुति अनुप्रास-पूर्ण है, यथा--

रवि-राग पयी, अवि राग-विनोद, प्रकृति-भवन, बीचि विचुम्बित तीरे
हर्ष-विमर्ष, विरागी, पट-परिवर्तन, सुषमा-समुद्र, सौन्दर्य-स्रोत आदि ।

मैथिलीशरण गुप्त रचित अधोलिखित पद अनुप्रास की विभिन्न कोटियों (छेक, वृत्ति, श्रुति तथा अन्त्य) का द्योतक है--

---

१- द्वि०अभि०ग्र०, पृ०३१२-३१३। २- वह कुछ दिन कितने सुन्दर थे(गीत)--प्रसाद ।३-सोलो-द्वार -- प्रसाद ।

निरख सखी ये खंजन आये
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये
फैला उनके तन का आतप मन से सर सरसाये
घूमे वे इस ओर वहां ये हंस यहां उड़ छाये
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसुकाये
फूल उठे हैं कमल अधर से ये बन्धूक सुहाये
स्वागत स्वागत शरद भाग्य से मैंने दर्शन पाये
नभ ने मोती वोर लो ये अश्रु अर्घ्य भर लाये ।[१]

तात्पर्य यह है कि युग-विशेष में वर्ण-योजना की सुषमा एवं सुसंगति को दृष्टि में रखते हुए अनुप्रासिकता का प्राय: स्वाभाविक निर्वाह किया गया है ।

-0-

---

१ साकेत-- नवम सर्ग-- गुप्त ।

२.

शब्द - योजना

भाषा के इस व्यवहारिक संक्रमण -काल में अंग्रेजी के शब्दों ने यत्र-तत्र(प्रयोगकर्ता की प्रवृत्ति के अनुसार) समावेश पा लिया। इधर बोलचाल की भाषा में साहित्य-रचना का पक्ष ग्रहण करने वालों ने अपनी किसी-किसी कृति में ठेठ हिन्दी के शब्दों का प्रयोग किया।

खड़ी बोली पद्य की भाषा में पहिले तो सरल एवं बोलचाल की शब्दावली ही प्रयोग में लायी गयी, किन्तु आगे चलकर विषय एवं भावों की गहनता, जटिलता के अनुसार पद्य की भाषा भी अधिक संस्कृत गर्भित हो गई।

शब्द-योजना की इस अनेकरूपता में एकता अथवा परिनिष्ठता स्थापित करने का प्रयास ही द्विवेदी-युगीन भाषा-विधायकों का प्रमुख लक्ष्य था। अत: युग का अधिकांश समय हिन्दी के प्रयोग एवं परिष्कार में ही व्यतीत हुआ।

शब्दावली-प्रयोग-सम्बन्धी निरंकुशता को दूर करने के उद्देश्य से उस युग में विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया जा रहा था(दे० द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं खं०एक-२३)। एक मत भाषा में अनावश्यक रूप से कठिन से कठिनतर शब्दों की भर्ती न करके बोलचाल की भाषा में रचना करने के पक्ष में था (यथा--महावीरप्रसाद द्विवेदी, बदरीनाथ भट्ट आदि के मत) तो दूसरा संस्कृत के सरल शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग के पक्ष में था (यथा बालमुकुन्द गुप्त का मत)। तीसरा मत हिन्दी की विशुद्धता को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से भाषा को अरबी-फ़ारसी शब्दों से प्राय: मुक्त रखने पर बल दे रहा था। (जैसे, कामताप्रसाद गुरु, सन्तराम बी०ए० आदि के विचार) तो चौथा मत हिन्दी भाषा के विकास के लिए उसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का समावेश आवश्यक समझता था (जैसे- मुकुटधर पाण्डेय का मत)। पांचवां मत हिन्दी में अरबी-फ़ारसी की ही भांति अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों के प्रयोग का समर्थन कर रहा था(यथा अयोध्यासिंह उपाध्याय, सन्तराम बी०ए० प्रभृति के अनुसार)। छठा मत इस मन्तव्य की पुष्टि कर रहा था कि विषयानुकूल संस्कृत-गर्भित अथवा बोलचाल की सामान्य भाषा का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु जहां तक हो सके सरल भाषा का ही प्रयोग करना उचित है (यथा-- जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का मत)।

द्विवेदीयुगीन शब्द-संगठन में उक्त विभिन्न मतों से पोषित जो प्रमुख शैलियां प्रचलित थीं, वे गद्य-पद्य की विधाओं के अनुसार अधोलिखित हैं--

उपर्युक्त भाषा का प्रयोग यद्यपि विद्वत् समाज के बीच में किया गया है तथापि संस्कृत शब्दों की इतनी अधिक तत्समता से हिन्दी बोझिल सी हो गई है। अधिकाधिक सामासिक पदों के प्रयोग से भाषा और भी क्लिष्ट हो गई है। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने प्राय: यही शैली अपनाई है। आप हिन्दी की संरचना संस्कृत व्याकरण के आधार पर करना चाहते थे। यही कारण है कि कहीं-कहीं आपके शब्द-प्रयोग में कृत्रिमता का आभास होने लगता है। ऐसे प्रयोग कुछ इस प्रकार हैं, यथा--

अनावश्यक उपसर्ग-- समुपस्थित सुकठिन, सुचतुर, सुपण्डित, सुवृहद् आदि

सन्धि द्वारा शब्द विस्तार-- सिद्धान्तानुसार, मौनावलम्बनपूर्वक, सेवार्च्चना, नरवरकुलकमलकमलाकरदिवाकर, कवि-कल्पित-कल कलित-वचन-रचना आदि।

यद्यपि भाषा को अधिक से अधिक संस्कृतनिष्ठ बनाने का उद्योग अपनी आरम्भिक रचना 'बेकन विचार रत्नावली' में स्वयं द्विवेदी जी ने भी किया है, यथा--

'शेष २२ निबन्धों का विषय बहुश: ऐसा है, जो एतद्देशीय जनों को तादृश रोचक नहीं है' (भूमिका)

यदि मनुष्य के मन से वृथाभिमान, अत्युच्चाशा अनुचित आग्रह तथा नाना प्रकार की कल्पना निकाल ली जावें तो बहुश: मनुष्यों का चित्त इतना उदास खेदित और आकुंचित हो जायगा कि वह स्वत: उन्हीं को दुखदायक होने लगेगा (पृ०२)

'नीतिपराङ्मुख(पृ०१) तदतिरिक्त(पृ०३)असद्व्यवहार (पृ०४), अव्यर्थ(पृ०१०१), फलितार्थ(पृ०१२४) तद्द्वारा (१०५), सन्मित (१०६)।

(इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं)

किन्तु उक्त रचना उस समय की है, जब द्विवेदी जी ने भाषा-निर्माण के क्षेत्र में प्रयाण नहीं किया था। अत: द्विवेदी जी की भाषा के इस रूप को द्विवेदीयुगीन मानना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि आगे चलकर आपने स्वयं अपनी भाषा में असाधारण

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

जो उन्होंने द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से दिया था।

रूप से परिष्कार किया ।

इधर चण्डीप्रसाद `हृदयेश` भी संस्कृत गर्भित भाषा के इतने बड़े अनुमोदक थे कि उन्होंने अपनी कहानियों की भाषा में भी संस्कृत के अधिकाधिक संस्कृत शब्दों का समावेश कर उसे साधारण पढ़े-लिखे जन के लिए दुरूह बना दिया जब कि उस युग में कहानी की भाषा की सरलता तथा चलताऊपन के लिए लगभग एक स्वर से नारा बुलन्द किया जा रहा था । उनके कहानी-संग्रह `नन्दन-निकुंज` की ही भाषा को देखकर ही उनकी प्रवृत्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । उदाहरणार्थ निम्न-लिखित अवतरण प्रस्तुत हैं--

> मध्य-यामिनी में जब सुधाकर समस्त धरि मंडल को अपनी सुधा-धारा से प्लावित करते हैं,जब चन्द्रदेव निर्वाण-दायिनी जाह्नवी के विमल वक्षस्थल में अवगाहन करने के लिए अपने प्रतिबिंब को प्रस्थापित करते हैं,जब मराल-गामिनी मंदाकिनी मधुर नूपुर-ध्वनि से मार्ग को मुखरित कर चन्द्रिका की शुभ्र सारी परिधान करके, शुक्लभिसारिका की भांति,तन्मयी होकर सागराभिमुख जाती है, जब सलिल-विहारिणी कुमुदिनी,कौमुदी सखी का सुखमय साहचर्य पाकर, कलाधर के परिहास से आत्मविस्मृत-सी हो जाती है,तब शैवालिनी,सुरेन्द्र की प्यारी प्रतिमा का ध्यान करती हुई,अर्ध-निमीलित-लोचन होकर,हृदय-निवासी प्रेमोन्माद के स्वर में स्वर मिलाकर गाती है ।

+ + +

> `बिजली की किरण-माला कामिनीद्वय के मुखमंडल पर पड़कर उनके शीशभूषण और कर्ण भूषणों से केलि करने लगी`

उक्त अवतरणों में इतना अधिक संस्कृतत्व है कि उस समय के साधारण पाठकों के लिए अवश्य ही ऐसी भाषा बोझिल प्रतीत होती होगी ।

इनके अतिरिक्त अन्य लेखकों की भी प्रवृत्ति इस ओर थी किन्तु ऐसे प्रयोगों के प्रति विरोधी प्रतिक्रिया होने तथा भाषा के सरलीकरण की धारा के वेगवती होने के कारण प्राय: पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकगण लेखकों की ऐसी कृतियों को प्रकाशित करने से या तो अस्वीकार कर देते थे अथवा उन्हें संशोधित करके प्रकाशित करते थे । इसके अतिरिक्त अनेक लेखकों ने स्वयं ही अपनी लेखनी की दिशा परिवर्तित कर दी,फलत: कतिपय

विशिष्ट लेखकों को छोड़कर सामान्यत: उक्त प्रकार की भाषा का प्रचलन क्रमश: न्यून होने लगा ।

किन्तु एक ओर जहां भाषा को सरल रूप देने का प्रश्न था, वहीं विषयानुसार भाषा के प्रयोग की प्रवृत्ति भी व्यापक हो चली थी (वास्तव में साहित्यिक भाषा की यह प्रमुख विशेषता होनी चाहिए)। यही कारण है कि तत्कालीन भाषा के निर्माता-गण एक ओर क्लिष्ट एवं दुरूह भाषा की विरोधी प्रक्रिया के वशीभूत होकर सरल और बोलचाल की भाषा में साहित्य-रचना पर बल दे रहे थे तो दूसरी ओर उसे विषयानुकूल औचित्य प्रदान करने के मत को भी प्रमुखता दे रहे थे । उक्त दोनों मतों के मिश्रण की प्रतिक्रिया यह हुई कि अधिकांश प्रतिनिधि लेखकों, यथा--महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, कामता प्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, गौरीशंकर ओझा, बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी प्रभृति तथा पत्र-पत्रिकाओं, यथा--इन्दु, अभ्युदय, बिहारबन्धु, भारतमित्र, शिक्षा आदि के सम्पादकों ने प्राय: संस्कृत के तत्समशब्द प्रधान भाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया--विशेषत: निबन्ध-रचना में । यहां तक कि स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी गहन तथा भावात्मक विषयों से सम्बन्धित रचनाओं में संस्कृतगर्भित भाषा का ही प्रयोग किया । इतना अवश्य हुआ कि संस्कृत के जिन शब्दों को उस युग में जटिल तथा दुर्बोध अथवा अस्वाभाविक समझा गया उन्हें हिन्दी में लाने का प्रयास नहीं किया गया । क्रमश: परिनिष्ठता को प्राप्त होती हुई संस्कृतनिष्ठ अथवा संस्कृत के तत्सम शब्द-प्रधान साहित्यिक खड़ीबोली के कुछ नमूने इस प्रकार हैं --

> 'सम्भवत: इन्हीं को देखकर नायिकाओं के पक्षपातियों ने इस पृथक् विषय निश्चित करके पृथक् पृथक् अनेक ग्रन्थ रच डाले और सैकड़ों नहीं हजारों भेद उत्पन्न करके सब रसों के राजा का राज्य विस्तार बहुत ही विशेष बढ़ा दिया । नायिकाएं ही शृंगार-रस की अवलम्बन हैं और शृंगार-रस ही सब रसों का राजा है । राजा का जीवन ही जब इन नायिकाओं पर अवलम्बित है तब कहिए क्यों हमारे पुराने साहित्य में इनकी इतनी प्रतिष्ठा न हो ? इनकी कीर्ति का कीर्तन करके क्यों कविजन अपनी वाणी

को सफल न करें ?[1]

द्विवेदी जी की भांति पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी, जिन्होंने हिन्दी में विदेशी भाषाओं के शब्दों के समावेश का पूर्ण समर्थन किया है(दे० खंड एक २.३), अपने अधिकांश निबन्धों में तत्सम प्रधान भाषा का ही प्रयोग किया है, यथा--

> यह स्वाभाविक है, विजयी जाति के अनेक शब्द विजित भाषा में मिल ही जाते हैं, क्योंकि परिस्थिति ऐसा कराती रहती है । किन्तु इससे चिन्तित न होना चाहिए । इससे भाषा पुष्ट और व्यापक होगी और उसमें अनेक उपयोगी विचार संचित हो जावेंगे। यत्न इस बात का होना चाहिए कि भाषा विजातीय शब्दों, वाक्यों और भावों को इस प्रकार ग्रहण करें कि उसकी विजातीयता हमारी जातीयता के रंग में निमग्न हो जावे ।[2]

बालमुकुन्द गुप्त फारसी के अच्छे ज्ञाता होते हुए भी हिन्दी में संस्कृत के सरल शब्दों के प्रयोग के अनुमोदक थे, तदनुसार उन्होंने अपने अनेक निबन्धों में इसी नीति का पालन किया है, उदाहरणार्थ--

> इस देश में करोड़ों प्रजा ऐसी है, जिससे लोग जब सन्ध्या-सबेरे किसी स्थान पर एकत्र होते हैं तो राजा विक्रम की चर्चा करते हैं और उन राजा-महाराजाओं की गुणावली का वर्णन करते हैं, जो प्रजा का दु:ख मिटाने और उनके अभावों का पता लगाने के लिए रात को वेष बदल कर निकला करते हैं । अकबर के प्रजा पालन और बीरबल के लोकर जक कहानियां कहकर जी बहलाते हैं ।[3]

बाबू श्यामसुन्दरदास की तो एक ही शैली रही है, वह है--अरबी-फारसी शब्दों से रहित संस्कृत-गर्भित भाषा-प्रयोग की । कुछ विद्वान उनकी भाषा को `दुरूह` भले ही ठहराते हैं, किन्तु विषय की गम्भीरता की दृष्टि से देखा जाय तो उनका मत निराधार सिद्ध होता है, उदाहरणस्वरूप --

---

१- रसज्ञ रंजन-- नायिका-भेद : म०प्र० द्विवेदी । २- हि०भा० और सा० का वि०-- उपाध्याय, पृ०१०५ । ३- शिवशम्भु के चिट्ठे-- बा०मु० गु० ।

'प्रबल-जल-धार में बहते हुए मनुष्य के लिए वह कूलस्थ मनुष्य या चट्टान किस काम की है जो उसकी रक्षा के लिए तत्परता न दिखलाए ? पर उसकी ओर बहकर आता हुआ एक तिनका उसके हृदय में जीवन की आशा पुनरुद्दीप्त कर देता है और उसी का सहारा पाने के लिए वह अनायास हाथ बढ़ा देता है[१]।'

बाबू गुलाबराय की भी लगभग यही शैली रही है, यथा--

'यद्यपि नव भारत में जितना स्पन्दन कम्पन और नवजीवन चाहिए उसका एक अल्पांश भी नहीं दिखायी देता है,और उत्साह की अपेक्षा क्रन्दन-रव अधिक सुनायी पड़ता है, तथापि जागृति के चिह्न भी सब ओर दिखायी पड़ते हैं । दीर्घकालीन दासता की ह्रासमयी वृत्तियों और दो महायुद्धों के संहारक परिणाम से हम पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके हैं[२]....'

इनके अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं,कामताप्रसाद गुरु,रामचन्द्र शुक्ल, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने श्यामसुन्दर दास तथा गुलाबराय की अपेक्षा कुछ सरल रूप को अपनाया है । इनकी भाषा में साम्यता अधिक है, अत: प्रमाणार्थ एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त हैं,जैसे--

'रस संचार मात्र के लिए किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी होती है । पर किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है । रामचरित मानस के भीतर राम,भरत,लक्ष्मण,दशरथ और रावण, ये कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामी जी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की है[३]।'

१- 'साहित्यिक लेख' : डा० श्यामसुन्दरदास--'कबीरदास',पृ०१७। २-'भारत का समन्वयवादी सन्देश : गुलाबराय । ३- गोस्वामी तुलसीदास : रामचन्द्र शुक्ल पृ०११३।

`हिन्दी में साधारणत: जो उपन्यास प्रकाशित होते हैं,उनमें विषय की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया है ।विषय महत्वपूर्ण होने से ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण हो,यह कोई बात नहीं है । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे लेखकों की महत्वाकांक्षा सूचित होती है । हिन्दी के उपन्यासों,नाटकों और आख्यायिकों तक का विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसमें एक बार निपुण ग्रन्थकारों की बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आदर्श ऊंचा रखना बुरा नहीं परन्तु उस आदर्श को मनुष्य जीवन में दिखलाने के लिए अनुभूति चाहिए[1] ।`

द्विवेदी युगीन साहित्यिक विधाओं में निबन्ध-रचना की प्रवृत्ति अधिक व्यापक होने लगी थी और कुछ सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्धों को छोड़ कर शेष भाव-प्रधान एवं विचार प्रधान निबन्धों की रचना उक्त प्रकार की ही भाषा में की गई ।

निबन्धों के अतिरिक्त कुछ पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटक एवं कहानियों की भाषा भी तत्सम प्रधान है । बाबू जयशंकर `प्रसाद` ने अपनी सम्पूर्ण नाटकों एवं कहानियों की भाषा संस्कृतनिष्ठ ही रखी है । उदाहरणार्थ--

(नाटक की भाषा)

`मागन्धी--(स्वगत) ` इस रूप का इतना अपमान । सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ । मुझसे व्याह करना स्वीकार किया । यहां मैं राजा रानी हुई,फिर भी वह ज्वाला न गई, यहां रूप का गौरव हुआ तो धन के अभाव में दरिद्र कन्या होने के अपमान की यन्त्रणा में पिस रही हूं । अच्छा प्रतिशोध लूंगी, अब यही मेरा व्रत हुआ[2] ।`

(कहानी की भाषा)

` मैं अपने अदृष्ट को अनिनिर्दिष्ट ही रहने दूंगी । वह जहां ले जाय ।`-- चम्पा की आंखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं । किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे । धवल अपांग में बालकों

१- `पंचपात्र`--`उपन्यास रहस्य` : प०पु०बख्शी,पृ०१२७ ।२-`अजातशत्रु`:`प्रसाद` ।

> के सदृश विश्वास था । हत्या व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर
> कांप गया । उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली
> लहरों को जगाने लगी । समुद्र वक्ष पर विलम्बमयी राग -
> रंजित सन्ध्या थिरकने लगी । चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी
> पीठ पर बिखरे थे[1] ।

'प्रसाद' की भाषा के उक्त उदाहरणों में तत्सम शब्द की बहुलता होते हुए भी बीच बीच में तद्भव शब्दों का प्रयोग भाषा के विकासोन्मुख होने का परिचायक है । आपकी भाषा में 'हृदयेश' जी की भाषा के समान रूढ़िवादिता न होकर उदारता परिलक्षित होती है ।

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से इतना तो निश्चित ही हो जाता है कि साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ीबोली की उपर्युक्त शैली ही अधिकांश साहित्यकारों द्वारा गृहीत हुई और आज भी परिनिष्ठित भाषा के रूप में उक्त शैली को ही मान्यता दी गई है ।

वस्तुस्थिति यह है कि भारतेन्दु युग में विषयानुसार भाषा-प्रयोग-सम्बन्धी जो अनियमितता रह गई थी, उसे द्विवेदी जी तथा अन्य भाषा सुधारकों के प्रयास से दूर किया जा रहा था । स्वयं द्विवेदी जी ने साहित्य रचना के लिए बोलचाल अथवा व्यवहारिक भाषा(तद्भव तथा विदेशी शब्दों से युक्त) के प्रयोग पर बल देते हुए भी उन निबन्धों में फारसी आदि शब्दों को रखना उचित नहीं समझा जिनमें संस्कृत के शब्दों की आवश्यकता थी । उनके ऐसे सुधारों के लिए 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आई हुई मूल रचनाओं की पाण्डु-लिपियां विशिष्ट प्रमाण हैं । उनमें किये गये संशोधनों के कुछ उदाहरण यहां भी प्रस्तुत किये जा रहे हैं --

(१) मूल -- महात्मा ईसा की माता की मूर्ति इतनी
नौजवान क्यों बनाई ।
सुधार-- महात्मा ईसा की (माता की) मूर्ति इतनी यौवनवती
क्यों बनाई ।[2]

१- 'आकाशदीप' : 'प्रसाद' । २- स॰पा॰,१९१६ -'साध्वी मैडम रिकैमियर',ले॰-बालकृष्ण शर्मा ।

(२) मूल -- सचि बा नारियां अपनी जवानी को अधिक काल तक स्थिर रख सकती है ।
सुधार-- सचिला स्त्रियां अपने यौवन को अधिक काल तक स्थिर रख सकती हैं । | १

(३) मूल -- खिलौनों के लिए भारत में बड़ा विस्तीर्ण मैदान है ।
सुधार-- खिलौनों के लिए भारतवर्ष में बड़ा विस्तीर्ण क्षेत्र है । | २

(४) मूल -- ईश्वर सिर्फ एक है या एक से ज्यादा ?
सुधार-- ईश्वर केवल एक है या एक से अधिक ? | ३

इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं द्वारा स्वकृत `भारतवर्ष का इतिहास` में तृतीय संस्करण के हेतु किये गये संशोधनों में शब्द-सम्बन्धी संशोधन भी द्रष्टव्य हैं ,यथा--

(१) मूल -- वहां अक्सर उसी राजा के कई नाम होने से ऐसा हुआ है ।
सुधार-- वहां प्राय: उसी उसी राजा के कई नाम होने से ऐसा हुआ है । | ४

(२) मूल -- हम लोगों को अपनी तरफ से बड़े बड़े समय कायम करके इतिहास लिखना पड़ता है । इन समयों को स्थिर करने के लिए पौराणिक राजवंशों का ज्ञान जरूरी है ।

सुधार-- रेखांकित शब्दों को काटकर क्रमश: `ओर` `दृढ`, `आवश्यक` लिखा है ।

१- सर.पा., १९१६- आदर्शी मैडम रिकैमियर, ले. बालकृष्ण शर्मा

२- स०पा०,जून १९१७,-खिलौना--नारायण प्रसाद अरोड़ा । ३-स०पा०,अग०१९१७- `संसार और ईश्वर`,ले०--कृष्ण विनायक फड़के । ४-

२. तत्सम-तद्भव - मिश्रित शैली

संस्कृतनिष्ठ शैली के साथ ही द्विवेदी-युग में भाषा के उस रूप का प्रयोग भी किया जा रहा था, जिसमें तत्सम शब्दों के साथ साथ तद्भव शब्दों का भी न्यूनाधिक रूप में मिश्रण हो। तत्कालीन कुछ ही लेखक ऐसे थे जो विषयानुसार भाषा की बोधगम्यता के तो कायल थे, किन्तु उसमें विदेशी शब्दों का प्रयोग न करके उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए संस्कृत शब्दों के साथ हिन्दी के सरल शब्दों का भी समावेश करते थे। इनमें प्रथम तो गोविन्द नारायण मिश्र तथा सुधाकर द्विवेदी के प्रयोगों को लिया जा सकता है, जिन्होंने अपनी रचनाओं में विदेशी शब्दों का लेश मात्र प्रयोग भी न होने दिया, भले ही उसमें बोलियों के तथा संस्कृत के तद्भव शब्दों का व्यवहार किया हो, उदाहरणार्थ--

> तिसपर विशेषता यह कि उस अनोखी अनुपम अद्वितीय त्रिलोक सुन्दरी सुविज्ञ सुरसिक जन मन तन विमोहिनी अनूप रूप छवि का अति चंचल अस्थिर अनदेखे मन पर केवल बलपूर्वक चित्रित और अंकित भर कर देना ही नहीं बरुक हास्य लास्य,ओप कोप, सुधा मधुर मुसकाना,इतराना, लोच लोने चोचले चोरने चतुराई चरचाते चित्त में चुभ से जाते सुचारु...... सहज मनहर सुरनर-ईस मुनीस तपसीस बसीकरन फूले चम्पे से सुबरन सुवरन बरनवर[1] .... ।

> 'इस चांदनी रात में इस स्थान में गंगा की अपूर्व शोभा झलक रही है, किनारे पर बालू के रेत मानों चांदी के बिछौने बिछे हैं, उन पर स्थान-स्थान में मुनिओं के आश्रम देवताओं विमान ऐसे सोह रहे हैं। वटुओं का वेदगान गन्धर्वों को भी लज्जित कर रहा है। गंगा की धारा ऐसी जान पड़ती है,जानो क्षीर सागर को भरने और अगाध करने के लिए स्वच्छ दूध बह रहा है[2]।

इनके अतिरिक्त जयशंकर 'प्रसाद' एवं कामताप्रसाद गुरु आदि की कहानियों और निबन्धों की भाषा भी इसी वर्ग के अन्तर्गत रखी जा सकती है, क्योंकि प्रसाद ने

१- श्री गोविन्द निबन्धावली-- कवि और चित्रकार : गो०ना० मि०। २- रामभरद्वाज मिलन-- सुधाकर द्विवेदी।

जहां तक हो सका है अपनी रचनाओं में संस्कृतनिष्ठ भाषा का हो प्रयोग किया है, किन्तु आवश्यक स्थल पर प्रयोग करने योग्य तद्भव शब्दों का बहिष्कार भी नहीं किया है। यथा--

> सरला फिर कहने लगी-- विजय। कलेजा रोने लगता है, हृदय कचोटने लगता है, आंखें छटपटा कर उसे देखने के लिए बाहर निकलने लगती हैं, उत्कण्ठा सांस बनकर दौड़ने लगती है। पुत्र का स्नेह बड़ा पागल स्नेह है, विजय। स्त्रियां ही स्नेह को विचारक हैं। पति के स्नेह और पुत्र के स्नेह में क्या अन्तर है, यह उनको विदित है। अहा तुम निष्ठुर लड़के क्या जानोगे। लौट जाओ मेरे बच्चे। अपनी मां की सूनी गोद में लौट जाओ। सरला का गंभीर मुख किसी व्याकुल आकांक्षा से इस समय विकृत हो रहा था[१]।

इसी प्रकार कामता प्रसाद गुरु ने भी अपने सिद्धान्त के अनुसार कहीं-कहीं ऐसा प्रयास किया है कि जहां हिन्दी के (तद्भव) शब्द सुगमता से प्रयुक्त हो सके हैं वहां अरबी-फ़ारसी के शब्दों की भर्ती नहीं की है, यथा--

> तीसरा -- अब महाराज का उत्तराधिकारी निश्चित करने में बड़ा बखेड़ा होगा।
>
> चौथा -- क्यों ?
>
> पांचवां -- क्योंकि महाराज की दो रानियां हैं। जेठी रानी का पुत्र लहुरा और लहुरी रानी का पुत्र जेठा है।
>
> पहला -- अजी, राजा के मरने पर ऐसे ही बखेड़े उठा करते हैं।
>
> दूसरा -- भाई, राजा लोग राज-मद में मत्त होकर कई विवाह कर लेते हैं, और मरने पर अपनी सन्तान के लिए विपत्तियों का भार छोड़ जाते हैं[२]।

किन्तु युग प्रथानुसार चलती हुई भाषा में सामान्यत: व्यवहृत विदेशी भाषाओं के शब्दों का आ जाना स्वाभाविक था, अत: केवल तत्सम-तद्भव मिश्रित भाषा-प्रयोग की शैली आगे चलकर अधिक प्रचलित नहीं हुई।

---

१ - 'कंकाल' : 'प्रसाद'। २- सुदर्शन -- कामताप्रसाद गुरु, पृ०६। यद्यपि इस रचना में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग अधिक है।

३. तत्सम,तद्भव तथा विदेशी शब्द-युक्त शैली

संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्दों के साथ विदेशी(विशेषत: फ़ारसी तथा यत्र तत्र अंग्रेजी) शब्दों से युक्त सर्वसाधारण के योग्य साहित्यिक भाषा का प्रयोग द्विवेदी-युग की विशेष देन है । यद्यपि भारतेन्दु युग का भी यही प्रयास रहा है कि बोलचाल की भाषा में साहित्य-रचना की जाय , किन्तु उस युग-विशेष में इस अभियान में विशेष सफलता इसलिए नहीं मिली कि तब तक लोगों में शब्दावली का अनुपात ज्ञान उस अंश तक नहीं हो पाया था । किसी-किसी की रचना में तद्भव अथवा ग्रामीण भाषा के शब्द इतने अधिक हो गये कि उसमें साहित्यिकता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती तो किसी-किसी रचना में अरबी-फ़ारसी के शब्द इतने भर दिये गये कि भाषा का हिन्दीत्व ही नहीं रह गया । द्विवेदी-युग के मध्यकाल से भारतेन्दुकालिक दोष से मुक्त होकर भाषा इस रूप में आने लगी कि उसमें विभिन्न प्रकार की शब्दावली का प्रयोग अनुपात से होने लगा । यह बात और है कि इस अनुपातिक प्रयोग में भावगत एवं विषयगत दृष्टिकोण को भी माध्यम बनाया गया । इस प्रकार आलोच्य युगीन साहित्य उक्त प्रकार की भाषा के निम्नलिखित रूप वर्तमान मिलते हैं --

(१) जिसमें तत्सम शब्द अधिक तथा तद्भव और विदेशी शब्द कम हों

इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम तो भाषा का वह रूप आता है, जिसमें भावों की गम्भीरता के कारण संस्कृतनिष्ठ भाषा-प्रयोग की प्रक्रिया तो वर्तमान है कि लेखक की अपनी निजी प्रवृत्ति के कारण अथवा युग के प्रभाव स्वरूप अन्य शब्द भी स्वयमेव आ गये हों, यथा--

> 'यह विकास इतने गुप्त- अस्पष्टरूप में होता है कि पढ़ने वालों को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता । अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए,क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है । उसमें विकास-दोष है तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा'[१] ।
>
> 'चरित्र प्रधान कहानी का पद ऊंचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती'[२]।

१- 'कुछ विचार' : प्रेमचन्द -- उपन्यास का विषय । २- वही, कहानी कला,पृ०३७।

`रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय उस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न देख पड़ते थे । वह सोचने लगी-- हाय । कितनी निर्दय हूं । जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है उसकी यह दुर्गति । और मेरे कारण ।। हे दयालु भगवान । मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था । सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही । अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिये, परन्तु जिसकी बदौलत हजारों रुपये खाये, उसे इस उत्सव में भर पेट भोजन भी नहीं दे सकी[1] ।

यहां तक कि विशुद्ध हिन्दी के प्रयोक्तागण `माधव प्रसाद मिश्र तथा चण्डीप्रसाद हृदयेश की विशुद्ध हिन्दी भाषा में भी यत्र-तत्र अरबी-फारसी भाषा का आगम हो ही गया है, जैसे-

इस दौलताबाद के किले को देखकर स्वामी जी काल की महिमा पर विचार किया करते । यही दौलताबाद प्रथम देवगढ़ के नाम से प्रसिद्ध था, पहाड़ की चोटी पर जहां अब नव्वाब का निशान खड़ा है, किसी समय क्षत्रियों की वैजयन्ती उड़ रही थी और अजां की जगह शंख ध्वनि सुन पड़ती थी[2] ।

उक्त उदाहरण से यह प्रकट होता है कि मिश्र जी को आवश्यकतानुसार ही इन शब्दों को भाषा में लेना पड़ा, किन्तु हृदयेश जी की रचना में तो स्वतः ही फारसी के प्रचलित शब्द आ गये हैं, उदाहरणार्थ --

`तुम्हारे सामने यह शरम करती हैं`, `हमें तो इसलिए खुशी है कि आज तुम्हारा खुशी का[3] दिन है, पहले गाड़ी के अन्दर से एक भव्य पुरुष निकला ।

उपर्युक्त उदाहरणों में जिस पृष्ठ(२३) पर `शरम` शब्द का व्यवहार हुआ है, उसी पृष्ठ पर `लज्जा`[4] शब्द का प्रयोग है, यथा--शैलेन्द्र के साथ भी इतनी लज्जा कर सकी तो समझें ।

१- `बूढ़ी काकी` : प्रेमचन्द । २- `माधव मिश्र निबन्ध माला -- विशुद्ध चरितावली, पृ०७०।
३- नन्दन निकुंज : चण्डी प्र० हृदयेश-- प्रेम पुष्पांजलि`, पृ०२३,४२। ४- वही ।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अधिकांश लेखकों का रुझान धीरे-धीरे बोलचाल की व्यावहारिक भाषा में रचना करने की ओर हो रहा था ।

(२) वह रूप जिसमें तत्सम शब्दों के साथ तद्भव एवं विदेशी भाषाओं के शब्द भी पर्याप्त हों

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा के जिस रूप के लिए अपना मत प्रकट किया था, वास्तव में यह वही रूप था । केवल महावीर प्रसाद द्विवेदी ही नहीं, वरन् हिन्दी भाषा को विकास के मार्ग पर अग्रसर कराने वाले अधिकांश लेखकों ने भाषा की इस नीति को अंगीकार किया था । यहां तक कि तत्कालीन कितने ही लेखक जो एक ओर गहन विषयों की रचना संस्कृत गर्भित भाषा में कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर सामान्य एवं हल्के विषयों पर लिखे गये निबन्धों, पात्र की योग्यता के अनुसार रचित नाटक के संवादों एवं कहानियों की रचना एवं पत्रादि के लेखन में उक्त प्रकार की मिश्रित भाषा का प्रयोग कर रहे थे । उदाहरण स्वरूप --

> 'इस समय डाक्टर साहब की इस पुस्तक माला की छठी जिल्द हमारे सामने है । उसमें पूर्वी हिन्दी का वर्णन और उसके ५८ नमूने हैं । कोई कोई नमूना बहुत ही मजेदार है । वह इतनी मनोरंजक है कि उसे पढ़कर हंसी रोके नहीं रुकती । ये नमूने बिल्कुल देहाती बोली में दिये गये हैं उसी के नमूने इसमें एकत्र किए गये हैं । जो कहानियां देहाती स्त्रियां शाम के वक़्त आग के पास बैठ कर अपने बच्चों को सुनाकर उनको खुश करती हैं उनके कई नमूने इसमें बहुत ही अच्छे हैं[१] ।'

> 'दे० - जिस बात से आप अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं उसकी जड़ हिल रही है । आपका अर्ज़ीदावा ही गलत है । इस कारण मुकद्दमे का फैसिला कभी आपके अनुकूल नहीं हो सकता । पेड़ की जड़ को पहले मज़बूत कीजिए । तब उससे फूल और फल पाने की आशा रखिए ।
>
> ग०-- अच्छा मेरी गलती बताइए तो । जड़ की कमज़ोरी मुझे दिखा तो दीजिए । शान्त भाव से विचार कीजिए[२] ।'

१- समालोचना- समुच्चय-- म०प्र० द्वि०,पृ०१५६ । २-'साहित्य सीकर' : म०प्र० द्वि०, पृ० ६७ ।

> संसार में अब अंग्रेजी प्रताप अखण्ड है ।भारत के राजा अब आपके हुक्म के बन्दे हैं ।उनको लेकर चाहे जुलूस निकालिए, चाहे दरबार बनाकर सलाम कराइये, उन्हें चाहे विलायत भिजवाइये, चाहे कलकत्ते बुलवाइये, जो चाहे सो कीजिये, वह हाजिर हैं । आपके हुक्म की तेजी तिब्बत के पहाड़ों की बरफको पिघलाती है । फारिस की खाड़ी का जल सुखाती है, काबुल के पहाड़ों को नर्म करती है[१] ।

हिन्दी की उक्त शैली को पुष्टि प्रदान करने वाले मु० प्रेमचन्द ने अपने भाषण में पूर्णत: इसी भाषा को अपनाया है,यथा--

> प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है,अंगरेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया है और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुस कर ज़मीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये, उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं । मजा यह है कि इस झुण्ड की फड़फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है । उसके पर निर्जीव हो गये और उड़ने की शक्ति नहीं रही, यह भरोसा नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं[२] ।

कथा-रचना में तो अधिकांश लेखकों ने इसी शैली को ही अपनाया । उक्त शैली की परम्परा बाबू देवकीनन्दन खत्री ने द्विवेदी पूर्व रचित स्वकृतियों--`चन्द्रकान्ता सन्तति` एवं `चन्द्रकान्ता` आदि में ही चला दी थी, जिसका निर्वाह उन्होंने द्विवेदी युग में रचित उपन्यासों में भी किया, यथा--

> बेचारी इन्दुमती बड़े ही संकट में पड़ गई है । प्रभाकर सिंह का इस तरह यकायक गायब हो जाना उसके लिए बड़ा दु:खदायी हुआ। इस समय उसके आगे दुनिया अन्धकार हो रही है । उसे कहीं भी किसी तरह का सहारा नहीं सूझता । उसकी समझ में कुछ भी

१- शि०श० के चिट्ठे : बा०मु०गु०। २- `कुछ विचार` : प्रेमचन्द द्वारा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,मद्रास के चतुर्थ उपाधि वितरण के अवसर पर दिनांक २९ दिस०१९३४ई० को दिये गये दीक्षान्त भाषण का अंश ।

नहीं आता कि अब उसका भविष्य कैसा होगा । उसे न तो
तनो बदन की सुध है और न नहाने व धोने की फिक्र । वह
सिर झुकाए अपने प्यारे पति की चिन्ता में डूबी हुई है ।
गुलाब सिंह उसके पास बैठे तरह तरह की बातों से उसे संतोष
दिलाना चाहते हैं मगर किसी तरह भी उसके चित्त को शान्ति
नहीं होती[1] ।

खत्री जी की उक्त शैली को अन्य लेखकों ने प्रौढ़ता प्रदान की । मुंशी प्रेमचन्द ने शिष्ट एवं संयत शैली में अपने उपन्यास एवं कहानियों के माध्यम से बोधगम्य भाषा में साहित्य-रचना का आदर्श प्रस्तुत किया, जैसे--

'सेठ जी आश्रम की ओर कुपित नेत्रों से ताकते हुए पैरगाड़ी पर
सवार हो गये ।लेकिन बिट्ठलदास पर उनकी धमकियों का कुछ
असर न हुआ । उन्हें निश्चय था कि यह सभा के मेम्बरों से
आश्रम के विषय में कुछ न कहेंगे । उनका अभिमान उन्हें नीचे न
गिरने देगा । सम्भव है वह इस झेंप को मिटाने के लिए मेम्बरों
से आश्रम की प्रशंसा करें । लेकिन यह आग कभी न कभी भड़केगी
अवश्य इसमें सन्देह नहीं था[2] ।

अपने भावों को व्यक्त करने में श्री वियोगी हरि को भी शब्दावली का बन्धन स्वीकार न हों, है अत: भावपूर्ण निबन्धों में बोलचाल में आने वाले अन्य शब्दों को भी उन्होंने स्थान दे ही दिया है--

'चूल्हे में जाय तुम्हारा सोमरस और तुम्हारी सुधा आग में फेंक
दो अपना आबेहयात । यह सब लेकर मैं क्या करूंगा । मुझे तो,
बस उसी प्रेम वारुणी की प्याली चाहिए । एक उसी प्याली
की चाह में तो दीन और दुनिया को दुतकार दिया है । प्रेम
वारुणी और भी कई पागलों ने पी है । नारद, शुकदेव, चैतन्य,
कबीर, मीरा आदि सभी उस मदिरा में मस्त रहते थे । उमर-

१- भूतनाथ : देवकीनन्दन खत्री, पृ०२३ । २ - 'सेवा सदन' : प्रेमचन्द, पृ०२९५ ।

खय्याम, शमस, तबरेज और मौलाना रूम भी उस प्यारी बोली को दिन रात ओठों से लगाये रहते थे । क्या कहना है उनकी मस्ती का । उसी मस्ती से तो तुम्हारी सुधा निकली है और उसी मस्ती से वह आबेहयात का चश्मा बह रहा है । अहा ।[1]

जैसा कि संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रयोग के सन्दर्भ में कहा जा चुका है भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की सबसे बड़ी विशेषता उसके औचित्य विचार की थी । अर्थात् विषय, काल, पात्र के अनुसार भाषा का प्रयोग उनका विशेष गुण था, अत: दूसरों की शब्द-योजना में भी जहां बोलचाल के तद्भव अथवा अरबी-फारसी के शब्द की आवश्यकता का अनुभव किया वहां से संस्कृत शब्दों को हटाकर उपर्युक्त शब्द की स्थापना कर दी । इसके प्रमाण 'सरस्वती' की पाण्डुलिपि में हैं।[2] कुछ प्रयोग उदाहरण रूप में इस प्रकार हैं --

मूल -- सुधार्मिक की शव के साथ सती हो गई ।
सुधार--सुधार्मिक की लाश के साथ सती हो गई । [3]

मूल --स्वदेश का कार्य्य करने से किञ्चित (लेशमात्र) भी न हिचको ।
सुधार--स्वदेश का कार्य्य करने से जरा भी न हिचको । [4]

मूल -- जिस कारण से इसका नाम पाण्डव गुफा पड़ा ।
सुधार--इसी से इसका नाम पाण्डव गुफा पड़ा [5]

जहां तक विशेष रूप से अंग्रेजी शब्द-मिश्रित भाषा-प्रयोग की बात है, आलोच्य-युग में यह शैली भी अधिक प्रचलित हो गई थी । भारतेन्दुकालीन हिन्दी में जो अंग्रेजी शब्दों की बाढ़ आयी वह द्विवेदी-युग में विविध विषयों के विकास के साथ अनेक धाराओं में प्रस्फुटित हो गई । उक्त युग में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विषयों से सम्बन्धित अधिक रचनाएं प्रस्तुत की गई । जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी के अनेक पारिभाषिक शब्द हिन्दी में आए। इधर अंग्रेज एवं अंग्रेजी साहित्य तथा शासन से सम्बन्ध रखने वाले ऐतिहासिक, साहित्यिक राजनीतिक आदि विषयों में भी यथास्थल अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग स्वभावत: हुआ।

१- पगली : श्री वियोगी हरि, पृ०३५-३६। २- दे० शब्दावली सुधार । ३- सर०फ०१९०६। ४- सर०पा०, अग०, १९१७ । ५- सर०पा०, नव०, १९१७ ।

शिक्षा में अंग्रेजी का समावेश, अंग्रेजी पद्धति के अनुसार विषय-चयन तथा हिन्दी साहित्य की विचारधारा में अंग्रेजी साहित्य के अभिव्यंजनावाद के प्रवेश से हिन्दी में और भी अंग्रेजी शब्दों का विस्तार हुआ । इनके अतिरिक्त प्राय: अंग्रेजियत के प्रभाव से आक्रान्त कुछ लोगों की साधारण विषयों पर लिखी गयी रचनाओं में भी खिचड़ी के रूप में उक्त शब्द आ ही गये ।

हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग की दो पद्धतियां विशेषत: व्यवहृत हुईं--

एक पद्धति के अनुसार अर्थ के स्पष्टीकरण अथवा व्याख्या के उद्देश्य से हिन्दी शब्द अथवा वाक्यांश लिखने के पश्चात् अंग्रेजी शब्द कोष्ठक में लिखा गया है, यथा--

> 'वह यूरोपीय पुनर्जागृति (Renaissance)'[1]
>
> 'प्राचीन भारत में प्रजातन्त्र को गण कहते थे, और सूद मुरक्कब (Compound interest) को चक्रवृद्धि'[2]
>
> 'इस प्रकार भारतीय दण्ड समूह (Indian Penal Code) की दफाओं के पूर्णांक (whole number) जैसे लार्ड मेकाले के समय में थे, वैसे ही आज भी वर्तमान है ।'[3]
>
> 'अभिव्यंजनावाद (Expressionism) के प्रवर्तक क्रोसे (Benedetto Croce) ने कला के बोध-पक्ष और तर्क के बोध-पक्ष को इस प्रकार अलग अलग दिखाया है ।'[4]
>
> 'व्याख्या (Exposition) (२) प्रारम्भिक संघर्षमय घटना (Incident)...... (३) कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action)......(४) चरम सीमा (Crisis)[5] .....
>
> 'इसलिए हमें भीड़ की तथा दलों की मनोवृत्ति(Crowd Psychology and Group Mind) का भी अध्ययन करना चाहिए ।'[6]

अथवा कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्द पहिले लिखकर तदर्थक हिन्दी शब्द कोष्ठक में लिखा

१- भा० का इति० पाण्डु- मिश्र । २- भा० का इति० -- मिश्र । ३- मिश्र०विनोद -- ४- हि० अभि०ग्र०-- शुक्ल । ५- 'सिद्धान्त और अध्ययन' -- गुलाब० ।६- हि०अभि०ग्र०-- शुक्ल । रमा० चट्टोपाध्याय ।

गया है, किन्तु ऐसे प्रयोग अधिक नहीं हैं । उदाहरणार्थ --

हर एक के जीवन[1] में कुछ न कुछ Privacy (रहस्य) होता ही है ।

उक्त पद्धति व्याख्यात्मक, गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों में अनुष्ठित हुई है ।

दूसरी पद्धति है -- वाक्य में बिना किसी अन्य शब्द द्वारा व्याख्या के स्वतन्त्ररूप से प्रयोग करने की, यथा--

बीच के रिक्त स्थान में पलंग से कुछ हटकर प्रवेश द्वार के खुले किवाड़ को छूता हुआ एक छोटा-सा टेबुल या चेयर-डेस्क था[2] ।

बी०ए० प्रीवियस पास कर फाइनल में पदार्पण कर लिया है[3] ।

उक्त अंग्रेजी नामों से सम्बन्धित विषय वस्तुएं क्योंकि अंग्रेजों की ही देन हैं, अत: विषयानुसार इनका ज्यों का त्यों प्रयोग प्रयोग वांछित होने के कारण व्याख्या अथवा अनुवाद का प्रश्न नहीं उठता । वस्तुत: इस पद्धति का व्यवहार वर्णनात्मक निबन्धों, कहानियों तथा पत्रादि के सामान्य बोलचाल की भाषा के प्रयोग में हुआ है(दे०(३) के अन्तर्गत) । संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग में प्राय: प्रथम प्रकार की ही रीति अपनाई गई है ।

किसी-किसी रचना में स्वच्छन्द रूप से सभी शैलियों का निर्वाह हुआ है । जैसे भगवती प्रसाद बाजपेयी कृत `अनाथ पत्नी` में --

`बी०ए०,प्रीवियस पास कर फाइनल में पदार्पण कर लिया है`

-- पृ०३१

`हर एक के जीवन में कुछ Privacy (रहस्य) होता ही है`(पृ०३३)

`उसकी ओर से सदा संशयालु( Inquisitive )रहे` (पृ०३३)

तात्पर्य यह है कि युग-विशेष में हिन्दी में विषय-वस्तु के अनुसार अंग्रेजी शब्द का प्रयोग स्वयं ही होने लगा था और यह भाषा के विकास का एक आवश्यक और महत्वपूर्ण अनुष्ठान था ।

---

१ --भग०बाजपेयी। इसी पृष्ठ पर दूसरे रूप में भी अंग्रेजी शब्द का व्यवहार हुआ है,यथा-- वे उसकी ओर से सदा संशयालु(Inquisitive)रहे(पृ०३३)।२-द्वि० पत्रावली : आचार्य देव-- गुप्त । ३- अनाथ० --भग०बाज०।

भाषा में उत्तरोत्तर अंग्रेजी शब्दों के प्रवेश की अभिरुचि का प्रमाण मिश्र जी के 'भारतवर्ष का इतिहास' के तृतीय संस्करण के लिए किये गये उन सुधारों में भी मिलता है, जहां उन्होंने हिन्दी 'संवत्सर' को हटाकर अंग्रेजी 'बी०सी०' तथा 'सन्' का प्रयोग किया है, यथा--

मूल-- ४०० सं०पू० से ५०० सं०पर्यन्त था ।

सुधार--३२५० बी०सी० से ५६३ बी०सी० पर्यन्त था ।

मूल --सवत् १६७७

सुधार--सन् १६३१

मिश्र जी की उक्त रचना में यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है तो भी आपने आवश्यकतानुसार अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कर ही दिया है ।

(३) वह रूप जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अपेक्षा अन्य शब्द अधिक हैं--

इस वर्ग में हिन्दी भाषा का वह रूप आता है, जो नितान्त बोलचाल की ही शब्दावली से युक्त हो । ऐसी भाषा प्राय: कथाओं, संवादों तथा समाचार पत्रों में प्रयुक्त मिलती है, जैसे --

> बाग में जैसे बङ्गले तैयार किये जाते हैं यह भी वैसा ही है । सामने एक बड़ा हाल(Hall) है दोनों ओर कमरों की दो कतारें हैं । घर का फरश धरती से पांच हाथ ऊंचा है और इसी से ऊपर चढ़ने को सामने ही छोटा सा जीना (सीढ़ी) बना है । वह जीना विलायती सिमट मिट्टी से अभी थोड़ी ही देर पहले बना था । उसको गीला देखकर या आवाज होने के डर से अजय बाबू जूता हाथ में लेकर ऊपर चले । मैंने भी देखा देखी जूता उतार कर हाथ में लिया[१] । धीरे धीरे ऊपर गया लेकिन मैं उनकी तरह खबरदार नहीं था ।

उपर्युक्त अवतरण में लेखक ने विदेशी शब्दों का भी हिन्दी बोलचाल की भाषा के अनुसार ध्वनिकरण कर दिया है । देश, काल एवं पात्र के अनुसार स्वाभाविक भाषा के प्रयोग करने में तो प्रेमचन्द सिद्धहस्त थे ही, देखिये --

----

१ 'खूनी की खोज' : गोपालशरण गहमरी, पृ०३३ ।

'जब से ब्रह्मा ने सृष्टि रची तब से आज तक कभी बारातियों को कोई प्रसन्न नहीं कर सका । उन्हें दोष निकालने और निन्दा करने का कोई न कोई अवसर मिल ही जाता है । जिसे अपने घर सूखी रोटियां भी मुयस्सर नहीं, वह भी बारात में जाकर नाना-शाह बन बैठता है । तेल खुशबूदार नहीं है, साबुन टके सेर का जाने कहां से बटोर लाये, कहार बात नहीं सुनते, लालटेनें धुआं देती है, कुर्सियों में खटमल हैं, चारपाइयां ढीली हैं, जनवासे की जगह हवादार नहीं, ऐसी ऐसी हजारों शिकायतें होती रहती हैं । उन्हें आप कहां तक रोकियेगा ?[१]

इसी शैली के अन्तर्गत पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'उसने कहा था' की भाषा भी उल्लेखनीय है--

राम-राम यह भी कोई लड़ाई है । दिन रात खन्दकों में बैठे हड्डियां अकड़ गईं । लुधियाना से दसगुना जाड़ा, मेंह और बरफ ऊपर से, पिंडलियों तक कीचड़ में धंसे हुए हैं । गनीम कहीं दिखता नहीं, घण्टे दो घण्टे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ सौ गज गज धरती उछल पड़ती है । इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े । नगर कोट का जल जला सुना था, यहां दिन में पच्चीस जलजले होते हैं ।

यहां तक कि शुद्ध, परिष्कृत, संस्कृतनिष्ठ भाषा का सर्वत्र समभाव से प्रयोग करने वाले कवि एवं लेखक जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में भी विशेष पात्र अथवा चरित्रादि के सन्दर्भ में ऐसी भाषा का यत्र-तत्र प्रयोग हो ही गया है --

कुछ ही दिनों से यह बुड्ढी वाली आने लगी है । कभी कभी तो बिना बुलाये ही चली आती और ऐसे ढंग फैलाती कि बिना सरकार के आये निबटारा न होता । यह बहूजी को असह्य हो

----

१ 'निर्मला' : प्रेमचन्द, पृ०१५।

जाता। आज उसको चूड़ी फैलाते देख बहू जी भल्लाकर बोलीं-- आजकल दुकान पर गाहक कम आते हैं क्या ?

'बहू जी, आजकल खरीदने की धुन में हूं, बेचती कम।' इतना कहकर दर्जन चूड़ियां बाहर सजा दीं[1]।

द्विवेदी-युग तथा आधुनिक युग के सन्धि-स्थल पर रची गई राधिकारमण प्रसाद की रचनाओं की बोलचाल की भाषा भविष्य के प्रयोक्तागण द्वारा निज रूप-निर्वाह का सन्देश देती है, देखिए--

बहू को बुखार जोश पर था। कंचन अकेली घर चला रही थी। रामू को हजार दौड़-धूप पर आधी तनख्वाह तो मिली मगर गृहस्थी के जलते तवे पर वह पानी की दो बूंद की तरह छन्न-से उड़ गई। रामू ने यह रकम कंचन के हाथ देकर पूछा भी नहीं कि और कितनी जरूरत होगी। पूछने की शायद न हिम्मत थी, न तबीयत। जैसे चलता है चले। नहीं चले, न चले। इस खपत में कौन जान दे ? और जान देने से फायदा[2] ?

भाषा के इस रूप का दर्शन द्विवेदी जी के उन पत्रों में भी होता है, जो नितान्त स्वाभाविक शैली में लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ--

श्रीयुत पांडे[3] जी को प्रणाम,

मैं जुलाई से बख्शी जी को मुस्तकिल करना चाहता हूं। अभी तक उन्होंने आपकी मदद से काम किया है। अब मैं उनकी स्वतन्त्र कारगुजारी देखना चाहता हूं। आप कृपा करके उन्हीं से अब 'सरस्वती' सम्पादन का सारा काम कराइए। जो कुछ पूछें वह बतला अवश्य दीजिए। देखूं तो ये अकेले काम कर सकेंगे या नहीं। मेरे शरीर की बुरी दशा है। मैं अलग होना चाहता हूं। अगर बड़े बाबू आज्ञा देंगे तो नाम अपना दिसम्बर तक 'सरस्वती' पर रहने दूंगा। पर काम अब मैं इन्हीं से कराना

१- 'आकाश दीप'-- चूड़ी वाली : 'प्रसाद', पृ० १५० यद्यपि 'प्रसाद' ने यहां भी विदेशी शब्दों का प्रयोग विरल ही किया है। रचना के शेष स्थलों में संस्कृत के तत्सम शब्द ही अधिक हैं। २- चुनी कलियाँ - राधिकार. प्रसाद।
३- लल्ली प्रसाद पाण्डेय।

चाहता हूं। कापी मैं देखूंगा, प्रूफ भी।

भवदीय

म० प्र० द्वि०

पत्रों में भाषागत औपचारिकता पर ध्यान न देकर फारसी, अंग्रेजी शब्दों का निधड़क प्रयोग किया है, जिसके प्रमाण में कुछ पत्रों से संकलित पंक्तियां इस प्रकार हैं --

'मैं आफत में फंस गया हूं,[१]

'काशी को ४ लाइन पोस्टकार्ड पर लिख भेजो कि फैसला मानें[२]

'और कोई नोट मैं नहीं लिख सका[३]

'आज ४ दिन से कुछ बेहतरी की सूरत नजर आती है[४] आदि।

भाषा के उक्त रूप(अर्थात् तत्सम-तद्भव तथा विदेशी शब्दों से युक्त रूप) का प्रयोग एक ओर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, मिश्रबन्धु, चण्डी प्रसाद हृदयेश, ब्रजनन्दन सहाय, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी प्रभृति लेखकगण ने संस्कृतनिष्ठ शैली को अपनाते हुए भी किया है तो दूसरी ओर देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, मुं० प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्ण सिंह, बदरीनाथ भट्ट, सेठ गोविन्ददास, भगवती प्रसाद वाजपेयी, पद्म सिंह शर्मा, श्री वियोगीहरि तथा अन्य कथाकारों ने पूर्णरूप से इसी शैली में अपनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं। भले ही किसी की भाषा में तत्सम (संस्कृत के) रूप की प्रधानता है तथा किसी में तद्भव तथा अन्य शब्दों की। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृतनिष्ठ भाषा के साथ-साथ द्विवेदी-युग की विशेष देन के रूप में आज भी यह भाषा हिन्दी साहित्य रचना के माध्यम के रूप में गृहीत है। यहां तक कि हमारे राष्ट्र के कर्णधारों ने इसी भाषा के सरलतम रूप को 'हिन्दुस्तानी भाषा' की संज्ञा दी है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी हिन्दी के इसी रूप का समर्थन किया था।

ख. पद्य

द्विवेदी-युगीन पद्य साहित्य की शब्द-योजनात्मक प्रवृत्ति का क्रम गद्य साहित्य के शब्द-योजनाक्रम के विपरीत दिखायी देता है। तत्कालीन गद्य-रचना के आरम्भ में लेखकों

१-शिवाधार शुक्ल के नाम, दि०१४ मई, १९२०। २- देवीदत्त शुक्ल के नाम, दि०३१-१२-२०। ३- दिनांक ३१-८-२१। ४- देवीदत्त शुक्ल के नाम, दि०१३-१-२६।

की प्रवृत्ति प्राय: संस्कृतगर्भित भाषा के प्रयोग करने की रही । धीरे-धीरे ऐसी भाषा को जन समाज की पहुंच से दूर होते देखकर साहित्य में बोलचाल की भाषा के प्रयोग पर अधिक बल दिया जाने लगा । यह और बात है कि जहां तक हो सका गम्भीर विषयों की रचना में संस्कृतनिष्ठ भाषा ही प्रयोग में लाई जाती रही, किन्तु मुख्य प्रवृत्ति भाषा को सरल रूप देने की ही रही ।

इसके विपरीत पद्य-रचना में आरम्भ में तो सरल भाषा को अपनाया गया, किन्तु आगे चलकर संस्कृत के तत्सम शब्द-प्रधान भाषा प्रयुक्त होने लगी । इसका प्रमुख कारण यह है कि यद्यपि खड़ीबोली में काव्य-रचना के प्रश्न का सूत्रपात भारतेन्दु-युग में ही हो गया था (जिसने द्विवेदी युग में व्यापक रूप धारण किया) और उस युग में छिटपुट कविताएं भी रची गईं, किन्तु इन कविताओं पर ब्रजभाषा का प्रभुत्व होने के कारण तथा अधिकांश रचनाकारों द्वारा खड़ीबोली को कविता के अयोग्य ठहराये जाने के कारण उस युग तक ये कविताएं साहित्य में नगण्य रूप समझी जाती थीं । आगे चलकर जब द्विवेदी युग में हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के दृष्टिकोण से पुन: कविता की भाषा का प्रश्न छिड़ा तो उस समय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से बहुत से कवि खड़ीबोली में काव्य-रचना के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए । अत: द्विवेदी-युग से ही साहित्यिक खड़ीबोली में कविता का सूत्रपात समझना चाहिए । और, क्योंकि यह प्रकृति का नियम है कि आरम्भिक अवस्था में कोई वस्तु अपने सरलतम रूप में रहती है, धीरे-धीरे अपने पल्लवन और विकास के साथ वह जटिल रूप भी धारण करती जाती है, अत: यही स्थिति आलोच्यकाल में कविता की भाषा की थी । आरम्भ में लेखकों अथवा कवियों ने प्रयोगिक(एक्सपेरिमेण्टल) रूप से सरल तथा बोधगम्य भाषा में कविता की । उस समय कविता का विषय भी सामान्य तथा स्थूल था, किन्तु जैसे-जैसे काव्य के क्षेत्र में लेखनी परिमार्जित होने लगी तथा विषय में बौद्धिक एवं भावात्मक गम्भीरता का समावेश होने लगा, भाषा जटिलता का बाना धारण करने लगी । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आगे चलकर सरल भाषा में कविताएं हुईं ही नहीं । वस्तुत: विषयादि के अनुरूप एवं लेखक की स्वयं की रुचि-वैचित्र्य अथवा क्षमता के अनुकूल आज की पारिभाषिक शब्दावली में उस समय कविता की भाषा की मुख्यत: दो धाराएं साथ-साथ प्रवाहित होती रहीं--एक, सरल रूप की तथा दूसरी, जटिल रूप की । भाषा के इस सरल तथा जटिल रूप की अवस्थिति में पद्य-रचना में शब्द-योजना सम्बन्धी निम्नलिखित शैलियां व्यवहार में लाई गईं --

१.बोलचाल की शब्दावलीयुक्त शैली

२.तत्सम-तद्भव तथा अरबी-फारसी शब्दावली-युक्त शैली

३.तत्सम-तद्भव युक्त शैली

४.संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली

१.बोलचाल की शब्दावलीयुक्त शैली

इस वर्ग में खड़ीबोली का वह रूप आता है, जिसमें तत्सम शब्द या तो विरल हैं अथवा तद्भव, हिन्दी बोलियों तथा अन्य भाषाओं के शब्दों की अपेक्षा न्यून हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ अंशों को छोड़कर यह बोलचाल में व्यवहृत होने वाली भाषा का ही साहित्यिक रूप है। इस शैली के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं --

जब आई प्यारी बरसात
कुछ मत पूछो मेरी बात।
उमड़ घुमड़ बरसे घनघोर
बेहद मुफ में आया जोर।

अथवा

जाड़े ने अब कूच किया है उसे धूप ने जीत लिया है।
गरमी ने आ कदम जमाया- पल पल में दिन को गरमाया ।।
डेरा ताना झंडा गाड़ा- ढोल बजाया जीत अखाड़ा ।
फागुन का चल दिया महीना तन में आने लगा पसीना ।।

उपर्युक्त कविताएं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने `लोअर` तथा `अपर प्राइमरी रीडर` में बच्चों के पाठ्यक्रम के अनुसार कविता के माध्यम से ऋतुओं का परिचय देने के उद्देश्य से लिखी हैं,अत: इनकी भाषा नितान्त बोधगम्य है। इनके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अपनी कुछ और रचनाएं `सरस्वती` में बाल शिक्षार्थियों के हेतु ही सरल भाषा में प्रकाशित की हैं,जैसे--

एक बाग में बहुत पुराना
पांच परिन्दों का था थाना
बक बटेर कौवा चण्डूल
दिवा भीत भी नामाकूल
एक घोसला खाली पाय
सब ने उसपर दौंच लगाया।

अपना अपना हक दिखलाने
लगे कूदने शोर मचाने[1] ।।

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय `हरिऔध` ने भी ठेठ हिन्दी अर्थात् बोलचाल की भाषा में कविता का आदर्श `चुभते चौपदे`, `चोखे चौपदे` तथा कुछ फुटकल रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया, जिनकी कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं --

ले सकेगो उसे न क्यों लेवे
लाड़िला वह तमाम घर का है ।।
ठीक पर का अगर रहा पर का
दूसरा कौन पीठ पर का है ।।
\+ \+ \+
फिर कभी खुलने न पाईं मांद मे
इस तरह मन के मसोसों से हुईं ।।
मूंदते ही मूंदते मुख और का ।
मद भरी आंखे बहुत ही मुद गईं ।।[2]

तथा

दुखों की गरज क्यों न धरती हिलावे । लगातार कितने कलेजा कंपावे ।
बिपत पर बिपत क्यों न आंखें दिखावें। बिगड़ काल ही सामने क्यों न आवे ।[3]
कभी सूरमे हैं न जीवट गवाते । बलायें उड़ाते हैं चुटकी बजाते ।।१।।

बोलचाल की भाषा में `रामकथा` की पद्यमय रचना करके राधेश्याम कथावाचक ने भी इस जनभाषा का जनता के मध्य खूब प्रचार किया । यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में उनका उद्देश्य भाषा का प्रचार न करके भाव का प्रचार करना था, किन्तु परोक्ष रूप में जनता रामकथा पढ़ने के ही उद्देश्य से भाषा सीखने के लिए उद्यत हुई ।

फिर भी जैसा कि कहा गया है, द्विवेदी-युग में भाषा सरलता से जटिलता की ओर उन्मुख थी, अत: नितान्त बोलचाल की भाषा में कविता करने की प्रवृत्ति उस काल में भी अधिक व्यापक न हो सकी और धीरे-धीरे उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी समावेश होने लगा ।

\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-\-

१-सर०फ०१६०६। २- चोखे चौपदे- अ०सिंह उपा०,पृ०१३-१५ । ३- सर०पां० अ०सिंह उपा०।

२. तत्सम-तद्भव तथा अरबी- फ़ारसी शव्दावली से युक्त शैली

पूर्व कथनानुसार -- जैसे-जैसे हिन्दी कविता में वृद्धि होने लगी अथवा जैसे-जैसे हिन्दी कविता प्रगति की ओर बढ़ने लगी, उसमें संस्कृत के तत्सम शव्द तो स्थान पाने ही लगे साथ ही तद्भव तथा अरबी-फारसी के शव्द भी बराबर प्रयुक्त होते रहे । इस प्रकार की भाषा के प्रयोग में `सनेही` सिद्धहस्त थे । उनकी प्राय: कविताओं में बोलचाल की हिन्दी व उर्दू शव्दावली के साथ न्यूनाधिक रूप में संस्कृत के तत्सम रूप भी वर्तमान हैं,उदाहरणार्थ--

जिसकी रज में उठे बढ़े जिसका रस पीके, जिसमें पाकर पवन प्राण दा पड़े न फीके
पालित पोषित हुए पुत्र बन जिस अवनी के,जिसने पूरे किए हौसले सारे जी के ।
उसे भूलकर भी कभी करते दिल से याद है ?
हा उसकी सब नेकियां मुफ़्त हुईं बर्बाद हैं ।[1]

अथवा

पड़े विपद पर विपद किन्तु पद पीछे नहीं हटाते हैं ,
अपना रोना कभी न रोते साहस नहीं घटाते हैं ।
बन पड़ता है जहां तलक दीनों का दु:ख घटाते हैं ,
निज पौरुष से समर भूमि में अरि को धूल चटाते हैं ।
वही धीर नर धरा धाम में धवल कीर्ति नित पाते हैं ।।[2]

वस्तुत: `सनेही` जी के काव्यभाषा की यह विशेषता रही है कि उसमें संस्कृत के तत्सम-तद्भव शव्दों का प्रयोग कितना ही हुआ हो किन्तु वह अरबी-फारसी के शव्दों से रहित नहीं है । जिन कविताओं में अधिकाधिक संस्कृत शव्दों का प्रयोग किया गया है,उनमें भी कुछ स्थल ऐसे हैं, जहां फ़ारसी के प्रचलित शव्द स्वाभाविक रूप से आये हैं,जैसे --

हो रात अथवा हो दिवस हो प्रात अथवा शाम हो
आराम दिल पाये बिना मुमकिन नहीं आराम हो
मज़दूर मज़दूरी लिये अपने मकानों को चले ।
मानो सुकर्मी स्वर्ग को लेकर विमानों को चले ।[3]

१- सर०पां०जून,१६१६`अकृत ज्ञात` । २-सर०भाग १७ खं०१ सं०३,पृ०१५७ धीर नर ।
३-`काव्य बाटिका`- `सन्ध्या`,पृ०१५८,१५६ ।

सनेही जी के अतिरिक्त अन्य कवियों यथा-- माखनलाल[१] चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्रा कुमारी चौहान, बदरीनाथ भट्ट आदि की कुछ कविताओं की भाषा भी इसी कोटि में आती है। प्रमाण रूप में त्रिपाठी की कविता 'मैं ढूढ़ता तुझे था जब कुंज और वन में, तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में' तथा सुभद्रा कुमारी चौहान की सर्व प्रचलित कविता 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी' को लिया जा सकता है। इसी प्रकार बदरीनाथ भट्ट की फ़ारसी शैली पर निर्मित कविता का उदाहरण भी द्रष्टव्य है--

यह स्वार्थ तम का परदा अब तो उठा दे मोहन।
अब आत्म त्याग रवि की आभा दिखा दे मोहन।
पूरब में फैल जावे शुभ-देश-भक्ति-लाली,
सुसमीर एकता की अब तो चला दे मोहन।
मृदु प्रेम की सुरभि को पहुंचा दे हर तरफ़ तू
मन पल्लवों पै आशा- बूंदें बिछा दे मोहन।[२]

'निराला' जी यद्यपि कविता में तत्सम प्रधान भाषा के प्रयोक्ता थे, फिर भी विषयानुकूल कविता की भाषा में यत्र तत्र फ़ारसी शब्दों के छींटे आ ही गये हैं, यथा--

दोनों लोक कहेंगे
होता तू ज़ानदार,
हिन्दुओं पर हरगिज़ तू
कर न सकता प्रहार
अगर निज नाम से
बाहुबल से, चढ़कर
तुम आते कहीं दक्षिण में
विजय के लिये भी
पत्र-से प्रभात के
इन नयन पलकों को
राह पर तुम्हारी मैं

१-चतुर्वेदी जी की अधिकांश कविताएं 'तत्सम-तद्भव' मिश्रित भाषा' की कोटि में आती हैं।
२- स०पा० २६१५ प्रार्थना

मुख से बिछा देता--
सीस भी झुका देता सेवा में,
साथ भी होता वीर,
रक्षक शरीर का, हमरकाब[१]

भाषा का उपर्युक्त रूप वास्तव में कविता की भाषा की प्रगतिशीलता का ही सूचक है । यहां तक कि जहां भारतेन्दु-युग में अरबी-फारसी के शब्द खड़ीबोली कविता की भाषा के मुख्य अवयव बने हुए थे, वहां द्विवेदी-युग में शनैःशनैः अधिकांश कवियों की भाषा में फारसी शब्दों का स्थान संस्कृत के तत्सम शब्द ही लेने लगे । अतः यदि फारसी शब्द प्रयुक्त हुए भी तो भाषा प्रयोग के प्रवाह में स्वयं ही आये हुए थे ।

३.तत्सम -तद्भव शब्दयुक्त शैली

इसे पूर्व दृष्टान्तित भाषा का और विकसित रूप समझना चाहिए । तत्सम-तद्भव शब्दों के अनुपात के अनुसार इसके तीन वर्ग किये जा सकते हैं-- प्रथम, वह रूप जिसमें तद्भव शब्द अधिक तथा तत्सम शब्द न्यून हैं,इसमें मुख्यरूप से अयोध्यासिंह उपाध्याय की कविता की भाषा का उल्लेख किया जा सकता है,यथा--

बस में जिससे हो जाते हैं प्राणी सारे
जन जिससे बन जाते हैं आंखों के तारे ।
पत्थर को पिघला कर मोम बनाने वाली ।
मुख खोलो तो मीठी बोली बोलो प्यारे ।।१।।
रगड़ों झगड़ों का कड़वापन खोने वाली
जी में लगी हुई काई को धोने वाली ।।
सदा जोड़ देने वाली है टूटा नाता ।
मीठी बोली प्यार बीज है बोने वाली ।।२।।[२]

इनके अतिरिक्त नाथूराम शंकर शर्मा तथा रामचन्द्र शुक्ल की कुछ कविताएं भी ऐसी ही भाषा में रची गई हैं,यथा--

----

१-परिमल--महाराज शिवाजी का पत्र--निराला ।

२ काव्यवाटिका,पृ०२३६--`मीठी बोली ।

दया का दान देने को जिन्होंने जन्म धारे हैं
वही विद्वान बड़भागी प्रजा के प्राण प्यारे हैं ।
धड़ाधड़ मार खाते हैं हितू तो भी हमारे हैं
पड़े बन्दीगृहो में भी प्रतापी यों पुकारे हैं ।[1]

तथा

एक दिन हम भी किसी के लाल थे
आंख के तारे किसी के थे कभी
बूंद भर गिरता पसीना देखकर
था बहा देता घड़ों लोहू कोई ।।१।।[2]

दूसरे रूप में तत्सम-तद्भव शब्द लगभग समान हैं,यथा--

मैं विचार में डूबा ही था इतने में यह बात सुनी,
जो सुउक्ति कुसुमावली में से गई रही रुचि साथ चुनी ।
अति कठोर पाहन होता है, महा तरल होता है जल,
उसमें से चिनगी कढ़ती है, इसमें खिलता है शतदल ।।२।।[3]

तीसरा रूप वह है, जिसमें तत्सम शब्दों की अधिकता है । द्विवेदी-युगीन अधिकांश लेखकों एवं कवियों,यथा-- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी+,नाथूराम शंकर शर्मा, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, देवीप्रसाद पूर्ण, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कामताप्रसाद गुरु+, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, गोपाल शरण सिंह, लोचन प्रसाद पाण्डेय, बदरीनाथ भट्ट+ आदि की प्रवृत्ति भाषा के इसी रूप में कविता करने की रही है और यही प्रवृत्ति प्राय: कवियों को संस्कृतनिष्ठता की ओर ले गई है । इस रूप में काव्य-भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त होती हुई भी तद्भव शब्दों की विद्यमानता के कारण सरल एवं बोधगम्य है । उदाहरणार्थ--

----

१- शंकर सर्वस्व : नाथूराम शंकर शर्मा,पृ०८ । २- स०भाग १७,खं०२,सं०४,पृ०२३२--शुक्ल ।
३- काव्यवाटिका,पृ०२८७ `एक काव्य का टुकड़ा'-- शुक्ल ।
+- आचार्य द्विवेदी,गुरु तथा भट्ट का प्रमुख क्षेत्र गद्य होते हुए भी खड़ी बोली कविता का आदर्श प्रस्तुत करने में विशेष योगदान रहा है ।

शशधर में जो सुन्दरता है
कमलों में जो कोमलता है
जहां तहां लावण्यलता है
जिसमें जितनी गुण गुरुता है ।।
जब एकत्र उन्हें कर पाया
तब बिधि ने अभ्यास बढ़ाया
फिर उनसे यह रूप बनाया
सुन्दरता-समूह उपजाया[1] ।।

द्विवेदी जी की उक्त कविता-अंश से उनके संस्कृत-गर्भित भाषा की ओर अग्रसर होने का सन्देश मिलता है ।

नाथूराम शंकर शर्मा तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण की भाषा में तत्सम शब्दों का आधिक्य होते हुए भी जहां-तहां ब्रजभाषा पन का भी पुट है, यथा--

इन्दिरा के बाप दानवीर महासागर से
भूमि सींचने को नीर मांग मांग लाते हैं
औरों का असीम उपकार करने पर भी
धौरे घन याचना की श्यामता दिखाते हैं ।
स्वारथी भिखारी ऐसे दृश्य देखते हैं तो भी
दानियों के द्वारों पर मांगने को जाते हैं ।
शंकर बिसार लाज फेड़े मुख-मण्डल पै
हाय हाय कालिमा कलंक की लगाते हैं[2] ।

तथा

तू ही है सुमन तुही सुरंग प्रसूनन के
सुषमा असीम तू ही हरियाली है ।
तुही नीर वाली घट-कुण्ड तरमूल तू ही
तुही फलवाली तुही पात तुही डाली है
जगत की बाटिका को सार सब भांति तुही
तुही ब्रह्मपूरन करत रखवाली है ।

१- स०पा०१६०६--गौरी म०प्र०द्वि० ।२- शंकर सर्वस्व-- नाथूराम शं०शर्मा, पृ०३३५।

मृङ्गण खग सौर सैर सौरभ समीर तुही
सैर को करैया तु ही स्वामी तु ही माली है[1] ।।

किन्तु रामचरित उपाध्याय,मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय,ठाकुर गोपालशरण-सिंह,रामकृष्णदास की भाषा तद्भवयुक्त होते हुए भी ग्रामीणता आदि के दोषों से रहित तथा परिनिष्ठता से युक्त है । वास्तव में इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठता की ओर उन्मुख है, उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित अवतरण ही पर्याप्त हैं --

चिन्ता सर में डूब रहा है
ग्राह-ग्रसित सादेश कन्हैया ।
गज की भांति इसे भी रख लो
मिले न गौरव लेश कन्हैया ।।
क्यों प्यारे प्रतिकूल हुए हो
हो गाओ अनुकूल कन्हैया ।
शीघ्र हटा दो हिन्द हृदय से
भय तापों का शूल कन्हैया ।।२

बनता है दिन-रात हमारा रुधिर पसीना,
जाता है सर्वस्व सूद में फिर भी क्षीना ।
हा ! हा ! खाना और सर्वदा आंसू पीना ,
नहीं चाहिए नाथ ! हमें अब ऐसा जीना ।।[3]४।।

अथवा

अर्थ तुझे भी हो रही पद प्राप्ति की चाह
क्या इस जलते हृदय में नहीं और निर्वाह
स्वजनि रोता है मेरा गान,
प्रिय तक नहीं पहुंच पाती है उसकी कोई तान
भिलता नहीं समीर पर इस जी का जंजाल[4] ।।

१-काव्यवाटिका- माली है : रायदेवीप्रसाद पूर्ण,पृ०३११ की ओर अग्रसर होने का संदेश मिलता है । २- सर०पा०,जुलाई १९१७,कन्हैया-- रा०च० उपा० ।३- काव्यवाटिका,पृ० ३३६--`भारतीय कृषक`,-- गुप्त । ४- साकेत-- गुप्त--नवम सर्ग ।

यहाँ तक कि तत्कालीन मुसलमान कवि `सैयद अमीर अली `मीर` ने भी अपनी कविता में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग न कर उसे तत्सम शब्दों से युक्त रखा है,भले ही उसमें बोलचाल का किंचित पुट आ गया है,यथा--

क्रोध प्रीति को नष्ट करै अरिता उपजावे ।
देता है बहु कष्ट चैन को मार भगावे ।।
अम्बरीष पर व्यर्थ रोष करि दुर्वासा ने--
शाप दिया, इस अर्थ पड़े वे कष्ट उठाने ।।६।।
आलस उद्यम-हानि को पलभर में जैसे ।
प्रेम नाश कर ग्लानि भरे मन में रिस जैसे
क्रोध पराक्रम नेह, बुद्धि बल को हर लेता
कृश करता है देह, हृदय चिन्तित कर देता ।।७।।[1]

`सनेही` जी को यद्यपि शब्दों का बन्धन स्वीकार नहीं था तथापि उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में केवल तत्सम-तद्भव शब्दों का ही प्रयोग किया है,जिनमें तत्सम शब्द भी अधिक हैं,जैसे--

जिसने बढ़कर नहीं दीन जन को अपनाया
पतित बन्धु को पुन: उच्च जिसने न बनाया ।
सुनकर सकरुण नाद न जिसने कान हिलाया,
दया सलिल साहाय्य-तृषित को नहीं पिलाया ।
बस आप जिया अपने लिए जिया किन्तु वह क्या जिया
इस कर्म भूमि में आप ही कहिए उसने क्या किया ?[2]

इस वर्ग में आधुनिक कवि `पंत` की कुछ आरम्भिक कविताएं भी ली जा सकती हैं । यद्यपि कवि की प्रवृत्ति आरम्भ से ही संस्कृत बहुला भाषा को ग्रहण करने की रही है, किन्तु काव्य भाषा में कोमल कान्त पदावली का समावेश कर उसे कठोरता से बचाना भी कवि की काव्यगत विशिष्टता रही है, इसी उद्देश्य से यथास्थल तद्भव शब्दों का प्रयोग वांछित समझा गया है, उदाहरणार्थ--

----

१- काव्य वाटिका- क्रोध से हानि,पृ०२०१ । २-स०पा० मई १६१७--`कुछ न किया`--सनेही,प

हा हम मारुत की मृदुल झकोर ,
नील व्योम को अंचल छोर
बाल-कल्पना-सी अनजान,
फिरती रहती हैं निशि-भोर,
उर-उर को प्रिय, जग के प्राण।
हरियाली से ढंक मृदु गात,
कानों में कह सौ सौ बात
हमें झुलसाते हैं अविराम
विश्व -पुलक से तरु के पात
कुसुमित पलनों में अभिराम[१] ।

४. संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली

तात्कालीन काव्य-भाषा की यह शैली हिन्दी भाषा की साहित्यिकता की चरम सीमा है । जैसा कि हम देख चुके हैं, द्विवेदी-युग में साहित्यकारों का प्रयास भाषा को अधिक से अधिक परिनिष्ठित रूप देने का था । इस प्रयास में अधिकांश कवियों की प्रौढ़ रचनाएं प्राय: संस्कृतगर्भित भाषा में ही मिलती है और इसी संस्कृत-गर्भित भाषा को 'परिष्कृत' एवं 'परिनिष्ठित' भाषा की संज्ञा से अभिहित किया गया है । इस भाषा के भी दो रूप मिलते हैं -- एक, में,संस्कृत शब्दों की अधिकता तो है,किन्तु यथास्थल भाषा की जटिलता को कम करने के लिए तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया गया है । संस्कृत शब्दों में लम्बे लम्बे सामाजिक पदों की भरमार नहीं है । शब्द छोटे और हिन्दी व्याकरण के अनुसार हैं । दूसरे में, संस्कृत के अधिकाधिक शब्दों का प्रयोग करके जहां तक हो सका है, उसे तद्भव शब्दों से मुक्त रखा गया है, साथ साथ ही कहीं-कहीं पर संस्कृत के लम्बे-लम्बे सामासिक पदों अथवा क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से भाषा जटिल हो गई है ।

संस्कृतनिष्ठ भाषा के उक्त दोनों रूपों अथवा एक ही रूप के प्रयोगकर्ताओं में पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, रामचरित उपाध्याय,मैथिलीशरण गुप्त,जयशंकर प्रसाद,रामनरेश-त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह,मुकुटधर पाण्डेय, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तथा कविवर पंत प्रमुख हैं ।

---

१ सर०भाग२५सं०२,सं०४,पृ०१०६७--विश्व वेणु ।पंक्तियों के अन्त में स्थित रेखांकित तद्भव शब्दों ने काव्य की भाषागत कर्कशता के मार्ग को मानो अवरुद्ध कर दिया है ।

जहां तक कविता में संस्कृतनिष्ठ भाषा की नींव रखने की बात है यह कार्य स्वयं द्विवेदी जी की लेखनी से सम्पन्न हुआ था । द्विवेदी जी ने आरम्भ में संस्कृतनिष्ठ भाषा को ही अपनी कविता का माध्यम बनाया था, किन्तु इससे उनकी कविता की सरसता भाषा की सिकता में ही विलीन होकर रह गई थी, देखिए--

सुरम्य रूपे। रस राशि-रंजिते।
विचित्र वर्णा भरणे कहां गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा
कवीन्द्र कान्ते! कविते अहो कहां[1] ?

आगे चलकर उन्होंने बोलचाल की भाषा में कविता करने का आह्वान किया। किन्तु उस बोलचाल की भाषा में साहित्यिकता एवं परिनिष्ठिता का अभाव देखकर आप पुन: संस्कृत गर्भित भाषा की ओर अग्रसर होने लगे, किन्तु आपकी प्रवृत्ति काव्यात्मक नहीं थी । अत: भाषा पूर्णत: काव्यगुणोपेत नहीं बन पाई ।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने एक ओर तो चुभते चौपदे, चोखे चौपदे जैसी रचनाओं के माध्यम से ठेठ हिन्दी का नमूना रखा तो दूसरी ओर 'प्रियप्रवास' जैसी नितान्त संस्कृतगर्भित भाषा की रचना करके अपनी भाषा की अपूर्व संस्कृतनिष्ठता का भी परिचय दिया । वास्तव में आपका ध्येय पहले बोलचाल की भाषा में ही कविता लिखने का था किन्तु युग की अपेक्षानुसार आपने संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रयोग की भी नीति अपनाई । प्रियप्रवास उनकी इसी नीति की परिणति है । इसकी भाषा कुछ स्थलों पर इतनी दुरूह हो गई है कि कुछ रूपादि को छोड़कर यह पूर्णरूपेण संस्कृत की ही रचना प्रतीत होने लगती है, उदाहरणार्थ--

नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद आपूरिता ।
लीला-लोल-कटाक्ष-पात निपुणा भ्रूभंगिमा-पंडिता ।
वादि दि समोद-वादन-परा आभूषणभूषिता ।
राधा थीं सुमुखी विशाल-नयनाआनन्द-आन्दोलिता

... .
सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता-सर्वत्र सम्मानिता ।

---

1 उद्धृत--सर० हीरक०विशे० से --कविता रचनाकाल 1901 ।

रोगी वृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा ।
सद्भावातिरता अनन्य हृदया सत्प्रेम -संपोषिका ।
राधा थी सुमन प्रसन्नवदना स्त्री जाति-रत्नोपमा[1] ।

यद्यपि हरिऔध जी की उपर्युक्त रचना संस्कृतनिष्ठ है,किन्तु कहीं-कहीं भाषा में उपर्युक्त उदाहरणों की अपेक्षाकृत सरल भी है, यथा--

क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है ।
तू है मेरी चिर परिचिता तू हमारी प्रिया है ।
मेरी बातें सुन मत रुता छोड़ दे वामता को
पीड़ारवी के प्रणत जन को है बड़ा पुण्य होता ।।
मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले ।
जाके आये न मधुवन से औ न भेजा संदेस
मैं रो रो के प्रिय-विरह से बावली हो रही हूं
जाके मेरी सब दुख-कथा श्याम को तू सुना दे[2] ।।

इसके अतिरिक्त भी आपकी कई फुटकर रचनाएं संस्कृतनिष्ठ भाषा में मिलती हैं,किन्तु उनकी भाषा अधिक जटिल नहीं है,यथा--

हरित तृण-राजि-विराजित भूमि,
बनी रहती है बहु छवि धाम
बिहंस जिस पर प्रति दिवस प्रभात,
बरस जाता है मुक्ता-दाम ।।
पहन कमनीय कुसुम का हार ,
पवन से करती हैं कल केलि ।
उड़े मंजुल दल-पुंज-दुकूल,
बिलसती है अलबेली बेलि[3] ।।

पं० रामचरित उपाध्याय परिनिष्ठित खड़ीबोली में काव्य-रचनाकारों के अग्रज माने जाते हैं । जिस समय द्विवेदी जी के आह्वान पर द्विवेदी जी सहित समसामयिक

१- प्रियप्रवास: हरिऔध,पृ०३७। २- वही,पृ०६४ । ३-द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ,पृ०१५८, उद्यान ।

नाथूराम शर्मा, श्रीधर पाठक,अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि कविगण खड़ीबोली को कविता की भाषा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रयोगों में उलझे हुए थे और कविता को बोलचाल के शब्दों अथवा ग्रामीणता के दोषों से मुक्त नहीं कर पा रहे थे, उस समय उपाध्याय जी ने संस्कृत गर्भित भाषा में अपनी रचनाएं प्रस्तुत की । जो राजनीतिक एवं सामाजिक सुधारवादी प्रवृत्ति सूचक कविताएं थीं, उनमें तो तद्भव अथवा यत्किंचित बोलियों के शब्द प्रयुक्त हुए भी हैं,किन्तु गम्भीर विषयों की भाषा प्राय: संस्कृतनिष्ठ ही है, उदाहरणार्थ--

मानव-दानव दोनों ही का जिसने सुभग विभाग किया ।
अध्यापन अध्ययन काल में केवल जिसने भाग लिया ।
विश्वोत्पत्ति प्रलय का कारण जिसने ठीक विचारा है--
सब देशों में ज्ञान-मेह यह भारतवर्ष हमारा है ।। ४।।[१]

अथवा

उत्तमाङ्ग से प्रथम तुम्हीं उत्पन्न हुए हो;
तुम्हीं सदा के लिए वेद व्युत्पन्न हुए हो ;
सब वर्णों के इष्ट हृष्ट भु-देव तुम्हीं हो;
नर देवों के देव धन्य गुरुदेव तुम्हीं हो ।।[२]१०।।

किसी-किसी रचना में उपाध्याय जी की भाषा अधिक क्लिष्ट हो गई है,यथा--

सुधाधार सी भारती या धरा हो
वराचार में तत्परा उर्वरा हो ।
पराक्रान्ति से हीन हो कान्ति से हो-
भरी शान्ति से हो भरी क्षान्ति से हो ।।
नहीं इति का भीति का मान होवे,
हमें प्रीति का नीति का ज्ञान होवे ।
मिले तत्व सत्सत्व का स्वत्व का भी,
महात्वात्थ्यभीकोत्व स्कत्व का भी[३] ।।

१- काव्य वाटिका,पृ०३४--भारतवर्ष । २- वही,पृ०६५-- रामचन्द्र प्रतिज्ञा ।
३- स०भाग २३,खं०१,सं०४,पृ०२८०-- नव वर्ष ।

मैथिलीशरण गुप्त की भाषा संस्कृतगर्भित होती हुई भी जटिलता से प्राय: मुक्त ही है,यथा--

कहा पिता के वत्स नहीं है
कातर होने का दिन आज
व्यर्थ न होगी मेरी बलि
जाग उठेगा सुप्त समाज
क्षात्रभाव ही आवश्यक है
भारत में सम्प्रति सविशेष
वही धर्म-धन-जन-जीवन रख
रक्खेगा निज भाषा वेष[१] ।

अथवा

पधारो, भव भव के भगवान
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अनामवान
नाथ विजय है यही तुम्हारी
अपनाई मुझ-सी लघु नारी
होकर तुम [illegible] महामहान
पधारो भव भव के भगवान
मैं थी सन्ध्या का पथ हेरे,
धन्य, कपाट खुले हैं मेरे ।
दूं अब क्या नवदान
पधारो........[२]

अथवा

१- गुरु तेग बहादुर -- गुप्त । २- यशोधरा-- गुप्त । ३- भारत भारती,पृ०१४१ गुप्त की इस रचना में अनेक स्थलों पर चलती हुई सरल भाषा का ही प्रयोग किया गया है, जिसमें बोलचाल के सामान्य शब्द स्वाभाविक रूप से आ गये हैं ।

अनुकूल आद्या शक्ति की सुखदायिनी जो स्फूर्ति है
सद्धर्म को जो मूर्ति और पवित्रता की पूर्ति है
नर-जाति की जननी तथा शुभ शान्ति की स्रोतस्विनी ।
हा दैव । नारी जाति की कैसी यहां है दुर्गती[1] ।।

'प्रसाद' की भाषा सर्वत्र एक-सी ही है, संस्कृतगर्भित किन्तु क्लिष्टता से रहित, उदाहरणार्थ--

सिन्धु कभी क्या बाडवाग्नि को यों सह लेता
कभी शीत लहरों से शीतल हो कर देता ।।
रमणी हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता
तो क्या जल होकर ज्वाला से यों फिर लड़ता[2] ।।

अथवा

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन निर्झर में लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे । ले चल....[3] ।

'कामायनी' की भाषा 'प्रसाद' की परिष्कृत भाषा की प्रौढ़ता की प्रतीक है--

लाली बन सरल कपोलों में
आंखों में अंजन सी लगती
कुंचित अलकों-सी घुंघराली
मन की मरोर बन कर जगती

+ + +

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर सम तल में ।[4]

१-भारत भारती, पृ०१४१ गुप्त की इस रचना में अनेक स्थलों पर चलती हुई सरल भाषा का ही प्रयोग किया गया है, जिसमें बोलचाल के सामान्य शब्द स्वाभाविक रूप से आ गये हैं ।
२- इन्दु, जनवरी, १९१४, पृ०१७। ३- झरना । ४- 'कामायनी' -- लज्जा ।

रामनरेश त्रिपाठी की भाषा विषयानुकूल बोलचाल तथा तद्भव शब्दावली युक्त भी है,किन्तु कहीं-कहीं संस्कृतनिष्ठता भी दृष्टिगोचर होती है,जैसे--

मृगमाला विहरति कल कोकिल कूजित कुसुमित वन को
ललित लहलही लता-लसित अलि मुखरित कुंज भवन को ।
तृण-संकुलित हरित वसुमति गिरि लहर उदधि नभ घन को ।[१]
देख हुआ कौतूहल अति आश्चर्य तुम्हारे मन को ।

सियाराम शरणगुप्त , गोपालशरण सिंह तथा मुकुटधर की भाषा प्राय: संस्कृत-गर्भित ही है ।

जहां तक महाप्राण 'निराला' की भाषा का प्रश्न है, उनके ऊपर बंगला का प्रभाव होने तथा संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान होने के कारण उनकी भाषा प्राय: संस्कृतनिष्ठ ही है । कहीं-कहीं पर प्रसंगानुकूल भले ही अन्य भाषाओं(जैसे अरबी-फारसी) के शब्द आ गये हैं(दे० 'संस्कृत के तत्सम-तद्भव तथा अरबी-फारसी शब्दों से युक्त' काव्य-भाषा)। छायावादी दृष्टिकोण होने के कारण कहीं-कहीं उनकी भाषा पंत की भाषा से अधिक साम्य रखती है तथा कहीं-कहीं नितान्त अपनी शैली है,यथा--

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण
इसमें कहां मृत्यु
है जीवन ही जीवन
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन
स्वर्ण किरण कल्लोलों पर बहता
रे यह बालक मन
मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त[२]
अभी न होगा मेरा अन्त ।

अथवा

सह जाते हो
उत्पीड़न की क्रीड़ा सदा निरंकुश नग्न
हृदय तुम्हारा दुर्बल होता भग्न,

---

१ पथिक,पृ०२०। २-'अपरा',पृ०१२६--'ध्वनि' ।

अन्तिम आशा के कानों में
स्पन्दित हम सब के प्राणों में
अपने उर की तप्त व्यथाएं
क्षीण कण्ठ की करुण कथाएं
कह जाते हो
और जगत की ओर ताक कर
दु:ख हृदय का क्षोभ त्याग कर
सह जाते हो।......[1]

निम्नलिखित उद्धरण में प्रयुक्त शब्दों से कवि के शब्द चयन सम्बन्धी विचित्र रुचि का परिचय मिलता है,क्योंकि प्राय: शब्दों के रूप भी संस्कृत भाषा कही है,यथा--

जागो जीवन धनि के।
विश्व पण्य -प्रिय वणिके।
दु:ख भार भारत तम केवल
वीर्य-सूर्य के ढके सकलदल,
खोलो ऊषा, निज कर आर्य
छवि मयि, दिन मणि के।
गहकर अकल तूलि रंग रंग कर
बहु जीवनोपाय भर दो घर
भारति,भारत को फिर दो वर
ज्ञान विपणि- खनि के।[2]

कविवर पंत की अधिकांश रचनाएं संस्कृतगर्भित भाषा में ही हैं,किन्तु भावों की सुकुमारता एवं कोमलता के अनुरूप उनकी शब्द-चयन की प्रवृत्ति ने उन्हें काव्य के कलेवर को कोमलकान्त पदावली से निर्मित करने वाला कवि बना दिया है। यद्यपि द्विवेदी-युग तक पंत का काव्यपक्ष अपनी किशोरावस्था में ही था तो भी उन्होंने काव्य में हिन्दी तथा संस्कृत के परुष वर्णों एवं शब्दों के प्रयोग से जो कठोरता आ रही थी उसे अपने कोमल तथा सरस शब्दों के प्रयोग से दूर कर कविता को मधुरत्व प्रदान किया। यही कारण है

---

१ `अपरा`,पृ०१२६`दीन। २- वही,पृ०२६--`जागो जीवन धनि के`।

कि उनकी भाषा में संस्कृत के अधिकाधिक शब्दों के होते हुए भी श्लिष्टता का आभास नहीं होता, किन्तु इतना अवश्य है कि उनकी भाषा में पूर्णत: प्रौढ़ता विद्यमान है, उदाहरणार्थ--

> है यह वैदिकवाद
> विश्व का सुख दुखमय उन्माद ।
> एकतामय है इसका नाद--
> नयन करते नीरव भाषण
> श्रवण तक आ जाता है मन
> स्वयं मन करता बात श्रवण
> अश्रुओं में रहता है हास,
> हास में अश्रुकणों का भास,
> श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास
> और उच्छ्वासों में ही श्वास ।[१]

ग. विशिष्टताएं

यद्यपि आलोच्य-युग के आरम्भ में यह प्रयास किया गया कि भाषा बोलचाल की सरल शब्दावली से युक्त हो ,किन्तु कालान्तर में भाषा में शुद्धता की प्रतिष्ठापना के दृष्टिकोण से अधिकांश लेखकों ने उसकी संस्कृतनिष्ठता को ही अंगीकार किया ।आगे चलकर विषय-वस्तु के अनुरूप गद्य की भाषा के भले ही दो रूप हो गये-- एक,बोलचाल की शब्दावली से युक्त सरल भाषा तथा दूसरी, संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त संस्कृत-निष्ठ भाषा । अर्थात् एक ओर सामान्य वर्णनात्मक विषयों तथा कहानियों की रचना सरल तथा बोलचाल में सामान्यत: व्यवहृत शब्दों से युक्त भाषा में की गई तो दूसरी ओर गहन विचारों से पूर्ण निबन्धों तथा आलोचनाओं की रचना संस्कृतनिष्ठ अथवा तत्समप्रधान भाषा में की गई । किन्तु पद्य-रचना में छायावादी विचारधारा के आगमन के साथ-साथ भाषा संस्कृतोन्मुख ही होती गई । आरम्भ की कुछ इतिवृत्तात्मक अथवा सुधारवादी दृष्टिकोण से समन्वित कविताओं की भाषा में बोलचाल की भाषा के तत्व

१- उच्छ्वास,पृ०१२ ।

भले ही थे, किन्तु कालान्तर में वह तत्सम बहुला होने लगी ।

कुछ साहित्यकारों ने अन्य प्रान्तों में हिन्दी को बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से भी हिन्दी में संस्कृत के अधिकाधिक शब्दों के समावेश को औचित्य प्रदान किया, जैसा कि अयोध्यासिंह उपाध्याय ने स्वकृति प्रियप्रवास के तत्सम-बहुला होने के स्पष्टीकरण में लिखा है । बाबू बालमुकुन्द गुप्त का भी यही मत था(दे० द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं २.३)। और वस्तुस्थिति भी यही है कि तत्सम बहुला हिन्दी की अवतारणा से विभिन्न प्रान्तों--पंजाब,उत्तरप्रदेश,बिहार,बंगाल,मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि की हिन्दी में एकसूत्रता तो स्थापित हुई ही, साथ ही दक्षिण के प्रदेशों के लिए भी वह बोधगम्य प्रतीत हुई ।

भाषा में संस्कृतनिष्ठता की प्रवृत्ति के वर्तमान होने के कारण मूलत: संज्ञा तथा गौणरूप से विशेषण एवं अव्यय के तत्सम शब्दों का प्रयोग तो अधिक हुआ ही,यहां तक कि `मम`,`तव` आदि सर्वनाम पदों का प्रयोग भी उस समय की कविताओं में प्राय:मिलता है,यथा-- यह मांगेगा क्षमा स्वयं मम चरणों पड़कर[१]।`

तथा

तू है पिता तो पुत्र मैं तव अंक में आसीन हूं[२]।

अर्थात् उपसर्ग प्रत्ययों से युक्त तथा सामाजिक शब्दों के प्रयोग में भी संस्कृतनिष्ठता अधिक है(दे०`शब्द विस्तार`-- प्रत्यययुक्त एवं सामासिक शब्द) ।

संस्कृतनिष्ठ भाषा की क्लिष्टता अथवा भाराक्रान्तता को न्यून करने के लिए तत्सम शब्दों के साथ ही तद्भव शब्दों की सम्बद्धता भी द्विवेदीयुगीन हिन्दी की विशेषता रही है । जैसे --

`अवनति के संसार कूप में ठेल रहा है[३]।`

`धीरे धीरे पवन ढिग जा फूल वाले द्रुमों के[४]`

`शिक्षा,परीक्षा, पढ़ना, सीखना[५]`

`श्रोता या पाठक`,`पढ़ने या सुनने वाले[६]`

१- काव्यवाटिका--रावण की विचारसभा--रा०च०उपा०,पृ०७१ तथा सनेही गुप्त आदि की रचनाओं में भी प्रयुक्त ।२-काव्य वाटिका--भक्त की अभिलाषा--सनेही,पृ०१२ तथा गुप्त, रा०च०उपा०,हरिऔध आदि ।३-सर०भाग११,सं०३,पृ०१३०(कविता)नाथूराम शर्मा ।४-प्रियप्रवास --हरिऔध ।५-सर०भाग१५ सं०१,पृ०२१-नाथूराम प्रेमी।६-द्वि०अभि०ग्र०--शुक्ल,पृ०१४८।

तत्सम-तद्भव के संगम के उक्त प्रकार के रूप कविताओं की भाषा में प्राय: मिलते हैं। इस समन्वीकरण में संस्कृत की नाम धातुओं की मुख्य क्रिया के रूप में तद्भवीकरण की अधिकता है। तत्कालीन अधिकांश कवियों की कविताओं में बिसरावेगा, सरसावेगी, उपजायेगी;[1] प्रकटाया, जन्माया;[2] गही ,गुंजारे, बिसारे;[3] भाता, सुहाता, लुभाये;[4] लखाता;[5] हरषाया;[6] आदि शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों की वृद्धि भी हिन्दी-क्रियाओं की विकास-कारिका है।

जहां तक विदेशी शब्दों के प्रयोग की बात है, अंग्रेजी शब्दों की अपेक्षा फारसी शब्द तत्कालीन हिन्दी में अधिक मिलते हैं। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग विशेष विषयों से सम्बन्धित रचनाओं की भाषा में ही हुआ है,किन्तु फारसी शब्दों का समावेश सरल से लेकर यत्किंचित संस्कृतनिष्ठ भाषा में भी हुआ है। तात्पर्य यह है कि तत्कालीन भाषा में फारसी के तत्सम प्राय: घुलमिल-से गये हैं, यथा--

> 'खयालात को ज़ाहिर करने के लिए किस प्रकार उसमें साधकत्व प्राप्त होता है।'[7]
>
> 'भाषा पर यद्यपि मनुष्य का पूरा अधिकार है वह उसकी मिलकियत है।'[8]
>
> 'जो कुछ अत्यावश्यक या बहुत जरूरी है'[9]।
>
> 'और क्या इसमें कोई सिलसिला सुन्दरता और शोभा दिखाई दे सकती है?'[10]
>
> 'दृढ़ता और हठ , धीरता और आलस्य, सहनशीलता और भीरुता, उदारता और फजूलखर्ची, किफायता और कंजूसी आदि के बीच की सीमाएं सब मनुष्यों के हृदय में न एक हैं और न एक होंगी।'[11]

१- काव्यवाटिका--शकुन्तला की वि०--गुप्त,पृ०१३४-१३५। २-काव्यवाटिका--निवेदन(कविता) बदरीनाथ भट्ट,पृ०३००।३-काव्यवाटिका--बदरीनाथ भट्ट,पृ०३०४।४-रामचरित उपा० गुप्त एवं गोपालशरण सिंह की 'काव्यवाटिका' एवं 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं में प्रयुक्त। ५-काव्यवाटिका--मेरा प्यारा हृदयेश--रा०न० त्रिपाठी।६-कविता--माखनलाल चतुर्वेदी।७- सर० भाग७,सं०२-भाषा और व्याकरण--म०प्र०द्वि०,पृ०६३। ८- वही ।९-सर०भाग१५सं०१,पृ०१९। १०- वही,पृ०२२। ११-चिन्तामणि-- घृणा--शुक्ल,पृ०१०२।

'जिनके रसना नहीं मौन है बेजान हैं
अथवा दुखवश बने मूक ही के समान हैं
दर्द भरी वे यदपि नहीं छोड़ते तान हैं
अपनी बीती प्रकट नहीं करते ~~बयक~~ बयान हैं ।'[1]

प्रसाद एवं पंत को छोड़कर तत्कालीन अधिकांश कवियों,यथा-- गुरु,सुधाकर द्विवेदी रामचरित उपाध्याय, हरिऔध तथा निराला आदि की भाषा में फ़ारसी शब्द प्राय: आ ही गये हैं ।

फ़ारसी की तुलना में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कम हुआ है, इसका प्रमुख कारण यह है कि शताब्दियों के सम्पर्क से फ़ारसी के बहुत से शब्द तो हिन्दी में भली भांति घुल-मिलकर उसके अपने ही गये थे,किन्तु अंग्रेजी अपनी ध्वन्यात्मकता, व्याकरण तथा रचना-प्रक्रिया में हिन्दी से अलग हो जाती है, ऐसी स्थिति में उसके शब्दों को तत्सम रूप में ग्रहण करना असम्भव था । इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शब्दों का अधिक प्रयोग न करने की पृष्ठभूमि में विदेशीयता के प्रति उपेक्षा की भावना भी वर्तमान थी । द्विवेदी-युग में राष्ट्रीयता का भाव जन समाज में पूर्णरूप से जागृत हो चुका था और चूंकि साहित्यकार समाज का जागरूक प्राणी होता है,अत: हिन्दी के हिमायतीगण ने विदेशी शासन तथा विदेशी भावों के निषेध के साथ-साथ भाषा को भी अंग्रेजी शब्दावली से वंचित रखने में ही उसका कल्याण समझा । इन सब प्रभावों एवं प्रयत्नों के उपरान्त भी अंग्रेजी वस्तुओं के व्यवहार, अंग्रेजी शासन तथा अंग्रेजों से सम्बन्ध बने रहने तथा अंग्रेजी शिक्षा तथा उसके साहित्य के प्रचार के फलस्वरूप हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों के आगमन की प्रक्रिया को रोका जाना असम्भव था ।

विदेशी शब्दों के प्रयोग सम्बन्धी तत्कालीन विशेषता जो विशेषरूप से उल्लेखनीय है वह है शब्दों का प्राय: तत्सम रूप में प्रयोग । संस्कृत के तत्सम शब्दों के व्यवहार के साथ-साथ फ़ारसी के शब्दों का समावेश भी लगभग शुद्ध रूप में ही किया गया । यद्यपि इसी युग में फ़ारसी ध्वनियों से नुक्ता(.) हटाकर उनका हिन्दीकरण करने का प्रश्न उठ चुका था(दे० हिन्दी की प्रमुख समस्याएं २.४) और तदनुरूप कुछेक लेखकों तथा प्रकाशकों

१सर०भाग१६सं०१ सं०१ --मौन भाषा(कविता),पृ०४-- सनेही । सनेही की कविताओं में संस्कृत के तत्सम तथा फ़ारसी शब्दों का संगम हुआ मिलता है ।

ने अपने मन्तव्य को स्वरूप देना भी आरम्भ किया कर दिया था , किन्तु अधिकांश लेखकों ने शव्द की शुद्धता को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से हिन्दी का प्रयोग आवश्यक समझा ।

इसी प्रकार लोकभाषा में प्रचलित अंग्रेजी शव्दों को छोड़कर साहित्यिक, वैज्ञानिक राजनीतिक, दार्शनिक आदि विषयों से सम्बन्धित शव्दों को भी यथा सम्भव शुद्ध रूप में ही अपनाया गया ।

द्विवेदी-युग की सबसे बड़ी विशेषता है, विषयानुसार शव्दों का प्रयोग । वस्तुत: उपर्युक्त सम्पूर्ण विशेषताएं उक्त विशेषता से बहुत कुछ सम्बद्ध हैं ।

२.२. शव्द- भण्डार

द्विवेदी-युगीन खड़ीबोली की शव्द-योजना पर प्रकाश डालते समय यह तो स्पष्ट लक्षित होता है कि उक्त युग में साहित्यिक खड़ीबोली की शव्दावली में अभूतपूर्व वृद्धि हुई । इस वृद्धि के अनेक कारण थे --

प्रथम तो यह कि जैसे-जैसे साहित्यिक विषयों की विविधता हुई, वैसे-वैसे उनकी अभिव्यंजना के लिए नवीन शव्दों का भी समावेश हुआ । दूसरे तत्कालीन भाषा के प्रयोक्ता कथा का उद्देश्य भी हिन्दी में स्वभावत: आगत विभिन्न भाषाओं के शव्दों का हिन्दी-करण करके उसकी शव्दावली को विस्तृत विकसित करना था । तीसरे,जन समाज में सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति होने के फलस्वरूप वह युग अपने-अपने हृदयगत एवं मानसिक भावों की अभिव्यक्ति का युग था और भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से तभी हो सकती है,जब भाषा के प्रयोग में स्वच्छन्दता हो (पर उच्छृंखलता नहीं)अत: तत्कालीन विचारकों ने प्राय: अपनी स्वाभाविक भाषा में अपने विचारों को प्रकट किया । चौथा कारण था, हिन्दी भाषा-भाषियों का अन्य भाषा-भाषियों से सम्पर्क स्थापित होना तथा अन्य भाषा-भाषियों द्वारा हिन्दी भाषा को ग्रहण किया जाना । इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो अन्य भाषा-भाषियों से सम्पर्क होने पर हिन्दी-भाषियों ने उनके द्वारा व्यवहृत कुछ शव्दों को स्व-व्यवहृत भाषा में ले लिया तथा अन्यान्य भाषा-भाषियों ने हिन्दी का प्रयोग करते समय अपने भावों के स्पष्टीकरण के अभिप्राय से अपनी भाषा के शव्दों का भी हिन्दी भाषा में समावेश कराया ।

उपर्युक्त विभिन्न कारणों से इस युग में हिन्दी के भण्डार की पर्याप्त पूर्ति हुई । जहां तक सम्पूर्ण शव्दों के अवलोकन का प्रश्न है, उसका समाधान कुछ पृष्ठों के अन्तर्गत होना असम्भव है और न ही यहां तत्कालीन सम्पूर्ण शव्दों की सूची प्रस्तुत करना आवश्यक है । हमें

हमें तो द्विवेदी-युग में खड़ीबोली के विकास में योगदान के सन्दर्भ में मात्र यह देखना है कि आलोच्य-युग में वर्तमान भिन्न-भिन्न भाषाओं से आगत शब्दों की प्रकृति क्या थी ।अर्थात् किस-किस प्रकार के शब्दों का युग-विशेष में अधिक प्रचलन रहा । इस अध्ययन के लिए तत्कालीन शब्दावलियों का वर्गीकरण निम्नलिखित शीर्षकों में करना अपेक्षित है --

१. तत्सम शब्द

जैसा कि प्राय: कहा गया है, द्विवेदी-युग भाषा के क्षेत्र में सुधार-संस्कार का युग रहा है । अत: तत्कालीन अधिकांश लेखकों एवं कवियों ने अपनी रचनाओं को शुद्ध एवं परिष्कृत भाषा में ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया । जिसका परिणाम यह हुआ कि भाषा तत्समता की ओर अधिक झुक गई । अर्थात् संस्कृत शब्दों को उनकी अर्द्ध तत्समता तथा तद्भवता से वंचित कर प्राय: शुद्ध रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी । शब्दावली-प्रयोग के सम्बन्ध में यह भी कहा जा चुका है कि उक्त युग में गहन एवं विचारपूर्ण विषयों की रचना तत्समयुक्त भाषा में ही की गई । इधर काव्य में छायावादी विचारधारा के प्रस्फुटन होने के साथ-साथ बौद्धिकता के प्रवेश के परिणामस्वरूप भी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग किया गया, अत: परम्परागत प्रयोगों के साथ-साथ कुछ शब्दों का इस युग में विशेष प्रचलन हुआ, जैसे --

१. संज्ञा

क. भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी शब्द -- ऐसे शब्दों के लिए[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की एक ही कृति के लिए लिए गए विविध शब्द महत्वपूर्ण हैं, यथा--

भाव,विभाव,कवि, रस,पत्र, वर्णन शृंगार, रौद्र, पाठक
श्रोता, सिद्धान्त, बिम्ब, उक्ति,कविता[2], रूप, अर्थ,विचार,
आलम्बन, आश्रय, व्यंजना, पात्र आदि ।

इसी प्रकार नाथूराम प्रेमी की कृति से लिए गए कुछ शब्द भी उल्लेखनीय हैं,यथा--

भाषा,भाव, साहित्य[3], वाक्य, अंगरेजी, हिन्दी, रस,
अर्थ, ग्रन्थ आदि ।

इनके अतिरिक्त कुछ शब्द इस प्रकार हैं --

१- शब्दों का क्रम प्राय: रचना में उनके स्थान के क्रम से रखा गया है । २- द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ `साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद`,पृ०१४८-१५०।३- स०भाग १५ सं०१,पृ० २१ ।

गीत,शास्त्र,शब्द,लेखन, वर्णन,कला, तत्व आदि ।

ख. भाव एवं मनोविकार सम्बन्धी शब्द -- आलोच्य-युग में भाव एवं मनोविकार संबंधी रचनाएं अधिक होने के कारण तत्सम्बन्धी शब्दों की संख्या में भी वृद्धि हुई । ये शब्द हिन्दी में प्राय: तत्सम रूप में ही व्यवहृत हुए । उदाहरणार्थ कुछ परम्परागत एवं नवीन शब्द इस प्रकार हैं --

रति, अनुराग, करुणा, कृपा, क्रोध, रोष, चिन्ता,शोक,
व्यथा, खेद, कष्ट, दु:ख, ग्लानि, उत्साह, घृणा,विरक्ति,
हास,मोद,कुतूहल, आश्चर्य,इच्छा, तुष्टि, कल्पना, धृति,श्रद्धा,
भक्ति, शील, विनय,संयम, लज्जा, धृष्टता,अन्याय, भाव,
भावना, प्रवृत्ति , मत आदि ।

भाव,मनोविकार एवं विचार सम्बन्धी शब्दों के प्रयोग के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उत्साह,श्रद्धा-भक्ति,करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति,घृणा,ईर्ष्या, भय,क्रोध आदि विषयों पर लिखे गये निबन्ध भी द्रष्टव्य हैं[१] ।

(शेष भाववाची शब्दों के लिए दे० शब्द-विस्तार शीर्षक।)

ग. प्रकृति एवं उसके उपादान-सम्बन्धी शब्द -- द्विवेदी-युग में कविता का क्षेत्र व्यापक होने के कारण प्रकृति एवं उसके विभिन्न उपादानों से सम्बन्धित तत्सम शब्दों की भी साहित्यिक खड़ीबोली में बहुलता हुई । काव्य में छायावादी विचारधारा के समावेश के कारण कवियों ने प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करके उसके उपकरणों के माध्यम से अपने लक्ष्य,ध्येय अथवा आराध्य का दर्शन किया,अत: इस प्रकार के शब्द जीवन के उपकरणों, उपमानों एवं प्रतीकों के रूप में ग्रहण किये गये । इनके अतिरिक्त गद्य में भी अनेक शब्दों का आगमन हुआ । ऐसे शब्दों में से कुछ सामान्यत: प्रयोग में लाये जाने वाले शब्द निम्नवत् हैं--

(१) जग,सृष्टि,संसार, धरा, भू, भूमि, क्षिति,अम्बर,गगन,शून्य
(२) शृंग, शैल, पर्वत, सागर, वारिधि, कानन,उद्यान,कुंज
(३) जल,घन, लहर, वायु, पवन, वात, समीर,तुषार,किरण, रश्मि, तम
(४) तरु,द्रुम,पादप,पत्र,दल(पुष्पदल),कुसुम,कलिका, बेलि,तृण

----

१ दे० चिन्तामणि-- रा०च०शुक्ल ।

घ. शरीर एवं उसके अवयव-सम्बन्धी शब्द -- इस प्रकार के शब्दों में देह,शरीर,घट,तन,मुख आनन, लोचन, नेत्र, नयन, दृग, कंठ, कपोल, दशन कर, प्राण,मन,मानस,हृदय,चित्त, वाणी,अश्रु,रुधिर -- आदि शब्द अधिक प्रयोग में लाये गये । इनमें से तारांकित शब्द तो प्राय: काव्य में ही प्रतिष्ठित किये गये हैं ।

च. मानवेतर प्राणी-सम्बन्धी शब्द -- पिक,खग,मृग,पशु,गज,कपि,हंस,कलापी,बक,पिक, चातक, अलि मिलिन्द,मेक आदि शब्द काव्य में प्रतीक तथा उपमानों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं । कलापी[1] एवं मेक[2] शब्द अधिक प्रचलित शब्द नहीं हैं तथा कवि (रा०च०उपा०) ने काव्य में शब्दों के प्रयोग की नवीनता की स्थापना की दृष्टि से प्रचलित शब्द `मयूर` तथा `मंडूक` के स्थान परइन शब्दों का प्रयोग किया है । इसी प्रकार प्राय: कविजन परम्परागत शब्द `अलि` अथवा `भ्रमर` का प्रयोग तो करते रहे हैं,किन्तु `मिलिन्द` शब्द का प्रयोग कवि की अपनी देन है ।

उपर्युक्त कोटि के शब्दों के अतिरिक्त --

छ. धर्म एवं आध्यात्म-सूचक शब्द -- धर्म, आध्यात्म,मोक्ष,निर्वाण,स्वर्ग,नरक भक्ति, व्रत, प्रार्थना , स्तुति ।

ज. संस्कार एवं सम्बन्ध-सूचक शब्द -- माता,पिता, पति,पत्नी,सन्तान,सन्तति,सुत, पुत्र,कन्या,बन्धु,प्रिया, प्रियतमा, बनिता, मित्र, शत्रु

झ. काल-सूचक शब्द -- काल,सन्ध्या,ऊषा,प्रात:काल, प्रभात,दिवस,दिवा,अहर, रात्रि,निशि,निशा ।

ट. अवस्था-सूचक शब्द -- यौवन,द अवस्था,वय ।

तथा

ठ. अन्य पदार्थ एवं भाव-सूचक शब्द -- मधु, कङ्कण,स्वर्ण,मुक्ता,अशन,याच्ञा अथवा याञ्चा[3], न्याय,संकेत,नाद,रव,प्रभाव आदि शब्द तत्कालीन गद्य पद्य कृतियों में अधिकांशत: प्रयुक्त हुए हैं । काव्य भाषा में `प्रात:काल` से अधिक प्रचलन `प्रभात` का , दिवस से अधिक `दिव्य` एवं `अहर` का तथा `रात्रि` से अधिक `निशि` एवं `निशा` का देखने में आता है । इसी प्रकार `मधु , स्वर्ण`,`मुक्ता` आदि शब्दों का

१- सर०भाग १० सं०७,पृ०३०४--रा०च० उपा० । २- प्रयोग--भौरा ही लेता है स्वाद

अधिक प्रयोग काव्य भाषा के ही माध्यम से हुआ है । `स्वर्ण` शब्द को तो पंत के काव्य में उपमानों के अर्थ में शृंखला सो बंध गई है(दे० अर्थ प्रकरण--खं०दो ७, क.२.१)।[1] `भोजन` के स्थान पर `अशन` शब्द का प्रयोग भी `सनेही` जी की अपनी देन है ।

२.सर्वनाम -- `निज` तथा `स्वयं` को छोड़कर शेष सर्वनाम हिन्दी के ही प्रयुक्त होते रहे हैं,किन्तु द्विवेदी-युग की कविताओं में `मम`,`तव` आदि शब्दों के प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलते हैं[2] ।

३.विशेषण -- विशेषण शब्दों में विशेष,कटु,मधुर,धीर,वीर,गम्भीर,बहु[3], सकल,घोर, कठोर, पापी,पतित, उच्च , कोमल, उदार, उचित, रुचिर,विधुर[4] , नग्न,भग्न,मग्न, शिथिल,पृथक आदि शब्द तो सामान्यत: प्रयुक्त हुए ही हैं,किन्तु बहुश:,सहस्रश:,जैसे शब्दों काप्रयोग भी गंगाप्रसाद अग्निहोत्री,महावीर प्रसाद द्विवेदी(प्रारम्भिक रचना बे०वि०रत्नावली) तथा अन्य लेखकों ने अपनी संस्कृत गर्भित रचनाओं में किया है । भारतेन्दु-युग में स्वयं भारतेन्दु ने ही `दरिद्री` शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है । उसी परम्परा का निर्वाह द्विवेदी-युग में भी कतिपय लेखकों द्वारा हुआ है,किन्तु आगे इसका प्रचलन `दरिद्र` रूप में हुआ `दरिद्री` रूप में नहीं । `दरिद्री` शब्द यदि मान्य हुआ भी तो संज्ञा रूप में । प्रसाद ने विशेषण रूप में `दरिद्र` शब्द का ही प्रयोग किया है,यथा-- दरिद्र कन्या होने के अपमान की यन्त्रणा में पिस रही हूं `(अजातशत्रु,पृ०२३) ।

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
दे०सर०भाग१६,खं०१,सं०३,पृ०११३ तथा रसज्ञ रंजन ,पृ०६१ पर ।

---

१ प्रयोग- नहीं चाहते हलुआ पूड़ी `अशन` मिले पर साग नहीं--सर०भाग१७,खं०१,सं०३पृ०१५७।

२ दे०-- गुप्त, रा०च० उपा० तथा निराला की कविताएं । ३-`बहु` विशेषण का प्रयोग कविताओं में ही मिलता है। इसका प्रयोग तत्कालीन अनेक कवियों,यथा--हरिऔध,केशव मिश्र, रा०च० उपा० गुप्त आदि ने किया है । ४- छायावादी कवि प्रसाद और पंत की काव्य-भाषा में व्याकुल,विह्वल आदि के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग युग-विशेष की नूतन शैली का सन्देश देतम है, यथा-- प्रसाद-- रस जल-कन मालती मुकुल से
जो मदमाते गंध विधुर थे...(वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे)
तथा
पंत -- विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुलपड़ते सोच्छ्वास(मौन निमन्त्रण)

४. क्रिया -- हिन्दी की क्रियाएं तो बहुधा उसकी अपनी ही हैं। तत्सम संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के योग से नाम धातुओं का प्रयोग तो बहुधा होता ही है, किन्तु मूल क्रिया तद्भव रूप में ही प्रयुक्त होती है। फिर भी इस युग में मूल क्रिया के रूप में हिन्दी के प्रत्यय लगाकर बनाये गये कुछ परम्परागत शब्द अवश्य मिलते हैं, जैसे -- अवलोकना, प्रकटाना, प्रकाशना, जन्माना, गुञ्जारना[१], गहना, सरसाना, हरषना आदि। हां इस युग की विशेषता यह है कि ऐसे शब्द गद्य में प्रयुक्त न होकर केवल काव्य में ही आये हैं।

५. अव्यय -- अव्यय के भी अधिकांश शब्द तत्सम रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं, यथा-- किन्तु, परन्तु, अवश्य, शीघ्र, सर्वदा, सदा, सदैव, पुन:, यद्यपि, तथापि, पृथक, वस्तुत:, विशेषत:, मुख्यत:, बहुधा, सदृश आदि। इनके अतिरिक्त जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की कृति `निबन्ध-नियम` में सर्वत्र तथा गुप्त[२] की कतिपय रचनाओं में `विना` अव्यय भी शुद्धरूप में (`बिना` के स्थान पर) प्रयुक्त हुआ है।

उपर्युक्त अव्यय शब्दों में `सदृश` शब्द की व्यापकता अधिक देखने को मिलती है। तत्कालीन अधिकांश लेखकों ने अभिप्रेत अर्थ में इसी शब्द को ग्रहण किया है। यहां तक कि द्विवेदी जी ने तदर्थक अन्य शब्दों यथा `तरह`, `जैसे`, `समान` आदि को दूसरे लेखकों के भी लेखादि से निकाल कर उनके स्थान पर सदृश शब्द का प्रयोग किया है (दे० `वाक्य`प्रकरण ५.१.३५)।

तत्कालीन अन्य अव्ययों में अधिक संस्कृत-निष्ठता के फलस्वरूप कुछ ऐसे शब्द भी आये हैं, जो आगे चलकर अधिक व्यापक नहीं हो सके, यथा-- ~~अव्यय~~ अथच (भारतवर्ष का इति० मिश्रबन्धु), प्रायश: (विभक्ति विचार--गोवि०ना० मिश्र- अनेक बार), स्यात (म०प्र०द्वि०-- बे०वि० रत्ना तथा गुलाबराय -- सि० और अ०) आदि।

२. अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव शब्द

आलोच्य-युग में यद्यपि अर्द्ध तत्सम एवं तद्भव शब्दों ने पुन: तत्समता का बाना धारण करना आरम्भ कर दिया था, जिससे हिन्दी में तत्सम शब्दों की अपेक्षा ऐसे शब्दों में न्यूनता आ गई थी। फिर भी विषयानुकूल इन शब्दों की प्रवृति तो वर्तमान थी ही।

१- कविवर प्रसाद ने `मधु` कर्म के साथ `गुञ्जारना` क्रिया विशिष्ट प्रयोग किया है, यथा-- मधुपों से मधु गुञ्जारो (आंसू, पृ०६५ श्रे)। २- गुप्त जी ने छन्द को मात्रा के विचार से `विन` शब्द का प्रयोग किया है, ~~यथ~~ यथा--`विन पत्र क्षीण` विन वीर्य दीन --सर०भाग६ सं०१, पृ०१५-- हेमन्त (कविता)।

इधर कविता-रचना में खड़ी बोली को कर्कशता से वंचित रखने के अभिप्राय से तत्कालीन कवियों ने तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हुए भी अनेक उन तद्भव शब्दों का भी कविता में प्रयोग किया जिन्हें गद्य की संस्कृतनिष्ठ भाषा में स्थान नहीं दिया जाता था। इसके अतिरिक्त कवियों ने अनेक तत्सम शब्द का तद्भवीकरण करके कविता में प्रयोग किया, जिससे क्रियाओं की संख्या में वृद्धि हुई।

उक्त युग में खड़ीबोली में प्रयोग किये जाने वाले कुछ अर्द्ध तत्सम एवं तद्भव शब्द निम्नलिखित थे --

१. संज्ञा

संज्ञाओं में -- क. अंग-सूचक शब्द -- गात, हाथ पैर, पांवै, आंख, गला, दांत जाम, छाती, पेट आदि ; ख. समय-सूचक शब्द -- जाड़ा, गरमी, बरसात, फागुन, महीना, भोर, रात आदि; ग. स्थान-सूचक शब्द -- ठौर, गेह, छोर, गोद आदि; घ. प्राकृतिक उपादान - सम्बन्धी शब्द-- पहाड़, पानी, पेड़, फूल, बूंद, पात आदि; च. शारीरिक व मानसिक क्रिया -सूचक शब्द -- सांस, सपना, बैन; छ. भाव एवं व्यवहार-सूचक शब्द -- बिपत, लाज, शोग, कारज, काज, सुभीता आदि। ज. मनुष्येतर प्राणी-सूचक शब्द--कौवा, भौंरा, हाथी आदि। सामान्य विषयों पर लिखी गई रचनाओं में तो सामान्यत: प्रयुक्त हुए ही हैं, पद्य-रचनाओं में प्राय: तत्सम शब्दों के साथ भी इनका प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त चिह्नित शब्द तो प्राय: पद्य-कृतियों में ही आये हैं। इन शब्दों में से 'भोर', 'छोर', गेह ठौर, बिपत जैसे शब्दों का प्रयोग रामचरित उपाध्याय तथा पंत जैसे संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रयोक्तागण के काव्य में अनेक बार हुआ है।

२. सर्वनाम -- सर्वनाम तो प्राय: तद्भव रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। द्विवेदी-युग में भी उनका यथावत् प्रयोग है।

३. विशेषण शब्द -- विशेषण शब्दों में परम्परागत शब्दों के अतिरिक्त अज्ञान[१], बीहड़, अकाम, अभागा, ओछी, तनिक[२] आदि शब्दों की प्रतिष्ठापना नवीनरूप से काव्य-भाषा में की गई।

---

१ - पंत एवं महादेवी की छायावादी कविताओं में अज्ञात तथा उसके तद्भव रूप 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग अधिकता से हुआ है। २-'तनिक' शब्द के स्थान पर सर्व प्रचलित शब्द 'ज़रा' का अधिक प्रयोग मिलता है, किन्तु रा०च०उपा० की कविता में 'ज़रा' के स्थान पर 'तनिक' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। आगे इस शब्द का भी प्रचलन हुआ।

४. क्रिया -- हिन्दी में क्रियाएं तो प्राय: तद्भव ही होती हैं । द्विवेदी-युग में कविता के माध्यम से कुछ अन्य ऐसी मूल क्रियाओं की वृद्धि हुई, जिनका प्रयोग परिष्कृत गद्य भाषा में अधिक प्रचलित नहीं है,[1] ये क्रियाएं हैं-- ललनऊ, ललाना, दहना, पधारना, माना, बिसारना, सुहाना, बसना, लुभाना, गहना, हरषना आदि । इनके अतिरिक्त टटोलना, फेलना, चुभना, उधेड़ना, गुनना, पठाना, रिफाना, चुराना, घटाना, डुबाना, पलटना, कंपाना, मुंदना, भोंकना, धरना बर विलपना, फंखना क्रियाएं भी नितान्त बोलचाल की गद्य भाषा क में अथवा प्राय: पद्य भाषा में प्रयुक्त हुई मिलती हैं ।

५. अव्यय -- विशेषण शब्दों की भांति आश्रय भी प्राय: पुराने ही प्रयोग में आ रहे थे । इस युग में `सा` का प्रयोग अधिक मिलता है, विशेषत: काव्य-भाषा में[2]। इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने `यदपि`, नित आदि शब्दों का प्रयोग काव्य में सम्भवत: मात्रा के ह्रस्वीकरण के उद्देश्य से ही किया है ।

३. हिन्दी-बोलियों के शब्द

आलोच्य-युग मेंपरिष्कृत भाषा के प्रयोग की ओर उन्मुख होने के कारण बहुधा लेखकों अथवा कवियों ने अपनी भाषा को ग्रामीणता के दोष से वंचित रखने का प्रयत्न किया, फिर भी कुछ तो संस्कार वश अथवा कुछ भाषा में अधिक स्वाभाविकता होने के कारण हिन्दी बोलियों के कुछ न कुछ नये अथवा पुराने शब्द अथवा देशी शब्द स्वयं ही आ गये हैं,यथा-- लड्ड, उसारा, पक्खा, गमछा, कायथ, फरबेरिया,मफपौरिया,उरेहना जुहारना,निकसना,बांधना,बूकना,पजारना,सोहाना, बेर,लौ आदि ।

पं० सुधाकर द्विवेदी रचित `रामकहानी` में बनारस तथा उसके आस पास बोली जाने वाली पूर्वी भाषा के शब्दों के गुच्छ भरे पड़े हैं,उदाहरणार्थ--

> `एक दिन सुनयना घर के काम काज में लगी थी, समय आने पर
> सीता से कहा कि बेटी, तुम्हारे बाप की पूजा की बेरा आ
> गई , मैं घर के धंधे में फंसी हूं,जांत-चक्को,ओखरी-मुसर,खल,

१- नष्ट होना-- प्रयोग-पल में जिसकी विपुल विघ्न बाधा नसी --अ० सिंह उपा०-- `काव्य वाटिका, पृ० २७० ।२- कविता की भाषा में तुलना के वाचक रूप में उपमा अलंकार में जैसा,सरीखा,सदृश के स्थान पर `सा` के प्रयोग के लिए देखिएअर्थ-अलंकार ख ३.२.२ ।

सील- लोढे, सिलौटी-लोढ़िया, सूप-फरना, आखा, चलनी,
दौरी-दौरा, चलना-बेलना, कूचा-बढ़नी, कठौत-कठौता,
बेना-पंखा, पंखी, खांचा-खंचिआ, कुरुई, मौना-मौनी, सराता,
पंहसुल, होरिसा, बिलैया(कद्दूकस), थारी-लोटा, ग्लास, हंडा,
गगरा-गगरी, कंडाल, तसला-तसली, बटुआ-बटुई(बटलोही),
परात, कलछुल, चमचा-संड़सी, तावा-तवनी, कराहा-कराही,
पौना-पौनी, फरना, कटोरा-कटोरी, चूल्हा-चूल्ह, बोरसी,
कोठिला-कोठिली, पाटा, ओटा, ताख, दीयट और बढ़ुगुने
आदि के जांच परख में लगी हुई मजुरिनिओं से सब साफ
करा रही हूं (पृ०४२) ।

४. अनुकरणात्मक शब्द

हिन्दी की बोलियों के समान ही उक्त युग में अनुकरण बोधक शब्दों में भी न्यूनता आ गई । प्राचीन संस्कारवश अथवा लेखक की मनोवृत्ति के प्रभावस्वरूप ऐसे शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त हो गए हैं । शब्द हैं -- का का, दमादम, धड़ाम से, पटफोर, फरकना, थर थराना, चटकल, झट झटपट, टकुर-टकुर, कुसना, खटकना, फोंकना आदि।

५. फारसी के शब्द[१]

द्विवेदी-युगीन साहित्यिक भाषा(हिन्दी) में जहां तक फारसी शब्दों के प्रयोग की बात है, इस युग में पूर्व की अपेक्षा अधिक शब्द गृहीत हुए । इसका मुख्य प्रमाण यह है कि भारतेन्दु-युग में फारसी शब्दों की ग्राह्यता में विषय एवं पात्र विशेषरूप से कारणीभूत थे । उदाहरणस्वरूप भारतेन्दु की `खुशी` नामक रचना ली जा सकती है । शीर्षक फारसी होने के कारण लेखक ने इस प्रकार फारसी के शब्द भरे हैं कि इसे हिन्दी लिपि में उर्दू की रचना कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । इसी प्रकार आपकी `फूलों का गुच्छा` नामक कविता-कृति भी है[२] । इनके अतिरिक्त नाटक तथा कहानी के

१- क्योंकि हिन्दी भाषा में तुर्की, अरबी आदि के शब्द फारसी भाषा के माध्यम से ही आये हैं, अतः उन सबको फारसी शब्द के अन्तर्गत ही लिया गया है । २- इनके उदाहरण दे० द्विवेदी पूर्व खड़ीबोली की स्थिति १.२.२ का(घ) १।

पात्र जो उर्दूदां हैं अथवा उस संस्कार से सम्बन्धित हैं, उनकी हिन्दी में भी फ़ारसी शब्दों की बहुलता है । कुछ ऐसे लेखक, जिनपर उर्दू भाषा का प्रभाव है, उनकी कृतियों में अथवा कुछ सामान्य बोलचाल की भाषा में लिखी गई रचनाओं में भी फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है । वस्तुस्थिति यह है कि द्विवेदीपूर्व की रचनाओं में फ़ारसी शब्दों का व्यवहार सभी लेखकों द्वारा तथा सभी प्रकार की रचनाओं में न होकर कुछ ही लेखकों द्वारा कुछ विशेष विषयों से सम्बन्धित रचनाओं में ही हुआ है,किन्तु द्विवेदीयुग तक हिन्दी की बोलचाल में ये शब्द इतने व्यापक हो गये कि कुछ एक लेखकों को अपवाद रूप में छोड़कर हिन्दी का कोई भी लेखक ऐसा नहीं था, जिसकी रचना में न्यूनाधिक संख्या में फ़ारसी के शब्द न आये हों[1] ।तात्पर्य यह है कि द्विवेदी पूर्व (खड़ीबोली) में फ़ारसी शब्दों के प्रयोग में घनत्व अधिक है तो द्विवेदीयुगीन हिन्दी में विस्तार (दे० इसी प्रकरण में विदेशी शब्द मिश्रित गद्य एवं पद्य की भाषा) तथ्यत: साहित्यिक भाषायें फ़ारसी शब्दों के अधिक प्रयोग के प्रमुख कारण सामान्य व्यवहार में उनका अधिक घुलमिल जाना ही था और उसी के आधार पर आधारित फ़ारसी शब्दावली के प्रयोग के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये गये ।

'साहित्य की भाषा स्वाभाविक एवं बोधगम्य हो, अरबी-फ़ारसी अथवा हिन्दी में स्वत: आये हुए शब्दों का बहिष्कार न किया जाय' -- द्विवेदी जी तथा उनकी पत्रिका 'सरस्वती' के उक्त दृष्टिकोण से हिन्दी में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ । और धीरे धीरे इनका प्रयोग इतना व्यापक हुआ कि प्राय: हिन्दी शब्दों की पुनरावृत्ति से बचने के लिए भी लेखकगण तदर्थक शब्द फ़ारसी का व्यवहार करने लगे । उदाहरणस्वरूप 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित सत्यकेतु विद्यालंकार की रचना में पृ०१६१ पर 'स्थित' शब्द के अनेक बार प्रयोग किये जाने के पश्चात् एक स्थान पर 'कायम' शब्द का भी प्रयोग कर दिया गया है । इसी प्रकार उक्त रचना में ही पृ०१६३ पर 'दण्ड' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है,अत: मध्य में लेखक ने 'जुर्माना' शब्द का समावेश भी कर दिया है[2] ।

कभी-कभी हिन्दी में उपयुक्त अथवा सटीक अर्थ वाला शब्द न पाकर भी लेखकगण फ़ारसी शब्द का प्रयोग कर देते थे यथा उपर्युक्त कृति में ही संस्कृत में आये नटों के खेल,

---

१- दे० प्रयोग सम्बन्धी विशिष्टताएं । २- 'स्थित' तथा 'जुर्माना' शब्द के प्रयोग के लिए दे० द्वि०अभि०ग्र०-- कौटलीय अर्थशास्त्र में राज्य द्वारा समाज का नियन्त्रण',पृ० १६१,१६३ ।

वादन,गायन आदि के लिए सामूहिक अर्थ सूचक शब्द `तमाशा` प्रयुक्त किया गया है[1]।
आज भी `तमाशा` के स्थान पर कोई नवीन शब्द मलिना कठिन है । यह तो मात्र
उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया । इस प्रकार के अनेकों प्रयोग इस युग में हुए हैं ।

कविता आदि में कभी-कभी मात्राओं की सम्पूर्ति के अभिप्राय से भी हिन्दी के
स्थान पर फ़ारसी के शब्द रख दिये गये हैं,यथा अयोध्या सिंह उपाध्याय रचित `प्रियप्रवास`के पृष्ठ २८,३६ पर प्रयुक्त `एक` के स्थान पर `यक` शब्द का प्रयोग एक
मात्रा ह्रस्व करने के उद्देश्य से ही किया गया है, उदाहरणार्थ --

`बहुत चिन्तित थी पद सेविका, प्रथम भी यक सन्तति के
लिये` तथा `विशद गोकुल ग्राम समीप ही बहु बसे यक
सुन्दर ग्राम में ।` आदि ।

इनके अतिरिक्त फ़ारसी के पारिभाषिक शब्द जिनके स्थान पर हिन्दी में कोई
शब्द उस समय तक बना नहीं था, प्रयोग किये ही गये । निष्कर्ष यह है कि आलोच्य-
युग में यद्यपि भाषा संस्कृतोन्मुख थी,फिर भी फारसी शब्द का अनुपात पूर्व की अपेक्षा
अधिक था ।

जहां तक शब्दों के तत्सम अथवा तद्भव रूप के में ग्रहण करने की बात है, उक्त युग
की यह विशेषता रही है कि इस युग में जिस प्रकार हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों को
ग्रहण करने की प्रवृत्ति रही है उसी प्रकार फ़ारसी शब्दों को भी प्राय: तत्सम रूप
में ही ग्रहण किया गया । हां, फ़ारसी ध्वनियों के नीचे नुक्ता लगाने पर उस समय में
मतभेद अवश्य उत्पन्न हो गया था[2], जिसके अनुसार कुछ कतिपय लेखकों ने बिना बिन्दी के
ही लिखने का अभ्यास आरम्भ कर दिया था । तथा मुद्रण में भी प्राय: बिना बिन्दी के
शब्द आने लगे, किन्तु इन शब्दों को भी तत्सम रूप में ही माना गया, यद्यपि ऐसे प्रयोग
अधिक लेखकों ने नहीं किये ।

कुछ शब्द जो तत्कालीन भाषा में सामान्यत: प्रयुक्त हुए हैं, वे निम्नलिखित हैं[3]--

---

१ दे० द्वि०अभि०ग्र०--`कौटलीय अर्थशास्त्र में राज्य द्वारा समाज का नियन्त्रण`,पृ०
१६५ । २- दे० खड़ीबोली सम्बन्धी तत्कालीन समस्याएं । ३- शब्दों को अध्ययन की सुविधा
के लिए अकारादि क्रम से रखा गया है ।

१. संज्ञा शब्द

अखबार, अख्तियार, अदब, आवाज़, इज्ज़त, इन्साफ
क़दम, क़द्र, कमर, कमाल[१], क़लम, क़सम, कागज़, क़ैद
खबर, खयाल, खिताब, खुशी, खूबी, गरज, गुज़र, गुलामी
चिमनी, चीज़, जन्नत, जवानी, जायदाद, ज़िन्दगी, ज़िला,
ज़ोर, तदबीर, तर्ज़ुमा, ताक़त, दफ़ा, दर, दरवाज़ा, दलाली
दाग, दिल, दिल्लगी, नज़र, नशा, नाचारी, नौकर, परवाह,
पाजामा, फ़ायदा, फ़िकर, फ़िक्र, बला, बहस, बाग, बाज़ार,
मकान, मज़दूरी, मस्ती, महकमा, मिलकियत, मुनाफ़ा, मुबारिक
मुलाजिम, मौक़ा, राह, रिवाज़, लाजिमी, शक, शोर, सन्दूक,
सबूत, सरोकार, सलीका, सवाल, सायत, सूद , हलुआ,
हवाला आदि ।

संज्ञा शब्दों में वस्तुवाचक संज्ञाओं से अधिक भाववाचक संज्ञाओं का प्रयोग मिलता है । उपर्युक्त शब्दों में से चिह्नित शब्दों का प्रयोग अधिकांश लेखकों की उन रचनाओं में भी हुआ मिलता है ,जिनकी भाषा पूर्णत: संस्कृतगर्भित है । इन शब्दों का प्रयोग गद्य पद्य दोनों प्रकार की कृतियों में समानरूप से मिलता है । इनके अतिरिक्त जिन संज्ञाओं के स्थान पर उस समय तक हिन्दी में कोई शब्द नहीं था, उनका प्रयोग तो आवश्यक ही था ही, यथा-- उपर्युक्त शब्दों में अखबार, खबर, चिमनी, ज़िला, दलाली, पाजामा, बहस, मुलाजिम, बाज़ार, रिवाज़, शोर, सन्दूक, सायत, सवाल, सूद आदि ऐसे ही शब्दों में आते हैं, जिनके स्थान पर या तो हिन्दी शब्द कोई बना ही नहीं था अथवा जिनका हिन्दी शब्दों से अधिक व्यवहार होता था ।

२. सर्वनाम

फ़ारसी सर्वनामों में `खुद` का प्रयोग अनेक कृतियों में सामान्यरूप से हुआ है, चाहे कृति बोलचाल की भाषा में हो अथवा संस्कृतनिष्ठ । संस्कृत के तत्सम प्रधान रचना में `खुद` शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है --

----

१- अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत चोखे चौपदे में इस शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है ।

जो ममत्व बन सब में आप समाया
खुद बनकर जिसने है ब्रह्माण्ड बनाया
वह धारण करके प चतत्व तन आया
खुद चित्रकार मानो स्वचित्र बन आया[1]।

३. विशेषण

तत्कालीन हिन्दी में नितान्त प्रचलित फ़ारसी विशेषणों में निम्नलिखित शब्द प्रमुख हैं --

अमीर, कमज़ोर, क़ीमती, ग़रीब, ग़ारत,
ग़ायब, ज़रा, ज़रूरी, जुदा, ज़्यादा,
तन्दुरुस्त, दुरुस्त, नाराज़, बेहद, मशहूर,
मुमकिन, लाज़िमी, लायक, हाज़िर

उपर्युक्त विशेषण शब्दों में से ज़रा, जुदा, ज़्यादा, मुमकिन, लायक आदि शब्दों का प्रयोग क्रियाविशेष के रूप में हुआ है। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने अपनी संस्कृतगर्भित रचना 'प्रियप्रवास' में यक(एक) शब्द का भी प्रयोग किया है[2]।

४. क्रिया--

तत्कालीन हिन्दी में फ़ारसी की क्रियाएं अधिक नहीं हैं। कुछ एक संज्ञा अथवा विशेषण शब्द नाम धातु के रूप में आ गये हैं, यथा-- खरीद ली, परवाह करना, क़ुरबान होना आदि।

५. अव्यय

अव्यय शब्दों में क्रिया विशेषण शब्द अधिक प्रयुक्त हैं, अधिकाधिक प्रचलित कुछ अव्यय शब्द निम्नलिखित हैं --

अक्सर, अगर, आख़िरकार, क़रीब क़रीब, तरफ़, तलक,
मगर, यकायक, शायद, सिवा, गोया, अलबत्ता आदि।

इनके अतिरिक्त विशेषणों की कोटि में दिये गये शब्द ज़रा, जुदा, ज्यादा, मुमकिन, लायक आदि शब्दों का भी प्रयोग अव्यय(क्रियाविशेषण) रूप में ही हुआ है, यथा--

---

१- सर०पा० अप्रैल, १६१७--अवतार- बदरीनाथ भट्ट। २- उदाहरण इसी प्रकरण में अन्यत्र दिया जा चुका है।

ज़रा भी परवाह न करके, ज़रा भी नहीं सकुचाती,
जुदा जुदा परीक्षा करते हैं, ज़्यादा लिखा है,
मुमकिन है वह तुमसे ज्यादा चतुर हो, लिखने लायक
आदि ।

उपर्युक्त अव्यय शब्दों में से अगर, मगर, शायद, ज़रा, ज़्यादा, आदि शब्दों का प्रयोग तो बहुसंख्यक लेखकों की अधिकांश रचनाओं में हुआ है । आज भी ये शब्द बोलचाल तथा लिखने में अधिक प्रयोग में आते हैं ।

६. अंग्रेजी के शब्द

जैसा कि प्रयोग एवं परिष्कार के अन्तर्गत कहा जा चुका है, भारतेन्दु-युग से जो अंग्रेजी शब्दों का आगमन हिन्दी में होने लगा उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गई। यहां तक कि हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों का मिश्रण भाषा की शिष्टता का प्रतीक माना जाने लगा । उसका प्रभाव साहित्यिक भाषा पर भी पड़ा और तदनुसार हिन्दी भाषा में नित्यप्रति के व्यवहार में आने वाले साधन-उपकरण , शिक्षा, क्रीड़ा, प्रशासनीय कृत्यों उपाधियों एवं साहित्य आदि से सम्बन्धित अनेक शब्दों का प्रयोग स्वच्छन्द गति से होने लगा, यथा--

१. नित्यप्रति के साधन-उपकरण-सम्बन्धी शब्द -- चेयर, स्टूल, टेबुल, डेस्क, बेंच, बोतल, हीटर, बैटरी, शीट, मिल, स्टोर, मोटर, साइकिल, स्टीमर, टेलीफोन, पाइप, सिमेंट, नोट आदि ।

२. परिधान सम्बन्धी शब्द -- कोट, पतलून, चेस्टर, शर्ट ।

३. शिक्षा सम्बन्धी शब्द -- स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटी, मास्टर, टीचर, इन्ट्रेंस, इण्टर, बी०ए०, एम०ए०, डिग्री प्रिवि प्रीवियस, फाइनल, पास, फेल, फर्स्ट, सेकण्ड, थर्ड, सर्टिफिकेट, टाइमटेबुल, कापी, पेन्सिल, पेन, फ़ीस आदि ।

४. क्रीड़ा-सम्बन्धी शब्द-- हाकी, टेनिस, क्रिकेट, फुटबाल, प्वाइंट आदि ।

५. राजनीति एवं प्रशासनादि-सम्बन्धी शब्द-- पोलिटिकल,

एवोल्युशन, इकनामी, ड्युटी, पालिटिकल, कम्पनियां, आफिस,
आफिसर, पुलिस, इन्सपेक्टर, जनरल, कमिश्नर, सुपरिन्टेन्डेन्ट,
डिपुटी सुपरिन्टेन्डेन्ट, कलक्टर, डिपुटी कलक्टर, जज, मजिस्ट्रेट ।

६.साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी शब्द-- युगविशेष में पाश्चात्य समीक्षा-शैली का प्रभाव आलोचना-जगत ने ग्रहण किया, परिणामस्वरूप तत्सम्बन्धी शब्दों का भी समावेश हिन्दी में हुआ । तत्कालीन प्रमुख आलोचक बाबू गुलाबराय रचित `सिद्धान्त और अध्ययन` से लिये गये कतिपय शब्द दृष्टव्य हैं --

कथावस्तु(प्लाट), चरित्र(Character), व्याख्या (Exposition), घटना(Incident), चरम सीमा की ओर बढ़ना(Rising Action), चरम सीमा (Crisis) आदि । अन्य लेखकों द्वारा `चरम सीमा` का पर्यायवाची शब्द 'Climax' भी प्रयोग में लाया गया है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने निबन्धों में उक्त प्रकृति के शब्दों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया है । उदाहरणार्थ `द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ` में संगृहीत शुक्ल जी द्वारा रचित निबन्ध `साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद` दृष्टव्य है ।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अनुशीलन होने के कारण इस क्षेत्र में भी मुख्यतः अंग्रेजी के ही पारिभाषिक शब्द व्यवहार में लाये गये ।

७.अन्य प्रकार के शब्द-- कैलेण्डर, बी०सी०(समय के अर्थ में)
मीटर, मेमोरियल, हेल्थ, टेकनिकल, कमेटी, सोसायटी, टैक्स, लाइसेंस,
करेंसी, प्लांटेशन, ट्रांसपोर्ट आदि ।

उपर्युक्त शब्द केवल हिन्दी में अंग्रेजी शब्द के प्रयोग की प्रक्रियामात्र के उदाहरण-स्वरूप हैं । उक्त प्रकार के अनेक शब्द तत्कालीन साहित्यिक हिन्दी ने अंग्रेजी से गृहीत किये हैं ।

<u>विशेष</u>

आलोच्ययुगीन शब्दावली सम्बन्धी विशेषताओं में प्रमुख विशेषता है हिन्दी में विभिन्न भाषाओं से अधिकाधिक शब्दों के फलस्वरूप विभिन्न भावों के अभिव्यंजक पर्यायवाची शब्दों की वृद्धि (इनका विवेचन `अर्थ` प्रकरण में विस्तार से किया जायेगा)

जिसके कारण भाव एवं भाषा दोनों से ही पिष्टपेषण का दोष जाता रहा । मूल शब्दों से तो शब्दावली की अभिवृद्धि हुई ही, संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक उपसर्गों एवं प्रत्ययों के योग से यौगिक तथा विभिन्नार्थी पदों के योग से सामासिक एवं द्विरुक्तादि शब्दों की रचना करके हिन्दी के भण्डार को और भी समुन्नत बनाया गया (ऐसे शब्दों का उल्लेख 'शब्द-विस्तार' के अन्तर्गत किया जायेगा)।

२.३ शब्द-विस्तार

इस प्रकरण में भाषा-निर्माण की उस प्रक्रिया का उल्लेख किया जायेगा, जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रत्यय एवं प्रकृति तथा शब्द-समूह के योग से नवीन शब्दों की संरचना होती है । वस्तुत: द्विवेदी-युगीन भाषा की शब्द-योजना में शब्द-विस्तार का विशेष महत्व है, क्योंकि उक्त युग में मूल अथवा रूढ़ शब्दों को तो भिन्न-भिन्न भाषाओं से बने बनाए रूप में ग्रहण कर हिन्दी के शब्द भण्डार के रिक्त स्थानों की पूर्ति की गई अथवा पर्यायवाची समानार्थक शब्दों की वृद्धि कर दी गई किन्तु शब्द विस्तारण में परम्परागत शब्दों के अतिरिक्त विभिन्न उपसर्गों-प्रत्ययों द्वारा शब्द-समूहों के योग की प्रक्रिया से नये-नये शब्दों की रचना कर अथवा शब्द-विस्तारण शैली में कुछ नवीन पद्धतियों की स्थापना कर साहित्य में भावाभिव्यक्ति के साधनों में जो विस्तार किया गया वही वास्तव में द्विवेदी-युग की नवीन देन है ।

अध्ययन के लिए इस प्रकार के शब्दों के निम्नलिखित मुख्य वर्ग किये जा सकते हैं--

१. प्रत्यययुक्त शब्द

२. समास

३. द्विरुक्तादि शब्द

१. प्रत्यययुक्त शब्द

यथार्थत: द्विवेदी-युग में युग-पूर्व से हिन्दी में प्रचलित लगभग सम्पूर्ण पूर्व एवं पर प्रत्ययों का प्रयोग शब्द-गठन के उपादान के रूप में किया गया । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उक्त युग में भारतेन्दुयुगीन हिन्दी में व्यवहृत प्राय: सब प्रकार के प्रत्ययों

से युक्त शब्दों का व्यवहार सामान्यतः किया गया[1]।

क. पूर्व प्रत्यययुक्त शब्द

इस वर्ग में संस्कृत, हिन्दी तथा कतिपय विदेशी भाषाओं के उपसर्ग एवं गति शब्दयुक्त शब्द आते हैं--

अ-- निषेधात्मक भावसूचक 'अ' गति शब्द से बने शब्दों का प्रयोग इस युग में सबसे अधिक हुआ है, यथा--

अकर्तव्य, अघटित, अज्ञान, अनाथ, अनित्य, अपार, अपूर्व
अपेय, अबला, अबाध्य, अभंग, अभागा, अभाव, आमन्दित,
अरसिक, अलौकिक, अविद्या, अश्लील, असंख्य, असंयम,
असमाप्त, असाधारण, असाध्य, असुर, अस्थिर, अशक्त ।

अन् (स्वर के पूर्व)-- अनादर, अनाहार, अनुमित, अनेक

अनु -- अनुदिन, अनुभव, अनुरोध, अनुसार, अनुस्वार

अप -- अपमान, अपव्यय, अपशब्द, अपहरण

अभि-- अभिमान, अभिव्यक्ति, अभिसार

आ -- आकर्षण, आदर्श, आलेख्य, आस्वादन

उत् -- उत्कर्ष, उत्ताप, उत्पात , उद्भव, उल्लंघन

उप -- उपनाम, उपभेद, उपभोग, उपयोग

कु -- कुकर्म, कुदृष्टि, कुमति, कुरूप

दुर, दुरु-- दुराचार, दुर्गति, दुर्गुण, दुर्दशा

नि -- निदर्शन, निपात, निपुणता, निरोग, निकम्मो (तद्भवशब्द)

निर, निस्-- निरपराध, निरादर, निर्गन्धा, निर्जला, निर्मम,
निश्चेष्ट, नि:शक, निस्सार ।

परा -- पराजय, परामर्श, पराभूत

परि -- परितृप्त, परिपक्व, परिपूर्ण, परिव्याप्त, परिस्फुट

१- स्थानाभाव के कारण उदाहरण स्वरूप सम्पूर्ण प्रत्ययों से निर्मित शब्दों की सूची नहीं दी जा सकेगी, अत: प्रमाण के लिए दे० उक्त युग में पं० कामताप्रसाद गुरु रचित हिन्दी-व्याकरण 'शब्द' साधन तीसरा परिच्छेद - 'व्युत्पत्ति' शीर्षक ।

प्र -- प्रख्यात, प्रताड़ना, प्रपीड़न, प्रबल,प्रमोद,प्रलय

प्रति-- प्रतिकूल,प्रतिध्वनि, प्रतिपादन, प्रत्युपकार

वि -- विक्षिप्त, वितर्क, विच्छिन्न, विजातीय,विफलता, विमुख,विरंगी,वितर्क,

स[+] -- स-गर्व[+], सज्ञान,सजीव, सबन्धु[+], सहित, स-वेरा[+] सावधान

सम् -- संग्रहृय, संचालन, समुन्नति,समुचित,समुदिता,समुज्ज्वल

सु[+] -- सु-अंक[+], सुकृति, सुगुण, सुजन, सु-युक्ति[+], सु-वृत्त[+], सुशिक्षा, सुस्वर

विदेशी शब्द यद्यपि अपनी भाषा से उपसर्ग एवं प्रत्ययों से बने-बनाये हिन्दी में गृहीत हुए हैं,फिर भी कुछ शब्द उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित हैं --

फारसी

ना -- नाचारी,नाराज़

बा -- बाइज्जत

बे[१] -- बेइज्जत,बेचारी,बेचैन, बेदर्द,बेहद

ला -- लाचारी, लापरवाह

दर -- दरहकीकत

अंग्रेजी

सब -- सब जज

विशेष

यह तो रही सामान्य शब्दों की बात,जिनमें से अधिकांशत: तो युग-पूर्व से ही प्रयुक्त होते चले आ रहे थे तथा कुछ युग की प्रवृत्ति के अनुसार तत्कालिक निर्माण के परिणाम थे और आज भी जो परिनिष्ठित हिन्दी में सामान्यरूप से व्यवहृत हो रहे हैं ।

+- हरिऔध जी ने अपने `प्रियप्रवास` में `स` तथा `सु` पूर्व प्रत्यय का प्रयोग अधिक किया है तथा उनका प्रकृति के साथ संयोग सर्वत्र संयोजक चिह्न द्वारा ठीक ही किया है । दे० `विशेष` के अन्तर्गत । १- इस प्रत्यय से बने शब्दों का व्यवहार अधिक हुआ है ।

किन्तु साथ ही उक्त युग में पूर्व प्रत्यययुक्त कुछ ऐसे शव्दों के भी प्रयोग हुए जो आधुनिक व्याकरण की कसौटी पर भले ही खरे उतरते हों अथवा भावार्थ की दृष्टि से उपयुक्त भले ही हों, किन्तु आज की साहित्यिक भाषा में सामान्यरूप से प्रचलित नहीं हैं-- उदाहरणस्वरूप सर्वप्रथम `अ` गतिशव्द(पूर्व प्रत्यय) से युक्त शव्द--अकपट[1], अकृपा[2], अलक्षित[3], अरसिक[4], असमाप्त[5] जैसे शव्दों को ही लें-- विपरीत अर्थ प्रकट करने वाले ऐसे शव्द उस युग के लिए भले ही उपयुक्त थे, क्योंकि शव्द निर्माण के प्रयास में इन सब प्रकार के शव्दों के निर्माण की सम्भावना थी, किन्तु जब कि प्रत्ययों के प्रयोग में सुनिश्चितता की स्थापना हो चली है, ये शव्द स्वाभाविक न होकर कृत्रिम प्रतीत होते हैं । आधुनिक दृष्टिकोण से इनके स्थान पर क्रमश: `कपट`, `कृपा`, `लक्ष्य`, `रसिक` के पश्चात् हीन प्रत्यय अथवा `नहीं` अव्यय के योग द्वारा तथा असमाप्त के स्थान पर समाप्त के विलोम शव्द द्वारा अभीष्ट अर्थ का बोध कराया जाता । इसी प्रकार `हरिऔध` जी द्वारा `प्रियप्रवास` में प्रयुक्त अश्रेय, अ-विमुक्त जैसे शव्द भी आधुनिक प्रणाली की तुलना में स्वाभाविक प्रतीत होते हैं । उनकी उक्त कृति में इस प्रकार के अनेक शव्द हैं ।

नवीन शव्द-निर्माण की प्रवृत्ति यहां तक बढ़ चली कि कहीं-कहीं उपसर्ग के पूर्व दूसरे उपसर्ग का प्रयोग करके उसे नितान्त अस्वाभाविक बना दिया गया है, जैसे -- `अयथास्थान` शव्द । इसमें संस्कृत के समासशैली के अनुरूप अर्थ को थोड़े से अक्षर समूहों में सिमटा देने की ही भावना प्रमुख है ।

`अ` उपसर्ग से सम्बन्धित विशिष्टता यह है कि इस युग में प्राय: विलोम शव्द के निर्माण के अभिप्राय से मूल शव्द के पूर्व उक्त प्रत्यय को लगा दिया जाता था । यह प्रवृत्ति स्वयं द्विवेदी जी में भी वर्तमान थी ।

एक विशेषता जो उक्त युग में भी खण्डन-मण्डन का विषय बनी हुई थी (दे० द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं) वह थी द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त `अन` उपसर्ग से

१- कंकाल--`प्रसाद`, पृ०१८२ । २- द्वि०अभि०ग्र०- दुखी जीवन: प्रेमचन्द, पृ०२३६। ३-सर०भाग १५, सं०१, पृ०२०-- नाथूराम प्रेमी । ४-सर०भाग१० सं०७ `कवि और काव्य`--रा०च०उपा० पृ०३०४ ।५- इन्दु, जन०१६१४, पृ०२ ।यद्यपि भारतेन्दु ने भी उक्त शव्द का प्रयोग किया है, किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रचलन नहीं है । ६- सर०भाग१५ सं०१, पृ०२४- नाथूराम प्रेमी ।

से निर्मित `अनस्थिरता`[1] शब्द । तत्कालीन आलोचकों के मतानुसार `स्थिरता` शब्द को विपरीतार्थक बनाने के लिए उसके पूर्व `अ` संस्कृत उपसर्ग लगना चाहिए था न कि हिन्दी उपसर्ग `अन` । और यदि `स्थिर` में `अन` उपसर्ग का प्रयोग किया गया तो सम्पूर्ण शब्द का तद्भवीकरण हो गया । ऐसी स्थिति में उसमें पर प्रत्यय `ता` का योग अनुचित है । यद्यपि द्विवेदी जी ने अर्थवत्ता की दृष्टि से इस शब्द का प्रयोग सटीक किया है और उन्होंने आलोचना किये जाने पर उसकी स्पष्ट व्याख्या भी की है(दे० द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं), किन्तु आज भी यह शब्दअप्रचलित ही है ।

इसी प्रकार निषेधार्थ सूचक `निर` का भी कुछ शब्दों के साथ प्रयोग उपयुक्त होते हुए भी कृत्रिम प्रतीत होता है,यथा-- निरतिशय[2],निरानन्दमयी[3],निरवच्छिन्न[4] आदि । इन शब्दों का भी सरल प्रयोग उपसर्ग के स्थान पर अन्त में निषेध सूचक शब्द के योग से किया जाना आज की दृष्टि से उपयुक्त है ।

इसी प्रकार `स` उपसर्ग से निर्मित `सविशेष` शब्द है ।`विशेष` यद्यपि अर्थवत्ता में स्वयं में पूर्ण है,किन्तु `स` का योग कर द्विवेदी जी ने `विशेष` शब्द के अर्थ में और भी गुरुता का समावेश कर दिया है,यथा--`इस अल्पोपयोगी नायिका भेद में .... सविशेष रुचि रहती है[5] ।` आज के लेखकगण भी अधिक सतर्कता के कारण प्राय: ऐसे प्रयोग करते हैं ।

`हरिऔध` जी ने स्वकृति `प्रियप्रवास` में `स` युक्त शब्दों की झड़ी लगा दी है। उन्होंने `सहित` के अर्थ में सर्वत्र `स` उपसर्ग का ही प्रयोग किया है,[6] यथा--स-मत्स्य,स-गर्व, स-बन्धु, स-मर्म, स-वेग, स-मण्डली,स-क्रोध, स-शोक आदि ।

`स` की भांति ही `सु` उपसर्ग युक्त शब्द भी उक्त रचना में अधिक आये हैं,जैसे--[7] सुगुण,सु-रक्षित, सु-पूजित,सु-नीतिज्ञ,सु-बोध,सु-दृढ़ता, सु-अंक,सु-युक्ति,सु-वृत्त आदि ।

`हरिऔध` जी द्वारा `सु` उपसर्गयुक्त शब्दों में प्राय: शब्द ऐसे हैं,जो बिना उपसर्ग के ही अभीष्ट भाव-ज्ञापन करते हैं,यथा--`सु-पूजित`,`सु-नीतिज्ञ`,`सु-दृढ़ता` आदि किन्तु

१- सर०भाग ७ सं०२,पृ०६१,६३।२-सर०भाग ५ सं०५,पृ०१४१-सम्पादकीय। ३-सर०भाग१५ सं० १,पृ०२०--नाथूराम प्रेमी । ४-द्वि०अभि०ग्र०,पृ०५६-- नलिनमोहन सान्याल ।५-रसज्ञ रंजन, म०प्र०द्वि०,पृ०६२।६-`प्रियप्रवास`,पृ०१७१-- २०२ तक तथा अन्यत्र ।७- वही,पृ०१६५-१७७ तथा अन्यत्र ।

कवि ने `सु` के योग से अर्थ को और प्रभावशाली बना दिया है ।

उक्त सन्दर्भ में ही पं० गोविन्दनारायण मिश्र की `निबन्धावली` में अंकित `सु` के योग से निर्मित `सुचतुर`, `सुपण्डित`, `सुरसिक`, `सुविज्ञ` आदि शब्द भी उल्लेखनीय हैं । यद्यपि उक्त शब्दों के प्रकृति रूप भी बिना उपसर्ग के ही पूर्ण अर्थ द्योतन करते हैं, फिर भी लेखक ने उनमें निहित भाव की अभिव्यंजना में अधिकाधिक प्रभावोत्पादकता के अभिप्राय से `सु` उपसर्ग का योग कर दिया है । तद्युगीन[1] प्रवृत्तिस्वरूप[2] कुछ अन्य लेखकों की रचनाओं में भी ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं,यथा-- सुविवेक, सुगुण आदि ।

उपर्युक्त शब्दों की संरचना में भाव व्यंजना की दृष्टि से कोई दोष[3] दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु मिश्र जी(गोविन्दनारायण) द्वारा ही प्रयुक्त 'सुकठिन' शब्द निश्चय ही भाव-बोधन की दृष्टि से अनुपयुक्त है ।क्योंकि कठिनता की प्रबलता दर्शित करने के लिए `अतिकठिन` शब्द का प्रयोग किया जा सकता है,किन्तु कठिन के साथ `सुन्दर` अथवा `अच्छा` विशेषण-सूचक प्रत्यय`सु` का योग करना नितान्त असंगत प्रतीत होता है ।

आलोच्ययुगीन उपसर्ग(पूर्व प्रत्यय) प्रयोग की यह विशिष्टता है कि प्राय: शब्दों के भाव को अधिक प्रभावपूर्ण अथवा पुष्ट बनाने के उद्देश्य से ही अधिकांश उपसर्गों का प्रयोग किया गया है ।`परि`,`प्र` ,`वि` (वितर्क, विच्छिन्न,विनियोजित आदि), `सम्`,`सु` आदि उपसर्ग से बने बहुधा शब्द इसी कोटि के हैं ।

<u>ख, परप्रत्यययुक्त शब्द</u>

संस्कृत के अनेक तत्सम प्रत्यययुक्त शब्द हिन्दी में मूल ही मान लिये गये हैं,विशेषत: कृदंत यथा-- अ, अक,अन,अना,आ,उ , त, त्रिम , मन् प्रत्ययों से निर्मित क्रमश: दीप, पाठक,श्रवण,रचना,इच्छा, साधु,गत, कृत्रिम, कर्म आदि तथा तद्धितान्त यथा--अ , व आदि प्रत्ययों के योग से बने मौन,केशव आदि शब्द । ऐसे शब्दों के अतिरिक्त द्विवेदीयुग में जो पर प्रत्यययुक्तशब्द अधिक प्रचलित हैं,उनमें से कुछ उदाहरणार्थ अधोलिखित हैं --

---

१- सर०भाग१५ सं०१,पृ०१६(कविता)कु० लीलावती ।२- सर०भाग१५ सं०४,पृ०२७७(कविता)-- केशवप्रसाद मिश्र । ३- विभक्ति-विचार-- मिश्र ।

१.संस्कृत-प्रत्यययुक्त शब्द

(अ) कृदंत-- जैसा कि कहा जा चुका है, संस्कृत के अधिकांश कृदंत शब्द हिन्दी में प्राय: मूल होकर ही आये हैं । उनके अतिरिक्त द्विवेदीयुग में सामान्यत: कृदंतों के प्रयोग -प्रक्रिया-रूप में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं --

अन-- चित्रण, वर्णन, सम्पादन, विसर्जन

अनीय--अखण्डनीय, विचारणीय, शिक्षणीय

आलु -- श्रद्धालु, दयालु, कृपालु

उक -- भिक्षुक, इच्छुक

क्त -- तुष्ट, इष्ट, अनुभूत, जागृत, तृषित, वंचित, द्रवित, आकर्षित, प्रचलित, चिंहित, विराजित, शोभित, मुदित, ध्वनित ।

द्विवेदीयुग में `त` प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है । एक ही प्रसंग में इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं--'हास्य रस को हास कहकर उसके छ: भेद बताए हैं--[1]

स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित'-- अयोध्यासिंह उपाध्याय की रचना में उक्त प्रत्यययुक्त शब्द अधिक हैं ।

तव्य-- कर्तव्य, ज्ञातव्य

मान -- दृश्यमान, जाज्वल्यमान

य -- नाट्य, पाठ्य, लेख्य आदि ।

(आ) तद्धितान्त -- संस्कृत के कृदंत शब्दों से तद्धितान्त शब्दों का महत्व इसलिए अधिक है, क्योंकि द्विवेदी-युग में भावाभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार बहुत से नवीन शब्दों का निर्माण हुआ, विशेषत: भाववाचक संज्ञाओं का । भाववाचक संज्ञाओं में `ता` तथा `य` प्रत्यययुक्त शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है, इधर विशेषण में इक, `इत` प्रत्यययुक्त शब्दों की अतिशयता है । शेष अन्य तद्धितान्त शब्द भी आवश्यकतानुसार व्यवहृत हुए हैं । उदाहरणार्थ--

आ(स्त्री प्रत्यय)-- प्रवंचिता, मलोना, कष्टिता, समुदिता, हर्षिता[2] ।

इक -- पथिक, श्रमिक, प्राकृतिक, वैवाहिक, सात्विक, सार्वजनिक, स्वाभाविक, मानसिक ।

१-द्वि० अभि०ग्रन्थ--`रसमीमांसा` --भगवानदास। २-`प्रियप्रवास` --हरिऔध जी ने इस प्रत्यय का प्रयोग अधिक किया है ।

इत -- अगणित,कलित,कलुषित,कल्पित,कुसुमित,पल्लवित,

लसित,संकुचित,सीमित आदि ।

`इत` प्रत्ययुक्त शब्दों के अधिकांश उदाहरण द्विवेदी अभि०ग्रन्थ में संगृहीत `मिलिन्द` एवं `हरिऔध` की कविताओं से लिए गए हैं, क्योंकि उनकी कविताओं में ऐसे शब्दों की संख्या प्रचुर है । इनके अतिरिक्त `हरिऔध` की `प्रियप्रवास` काव्य कृति तो संस्कृतगर्भित रचना होने के कारण `त` कृत प्रत्यय के साथ ही तद्धितान्त शब्दों से `इत` ओतप्रोत है । यहां तक कि विशेषण शब्दों के निर्माण की धुन में कहीं-कहीं लेखकों ने अस्वाभाविक अथवा कृत्रिम शब्दों की भी रचना कर डाली है, जैसे -- `कम्पितार[१]` (अन्य शब्दों का विवरण आगे `विशेष` शीर्षक के अन्तर्गत किया जायेगा) ।

इन--धनी,प्राणी,प्रेमी,विजयी,रोगी,सुखी

(स्त्रीलिंगरूप)--अभिनन्दिनी,निवासिनी,स्वामिनी,

आज्ञाकारिणी ।

इम -- अन्तिम,पश्चिम

इल -- पंकिल,फेनिल

ईन -- नवीन,प्राचीन

ईय -- त्वदीय, पाणिनीय

क -- भिक्षुक

कर -- दिवाकर,प्रभाकर,निशाकर,निशिकर,सुखकर

तर -- स्वल्पतर,गुरुतर

तसु ००(तः)-- मुख्यतः,वस्तुतः,विशेषतः

ता -- इस प्रत्यय से बने भाववाचक संज्ञा शब्द अधिक है,यथा--

अरिता+,आलसता+,प्रतिकूलता उत्तमता,उदारता,एकाकारता

गम्भीरता+,पात्रता+,पोषकता,प्रतिकूलता,मृदुभाषिता,

विकलता,विरुद्धता+,शान्तता+,शिशुता, समता आदि ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय रचित `प्रियप्रवास` में इस प्रकार की संज्ञाओं की भरमार है।

१- `हरिऔध` : `प्रियप्रवास` ।

+ - ये शब्द आधुनिक हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं ।

*
यथा--

वत्सलता, कमनीयता, वादिता, सजीवता, अनुरंजिता, हर्षिता,
विपुलता आदि ।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीकृत 'हिन्दी लिंगविचार' में 'ता' प्रत्यययुक्त शब्द के निम्नलिखित प्रयोग द्रष्टव्य हैं --

'मधुरता, कोमलता, मनोहरता, सुकुमारता, निकृष्टता,
हीनता, लघुता, दुर्बलता, आदि गुण वाली वस्तुएं
स्त्रीलिंग और कठोरता, उग्रता, दृढ़ता, सहनशीलता,
उत्कृष्टता आदि गुण वाले पदार्थ पुल्लिंग कहलाते हैं ।

त्य-- दाक्षिणात्य, पौर्वात्य, वैपरीत्य

त्व-- भिन्नत्व, मनुष्यत्व, सार्थकत्व

य -- गाम्भीर्य, दारिद्र्य, नैकट्य, रहस्य, शैथिल्य, सारथ्य,
साहाय्य, सौख्य, सौन्दर्य

श:-- अल्पश:, कोटिश: प्रायश:, बहुश: आदि ।

उक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रत्यययुक्त शब्द तत्कालीन भाषा में व्यवहृत हैं, जो सामान्यत: उसके पूर्व भी प्रचलित थे और आज भी प्रचलित हैं ।

२. हिन्दी प्रत्यययुक्त शब्द

तद्युगीन साहित्य रचना में एक ओर संस्कृत प्रत्ययों से निर्मित तत्सम शब्दों का आधिक्य है तो दूसरी ओर हिन्दी अथवा तद्भव प्रत्ययों के योग से बने तद्भव शब्दों की संख्या भी कम नहीं है । व्यवहारिक भाषा में तो ऐसे शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग है ही, इतना अवश्य है कि उक्त युग में जिस अनुपात में तत्सम शब्दों का निर्माण हुआ उसकी तुलना में तद्भव शब्दों की संख्या न्यून ही है, क्योंकि बहुत से हिन्दी प्रत्ययान्त शब्द जिनसे ग्रामीणता का बोध होता था, अथवा जो परिनिष्ठित भाषा के योग्य नहीं थे, उनका प्राय: परित्याग कर दिया गया । साथ ही इनकी रचना भी प्राय: परम्परागत ही हुई, अत: कतिपय शब्दों को छोड़कर अन्य शब्दों की रचना में कोई विशेषता नहीं है, उदाहरणार्थ--

---

~~० - ये शब्द आधुनिक हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं ।~~

(अ) कृदंत--

अ -- पहुंच, संभाल

फ -- झगड़ा, छापा, मरा, घेरा

आई-- दिखाई, दिखलाई, चढ़ाई

आऊ-- तैराक

आड़ -- लिक्खाड़

आव -- कटाव, छिड़काव, लगाव

आवट-- लिखावट, सजावट

आवना--सुहावना, लुभावना

आवा -- भुलावा, पहिरावा

आस -- प्यास

आहट -- चिल्लाहट, घबराहट

ई -- हंसी, फांसी

एरा -- बसेरा, लुटेरा

औता-- समझौता, चुनौती

क -- बैठक, पालक

कर, के, करके-- ये प्रत्यय सब धातुओं में लगकर पूर्वकालिक क्रिया बन जाते जाते हैं। द्विवेदी-युग में के एवं करके प्रत्यय पुराने पड़ गये थे, अस्तु परिनिष्ठित रूप में `कर` प्रत्यय का योग अधिक होने लगा था, यथा--

जाकर, देखकर, सोकर, समझकर, आदि ।

किन्तु कविता-रचना में इनका लोप हो जाने पर भी पूर्वकालिक कृदंत बन जाते हैं, उदाहरणार्थ--

पा प्यारा अमरत्व अमर आनन्द अभय पा
विश्व करे अभिमान, वीर्य बल पूर्ण विजय पा

(वीरपूजा-- माखनलाल चतुर्वेदी)

वाला --देने वाला , करने वाला

हार -- होनहार आदि ।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य `कृत` प्रत्ययों से बने हुए शव्द भी शव्द-विस्तार को

विभिन्न कोटियों में लिये जा सकते हैं, यथा--`ए` देखे, निकले (पूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत), `ता` से -- जाता, आता, (वर्तमान कालिक कृदंत), `ते` से --बहते, देखते (अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत), `ना` से -- जीना, उठना, बैठना (क्रियार्थक संज्ञा) आदि । किन्तु शब्दों का यह परिवर्तन वस्तुत: पद-रचना का विषय हो जाता है ।

(आ) तद्धितान्त-- कृदंतों को भांति तद्धितान्त शब्द भी हिन्दी में अनेक हैं, किन्तु तकनीक प्रयोगों प्रक्रियामात्र के बोध के लिए उनमें से कुछ ही उदाहरण उद्धृत किये जा रहे हैं --

आ -- भूखा, प्यासा, निर्जला

आई-- गहराई, छुटाई, भलाई

आस-- मिठास

आहट-- कड़ुवाहट, अपनाहट

इया --खटिया, रसोइया, दुखिया

ई -- गवांरी, पहाड़ी

`ई` प्रत्यययुक्त रंगसूचक विशेषण शब्दों का रोचक प्रयोग--

`धानी आसमानी सुलेमानी मुल्तानी मूंगी
संदली सिंदूरी शुचि औसनी सुहाये हैं
कंजई कनैरी भरे चंपई अंगारा रूरे
पिस्तई मजीठी सुरमई घेरि आये हैं ।।
मासी नीलकंठी गुलाब सी छवि राशी तूसी
कुसुमी कपासी रंग पूरण दिखाये हैं ।
नारंजी पिया जी पोसराजी गुलनारी घने
केसरी गुलाली सुवापंखी मेघ छाये हैं ।।`[1]

ईला-- फबीला, हठीला

ऊ -- बाजारू

एरा-- चितेरा, सपेरा

---

१ काव्य वाटिका-- छाये हैं-- रायदेवीप्रसाद पूर्ण, पृ०३०७ ।

ऐया -- पुलैया

ओला -- बतोला

क -- चड़क मड़क

कर,करके-- विशेषकर, बहुत करके

`कृत` प्रत्ययों की भांति तद्धित `कर`, `करके` में `कर` प्रत्यय ही उस युग में अधिक उपयुक्त माना जाता था, तभी तो मिश्रबन्धु रचित `भारतवर्ष का इतिहास` तृतीय संस्करण के हेतु संशोधन में `अलग करके` शब्द से `के` काट कर केवल `कर` प्रत्यय रहने दिया गया है किन्तु इसी रचना में बहुत करके, के को नहीं काटा गया है, क्योंकि यहां `करके` प्रत्यय ही पद की सार्थकता की दृष्टि से उपयुक्त है `कर` नहीं ।

पन -- लड़कपन, पागलपन

पा -- बुढ़ापा

ला -- अगला, मझला

हारा-- लकड़हारा, मनिहारा

उक्त प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त अन्य अनेक हिन्दी तद्धित प्रत्ययों से बने अनेक प्रकार के जो रूढ़ हो गये हैं तत्कालीन भाषा में प्रयुक्त हैं, किन्तु उक्त प्रकार सम्पूर्ण प्रकार के शब्दों को यहां देना मात्र कलेवर का विस्तार करना है, अत: यहां इतना ही बता देना पर्याप्त है कि द्विवेदीयुगीन परिनिष्ठित हिन्दी में हिन्दी प्रत्ययों के योग से बने शब्दों के प्रयोग में ग्रामीणता का बाना धारण करने वाले शब्दों को प्राय: स्थान नहीं दिया गया है ।

३. फ़ारसी प्रत्यययुक्त शब्द

अरबी-फ़ारसी प्रत्ययों में कृत् प्रत्यय--अ, आ, इन्दा, इश, ई, ह(आ) तथा तद्धित प्रत्यय(संज्ञार्थक)आ, आनह(आन) इयत, ई, इक कार, गर, गार, ची, दान, बान, नामा, (विशेषणार्थक) --आनह, इन्दा, ई, नाक, मंद, वर, ईना, जादह, खाना, गाह इस्तान, ज़ार, आदि से बने शब्द, क्योंकि अपनी भाषा से बने-बनाए रूप में ही आगत हैं, अत: उनके उदाहरण आवश्यक नहीं जान पड़ते । इतना अवश्य है कि फारसी शब्दों के प्रयोग कृदंत एवं तद्धितान्त रूप में तत्कालीन भाषा में हुए हैं । कुछ एक फ़ारसी प्रत्यय ऐसे भी हैं, जिनका योग हिन्दी अंग्रेजी शब्दों के साथ भी हुआ है । इनमें दान, दार प्रत्यय का प्रयोग उदाहरणीय है, यथा--

गरी[१] (गीरी)-- बाबूगीरी, डिप्टीगरी

दान -- चायदान, थूकदान

दार -- थानेदार, फूलदार

४. अंग्रेजी-प्रत्यययुक्त शब्द

फारसी शब्दों की भांति अंग्रेजी के प्रत्यययुक्त शब्द भी प्राय: अपनी भाषा से बने-बनाये ही आये हैं, अत: ऐसे शब्दों में विशेष परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती। इतना अवश्य है कि जैसे-जैसे अंग्रेजी का हिन्दी से सम्पर्क स्थापित हुआ, वैसे-वैसे अंग्रेजी के व्युत्पन्न शब्दों का समावेश भी हिन्दी में अधिक हुआ।

५. विशेष

यद्यपि द्विवेदीयुग में अधिकांश प्रत्यययुक्त शब्दों की रचना नियमानुसार ही हुई है, तथापि भाषा और साहित्य को उन्नतिशील बनाने की जनसमुदायव्यापी भावना के उत्कर्ष के परिणामस्वरूप नये नये प्रयोगों के प्रयास में प्रकृति एवं प्रत्ययों के योग से शब्द-निर्माण सम्बन्धी कुछ ऐसे कार्य हुए, जिन्हें साहित्यिक हिन्दी के प्रयोग में तत्कालीन विशिष्ट देन कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम विशेषता यह है कि पूर्वकथनानुसार उक्त युग में प्राचीन शब्दों को अंगीकार करते हुए भी अनेक नये शब्दों का निर्माण कर भाषा के भण्डार को बढ़ाया गया। कुछ शब्दों के बनाने में परम्परा से हटकर दूसरे प्रत्ययों का भी सहारा लिया गया। उदाहरण स्वरूप `ता` प्रत्यय को लें। भाववाचक संज्ञा के निर्माण हें `ता` प्रत्यय के योग की प्रक्रिया भारतेन्दु युग में तो अधिक थी ही किन्तु द्विवेदी-युग में भी इसका प्रचलन कम नहीं था, यहां तक कि आलोच्य-युग में `ता` युक्त कुछ ऐसे शब्दों का निर्माण हुआ जो आज के युग में सर्वग्राह्य नहीं हैं (उदाहरण आगे दिया जायेगा) किन्तु इनके निर्माण के हेतु हुए भी इस युग के कुछ लेखकों ने प्राय: शब्दों के पुल्लिंगीकरण के प्रयास में `ता` के स्थान पर `त्व` अथवा `य` भाववाचक प्रत्ययों का प्रयोग भी अधिक किया है। ऐसे प्रयोगों की ओर स्वयं द्विवेदी जी का ही ~~सम्मान~~ रुझान अधिक रहा है। उनके इस

१- तत्कालीन लेखकों ने अपनी कृतियों में `गरी` रूप प्रत्यय का ही प्रयोग किया है (दे०भा०भा०-- गुप्त), पृ०१२२ तथा सर०भाग१५ सं०१, पृ०२५--नाथूराम प्रेमी)।

पथ का अनुसरण अन्य साहित्यकारों, यथा--गोविन्दनारायण मिश्र, कामताप्रसाद गुरु, अयोध्या सिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, नाथूराम प्रेमी आदि ने भी किया है। उक्त लेखकों की रचनाओं में संस्कृत प्रत्ययों के योग से बने अनेक नवीन शब्द मिलते हैं। यहां तक कि कहीं-कहीं उपयुक्त न होते हुए भी तत्कालीन लेखकों ने भिन्न प्रत्यय का प्रयोग कर शब्द को असाधान्य बना दिया है। इसी प्रकार 'इत' प्रत्यय (कृत एवं तद्धित दोनों अर्थों में) से युक्त शब्दों की भी तद्युगीन साहित्यिक भाषा में बहुलता है।

प्रत्यययुक्त अथवा व्युत्पन्न शब्दों की बहुलता के अतिरिक्त दूसरी विशिष्टता शब्द-निर्माण के क्षेत्र में नूतन प्रयोग सम्बन्धी है। अर्थात् नवीन शब्द निर्माण की प्रवृत्ति की वेगवती धारा में कुछ ऐसे शब्दों की रचना हुई अथवा परम्परा से आये हुए कुछ ऐसे शब्दों के प्रयोग हुए, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय सम्बन्धी अनियमितता अथवा असामान्यता दृष्टिगत होती है। विभिन्न वर्गानुसार ये शब्द निम्नलिखित हैं--

(क) प्रत्यय अनावश्यक हैं--यथा--

सम्भवनीय, आवश्यकीय, प्रकटित,[1] शुद्धताई

कौतूहली (प्रयोग-- कैसे उलट गया यह कौतूहली के खोजने की बात है[2])

उपर्युक्त शब्दों में अनीय, ईय, इत, प्रत्ययों की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु प्रयोग की अति सतर्कता के कारण प्रयोगकर्ताओं ने प्रत्यय लगा दिये हैं।

(ख) अनुपयुक्त प्रत्यय-- कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनमें प्रत्ययों की अनुपयुक्तता खटकी है, यथा--

(१) दारिद्र्य,[3] नैकट्य,[4] वैपरीत्य,[5] सौशील्य[6] आदि शब्दों में लगाये गये प्रत्ययों के स्थान पर 'ता' प्रत्यय अधिक उपयुक्त होता और इस प्रकार दरिद्रता, निकटता, विपरीतता

१- इस प्रयोग की परम्परा भारतेन्दु-युग से चली आ रही है। तथा शुक्ल की कृति में भी प्रयुक्त है। किन्तु क्रमशः इसका प्रयोग न्यून होने लगा था।

२- द्वि०अभि०ग्रं०-- रस मीमांसा-- डा० भगवानदास, पृ०५ इस वाक्य में 'के' प्रत्यय दोषपूर्ण

३- हि०भा० और सा० कवि० अ०सिंह उपा० ।४- सा०सी०--म०प्र०द्वि०, पृ०१६ प्रयोग-कालिदास के समय की प्राकृत संस्कृत से जितना नैकट्य रखती है, रत्नावली के समय की उतनी नैकट्य नहीं रखती ।५- भारत भारती--गुप्त-प्रस्तावना, पृ०१ ।६- बे०वि० रत्ना--म०प्र०द्वि० पृ०९६ जैसा कि कहा जा चुका है यह रचना द्विवेदी की उस समय की रचना है जब वे भाषा सुधार की ओर उन्मुख नहीं हुए थे, फिर भी द्विवेदी की प्रवृत्ति कुछ इसी प्रकार के शब्दनिर्माण की थी।

सुशीलता शब्द[1] सुविधा एवं प्रचलन[2] दोनों की दृष्टि से उपयुक्त हैं ।

(२) `पौर्वात्य` एवं दक्षिणात्य में `त्य` प्रत्यय के स्थान पर `ई` का प्रयोग अधिक उपयुक्त था ।[3]

(३) आलसता-- शब्द में `ता` के स्थान पर `य` प्रत्यय लगाना चाहिए था । आज भी शिष्ट[4] प्रयोग में `आलस्य`[5] शब्द प्रचलित है न कि `अलासता` ।

(४) पोषकता, विरुद्धता-- शब्दों में `ता` का प्रयोग न होकर केवल `पोषण` एवं `विरोध` शब्द से भी कथन का अभिप्राय प्रकट हो सकता था, यथा-- `कितने ही सिद्धान्तों की पोषकता होतीहै` वाक्य के स्थान पर `कितने ही सिद्धान्तों का पोषण होता` वाक्य भी वही अर्थ प्रकट करता । इसी प्रकार `परस्पर विरुद्धता बनी[6] रहती है` के स्थान पर `परस्पर विरोध बना रहता` लिखना अनुपयुक्त नहीं है ।

(५) `विज्ञानी` शब्द में `ई` प्रत्यय का प्रयोग न करके द्विवेदी काल में तथा आज भी `इक` प्रत्यय का योग कर `वैज्ञानिक` शब्द बनाया गया है, किन्तु भाषा के निर्माता द्विवेदी जी ने ऐसे शब्द को प्रयोग कर उसे मान्यता दी है । यह हो सकता है कि आगे चलकर उन्होंने[7] अपनी इस निर्माण पद्धति में संशोधन कर लिया हो ।

(६) `अपनाहट` में गुप्त जी ने `आहट` कृत प्रत्यय का प्रयोग किया है जब कि आवश्यकता थी `पन` अथवा `पा` हिन्दी प्रत्यय की अथवा `त्व` संस्कृत प्रत्यय की, किन्तु लेखक ने पुरानी लीक से हटकर इस प्रकार के शब्द की रचना की है, यद्यपि इसका प्रचलन अभी भी हिन्दी में नहीं ।

(७) इसी प्रकार जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने `कठिन` में `ता` अथवा हिन्दी[8] प्रत्यय `आई` के योग से `कठिनता` अथवा `कठिनाई` का प्रयोग न करके जो `काठिन्य` शब्द का प्रयोग किया है, वह शब्द -निर्माण की उनकी निजी नीति प्रतीत होती है, क्योंकि

१,२- सा०सी०--म०प्र० द्वि०,पृ०३,३४ पर क्रमशः। द्विवेदी जी ने अपनी रचनाओं में `ई` विशेषण प्रत्यय के स्थान पर `त्य` को अधिक प्रमुखता दी है । उन्हीं की पद्धति पर आज भी ये शब्द प्रयोग किये जाने लगे हैं ।३-काव्य वाटिका--शकुन्तला कोविदा-मै०श०गु०,पृ०१३४। ४-सर०भाग ~~१५सं०१,पृ०२४--नाथूराम प्रेमी०~~ भाषा और व्याकरण--म०प्र०द्वि०,पृ०६२। ५-सर०भाग१५ सं०१,पृ०२४--नाथूराम प्रेमी । ६-सर०भाग७ सं०२ भाषा और व्याकरण--म०प्र० द्वि०,पृ०६२।७-द्वि० -- आचार्य देव-- गुप्त,पृ०४२ ।८- निबन्ध०नियम--ज०प्र० चतुर्वेदी,पृ०१ ।

ऐसे प्रयोग अन्यत्र दिखाई नहीं देते । स्वयं चतुर्वेदी जी ने एक ओर जहां `काठिन्य` शब्द का प्रयोग किया है, वहां `कठिनाई` शब्द का भी व्यवहार किया है, यथा--

भारी काठिन्य, यही काठिन्य है(निबन्ध नियम, पृ०१)

लिंग भेद सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के बदले (वहीं, पृ०२)

(ग) शब्द अस्वाभाविक हैं-- कुछ प्रकार के शब्द ऐसे हैं जो दोषपूर्ण तो नहीं कहे जा, किन्तु इनका प्रयोग कृत्रिम अवश्य प्रतीत होता है, यथा--

(१) `इक` प्रत्यययुक्त शब्द-- जैविक[१]

(२) `इत` ,, ,,-- वैदित[२], अभिलषित

(३) `ता` ,, ,,-- अरिता[३], पात्रता[४], प्रतिकूलता[५], वर्तमानता[६] शान्तता[७], शिशुता[८], सदयता[९], असम्भावता[१०], फलभरत[११]

(४) `त्व` ,, ,, --फलभरत्व, पृथक्त्व[१२], नानात्व[१३], साधकत्व[१४]

(५) त्य ,, ,, --लेख्य[१५], सारथ्य[१६]

(६) इनके अतिरिक्त कुछ अन्य शब्द हैं जो त्रुटिपूर्ण न होते हुए भी प्रयोग में नहीं आते, यथा--अनुवादित[१७], प्रकाशयिता[१८] ।

१- प्रयोग --`विज्ञान तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है--(१)प्राकृतिक, (२)जैविक, तथा (३) मानसिक(सर०भाग २४, खं०१, सं०२, पृ०२१३ भाषा के परिवर्तन के विषय में न०मो०सा० ।२- वै०वि० रत्ना--म०प्र० द्वि०, पृ०२, १०६ क्रमश: ।३-काव्य वाटिका, पृ०२०७ क्रोध से हानि --अमीर अली मीर` । ४-मिश्रबन्धु-विनोद, भूमिका, पृ०३। ५-सर०भाग८ सं०६ म०प्र० द्वि०, पृ०३७७। प्रयोग की दृष्टि से भी इस शब्द में कृत्रिमता है, यथा-- हमारे मुसलमान भाई इसको प्रतिकूलता करते हैं ।` यहां विरोध शब्द सम्भवत: अधिक उपयुक्त होता है ।

६-द्वि०अभि०ग्र०--भगवानदास, पृ०७।७-काव्यवाटिका, राम०का०प्र०--गुरु, पृ०५७ ।८-सर०भाग १५, ख०१, सं०४, पृ०१७८(कविता) के०प्र०मिश्र ।९-द्वि०पत्रा०--आचार्य देव--मै०श०गुप्त, पृ०४५। १०-भा०भा०--गुप्त, पृ०११८।११-कापायनी--लज्जासर्ग--प्रसाद । १२, १३- द्वि०अभि०ग्र० रस मीमांसा-- डा०भगवानदास, पृ०५ । १४-सर०भाग७ सं०२--भाषा और व्या०--म०प्र०द्वि०, पृ०६२ । १५- प्रयोग-- सर्वथा लेख्य, पाठ्य और विचारणीय है--सर०भाग५ सं०५, पृ०१४१ सम्पादकीय । १६- सर०भाग ११ सं०६, पृ०४२७(कविता)--म०प्र० द्वि० ।१७- सुदर्शन-- का० प्र० गुरु --भूमिका । १८- अनुप्रास का अन्वेषण --ज०प्र० चतु० ।

आलोच्ययुगीन शब्द-निर्माण की तीसरी विशेषता शब्द की संकरता से संबंधित थी[६] । भारतेन्दु युग में भाषा के जो प्रकम्पित चरण शब्द-निर्माण में प्रकृति-प्रत्यय की संकरता की ओर बढ़ रहे थे, द्विवेदी युग में स्थिर होने लगे । भारतेन्दु युग में कभी-कभी तत्सम प्रकृति के साथ तद्भव प्रत्यय अथवा तद्भव प्रकृति के साथ तत्सम प्रत्यय का योग कर दिया जाता था किन्तु द्विवेदी युग में भाषा की विशुद्धता के दृष्टिकोण से प्रकृति-प्रत्यय को प्राय: संकरता से वंचित रखा गया । किन्तु विदेशी शब्दों को हिन्दी के साथ मिश्रित करने के प्रयास में प्राय: बोलचाल की भाषा में विदेशी शब्द के साथ हिन्दी प्रत्यय अथवा हिन्दी प्रकृति के साथ यत्किंचित विदेशी प्रत्यय का योग करने का प्रचलन अवश्य होने लगा। तत्कालीन भाषा से लिये गये शब्द--"फूलदान, चायदान, बाबूगरी, डिप्टीकरी, इंजीनियरी, मास्टरी, डाक्टरी, भुतखाना, चौकीदार, रंगदार तथा विदेशी शब्दों में हिन्दी पद निर्माण सूचक प्रत्यय यथा-- पेन्सिलों, स्कूलों, अस्पतालों, मेजें, शर्माती, गुस्साता, आदि" इसके प्रमाण हैं

२. सामसिक शब्द

जैसा कि अन्यत्र भी कहा जा चुका है, द्विवेदी युग में साहित्यिक हिन्दी के विकास के क्षेत्र में विविध भाव सूचक शब्दों के निर्माण एवं प्रयोग की जो वेगवती धारा प्रवाहित हुई उसमें सामसिक शब्दों की ~~च~~ उपधारा का भी विशेष महत्त्व है । हिन्दी भाषा में संस्कृत तत्वों के अधिक अंश में समाहित होने के परिणाम स्वरूप उसका समास ~~शब्द समास-निर्माण की प्रवृत्ति में अंग्रेजी के संयुक्त शब्दों का प्रभाव परोक्षरूप से कारणीभूत था ।~~ बहुला होना भी स्वाभाविक था। इधर समास निर्माण की प्रवृत्ति में अंग्रेजी के संयुक्त शब्दों का प्रभाव परोक्षरूप से कारणीभूत था । सामसिक पद्धति का प्रभाव ठेठ हिन्दी-प्रयोगों पर भी पड़े बिना नहीं रहा, अत: बोलचाल की शब्दावली के रूप में हिन्दी में ठेठ हिन्दी शब्दों द्वारा निर्मित सामसिक पदों के प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलते हैं, किन्तु प्रमुखता संस्कृत के तत्सम समासों की ~~ही~~ है । ये सामासिक शब्द गद्य भाषा की अपेक्षा पद्य भाषा में छन्द-रचना की सुविधा की दृष्टि से अधिक प्रयोग में लाये गये हैं । तत्कालिक पद्य में दो शब्दों का योग तो बहु प्रचलित रहा है, किन्तु प्राय: दो से अधिक पांच छ: अथवा उससे अधिक शब्दों के योग से सामासिक पदों का निर्माण कर अल्प शब्दों में भावाभिव्यंजना कर मानो रहीम कवि की उक्ति-- दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोड़े आहिं को चरितार्थ

भाषाओं के शब्दों का ही योग है,किन्तु विभिन्न शब्दावलियों के परस्पर मिश्रण के प्रयोजन से कुछ लेखकों की भाषा में प्रयुक्त कतिपय सामासिक पदों में संकरता भी आ गई है ।

इस प्रकार आलोच्ययुगीन साहित्यिक भाषा में सामान्यत: प्रयुक्त सामासिक पद निम्नवत् हैं[१]--

१. अव्ययीभाव समास

अव्ययीभाव समासों में संस्कृत शब्दों से बने तत्सम समास अन्य समासों की तुलना में बहुत न्यून हैं, अधिकांश अव्ययीभाव समास हिन्दी शब्दों से ही विभिन्न नियमों के अन्तर्गत निर्मित है । अत: द्विवेदी युगीन भाषा में मूल तत्सम अव्यय तो अधिक है,किन्तु सामासिक रूप में अधिकांश अव्यय हिन्दी के ही हैं ।

ये समास रचना- प्रक्रिया के सामान्य नियमों के आधार पर अधोलिखित रूपों में निर्मित है --

(क) पूर्व पद अव्यय-उत्तर पद संज्ञा

इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों से बने समास ही प्रमुख हैं,यथा--

आमरण,यथाविधि, यथास्थान, व्यर्थ आदि ।

१(अ) समासों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना अपेक्षित है--

(क) यद्यपि कामताप्रसाद गुरु ने समास के मुख्य चार भेद किये हैं--अव्ययीभाव,तत्पुरुष, द्वन्द्व,बहुव्रीहि। कर्मधारण तथा द्विगु तत्पुरुष के ही भेद माने गये हैं,किन्तु यहां अध्ययन की सुविधा के लिए उक्त दोनों समासों को भी भिन्न भिन्न वर्ग में ही लिया जायेगा ।

(ख)रचना की दृष्टि से एक प्रकार का सामासिक विग्रह तथा प्रयोग के अनुसार अनेक सामासिक शब्दों के अन्तर्गत आ सकता है,उदा० यथा `इधर-उधर` अव्यय का भाव प्रकट करने के कारण अव्ययीभाव समास भी है तथा `और`अथवा`या`अव्यय के लोप से बना द्वन्द्व समास भी हो सकता है । इसी प्रकार `हृदय-हारक` शब्द विग्रह के अनुसार कर्म तत्पुरुष समास भी है,जैसे हृदय को हरने वाला तथा हृदय को हरने वाला है जो इस विग्रह के अनुसार अपने पदों से भिन्न किसी अन्य का विशेषण होने के कारण बहुव्रीहि समास भी है । इसी प्रकार `शान्त-कान्त` ,`विधु-मुख` जैसे शब्द शान्त हैं कान्त जिसका``विधुवत् है मुख जिसका` इन विग्रहों के आधार पर बहुव्रीहि समास है तथा पूर्व पर विशेषण तथा उपमा होने के कारण कर्मधारय समास के भी अन्तर्गत आ हैं । अत: यहां विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत दिये गये शब्दों को किसी एक ही वर्ग के अन्तर्गत न समझ कर अन्य वर्गों के अन्तर्गत भी लिया जा सकता है ।

(ख) अव्यय शब्दों को द्विरुक्ति

इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या बहुत कम है, अधिकांश शब्द हिन्दी के ही हैं, उदाहरणार्थ--

(१) संस्कृत -- यत्र तत्र, मन्द मन्द

(२) हिन्दी-- इधर-उधर, जगह-जगह, धीरे-धीरे, भीतर-भीतर
बाहर-बाहर, जैसे-जैसे , बार-बार, कभी-कभी,
नहीं नहीं , पास-पास, पहले-पहल, जैसे-तैसे,
जहां तहां

(३) फारसी-- तरह तरह, जुदा जुदा, साफ़ साफ़ आदि ।

(ग) संज्ञा शब्दों को द्विरुक्ति

(१) संस्कृत -- मुख मुख में, ग्रन्थ ग्रन्थ में, देश देश में
फल फल में, स्वप्न स्वप्न में, क्षण क्षण में

संस्कृत में पूर्व प्रत्यय' प्रति' के योग से भी शब्द को द्विरुक्ति का आभास हो जाता है ।

(३) हिन्दी -- दिन रात, घर घर, फूल फूल में, पत्तों पत्तों में
हाथों हाथ, दिनोंदिन, बात बात में आदि ।

२. तत्पुरुष समास

कारक चिह्नों (कर्ता तथा सम्बोधन को छोड़कर) का लोप कर समास बनाने की प्रक्रिया संस्कृत के साथ - साथ हिन्दी में भी अधिक रही है, तदनुसार द्विवेदी युगीन भाषा में भी तत्पुरुष समास सबसे अधिक हैं,उनमें भी सम्बन्ध तत्पुरुष समासों की तो भरमार है । उदाहरण के रूप में कुछ तत्पुरुष समास इस प्रकार हैं--

(१) कर्म तत्पुरुष

(क) संस्कृत-- तथ्य कथन, बिम्ब-ग्रहण,अर्थ-ग्रहण,अर्थ-संकेत
सुरा-पान, व्यक्तिगत
+ + + +
विभाव विधायक, जल पिपासु, जलधर, नाटककार
+ + +
हृदयकारक गो-मास भोजी मातृ-भाषा-भाषियों
+ +
(ख) हिन्दी-- परकटे, कामचलाऊ माथापच्ची

(ग) संकर (तद्भव+तत्सम)-- गंठिबन्धन

उपर्युक्त समासों में तारांकित शब्द बहुब्रीहि समास के अन्तर्गत भी आते हैं ।

(२) करण तत्पुरुष

(क) संस्कृत -- प्रेम सम्भाषण, वीचि-विचुम्बित, मातृ-भाषा-प्रीति दयार्द्र, हिमाच्छादित, वाक्युद्ध, भावमयी, द्रोह-भय, मूर्खता-सम्भूत, अज्ञानसम्भव, सर्वांगपूर्ण, सार-गर्भित , धूलि धूसरित, हरिततृण-विराजित यौवन सम्पन्न ।

(ख) हिन्दी -- मदमाती, मनमाने

कर्म तत्पुरुष की भांति इसके भी तारांकित शब्द बहुब्रीहि समास के अन्तर्गत आ सकते हैं ।

(३) सम्प्रदान तत्पुरुष

(क) संस्कृत -- विस्तारोन्मुख, रण-कंकण, विद्याव्यसनी, मातृ-भाषा-प्रीति ।

(ख) हिन्दी -- स्वर्गेच्छा, देश-प्रेम, देश-प्रीति

(ग) तद्भव+ फारसी--

(४) अपादान तत्पुरुष

(क) संस्कृत -- रक्त-हीन, रूप-हीन, शोभा-हीन, पितृहीन, प्राणहीन , जीवन्मुक्त, विरह-व्यथाएं, निरालस्य, हर्ष-विमर्ष-विरागी ,

इस वर्ग के तारांकित शब्द भी बहुब्रीहि समास हो सकते हैं ।

(५) सम्बन्ध तत्पुरुष -- जैसा कि कहा जा चुका है तत्पुरुष समासों में सबसे अधिक संख्या सम्बन्ध तत्पुरुष की है । ये समास गद्य एवं पद्य दोनों में अधिकता से प्रयुक्त हैं । उदाहरणार्थ --

(क) संस्कृत --	अज्ञान-कारागार	अन्तर्वेदना	अन्तरंग
	आर्यकुल	आर्य-गौरव	आत्मज्ञान
	इन्द्रसभाएं	उन्नति शिखर	उर-तन्त्री
	कर्तव्य-पालन	कला-समीक्षा	क्लेश-कथाएं
		छवि-प्याले	
	चिरानन्द	छविच्छटा[0]	छवि-प्याले
	जीवन-चरित	तरु-वृन्द	तृण-दल
	दिवाकर-कर	दीप-शिखाएं	देश-भाषा
	धारणा-शक्ति	निगुणाराधना	पट-परिवर्तन
	पतिव्रत-धर्म	पद-पूजन	पाप-कलाप
	पद-तल	भूमि-स्वामी	मत-भेद
	मनोभाव +	मन:कष्ट +	मणि-मालाएं
	मानव-जीवन	मानव-समाज	मुक्ता-दाम
	योग्यता-विचार	लेखन-प्रणाली	वयोविकास
	विजय-वैजयन्ती	विभाव-पक्ष	विषय-प्रसंग[0]
	वेदाध्ययन	शरन्मेघ	शिशुता-समय
	सन्देह-दल	साधना-प्रणाली	आदि ।

(बहुपदत्व)

गिरि-निर्झरिणी-तट	नवकार्य-साधन-क्षमता
पार्थ-पाटव-उत्कर्ष	मातृ-भाषा-प्रेम-रस आदि।

(ख) हिन्दी -- घुड़दौड़, फुलवारी

(ग) फारसी -- मनसूबे

(घ) संकर (तत्सम+तद्भव) --वारिद-धुनि

(विदेशी+संस्कृत) --अंगरेजी-योग्यता[1]

(संस्कृत+अंग्रेजी) --पाद-नोटों[2]

+--सन्धि द्वंद--द्वि०अभि०ग्र० में `मनोभावों` लिखा है तो इन्दु१९१४ के अंक में `मन:कष्ट का प्रयोग है । ० -इन शब्दों की सामासिकता अस्वाभाविक प्रतीत होती है।१-स०का०कवि विवबन्धु०तृ०सं०के०लिए१-सर०भाग१५ सं०१, पृ०२०- नाथूराम प्रेमी ।२-मा०का इति० -- मिश्रबन्धु--तृ०सं०के लिए संशोधित पृ०५०(प्रयोग-`प्रत्येक कथन के आधार पाद नोटों में दे दिए गए हैं ।)

(६) अधिकरण तत्पुरुष -- इस वर्ग के समास न्यून हैं --

(क) संस्कृत -- आत्मसात्, देशाटन, गृहस्थ, भक्त-शिरोमणि, शृंखला-बद्ध, कर्तव्यनिष्ठ, दिगन्त व्यापी, जल-विहार, हिन्दी अनुवाद ।

(ख) हिन्दी -- आपबीती, जगबीती

उपर्युक्त उदाहरणों में से अनेक समास बहुव्रीहि समास के अन्तर्गत भी लिये जा सकते हैं ।

३. कर्मधारय समास

(१) विशेषतावाचक कर्मधारय

इस ~~वयव~~ समास में सबसे अधिक प्रयोग पूर्व पद विशेषण सूचक समास के मिलते हैं। उत्तर पद विशेषण सूचक समासों के प्रयोग न्यून हैं--

(क) पूर्वपद विशेषण--

अत्यानन्द, कटूक्ति, बहूपार्जित+, नया लोक+

महोदधि, अलेपयोगी, सत्पुत्र, सत्सत्व, विद्वज्जन,

पाण्डुवर्ण, अल्पबुद्धि, प्रकृति-कोमल-कर ।

(ख) उत्तरपद विशेषण

जन-साधारण, अस्थिबहुल, नरवर,

(ग) उभयपद उपमा- अति चंचल, चिरचंचल चिर-स्थायी

(घ) संकर शब्द-- बेधड़क, बेसमझ, बदनाम, नेक चलनी

(२) उपवाचक कर्मधारय

द्विवेदी-युग में कविता का उत्कर्ष होने तथा साथ ही गद्य भाषा में भी काव्य भाषा की भांति लाक्षणिकता होने के परिणामस्वरूप तत्कालीन कर्मधारय समासों में विशेषतावाचक समासों में अधिक प्रयोग उपमावाचक समासों के हुए हैं । वास्तव में यह द्विवेदीयुगीन सामासिक शब्द प्रयोग की विशेषता है । इस वर्ग के समासों में उत्तरपद उपमा के उदाहरण अधिक मिलते हैं, यथा--

सुख शैय्या, विद्वद्रत्न, भवार्णव, अम्बर-पनघट

तारा-घट, उषा-नागरी, यशोधन, हृत्पटल,

+ - इन शब्दों की सन्धि सम्बन्धी विशिष्टताओं के लिए दे० सन्धि-पद्धति ।

१ - रूपक अलंकार प्रायः उपमावाचक कर्मधारय समास होते हैं ।

सुख समीर, आनन्द-गगन, दल-पुंज-दुकूल, जन-मानस-मोर

(ख) पूर्वपद उपमा-- पाषाण हृदय, घनश्याम, चन्द्रानन, वज्रहृदय

कमल लोचन, विधु-मुख

कर्मधारय समासों के अन्तर्गत दिये गये सम्पूर्ण उदाहरण विशेषण रूप में बहुव्रीहि समास भी हो सकते हैं ।

४. द्विगु समास

संख्यावाचक विशेषण और विशेष्य का योग होने के कारण यह कर्मधारय समास के अन्तर्गत लिया जा सकता है, यथा--

(क) संस्कृत -- त्रिलोक, त्रिशूल, नवरात्रि, षटरस, शताब्दी

(ख) हिन्दी-- अठखेलियां, तिगुना, दुअन्नी, दोपहर, दोबारा, चौरस

तत्कालीन हिन्दी में ये समास अधिक नहीं मिलते ।

५. द्वन्द्व समास

हिन्दी में तद्भव अथवा हिन्दी शब्दों से बने द्वन्द्व समास अधिक हैं । अत: द्विवेदी-युगीन खड़ीबोली में विषय-वर्णन अथवा भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविकता एवं सरलता के साधन के रूप में प्रयुक्त इस समास की अधिकता है । अर्थात् सामान्य विषयों से सम्बन्धित निबन्धों, कहानियों, पत्रों, जीवनियों तथा सरल एवं बोलचाल की भाषा में लिखी गई कविताओं में द्वन्द्व समासों[१] की भरमार है । रचना एवं अर्थ के अनुसार निम्नलिखित रूपों में व्यवहृत हैं --

(१) इतरेतर द्वन्द्व

`और` `तथा` आदि संयोजक अव्ययों का लोप करके बनाये गये कुछ प्रामाणिक शब्द इस प्रकार हैं --

(क) संस्कृत -- ऋषि-मुनि, सुख-दु:ख, अहर्निशि, देश विदेश

गंगा-यमुना, सूर्य-चन्द्रमा, नदी-तड़ाग आदि ।

(ख) हिन्दी-- जंगल-पहाड़, दिन-रात, आखा-चलनी, दौरी-दौरा

~~कठठ~~ कठौता-कठौती, नाप-जोख, पढ़ना-लिखना,

हाथ-पांव ।

१- लगभग सभी द्वन्द्व समास `द्विरुक्तादि` शब्दों की कोटि में आते हैं, अत: दे० द्विरुक्तादि `शब्द` भी ।

(ग) फ़ारसी -- मेहनत-मजूरी

(2) समाहार द्वन्द्व

इस वर्ग में वे द्वन्द्व समास आते हैं जो अपने पदों से अर्थ के अतिरिक्त समाहार (समूह) का अर्थ सूचित करते हैं। हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल द्विवेदी युगीन भाषा में इस समास की संख्या सबसे अधिक है, जिनमें अधिकांश तो हिन्दी के ही हैं। संस्कृत समासों का प्रयोग यत्र-तत्र ही मिलता है। रचना के अनुसार इस समास की निम्नलिखित कोटियां प्रस्तुत करने योग्य हैं--

(1) सहचर (समान अर्थ के) शब्दों से बने हुए --

(क) संस्कृत -- पूजा-अर्चना, दुःख-शोक, अस्त्र-शस्त्र
तर्क-वितर्क, छिन्न-भिन्न विच्छिन्न

(ख) हिन्दी-- खेल-कूद, घास-फूस, नाप-जोख, भूला-भटका
ठीक-ठेकाने, चलने-फिरने, लीप-पोत, दीन-हीन
कटाव-गढ़न, जान-पहचान, सीखना-समझना
चमक-दमक, हिलते-जुलते, घुल-मिल, टोला-मोहल्ला,
पास-पड़ोस, कुटुम-कबीला, लड़के बाले।

(ग) देशज -- तहस-नहस

(घ) फ़ारसी--आशिक़-माशूक़

(ङ) संकर-- (फ़ारसी+हिन्दी) -- चेहरे-मुहरे
(हिन्दी+फ़ारसी) -- नाच-तमाशे
(संस्कृत+फ़ारसी) -- तनोबदन

(2) अनुचर (मिलती-जुलती प्रकृति के) शब्दों से बने हुए--

(क) संस्कृत-- गृह-द्वार, वेष-भूषा, आचार-विचार, यत्र-तत्र[1]

(ख) हिन्दी--हेर-फेर, रङ्ग-ढङ्ग (रंग-ढंग), बढ़े-चढ़े, टूटी-फूटी
पढ़े-लिखे, सीधी-सादी, चाल-ढाल, छान-बीन,
बढ़ी-चढ़ी, बोलचाल, हरे-भरे, हंसना-बोलना, खाना-पीना,
गाना-बजाना।

1- यह समास अव्यय का भाव प्रकट करने के कारण अव्ययीभाव समास के अन्तर्गत भी आता है

(ग)(फ़ारसी)-- माल-मसाला, रद्दोबदल

(३) विलोम(विपरीतार्थक) शब्दों से बने हुए--

(क) संस्कृत-- अहर्निश+

(ख) हिन्दी-- दिन-रात+, थोड़ा बहुत, आगा पीछा, घटना-बढ़ना ।

(ग) फ़ारसी-- सुबहोशाम

(४) सार्थक-निरर्थक शब्दों से बने हुए--

हिन्दी-- कच्चे-बच्चे,गोलमाल,पूछताछ,ऊटपटांग, नियम-उवम,फेर-फार,बातचीत,बांट-बूट ।

(३) वैकल्पिक द्वन्द्व

(क) संस्कृत -- मतामत, पथ्यापथ्य,यश-अपयश,

(ख) हिन्दी-- चढ़ाव-उतराव,घटना-बढ़ना,बारह-तेरह

६. बहुव्रीहि समास --`द्वन्द्व` तथा अव्ययीभाव समासों को छोड़कर अन्य समासों की भांति बहुव्रीहि समास भी अधिकांशत: तत्सम ही होते हैं । उनकी तुलना में हिन्दी बहुव्रीहि बहुत न्यून हैं, उदाहरणार्थ --

(क) संस्कृत -- चिर चंचल, उदार-हृदय, हत-भाग्य,शान्त कान्त, सहयोगी,उत्तुंगकाय,बहुरूपिणी,चपलांग,वदनेन्दु, भक्त शिरोमणि,अस्थिबहुल, कमल लोचन, पाषाण -हृदय

(ख) हिन्दी -- अनसुना, प्रेमभरा, चारपाई,ऊपर लिखा, नीचे लिखा ।

इनके अतिरिक्त विभिन्न समासों के अन्तर्गत दिये गये उदाहरणों में से अधिकांश का प्रयोग बहुव्रीहि समास के अन्तर्गत भी हो सकता है । जैसे--

---

\+ - अव्ययीभाव समास के अन्तर्गत भी आते हैं ।

७. विशेष

समासों के प्रयोग सम्बन्धी प्रथम विशेषता तो यह है कि (पूर्व कथनानुसार) द्विवेदी-युगीन भाषा में समासों का बाहुल्य दिखाई पड़ता है । यह भी कहा जा चुका है कि यह सामासिकता एक तो तत्सम शब्दों की प्रचुरता के कारण उद्भूत हुई थी, दूसरे अंग्रेजी भाषा का सम्पर्क भी सामासिक पद्धति का कारणीभूत था । तात्पर्य यह है कि एक ओर, भाषा की शुद्धता की दृष्टि से संस्कृत के तत्सम शब्दों को तो सामासिक रूप में ग्रहण किया ही गया और दूसरे अंग्रेजी रचना के प्रभाव स्वरूप अंगीकृत सामासिक प्रवृत्ति का आधुनिकीकरण भी कर लिया गया, जैसे--

आर्ट- एक्जीबीशन	-- कला- प्रदर्शिनी,	एलोरा-आर्ट--	एलोरा - चित्र
गुड विशेज	-- शुभ-कामनाएं,	नाइट स्कूल--	रात्रि पाठशाला
संस्कृत-एक्जामिनेशन	-- संस्कृत-परीक्षाएं,	स्कूल-फी --	पाठशाला शुल्क
स्नो-फाल	--हिम-पात	हिन्दी-टीचर--	हिन्दी शिक्षक
हिन्दी-पोर्शन	-- हिन्दी अंश	ह्यूमन लाइफ--	मानव जीवन

इधर हिन्दी अथवा संस्कृत के तद्भव शब्दों से बने समास भी परम्परा से चले आ रहे थे, किन्तु तत्सम समासों की बहुलता की स्थिति में इनकी संख्या न्यून होने लगी, फिर भी अव्ययीभाव तथा द्वन्द्व समासों में हिन्दी शब्दों से अथवा संकर शब्दों के बने समास ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं । द्वन्द्व में तो संस्कृत समासों की संख्या अत्यन्त अल्प है । गहन विषयों पर प्रकट किए गए गम्भीर विचारों से सम्बन्धित लेखों तथा गूढ़ एवं छायावादी विचारों से पूर्ण कविताओं की भाषा संस्कृत के तत्सम समासों से पूर्ण है तथा जहां सरल एवं बोल-चाल की भाषा का प्रयोग किया गया है, वहां हिन्दी समासों की ही प्रचुरता है । समास-बहुला भाषा के प्रयोग करने वालों में तत्कालीन लगभग समस्त प्रतिनिधि लेखक आ जाते हैं। किसी-किसी की रचना में तो समासों की शृंखला सी दिखाई पड़ती है, यथा--

विपिन बीच विहंगम वृन्द का
कल निनाद विवर्द्धित था हुआ ।
ध्वनिमयी विविध विहगावली
उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी

अधिक और हुई नभ-लालिमा ।
दश दिशा अनुरंजित हो गई ।
सकल पादप-पुंजहरीतिमा ।
अरुणिमा निनिमज्जित सी हुई

अथवा

अरुणिमा-जगती-तल-रंजिनी
वहन थी करती अब कालिमा
मलिन थी नव-राग-मयी दिशा
अवनि को तमसावृत हो रही
तिमिर की यह भूतल-व्यापिनी ।
तरल-धार विकाश-विरोधिनी ।
जन-समूह-विलोचन के लिए ।
बन गई प्रतिमूर्ति विराम की ।
(प्रिय प्रवास-- हरिऔध)

इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी कृत `पथिक` की प्रथम चार चरणों प्र में प्रयुक्त समासों के उदाहरण भी उद्धृत करने योग्य हैं, यथा--

रवि-राग-पथी, अविराग-विनोद-बसेरा, प्रकृति भवन, बीचि-विचुम्बित तीरे ।

कवि की उक्त सम्पूर्ण रचना सामासिक पदों से पूर्ण है ।

द्विवेदी की प्रौढ़ कृति[१] `द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ` में अधिकांश लेखकों एवं कवियों

१- इस ग्रन्थ को `प्रौढ़ कृति` इसलिए माना जा सकता है, क्योंकि इस समय तक द्विवेदी-युगीन लेखकों एवं कवियों की लेखनी एक निश्चित साँचे में ढल चुकी थी । उक्त रचना में तत्कालीन प्रमुख साहित्यकारों के परिपक्व मस्तिष्क से निसृत विचारों से सम्बन्धित रचनाएं ही संगृहीत हैं, जिनमें लेखन सम्बन्धी परिपक्वता पूर्णरूप से विद्यमान है । अतः इस कृति को द्विवेदी युगीन साहित्यिक भाषा का `दर्पण` भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

की भाषा समास बहुला है । इसके अध्ययन से तत्कालीन समास-प्रयोग की प्रवृत्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । उक्त ग्रन्थ में ही संकलित हरिऔध की ही कृति से उद्धृत सामासिक शब्दों के उदाहरण द्रष्टव्य है --

`हरित तृण-राजि-विराजित भूमि `बहु-छबिधाम`,
`मुक्ता-दाम`, `दल-पुंज-दुकूल`, `जन-मानस-मोर`,
`तरु-वृन्द`, `फल-फूल`, `प्रकृति-कोमल -कर`,
छबि-प्याले आदि (उद्यान,पृ० १५८)

इसी प्रकार शुक्ल की गद्य-रचना से उद्धृत समास भी द्रष्टव्य हैं --

विभाव-विधायक, विभाव-पक्ष, कला-समीक्षा,
रसोद्बोधन, मनुष्य-जाति, लोक-हृदय, रस-दशा,
भाव-प्रदर्शक आदि ।

(साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद,पृ०१४८)

तत्कालीन भाषा के समास बहुला होते हुए भी एक विशेषता यह थी कि बहुपदिक अथवा अधिक जटिल शब्दों की सन्धियों से बने समासों का प्रयोग अब कम होने लगा था । यदि कुछ लम्बे सामासिक शब्दों का प्रयोग हुआ है तो वह भी पद्य की भाषा में ।

इनके अतिरिक्त सामासिक पदों के योग में,जो सन्धि सम्बन्धी विशेषतायें हैं,उन्हें `शब्द-योग-पद्धति` शीर्षक के अन्तर्गत परिलक्षित कराया जायेगा ।

३. द्विरुक्तादि शब्द

विस्तारित अथवा यौगिक शब्दों में तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं, जो निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत आते हैं --

१- समान शब्दों की पुनरुक्ति से निर्मित शब्द
२- समानुप्रास सार्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द
३- समानुप्रास सार्थक-निरर्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द
४- समानुप्रास निरर्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द
५- अनुकरणात्मक शब्द ।

रचनात्मक दृष्टिकोण से उक्त शब्द-भेद एक ही समूह के अन्तर्गत आते हैं, अत: इन्हें समष्टिरूप में 'द्विरुक्तादि' नाम से अभिहित किया गया है। हिन्दी में प्रयुक्त द्विरुक्तादि शब्दों में से बहु संख्यक शब्द हिन्दी के ही हैं। शैली की दृष्टि से भाषा में प्रवाह एवं गत्यात्मकता का संचार करने के उद्देश्य से द्विवेदी पूर्व अर्थात् भारतेन्दु-युग से ही हिन्दी में द्विरुक्तियों के प्रयोग की प्रथम वर्तमान रही है। अत: द्विवेदी-युग में भी एक ओर जहां संस्कृत की तत्सम शब्दावलियों से हिन्दी भाषा में गुरुत्व एवं गाम्भीर्य की अवतारणा की गई वहीं भावाभिव्यक्ति में प्रवाह एवं गतिशीलता को बनाये रखने के लिए परम्परागत द्विरुक्त शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति को भी अक्षुण्ण रखा गया। वस्तुत: इन द्विरुक्तियों का शैली एवं रचना की दृष्टि से तो महत्व है ही साथ ही इनमें भाव प्रकाशन की सुगमता निहित होने के कारण इनके महत्वांकन में और भी वृद्धि हो जाती है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी प्रसंग में 'स्थान-स्थान' अथवा 'जगह-जगह' शब्द युग्म का प्रयोग किया गया है तो इन शब्दों के जोड़े में न जाने कितने स्थानों अथवा जगहों के सामासिक समाहार का भाव-बोधन होता है।

इसी प्रकार छोटी-छोटी अथवा 'तनक-तनक' कहने पर वस्तु की न्यूनता का भाव प्रत्यक्षरूप से दृष्टिगोचर होता है।

सार्थक-निरर्थक शब्दों के योग में 'नियम-उवम' शब्द को लिया जाय तो यों तो 'उवम' शब्द का कोई अर्थ नहीं होता, किन्तु सार्थक शब्द 'नियम' के विस्तार का आधार बनकर यह 'उवम' शब्द एक बहुत बड़े अर्थ का संकेत करता देता है, अर्थात् केवल नियम ही नहीं, वरन् नियम से सम्बन्धित अन्य बातें भी।

तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्ति की क्षिप्रता एवं सुगमता के साधन के रूप में द्विरुक्तादि शब्दों का प्रयोग द्विवेदी युगीन साहित्यिक कृतियों की भाषा में भी पर्याप्त रूप से मिलता है। इनमें प्रथम प्रकार अर्थात् समान शब्दों की आवृत्ति से बने शब्द तो सबसे अधिक संख्या में प्रयुक्त हैं। इसके विपरीत अनुकरणात्मक शब्दों से बने शब्दों की संख्या हिन्दी के परिष्कार के साथ युग के उत्तरार्द्ध तक न्यून होती गई है (यद्यपि अब पुन: अनुकरणात्मक शब्द अधिक प्रयोग में आने लगे हैं--विशेषत: कहानियों में)। उदाहरणार्थ उपर्युक्त विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत आने वाले कुछ शब्द नीचे दिये जा रहे हैं --

१. समान शब्दों की पुनरुक्ति से निर्मित शब्द

क. संज्ञा शब्दों की पुनरुक्ति--

समय समय (पर), स्थान-स्थान (पर), देश-देश (में),
ग्रन्थ-ग्रन्थ(में), अङ्ग- अङ्ग(से) , मुख-मुख (में),
फल फल(में), घट घट(के), महाराज२, घर घर(में),
फूल फूल(में) , पत्तों पत्तों में , हाथोंहाथ, जगह-जगह आदि ।

उपर्युक्त शब्दों में से अधिकांश तो अव्ययोभाव समास ही हैं, क्योंकि इसका प्रयोग अव्ययवत् हुआ है । उक्त पुनरुक्त संज्ञा शब्दों में अधिकांश ब का संस्कृत के तत्सम रूप में होना द्विवेदी युग की विशेषता है ।

ख. सर्वनाम की पुनरुक्ति-- सर्वनाम शब्दों से बने `कुछ कुछ`, `कोई कोई`, `किन किन`, `उन उन`, `किसी किसी` , `अपने अपने` आदि युग्मों का प्रयोग विशेषणवत् हुआ है ।

ग. विशेषण शब्दों की पुनरुक्ति, यथा--

भिन्न भिन्न, उत्तम-उत्तम, मंद मंद, कोमल कोमल,
विलक्षण विलक्षण, अनेकानेक, बड़े बड़े, अच्छे अच्छे,
सीधी सीधी, पूरा पूरा, छोटे छोटे, कैसी कैसी,
लम्बे लम्बे, हरे हरे, नए नए, नई नई, लोनी लोनी,
काले काले, एक एक, दो दो, चार चार, जुदा जुदा आदि ।

घ. क्रियाविशेषण अथवा अव्यय शब्दों की पुनरुक्ति, यथा--

धीरे धीरे, कभी कभी, बार बार, किनारे-किनारे,
पास पास, जहां जहां, भीतर भीतर, बाहर-बाहर, नहीं
नहीं, नहीं २ अवश्य अवश्य, छि: छि: , जैसे जैसे ,
इर्द गिर्द आदि ।

ङ०- क्रिया शब्दों की पुनरुक्ति-- क्रिया शब्दों की पुनरुक्ति प्राय: कृदंतों के रूप में हुई है । बिना कृदंतीय रूप के साधारण रूप में इनकी द्विरुक्ति बहुत न्यून है, यथा--

बचाइये २, धैर्य धरिये २ आओ आओ

कृदंत रूप में कुछ द्विरुक्त शब्द निम्नलिखित है --

(१) पूर्वकालिक क्रिया द्योतक कृदंत के रूप में -- देख देख, पहचान पहचान पूछ पूछ, मार मार(कर), ढूंढ ढूंढ(कर) ।

(२) अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत के रूप में-- बदलते बदलते, चलते चलते, रटते रटते, पहुंचते पहुंचते, मारते मारते, डरतो डरतो ।

(३) पूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत के रूपमें -- पड़े पड़े, लिपटा लिपटा, बैठे बैठे, बैठे २ , सोए -सोए आदि ।

उपर्युक्त द्विरुक्तियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द-युग्म भी होते हैं, जिनके मध्य का, के, की, पर, से , ही , न ब आदि निपातों का आगमन होता है, जैसे --

टेढ़े का टेढ़ा, गांव का गांव, बात को बात, दिन पर दिन,
कम से कम, अच्छे से अच्छे, हरा ही हरा, आप ही आप,
कोई न कोई, खुद बखुद आदि ।

ये शब्द वस्तुत: वाक्यांश होते हैं, अत: ऐसे प्रयोगों के लिए `वाक्यांश` प्रकरण पर दृष्टि डालना भी अपेक्षित है । तत्कालीन कृतियों[१] की प्रवाहमयी भाषा में इस प्रकार को द्विरुक्तियों का प्रयोग अधिक हुआ है ।

च. विशेष

द्विवेदी युगीन पुनरुक्त शब्दों के संगठन में जो कुछ विशिष्टताएं परिलक्षित होतो हैं,उनमें से एक तो यह है कि शब्द की पुनरुक्ति के स्थान पर शब्द के आगे `२` लिखकर पुनरुक्ति का संकेत देने को जो प्रथा द्विवेदी जी के पूर्व से चली आ रही थी उसे द्विवेदी जी तथा उनके अनुयायियों ने त्रुटिपूर्ण मानकर शब्द की पुन: स्थापना को ही उचित ठहराया । अत:भारतेन्दु युगीन भाषा में जहां अधिकांश लेखकों द्वारा लेखन की क्षिप्रता एवं सुविधा के वशीभूत होकर द्विरुक्ति के स्थान पर `२` लिख दिया गया है,वहां द्विवेदी-युग में अधिकांश लेखकगण ने इस पद्धति का परित्याग कर शब्द की द्विरुक्ति शब्द द्वारा ही की है । `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आयी हुई पाण्डुलिपियों में द्विवेदी जी ने उक्त त्रुटि का सुधार सतर्कतापूर्वक किया है,यथा--

मूल	संशोधित
कभी २	कभी कभी
तरह २	तरह तरह
चूर २	चूर चूर

१- दे० निबन्ध नियम--जग०चतु० ।

इस प्रकार के सुधार सरस्वती की पाण्डुलिपियों में अधिक मिलते हैं ।

फिर भी कुछ लेखकों की स्वतन्त्र रचनाओं में `२` का प्रयोग मिल ही जाता है, यथा-- बचाइयेर, धर्य धरिये २, बैठे २, नहीं २, महाराज २ आदि (कुरुवन दहन- बदरीनाथ भट्ट) इसी प्रकार `इन्दु` पत्रिका में भी कहीं-कहीं इसके प्रयोग मिलते हैं । तत्कालीन वैयाकरण पं० कामताप्रसाद गुरु ने भी[१] व्याकरणिक दृष्टि से शब्द की पुनरुक्ति के स्थान पर `२` का प्रयोग अशुद्ध बताया है ।

दूसरी विशेषता जो द्विवेदी जी की प्रयोग-पद्धति से सम्बन्धित है, वह है शब्द की द्विरुक्ति के मध्य में संयोजक चिह्न(-) का न होना । द्विवेदी जी ने समान शब्द की आवृत्ति में न अपनी स्वतन्त्र रचनाओं में संयोजक चिह्न का प्रयोग किया है और न ही उनकी पत्रिका `सरस्वती` में इसका प्रयोग हुआ है(जब कि अन्य लेखक बहुत सतर्कता-पूर्वक संयोजक-चिह्न का प्रयोग करने लगे थे । तत्कालीन प्रमुख पत्रिकाओं--माधुरी,इन्दु आदि में भी समान शब्द की आवृत्ति में संयोजक चिह्न का प्रयोग किया गया है) यथा--

विलक्षण विलक्षण, भिन्न भिन्न,[२] ऐसी ऐसी
एक एक, जुदा जुदा,[३] देश देश,[४] ढूढ ढूढ

द्विवेदी जी की नीति का अनुसरण करने वाले लेखक बख्शी जी की कृतियों में भी संयोजक चिह्न का प्रयोग नहीं किया गया है, यथा--

फूल फूल में, फल फल में और पत्तों पत्तों में भी विच्छेद नहीं था।
रक्त बिन्दु बिन्दु होकर .... [५]

सुधाकर द्विवेदी की रचना `राम कहानी` में भी उक्त नीति का ही पालन किया गया है, किन्तु अन्य अनेक लेखकों ने सतर्कतापूर्वक ऐसे शब्दों के मध्य में भी विराम चिह्नों का प्रयोग कियाहै, उदाहरणार्थ--

----

१- दे० हिन्दी व्याकरण-- गुरु, पृ०४१३ । २- किराता०(पा०)-- भूमिका -- म०प्र० द्वि० । ३- सर०भाग ७ सं०२,पृ०६३-- म०प्र०द्वि० । ४- सर०भाग६ सं०१,पृ०१३(कविता)-- सत्यराम रतूड़ी । ५- पंचपात्र,पृ०६८ एवं ६६ ।

घर-घर, जगह-जगह[1]

मारते-मारते, ऐसा-ऐसो, अपने-अपने[2]

भीतर-भीतर, बाहर-बाहर[3]

लोनी-लोनी भोलो भोलो,काले-काले[4]

सरस्वती के विपरीत तत्कालीन पत्रिका `माधुरी` में इसका प्रयोग नियमानुसार हुआ है, जैसे --

उत्तम- उत्तम, भिन्न-भिन्न, पूरा-पूरा कभी कभी आदि

(द्विरुक्त शब्दों के योग में संयोजक चिह्न का प्रयोग अथवा अभाव के सम्बन्ध में `शब्द-योग-पद्धति` एवं विरामादि चिह्न के प्रकरण में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जायेगा ।)

२.समानुप्रास सार्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द

ये शब्द द्वन्द्व समास तथा अव्ययीभाव समास के अन्तर्गत आते हैं । तत्कालीन रचना-प्रक्रिया के अनुसार विभिन्न रूपों के अन्तर्गत प्रयुक्त शब्द इस प्रकार हैं--

क. संज्ञा -- घास फूस, नाच तमाशे, सभा समाज, ईंट-पत्थर खर-पतवार, साग-भाजी, सुध-बुध,दिन रात, ऊधम-दंगे, लड़ाई-भिड़ाई, धक्का मुक्की,सन्ध्या-वन्दना, आब-हवा ।

ख.विशेषण-- टूटे फूटे, थका-मादा, भूला-भटका, टूटे फूटे, भरा पूरा एक दो, हरी भरी ।

ग.क्रिया -- फूलते- फलते, आते-जाते, चलती फिरती लड़ना भिड़ना, लीप पोत ।

घ. अव्यय -- जहां तहां, बाहर-भीतर, इधर-उधर, जैसे तैसे आदि ।

(शेष उदाहरण दे० अव्ययीभाव तथा द्वन्द्व समास में)

१- हिन्दी -- बदरीनाथ भट्ट । २-द्वि०अभि०ग्रन्थ-- प्रेमचन्द। इस ग्रन्थ में सर्वत्र संयोजक चिह्न का प्रयोग । ३- द्विवेदी पत्रा०--`आचार्य देव` : गुप्त । ४- द्वि०अभि०ग्रन्थ(कविता) गोपाल शरण सिंह ।

समानुप्रास सार्थक शब्दों में प्राय: शब्द हिन्दी के ही हैं । इनके योग में भी संयोजक चिह्न के प्रयोग सम्बन्धी द्विविधता है । कुछ लेखकों ने तो संयोजक चिह्न का प्रयोग किया है, कुछ ने ह नहीं जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकट होता है । विस्तृत रूप के लिए दे० `सन्धि` तथा `विरामचिह्न` प्रकरण ।

३. समानुप्रास सार्थक-निरर्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द

द्विवेदी-युग में समान शब्दों की आवृत्ति की तुलना में ऐसे शब्दों का प्रयोग कम ही हुआ है । उदाहरणार्थ कुछ शब्द निम्नलिखित हैं --

क. संज्ञा -- हाव भाव, हेर-फेर, नियम उवम
ख. विशेषण -- टेढ़े मेढ़े, भोला भाला, गलत-सलत
ग. क्रिया -- पीट-पाट(कर), पूछते पाछते, उलट पुलट
घ. अव्यय -- आस -पास, अगल बगल, इर्द गिर्द

४. समानुप्रास निरर्थक शब्दों के योग से निर्मित शब्द

इन शब्दों की संख्या भी अधिक नहीं है । कुछेक शब्द इस प्रकार हैं --

ऊट पटांग, उथल-पुथल, लस्टम-पस्टम

५. अनुकरणात्मक शब्द

अनुकरणात्मक शब्द स्वयं में ही द्विरुक्त हह होते हैं अत: ये भी `द्विरुक्तादि` के अन्तर्गत ही लिये जा सकते हैं । वैसे द्विवेदी युग की परिमार्जित भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है । कुछ शब्दों के उदाहरण तो `शब्द-गुच्छ` के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं तथा कुछ निम्नलिखित हैं--

थर थर, चटका चटका, खट पट, गड़गड़ाहट आदि ।

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी कृत `अनुप्रास का अन्वेषण` से उद्धृत शब्द-युग्म प्रयोग के अधोलिखित दृष्टान्त अवलोकनीय हैं --

अनुसन्धान के अर्थ कमर कसते ही मुझे इर्द गिर्द, अगल बगल, अड़ोस पड़ोस, टोले मुहल्ले, घर बाहर, भीतर बाहर, आस पास, इधर उधर, नाते रिश्ते, बंधु बांधव, भाईबंद, भाई भतीजे, कुटुमकबीला पुत्र , बाल बच्चे, लड़केबाले, गोरूजाते, चुल्हेचक्की, घरद्वार, अपने बेगाने, मानमानेज, भाई बिरादरी, खानदान परिवार तमाम अनुप्रास ही अनुप्रास नज़र आने लगा । (निबन्ध नि०, पृ०२१)

४. शब्द-योग-पद्धति

जहां तक सामासिक एवं द्विरुक्तादि शब्दों के पदों के परस्पर संयोग की बात है, पारस्परिक रूप में निम्नलिखित पद्धतियों का अनुसरण व तो किया ही गया है,यथा--

१. शब्दान्त तथा शब्दादि-ध्वनियों को सन्धि द्वारा योग

(दे० वर्णविन्यास-सन्धि-योजना)

२.शिरोरेखा द्वारा योग

यथास्थान, यथाविधि, पितृहीन, कुलहीन, रूपहीन,
हतभाग्य,सारगर्भित, स्वर्गप्राप्त, हृदयहारक, पाण्डुवर्ण
उत्तुंगकाय,
कामचलाऊ, मदमाता,मनमाने, बोलचाल, गोलमाल,
खेल कूद, ऊटपटांग
मनसूबे, सबजज

३.संयोजक-चिह्न द्वारा योग -- संयोजक चिह्नों द्वारा योग किये गये समासों एवं द्विरुक्तादि शब्दों को तो द्विवेदीयुगीन भाषा में भरमार है(विशेष विवरण विशेषताओं के अन्तर्गत दिया जायेगा) किन्तु यहां कुछ ही शब्द उदाहरणरूप में दिये जा रहे हैं --

शोभाहीन[१] , हिन्दी-अंश, उदार-हृदय, शिक्षा-दान,
विजय-वैजयन्ती, शृंखला-बद्ध, मुक्ता-दाम, वाद-विवाद, रण-कंकण
रन-राह, धूल-धूसरित, विभाव पक्ष, अर्थ-संकेत, बिम्ब-ग्रहण,
कला समीक्षा, पाठ-ग्रहण-प्रणाली,गो-मास-भोजी,जन-मानस-
मोर, हरिततृण- राजि-विराजित, नव-कार्य-साधन-क्षमता,
उत्तम-उत्तम,भिन्न-भिन्न,लक्ष-लक्ष
आखा-चलनी,दौरा-दौरी,कठौता-कठौती,लीप-पोत,कच्चे-बच्चे,
छान-बीन,लुच्चा-लफंगा, चमक-दमक,नाप-जोख,बांट-चूंट,तेल-चावल
आटा,मेहनत-मजूरी आदि ।

---

१ ऐसे शब्द एक शिरोरेखा के अन्तर्गत भी आये हैं ।

४. विशिष्टताएं

किन्तु उक्त प्रयोगों की वर्तमानता में भी द्विवेदी-युग के योगदान-सम्बन्धी कुछ विशिष्टताएं उल्लेखनीय हैं --

१. जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है इस युग में शब्द-विस्तारण की प्रक्रिया अधिक होने के फलस्वरूप विभिन्न प्रकृति-प्रत्ययों एवं शब्दों अथवा पदों के योग से नवीन शब्दों की रचना अधिकाधिक संख्या में की गई । अत: उक्त युगीन भाषा में सन्ध्य शब्द अधिक मिलते हैं । सन्धियों में ध्वनि संयोग तथा संयोजक चिह्न द्वारा योग की शैलियों के अन्तर्गत निर्मित शब्दों के प्रयोग अधिक मिलते हैं । उनमें भी सबसे अधिक सामासिक एवं द्विरुक्तादि शब्द संयोजक चिह्न द्वारा योग के ही अन्तर्गत आते हैं ।

२. ध्वनियों की सन्धि-पद्धति के अन्तर्गत शब्द-निर्माण की प्रक्रिया सम्बन्धी इस युग की जो विशेषताएं हैं,उनमें प्रमुख तो यह है कि तत्कालीन शुद्ध हिन्दी के प्रयोक्तागण ने स्वर-सन्धि का प्रयोग अधिक किया है, जिसके अन्तर्गत कुछ ऐसे शब्दों का निर्माण हुआ है जो कृत्रिम होने के कारण कालान्तर में अधिक प्रचलित नहीं रह गये (यद्यपि अब फिर शुद्ध एवं संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रयोग के पक्षपाती कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति के वशीभूत होते दिखाई दे रहे हैं) यथा--`बहुधार्जित[1] ,कटूक्ति[2] रामगिर्याश्रम[3],अलौकिकालोकमयी[4] अत्यानन्द[5] नया लोक[6] आदि ।

इनके अतिरिक्त व्यंजन सन्धियों में भी कहीं-कहीं अस्वाभाविकतापूर्ण तथा यत्किंचित दोषपूर्ण प्रयोग मिल जाते हैं, यथा--

शरच्चन्द्रदास[7],जीवन्मुक्त[8],कविच्छा[9] आदि ।

१-भारत मित्र, २- सर०भाग५ सं०५,पृ०१४६ सम्पा० । ३- काव्यवाटिका(शीर्षक)लाला भगवानदीन,पृ०१५१ । ४- प्रियप्रवास--हरिऔध,पृ०२७३ । एक वर्ण संकर है दूसरे, दोषपूर्ण भी हैं ।५-पत्र - म०प्र० द्वि० । ६- सर०भाग ३२ खं०१ सं०१(कविता)-रा०च०उपा० उक्त संधि एक तो वर्ण संकर है दूसरे, दोषपूर्ण भी है । ७- रसज्ञ रंजन-म०प्र० द्वि०,पृ०२१ । ८-नंदन-निकुंज--हृदयेश,पृ०२७। जब कि सर०भाग५ सं०६५,पृ०१४१ सम्पादकीय में `जीवन` न को हलन्त न करके `जीवन-चरित` शब्द का ही प्रयोग किया गया है । ९-सर०भाग १५ खं०१ सं०४पृ० १७८(कविता) --केशवप्रसाद मिश्र ।

वाक्युद्ध[1], वाक्चातुरी[2] में संस्कृत नियम के अनुसार ।क। ध्वनि का ऊपर ध्वनि के साथ संयोग होना चाहिए, किन्तु यहां ध्वनियां पृथक ही हैं । यद्यपि ऐसे प्रयोगों को दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता है, किन्तु नवीनता की संज्ञा से तो अभिहित किया जा सकता है ।

यद्यपि द्विवेदी जी की आरम्भिक रचना `बोकन विचार रत्नावली` में सन्ध्य शब्दों की मोड़ में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं,[3] जो हिन्दी की स्वाभाविकता से दूर प्रतीत होते हैं यथा-- सभ्योपचार, यथावसर, असद्व्यवहार, सदस्तु, तद्वारा सन्मित्र आदि । किन्तु आगे चलकर द्विवेदी जी ने स्वयं अपनी लेखनी को परिमार्जित करके सन्ध्य शब्दों के उन रूपों को ग्रहण किया जो सर्वग्राह्य एवं बोधगम्य थे ।

३. जिन शब्दों को सन्धि सम्भव नहीं होती उन्हें एक ही शिरोरेखा के अन्तर्गत रखकर शब्द-योग करने में द्विवेदी युगीन भाषा में विशेष सतर्कता बर्ती गई है ।

४. आलोच्ययुगीन पदयोग सम्बन्धी विशेष ध्यानाकर्षण का विषय है, संयोजक चिह्नों द्वारा शब्द-योग । द्विवेदी-युग तक हिन्दी में विकसित हुए विराम चिह्नों का सुनिश्चित प्रयोग होने लगा था, अत: शब्दों के योग में संयोजक चिह्नों का विन्यास नियमित रूप से किया गया (जिसका द्विवेदीपूर्व युग में प्राय: अभाव पाया जाता है) ।तत्कालीन प्रतिनिधि लेखकों यथा महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिली-शरण गुप्त, गुलाबराय, गोपालशरण सिंह तथा अन्य की रचनाओं में इस पद्धति का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है । इस सन्दर्भ में कुछ लेखकों की कृतियों से लिए गए उदाहरण द्रष्टव्य हैं, जैसे--

उदार-हृदय, शिक्षा-दान, वैद्य विद्या, पाठ-ग्रहण-प्रणाली
संस्कृत-भिक्षक, गो-मांस भोजी, शृंखला-बद्ध आदि[4] ।

हरित तृण-राजि-विराजित, बहुछबि-धाम, मुक्ता-दाम
दल-पुंज-दुकूल, जन-मानस-मोर, तरु-वृन्द, फल-फूल,
प्रकृति-कोमल-कर, छबि-प्याले आदि[5] ।

विभाव-विधायक, विभाव-पक्ष, कला-समीक्षा
तथ्य-कथन, बिम्बग्रहण, अर्थ-ग्रहण, अर्थ-संकेत आदि[6] ।

१,२-- नन्दन निकुंज--हृदयेश, पृ०२६। ३- ध्वनि संयोग की शैली दोषपूर्ण है । ४-सा०सी०--म०प्र०द्वि०, पृ०३७-३८।५- द्वि०अभि०ग्र०(कविता) हरिऔध, पृ०१५२ ।६-द्वि०अभि०ग्र०(लेख)--शुक्ल, पृ०१४८-१४९ ।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण तत्कालीन साहित्यिक भाषा में भरे पड़े हैं । तद्युगीन प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं यथा सरस्वती, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, माधुरी, इन्दु आदि में नियमित रूप से संयोजक चिह्नों द्वारा पद-योग पद्धति का निर्वाह किया गया है। द्विवेदी युगीन भाषा की प्रौढ़ता का सूचक नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' की भाषा में नियमपूर्वक उक्त पद्धति का प्रयोग किया गया है ।

पुनरुक्त शब्दों में संयोजक चिह्न के प्रयोग के सम्बन्ध में एक विशेष बात जो ध्यान देने की है, वह यह है कि द्विवेदी तथा उनकी पत्रिका 'सरस्वती' की भाषा में समान शब्दों की द्विरुक्तियों में इस चिह्न के प्रयोग की आवश्यकता नहीं समझी गई है, यथा--

पृथक पृथक्, अच्छे अच्छे, अलग अलग, पद पद(पर)[1]
भिन्न भिन्न बदलते बदलते, ऐसे ऐसे, तरह तरह[2]
मन्द मन्द, देश देश, चलती फिरती, ढूंढ ढूंढ, कैसी कैसी।
लम्बे लम्बे, किसी किसी, रटते रटते, सीधी सीधी [3]

सुधाकर द्विवेदी की 'राम कहानी' में भी समान शब्दों की आवृत्ति में संयोजक चिह्न नहीं हैं, जैसे-- बड़े बड़े, धीरे धीरे, डरती डरती (पृ०४३) ।

जब कि अन्य लेखकों तथा पत्रिकाओं की भाषा में ऐसे स्थलों पर भी नियमपूर्वक इस चिह्न का प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ--

घर-घर, बैठे-बैठे, कहीं-कहीं, अपनी-अपनी, धीरे-धीरे[4]
भीतर-भीतर, बाहर-बाहर[5]
ऐसी-ऐसी, मारते-मारते, अपने-अपने, लोनी-लोनी,
भोली-भोली, काले-काले, पूरा-पूरा [6]
उत्तम-उत्तम, भिन्न-भिन्न, पूरा-पूरा, बार-बार, कभी-कभी[7]

१-रसज्ञ रंजन,--म०प्र० द्वि०। २- सा०सी०--म०प्र०द्वि० । ३-सर०भाग५,६,२५,२७ में प्रकाशित पार्वती नन्दन खत्री, सत्यशरण रतूड़ी, शुक्ल, नाथूराम प्रेमी, केशवप्रसाद मिश्र आदि की रचनाओं से । ४- हिन्दी--बदरीनाथ भट्ट।५-द्विवेदी पत्रा०--आचार्य देव--मैथिलीशरण गुप्त ।६-द्वि०अभि० ग्र०--प्रेमचन्द, गोपालशरण सिंह, शुक्ल आदि की रचनाओं से । उक्त ग्रन्थ में सर्वत्र यही पद्धति अपनाई गई है ।
७- माधुरी-वर्ष१(१९२३) खं०२,सं०१ ।

आलोच्य-युग में उक्त विराम चिह्न का प्रचलन इतना अधिक हुआ कि प्राय: अधिक सतर्कता के वशीभूत होकर कहीं-कहीं ऐसे शब्दों के मध्य में भी इसका प्रयोग हुआ है, जहां उसकी आवश्यकता नहीं थी अथवा जिन शब्दों के योग के लिए शिरोरेखा का एक होना आवश्यक था, यथा--

व्यक्ति-गत,[1] ऊपर-लिखा,[2] नीचे-लिखा,[2] बोल-चाल[3] आज-कल[4] आदि ।

-o-

१- स०भाग २२, खं०१, सं०१, पृ०३ `सम्पादक की विदाई--म०प्र० द्वि० ।

२- माधुरी वर्ष १ खं०२, सं०२, पृ०१७०-१७१।ब०

३- रसज्ञ रंजन -- म०प्र० द्वि० ।

४- द्वि०अभि० ग्र० -- काशीप्रसाद जायसवाल ।

३

पद-रचना

३

पदं - रचना

द्विवेदी-युग में साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के विकास के क्षेत्र में किये गये प्रयासों में सबसे महत्वपूर्ण अभियान था-- भाषा की व्याकरणनिष्ठता के प्रति किया गया उद्योग। जैसा कि पूर्व प्रकरणों, यथा-- द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की स्थिति तथा द्विवेदीयुग में हिन्दी की समस्याओं के अन्तर्गत बताया जा चुका है कि भारतेन्दु-युग में हिन्दी भाषा तथा साहित्य-सेवियों का प्रमुख लक्ष्य था-- हिन्दी भाषा का प्रचार एवं प्रसार करना, जिसकी पूर्ति के लिए हिन्दी की रचनाओं-ग्रन्थों आदि में वृद्धि तो हुई, साथ ही कुछ अंशों में व्याकरण में भी पूर्व की अपेक्षा अधिक सुधार हुआ, फिर भी भाषा व्याकरणिक दोषों से मुक्त नहीं हो पाई ।

आलोच्य-काल(द्विवेदी-युग) के पूर्व की भाषा के स्वरूप का अध्ययन करने से यह स्पष्टत: विदित होता है कि द्विवेदी-युग ने हिन्दी की व्याकरणिकता की ऊबड़-खाबड़ भूमि में पदार्पण कर उसे समरस तथा समतल बनाने का बहुधा प्रयत्न किया (यद्यपि सुधार के प्रयास पश्चात् भी कुछ अनियमितताएं वर्तमान थीं, किन्तु विकास की किरणों से उनकी सत्ता नगण्य होने लगी थी)। जिस समय आचार्य द्विवेदी ने भाषा के क्षेत्र में प्रवेश करके

भाषा-सुधार का शंखनाद गुंजित किया, उस समय व्याकरणिक शब्दों(यथा-- संज्ञा,सर्वनाम, विशेषण,क्रिया तथा अव्ययादि) के रूप-निर्धारण एवं प्रयोग सम्बन्धी अनेकों अनियमितताएं साहित्यिक हिन्दी के विकास-क्रम एवं उसकी सुनिश्चितता के बाधक-तत्व के रूप में वर्तमान थीं ।

उक्त अनियमितताओं के कई कारण थे --

एक कारण था-- पूर्वकाल से व्यवहृत भाषा को बिना किसी हस्तक्षेप के प्रयोग करने की प्रवृत्ति का होना । दूसरा कारण था-- हिन्दी भाषा का अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आना अथवा अन्य भाषाओं का हिन्दी के सम्पर्क में आना तथा उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दादिक समावेश होना । हिन्दी पर विभिन्न भाषाओं के प्रभाव का विशेष परिणाम यह हुआ कि एक ओर कुछ अंश तक दूसरी भाषाओं के व्याकरण का अनुगमन करने तथा दूसरी ओर अन्य भाषाओं के शब्दों को अपने व्याकरण के अनुरूप ग्रहण करने में उसमें द्विरूपता उत्पन्न हो गई । तीसरा कारण था-- बहुधा साहित्यकारों में हिन्दी -व्याकरण के पर्याप्त ज्ञान का अभाव ।

उपर्युक्त कारणों की वर्तमानता में विकसित हिन्दी के विभिन्न व्याकरणिक पहलुओं का परिष्कार कर द्विवेदी-युग में साहित्यिक भाषा को कहां तक शुद्ध एवं परिमार्जित रूप देने का प्रयास किया गया तथा उस प्रयास की अन्तिम परिणति क्या थी, यही इस प्रकरण का वर्ण्य-विषय है । अध्ययनार्थ विषय-वस्तु का विभाजन अधोलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है --

१. संज्ञा, २. सर्वनाम, ३. विशेषण, ४. क्रिया, ५.अव्यय ।

३.१. संज्ञा

संज्ञा शब्द की पदबद्धता उसके लिंग,वचन एवं कारक पर आधारित रहती है,अत: आलोच्ययुगीन संज्ञापदों के निर्माण तथा प्रयोग सम्बन्धी अध्ययन के अन्तर्गत उसके लिंग, वचन एवं कारक पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है,क्योंकि युग-विशेष के पूर्व तथा आरम्भिक-काल में हिन्दी के प्रयोग में उक्त विषयों से सम्बन्धित अनेक अनियमितताएं एवं द्विविधताएं वर्तमान थीं, जिनके कारण उक्त युग में लिंग,वचन तथा कारक सम्बन्धी बहुत से मत-मतान्तर उपस्थित हो गए थे(दे० खण्ड -- एक--`द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्याएं') ।

१. लिंग-निर्धारण

द्विवेदी-युग में सबसे अधिक भ्रान्तियां संज्ञा एवं विशेषण शब्दों के लिंगप्रयोग के क्षेत्र में फैली हुई थीं। युग पूर्व से ही वर्तमान ये भ्रान्तियां अथवा द्विविधताएं कालविशेष में और भी संक्रामक हो गईं। इन द्विविधताओं के कई कारण थे --

(१) लेखकों की प्रयोग सम्बन्धी निजी धारणा तथा स्वच्छन्द प्रक्रिया-- हिन्दी का एक ही लेखक किसी शब्द को स्त्रीलिंग में लिखता था तो दूसरा पुल्लिंग में। इसी तरह कोई लेखक किसी शब्द को पुंल्लिंग मानता था तो दूसरा उसे स्त्रीलिंग रूप में प्रयोग करना उचित समझता था। पं०जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने अपने `हिन्दी-लिंग-विचार` नामक निबन्ध में तत्कालीन हिन्दी, संस्कृत तथा उर्दू भाषा के मर्मज्ञों के मतों के आधार पर हिन्दी के लिंग-प्रयोग- सम्बन्धी जो विवेचन प्रस्तुत की है, उसमें तत्कालीन लिंग-निर्धारण-सम्बन्धी द्विविधताओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे--`आहट` शब्द राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा लिखित `शकुन्तला`नाटक की १९०४ में मुद्रित प्रति में पुंल्लिंग रूप में प्रयुक्त है,यथा--`हमारा आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंकते`* तो बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित १९०८ई० म की प्रति में स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त हुआ है, यथा-- `हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके`* इसी प्रकार `झंझट` शब्द को लिया जा सकता है, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा संपादित हिन्दी-कोश में स्त्रीलिंग बताया गया है और आज भी उसी रूप में प्रचलित है, किन्तु द्विवेदी युग में लिंग सम्बन्धी नियम की अनिश्चितता में कुछ लेखक इसे पुंल्लिंग मानते थे तो कुछ स्त्रीलिंग। देवीप्रसाद मुंसिफ, बाबू बालमुकुन्द गुप्त,पद्म सिंह शर्मा और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी प्रभृति लेखक इसके पुंल्लिंग रूप से सहमत थे,किन्तु कामताप्रसाद गुरु, मैथिलीशरण गुप्त तथा प्रेमचन्द आदि के विचार से यह स्त्रीलिंग शब्द था। गुरु ने चतुर्वेदी जी के पत्र में इसे स्त्रीलिंग मानने का ही निर्देश दिया है(दे० खण्ड-- एक - २.४. लिंग-निर्धारण में गुरु के पत्र का अंश)। इसी प्रकार कुंज,गेंद,खोज आदि शब्द यद्यपि स्त्रीलिंग हैं,फिर भी लिंग संबंधी निश्चित अवधारणा के पूर्वकुछ लोग पुंल्लिंग मानते थे तथा तकिया, पहिया जैसे पुंल्लिंग शब्दों को स्त्री लिंग समझ बैठे थे। `समय` को भी भारतेन्दु की परम्परा को मानने वाले लेखक स्त्रीलिंग मानते थे, किन्तु बाद में सर्वत: पुंल्लिंग ही माना गया। `नशा` को पं० सुधाकर द्विवेदी ने अपनी एक कृति में स्त्रीलिंग के रूप में प्रयोग करते हुए उसी की पादटिप्पणी में

----

* जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी : `निबन्ध नियम- हिन्दी लिंग विचार`, पृ०१०९ से उद्धृत

लिखा है कि ` बहुत से लोग पुल्लिंग मानते हैं` और वास्तविकता यही है कि बाबू मैथिलाशरण गुप्त ने स्वकृति `भारत-भारती` (पृ०१२०) में उक्त शब्द को पुल्लिंग रूप में ही प्रयोग किया है, यथा-- `अंधा बना देता अहो । करके बधिर मद का नशा` ।

(२) विभिन्न भाषाओं के नियम-भेद के कारण विभिन्न रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति, जैसे -- अंजलि, अग्नि, आत्मा, ऋतु, जय, तान, देह, धातु, महिमा, मृत्यु, राशि, वायु, विधि, शपथ, संतान, समाज आदि शब्द संस्कृत में पुल्लिंग माने जाते हैं, किन्तु हिन्दी में स्त्रीलिंग अत: आलोच्य-युग में भी कुछ रूढ़िवादी लेखक अग्नि, आत्मा, मृत्यु, वायु जैसे शब्दों को परम्परागत नियम के आधार पर पुल्लिंग ही मानते थे, किन्तु कालान्तर में बहुसंख्यक द्वारा स्वीकृति नीति के अनुसार इन्हें स्त्रीलिंग रूप में ही प्रयोग किया गया । इसी प्रकार धर्मशाला, पाठशाला, चर्या, माला, मर्यादा जैसे स्त्रीलिंग शब्दों को उर्दू को ज्ञाता पुल्लिंग में प्रयोग करते थे । आज भी उर्दू भाषा-भाषियों द्वारा `चर्या` का पुल्लिंग रूप ही गृहीत है ।

इधर कबीला, हलिया, तायफा, दफा, मूंग, पीतल, कलम[१] आदि शब्द उर्दू में पुल्लिंग हैं, किन्तु हिन्दी में इन्हें स्त्रीलिंग माना जाता रहा। अत: उक्त युग में इनके प्रयोग में भी विविधता थी ।

(३) स्थानीय प्रयोगों का प्रभाव -- जैसा कि जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की निम्नलिखित उक्तियों से चरितार्थ होता है--

> `हिन्दी के लिंग-विभाग पर प्राय: सभी प्रांतवाले कुछ न कुछ अत्याचार करते हैं, पर बदनाम हैं बेचारे बिहारी बन्धु । इसका कारण समझ में न आया । अगर बिहार में `हाथी विहार करती है` तो पंजाब से `तारें आती हैं` और युक्त प्रान्त के काशी-प्रयाग में लोग `अच्छी शिकारें मारकर लम्बी सलामें` करते हैं । अगर बिहार में `दही[२] खट्टी` होती है, तो मारवाड़ में `बुखार चढ़ती है`, `जनेऊ उतरती` है, और कानपुर की जुही के मैदान में `बूंद गिरता` और `रामायण पढ़ा जाता` है । बिहार में `हवा चलता` है तो झालरापाटन में `नाक

१- विविध भाषाओं का ज्ञान रखने वाले महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी व्याकरण के अनुकूल `कलम` शब्द को स्त्रीलिंग रूप में ही स्वीकार किया था-- अच्छे अच्छे ग्रन्थ उनकी कलम से (सा०सी०,पृ०८७) और आज उसे हिन्दी वालों ने पूर्णरूपेण स्त्रीलिंग मान लिया है । २- यद्यपि आज उत्तरप्रदेश, दिल्ली व आगरे की बोली में भी `दही` प्राय: स्त्रीलिंग रूप में ही प्रयुक्त होता है ।

कटता है और मुरादाबाद में 'गोलमाल मचता है'। फिर भी बिहार ही क्यों बदनाम है[1]।

उपर्युक्त विवेचनों तथा हिन्दी की तत्कालीन समस्याओं के अन्तर्गत दिये गये मत-मतान्तरों से इतना तो निश्चय हो ही जाता है कि द्विवेदी-युग में लिंग के निर्धारण के सम्बन्ध में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस क्षेत्र में व्याप्त असमताएं उत्तरोत्तर समाप्त होती गईं और इस प्रकार हिन्दी लिंग-निर्धारण में एक निश्चित आदर्श की स्थापना हुई।

२. वचन-विचार

जहां तक वचन की बात है, हिन्दी में केवल दो वचन होने के कारण वचन-निर्धारण में किसी प्रकार की भ्रान्ति होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि जो 'एक' है, वह एकवचन है और जो एक से अधिक है, वह 'बहुवचन' है। इतना अवश्य है कि पदों के प्रयोग में प्राय: भाषा प्रयोग की अनभिज्ञता अथवा असावधानी के कारण एक वचन के लिए बहुवचन तथा बहुवचन के लिए एकवचन के पद-रूपों का प्रयोग कर दिया जाता है, यथा-- प्रत्येक वस्तुओं, दो फ़ील, दो उंगली आदि। ऐसे प्रयोगों से सम्बन्धित विशिष्टताओं का उल्लेख रूप के अंतर्गत किया जायेगा।

३. कारक एवं परसर्ग-योजना

संज्ञा के रूप निर्माण से सम्बन्धित तीसरा और महत्वपूर्ण प्रसंग है, कारक अथवा वाक्य में संज्ञा शब्दों का स्थान निरूपण। द्विवेदी-युग के पूर्व से ही कुछ संस्कृत की समास-पद्धति के प्रभावस्वरूप तथा कुछ अंग्रेजी के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दी कारकों के प्रयोग में (विशेषत: परसर्ग सम्बन्धी) कुछ ऐसी अनियमितताएं आ गई थीं, जिनका सुधार हिन्दी में व्याकरणिक सुनिश्चितता स्थापित करने की दृष्टि से आवश्यक था। ये अनियमितताएं थीं-- परसर्गों का लोप हो जाना, अनुपयुक्त परसर्ग का आना, अनावश्यक परसर्ग का प्रयोग आदि, जिनके उदाहरण 'द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की स्थिति' प्रकरण के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं।

१- जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी : 'हिन्दी-लिंग-विचार', पृ०१६७।

इनके अतिरिक्त कारकों की प्रकृति से प्रत्यय सटाकर लिखे जायं अथवा हटाकर, इस प्रश्न ने द्विवेदी-पूर्व-युग से आरम्भ होकर आलोच्ययुग तक आन्दोलन का रूप ले लिया था। इस विषय को लेकर जो भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये गये उनका उल्लेख खण्ड एक में 'द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्यायें' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

जहां तक प्रथम प्रकार की अनियमितताओं अथवा कारक के प्रयोगगत दोषों की बात है, द्विवेदी-युग में क्रमश: उनका अभाव पाया जाता है। यदि कुछेक प्रयोग मिलते भी हैं तो वे उन्हीं लेखकों की कृतियों में मिलते हैं, जो या तो हिन्दी का अल्पज्ञान रखने वाले हों अथवा जो अपने पुराने संस्कारों से उबर नहीं पाये हों। तात्पर्य यह है कि आलोच्य-युगीन परिष्कृत भाषा में कारक सम्बन्धी त्रुटियों का भी परिष्कार हो गया दिखाई देता है।

जहां तक विभक्तियों को सटाकर अथवा हटाकर लिखने का प्रश्न है, द्विवेदी-युग में यह द्विविधता बनी ही रही, जैसे--

१. सटाकर लिखने की पद्धति--

व्याकरणका, दावेसे, सरलताकी	(भारतमित्र)
बननेके, अंजलिमें	(विहार बन्धु)
शब्दोंके, प्रयोजनमें	(हितवार्ता)
मेजमेंसे, विस्तृतरूपसे	(वेंकटेश्वर समाचार)

२. प्रकृति- प्रत्यय अलग अलग लिखने की पद्धति--

भाषा का, विषय में, अर्थ का	(सरस्वती)
भाषाओं से, संयोग पर, हिन्दी में	(भारतजीवन)
पोथियों में, योग से	(अभ्युदय)
परिश्रम से, मनुष्यों का, देश में, प्रभाव से	(भारतबन्धु)

यह अवश्य है कि इस युग के अधिकांश विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संस्कृत एवं हिन्दी की रूपात्मक प्रक्रिया में अन्तर रह होता है, अत: हिन्दी में प्रकृति-प्रत्यय-अलग-अलग लिखे जाने चाहिए (दे० द्विवेदी युग में हिन्दी की प्रमुख समस्यायें)।

हिन्दी की व्याकरणिक प्रकृति के अनुरूप द्विवेदी-युग में भी कारक प्रयोग की दो प्रक्रियायें प्रचलित रही हैं-- १- परसर्ग रहित, २- परसर्ग सहित।

परसर्ग रहित प्रयोग केवल कर्ता कर्मकारक के ही होते हैं, यथा--

कर्ता-- कवि इंगित करता है, लड़के यह कैसे समझ सकेंगे ? भाषा हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है ।, जिस प्रकार माली पौधों को सींचकर.... आदि ।

कर्म -- मैं दूर खड़ा उसका कार्य देख रहा था ।, भिखारी रोटी मांग रहा था ।, उसे कठपुतली नचाने का शौक था, राम ने उसे दो अच्छी पुस्तकें दीं ।

किन्तु परसर्ग सहित प्रयोग सभी कारकों (कर्ता से लेकर सम्बोधन तक) के होते हैं, यथा--

कारक	परसर्ग	पद प्रयोग
कर्ता	ने	ब्रजवासी दास ने
कर्म	को	ढोंगी को, बहुओं को
करण	से, द्वारा	कुआकुल से भरे, जल से सींच रहे हैं, सेना द्वारा घेर लिया गया आदि ।
संप्रदान	को, के लिए	भिक्षुक को कुछ सिक्के देकर, रक्षा के लिए
अपादान	से	इसका मत पिता से भिन्न है, झंझटों से दूर है ।
सम्बन्ध	का, के, की	शैव मत का, जाति के धक्के से, धर्म की
अधिकरण	में, पै, पर	गोरखपुर में, भू पै पड़ा शृंग पै दीप्त है सिर पर ।

सम्बोधन कारक के पूर्व हे, अरे, ओ, ऐ, हाय, अयि आदि चिह्न विकल्प से लगाये जाते हैं, यथा-- हे राम । अरे दुष्ट ।, ओ बाबा, ऐ जवानो हाय पापी, अयि सखी आदि ।

यह तो रही संज्ञा के लिंग, वचन तथा कारक योजना की बात । उक्त तीनों अंगों के आधार पर निर्मित जिन पद-रूपों का प्रयोग द्विवेदी-युग में सामान्यत: मिलता है, वे इस प्रकार हैं --

----

४. रूप

(१) अकारान्त शब्द-- ← पुंल्लिंग

साधारण रूप (परसर्ग रहित अथवा मूल रूप)		सम्बन्धकीय रूप (परसर्गीय अथवा तिर्यक्रूप)	
एक वचन	बहुवचन	एक वचन	बहुवचन
ग्रन्थ	ग्रन्थ	ग्रन्थ	ग्रन्थों
ताम्रपत्र	ताम्रपत्र	ताम्रपत्र	ताम्रपत्रों
मत	मत	मत	मतों
विषय	विषय	विषय	विषयों
आफिस	आफिस	आफिस	आफिसों+
मकान	मकान	मकान	मकानों
	मकानात[१]		होटलों+

← स्त्रीलिंग

बात	बातें	बात	बातों
बहन	बहनें	बहन	बहनों
रिपोर्ट	रिपोर्टें+	रिपोर्ट	रिपोर्टों+
	राहें[२]		

(२) आकारान्त शब्द-- ← पुंल्लिंग

देवता	देवता	देवता	देवताओं
राजा	राजा	राजा	राजाओं
	राजे°		राजों°
	सूरमें°		

साधारण रूप		सम्बन्धकीय रूप	
एक वचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
लड़का	लड़के	लड़के	लड़कों
इशारा	इशारे	इशारे	इशारों

०विशिष्ट-- `सुरमा` शब्द अर्द्ध तत्सम है, अत: इसके साधारण रूप-बहुवचन में विकार नहीं होना चाहिए, किन्तु `हरिऔध` ने `सुरमें` शब्द का प्रयोग किया है, यथा--[1]

कहीं सुरमें हैं न जावट गवाते.

इसी प्रकार `राजा` शब्द के तत्सम होने के कारण विकृत नहीं होता, किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं बदरीनाथ भट्ट की कृतियों में प्रयुक्त उक्त रूपों से तो यह विदित होता है कि विकल्प से उक्त प्रयोग भी प्रचलित थे,[2] यद्यपि जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने अपनी रचना `निबन्ध नियम` में संगृहीत व्याख्यान `अभिभाषण` में बहुवचन `राजे` अशुद्ध माना है[3] तथा `द्विवेदी` एवं `भट्ट` की अन्य रचनाओं में भी `राजा`, `राजाओं` का ही प्रयोग है । अपवाद स्वरूप हरिऔध ने `देवता` का बहुवचन `देवते` का बहुवचन `देवते` लिखा है।[4]

स्त्रीलिंग

गाथा	गाथाएं	गाथा	गाथाओं
भाषा	भाषाएं	भाषा	भाषाओं
विशेषता	विशेषताएं	विशेषता	विशेषताओं

(३) इ-- ईकारान्त--

पुंल्लिंग

कवि	कवि	कवि	कवियों कविओं+
ऋषि	ऋषि	ऋषि	ऋषियों
माली	माली	माली	मालियों

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)

स०१, पृ०५९ ५८)।१- सर०भा० १९१६।२- द्विवेदी जी के प्रयोग के लिए सर०भाग५सं०५पृ० १४५ तथा १४७ एव भट्ट जी के प्रयोग के लिए `हिन्दी- पृ०६ ।३-

४-चुभते चौपदे, पृ०१ ।

←स्त्रीलिंग

साधारण रूप		सम्बन्धकीय रूप	
एक बहुवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
वृत्ति	वृत्तियां	वृत्ति	वृत्तियों
जाति	जातियां	जाति	जातियों
स्त्री	स्त्रियां	स्त्री	स्त्रियों
बोली	बोलियां	बोली	बोलियों, बोलियो+
कापी	कापियां	कापी	कापियों

(४) उ-उकारान्त--

←पुंल्लिंग

बन्धु	बन्धु	बन्धु	बन्धुओं
साधु	साधु	साधु	साधुओं
बाबू	बाबू	बाबू	बाबुओं

←स्त्रीलिंग

बहू	बहुएं	बहू	बहुओं

अन्य शब्दों के रूप भी आधुनिक व्याकरण के सामान्य नियमों के अनुकूल हैं। सम्बोधन कारकों के प्राय: सुष्ठ एवं संस्कृतनिष्ठ रूप देखने को मिलते हैं।

एकवचन -- प्रभो।, सीते[१]। शकुन्तले। सुते[२]।

अयि सखि[३]। हे मातृभाषे[४]।, हे हे कृषक सुजान[५]

अहे सुख दुख के सहचर[६], अये द्युतिमान[७]

+ - रूपान्तरण में 'य' श्रुति के लोप हो जाने के उदाहरण सुधाकर द्विवेदी की 'रामकहा' तथा अन्य रचनाओं में मिलते हैं। वस्तुत उनकी यही शैली हो रही है। किन्तु सर०भाग ७ सं०२ में प्रकाशित द्विवेदी जी के लेख भाषा और व्याकरण में पृ०६२ पर कवियों के प्रयोग यह विदित होता है कि आरम्भ में आपकी भी प्रवृत्ति कुछ ऐसी ही थी। यद्यपि अन्य स्थलों पर अथवा रचनाओं में 'कवियों' शब्द का ही प्रयोग किया है। भारतेन्दुयुगीन भाषा में 'य' श्रुतिलोप के प्रयोगहरण अधिक मिलते हैं। १- काव्यवाटिका--रा०च०उपाध्याय। २- काव्यवाटिका--शकुन्तला कोविद--गुप्त, पृ०१३३,१३४। ३- प्रियप्रवास--हरिऔध।

४- सर०भाग १५ सं०१,पृ०१७७ (कविता) केशवप्रसाद मिश्र। ५-सर०भाग१६ संख्या ५,पृ०२३१(कविता) लोचनप्रसाद। ६,७--मौन निमन्त्रण (कविता) पंत।

बहुवचन -- देशवासियो,[1] सभ्यो[2]
हे आर्य-कुल देवियो[3]

मैथिलीशरण गुप्त ने संस्कृत रूप में सम्बोधनों का प्रयोग अधिक किया । `भारत भारत (पृ०१२०) में किए गए भाववाचक संज्ञाओं के अधोलिखित सम्बोधन कारकीय रूप द्रष्टव्य हैं--

शिक्षे ! तुम्हारा नाश हो ....

लो मूर्खते ! जीती रहो .....

यद्यपि उक्त प्रयोगों में पूर्ण संस्कृतनिष्टता होने के कारण इन्हें शुद्ध माना जाता है किन्तु हिन्दी में अब ऐसे प्रयोग अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं ।

अपरिवर्तित संज्ञाओं के बहुवचन रूप में प्राय: बहुत्व सूचक शब्द `गण`, `लोग`, `जन`, `वर्ग` आदि का योग करके अकारान्त शब्दों के समान उनका रूपान्तर करके प्रयोग करने की प्रथा भी हिन्दी में वर्तमान है । द्विवेदी-पूर्व-युग के प्रणेता भारतेन्दु ने तो मानवेतर प्राणियों एवं निर्जीव पदार्थ सूचक शब्दों के साथ भी इसका योग किया है(दे० द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की स्थिति १.२.ख.२.१.(३)) किन्तु द्विवेदी-युग में संज्ञा शब्दों के साथ इन शब्दों के योग का प्रचलन धीरे-धीरे न्यून होता दिखाई दे रहा है और यदि प्रयोग किया भी गया है तो मानव जाति सूचक शब्दों के साथ ही जैसे--

कवि गण पुत्रगण, देवता लोग, पड़ोसी लोग, प्रेमीजनों,
साधारणजनों, नारीजनों विद्यार्थी वर्ग आदि ।

फिर भी कुछेक लेखक ऐसे भी हैं, जिनकी भाषा में मानवेतर प्राणियों के प्रति भी ऐसे प्रयोग हो ही गये हैं,यथा`पक्षीगण उड़ गये[4], पक्षीगण अपने मृदुल कण्ठ से प्रभात का यशोगान कर रहे हैं[5]।

जैसा कि `वचन-विचार` के अन्तर्गत कहा जा चुका है, वचनात्मक प्रयोग की अनियमितताओं में एक अनियमितता है प्राय: बहुवचन रूप के स्थान पर एकवचन रूप का प्रयोग अथवा

१-सर०भाग १५ सं०१,पृ०२६--नाथूराम जोशी । २- काव्यवाटिका--रावण की विचारसभा--रा०च० उपा० । ३- सर०भाग १५ सं० १,पृ०१६(कविता)--कु० लीलावती । ४- भा०भा०--गुप्त । ५- सर० हीरक जयन्ती विशेषांक(कहानी)ले०भगवानदास ।६- चित्राधार--प्रसाद ।

कभी-कभी एकवचन के स्थान पर बहुवचन रूप का प्रयोग । ऐसी अनियमितताएं भारतेन्दुयुगीन भाषा में अधिक देखने को मिलती हैं । स्वयं भारतेन्दु की एक-दो नहीं अनेक कृतियों में ऐसे प्रयोगों (विशेषत: प्रथम प्रकार के) उदाहरण प्रचुरता से विद्यमान है (दे० खण्ड - एक-द्विवे० पूर्व-खड़ीबोली की स्थिति १.२.ख.२.१.(३)) ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा-सुधार-कार्य में पदार्पण करने के समय भी उक्त प्रकार की त्रुटियां हिन्दी में वर्तमान थीं, जिनकी आलोचना करते हुए आपने उनके सुधार की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया । द्विवेदी जी ने १९०६ की सरस्वती में प्रकाशित अपने `भाषा और व्याकरण` नामक महत्वपूर्ण निबन्ध में तत्कालीन कुछ लिंग, वचन एवं कारक सम्बन्धी अशुद्धियों को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है --

`परन्तु वह रिपोर्ट हमको देखने में नहीं आई`

`उनका रचा हुआ कई एक ग्रन्थ पढ़ने का संयोग पड़ा है`

`बाबू साहिब ने.... कई एक दोहा बना दिया है`

`भारतवासियों ने पश्चिमीय देश से वर्णमाला लाया ...`

`जितनी वर्णमाला का हाल ज्ञात हुआ है`

`विशाल देव का पुत्र सारंगदेव ने...`

`पुर के इसी यात्रा में`

(इन उदाहरणों को उन्होंने तत्कालीन प्रकाशित किसी पुस्तक से उद्धृत किया है) (स० भाग ७, सं० २, पृ० ६६)

द्विवेदी ने सरस्वती १९०५ के नवम्बर अंक में प्रकाशित `भाषा और व्याकरण` शीर्षक निबन्ध में काशीनाथ जी के एक वाक्य को उद्धृत करके उसमें वचन सम्बन्धी संशोधन किया । उसपर जो आलोचना की गई, उसके उत्तर में आपने स० भाग ७(१९०६) के `भाषा और व्याकरण` शीर्षक निबन्ध में अपने जो विचार प्रकाशित किये उन्हें उन्हीं के शब्दों में यहां उद्धृत किया जा रहा है --

`काशीनाथ के एक वाक्य को उद्धृत करके हमने लिखा कि `दोनों

तरह जुबांदानी फाड़ी गई --"द्विवेदी जी के इस बात का तो मगज़ नहीं है कि बीस साल पहले जो हिन्दी बोली जाती थी अब उसमें कुछ अन्तर हो गया है ।....काशीनाथ के समय के लोग दोनों पुस्तकें ही लिखते थे, 'दोनों पुस्तकें नहीं ''

इसपर द्विवेदी जी ने आलोचक के कथन का खण्डन करते हुए लिखा है--

'दो के लिए एक वचन लिखना बीस साल पहले नहीं अब भी रायज है । बल्कि यों कहना चाहिए कि अब उसमें कुछ तरक्की हुई है । अब तो तीन तक के लिए एक ही वचन लिखा जाता है उम्रभर जिसने मारवाड़ी जुबांदानी की सोहबत की है, उसका एक ताजा जुम्ला देखिए --'तीन देवी की मूर्तियों द्वारा तीनों देश समझाये गये हैं ।'१३.९.१९०६'

उक्त निबन्ध में यहां वचन सम्बन्धी अनियमिता के और भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं,यथा--

'पांचवीं, चौथी और पहली वार्षिक श्रेणी के लड़कों पर जुर्माना किया गया है'

'उनमें से कितने ही हलवाइयों की दुकान की मिठाई नहीं खाते'

आदि ।

उक्त प्रकार की व्याकरणिक अशुद्धियों की ओर द्विवेदी जी द्वारा संकेत किया जाना इस बात का प्रमाण है कि इन दोषों को सुधारने के लिए द्विवेदी-युग में सक्रिय कदम बढ़ाया गया , जिसका परिणाम यह हुआ कि आलोच्य युग के अन्तिम चरण तक भाषा का जो निखरा हुआ रूप सम्मुख आया, उसमें ये त्रुटियां नाममात्र की ही रह गईं ।

३.२.सर्वनाम

यद्यपि सर्वनाम संज्ञा के स्थान पर प्रयोग किया जाता है, किन्तु इसका रूपान्तर लिंग के अनुसार न होकर केवल वचन और कारक के अनुसार होता है । संज्ञापदों की भांति द्विवेदी युगीन सर्वनाम पदों की रचना भी प्राय: आधुनिक खड़ीबोली की प्रकृति के अनुकूल ही है, यथा--

१.रूप

(१) पुरुषवाचक सर्वनाम

(१) उत्तमपुरुष 'मैं'

	एक वचन	बहुवचन
साधारण रूप	मैं	हम
सम्बन्धकीय रूप	मैं(ने)	हम(ने,को,से, में,पर)
	मुझ(को,से में,पर)	
(केवल कर्म तथा सम्प्रदान)	मुझे	हमें
	मे(रे लिए,रा रे री)	हमा(रे लिए,रा,रे,री)

(२) मध्यम पुरुष 'तू'

साधारण रूप--	तू	तुम
सम्बन्धकीय रूप--	तू	तुम
	तुझ	
	तुझे	तुम्हें
	ते	तुम्हा

मध्यम पुरुष 'तू' में सम्पूर्ण परसर्ग उत्तमपुरुष के परसर्गों की भांति ही लगते हैं, किन्तु अन्य भेदों में सम्बन्धकारक का परसर्ग रा,रे,री न होकर का, के, की(संज्ञा की भांति) लगता है ।

(३) अन्य पुरुष 'वह'

साधारण रूप	वह	वे
संबंधकीय रूप	उस	उन,उन्हों
	उसे	उन्हें

(२) निजवाचक सर्वनाम 'आप'

निजवाचक सर्वनाम केवल एक वचन में 'आप' तथा 'अप' रूप में व्यवहृत होता है । द्विवेदी युगीन भाषा में इस सर्वनाम का प्रयोग नियमित रूप से हुआ है । इसके स्थान पर कहीं कहीं 'निज' तथा 'स्वयं' शब्द भी व्यवहृत है । आदर के रूप में मध्यम पुरुष में भी 'आप' का प्रयोग होता है, किन्तु वचन तथा कारक के अनुसार रूप में परिवर्तन नहीं होता

(3) निश्चयवाचक सर्वनाम `वह` तथा `यह`

`वह` का रूप पुरुषवाचक सर्वनाम के वर्ग में दिया जा चुका है। `यह` का रूप भी उसी के अनुसार है, यथा--

साधारण रूप --	यह	ये
सम्बन्धकीय रूप--	इस	इन, इन्हों
	इसे	इन्हें

(4) सम्बन्धवाचक सर्वनाम `जो`, `सो`

जो

साधारण रूप --	जो	जो
संबंधकीय रूप --	जिस	जिन, जिन्हें
	जिसे	जिन्हें

`सो`

साधारण रूप --	सो	सो
सम्बन्धकीय रूप --	तिस	तिन, तिन्हें
	तिसे	तिन्हें

(5) प्रश्नवाचक सर्वनाम `कौन`, `क्या`

कौन

साधारण रूप --	कौन	कौन
संबंधकीय रूप --	किस	किन, किन्हों
	किसे	किन्हें

`क्या`

साधारण रूप --	क्या	क्या

सम्बन्ध० `क्या` का सम्बन्धकीय रूप `काहे` होता है, किन्तु इसका प्रयोग साहित्यिक खड़ीबोली में नहीं के बराबर है। नितान्त बोल-चाल की भाषा में ही इसका प्रयोग हुआ है।

(6) अनिश्चयवाचक सर्वनाम `कोई`, `कुछ`

`कोई`

संबंधकीय रूप-- किसी किन्हीं

कुछ

इसका रूप परिवर्तित नहीं होता

२. रूप एवं प्रयोग सम्बन्धी कुछ विशेष विवरण

उपर्युक्त सार्वनामिक रूपों में से कुछ रूप ऐसे हैं, जिनका प्रचलन द्विवेदी-युग में न्यून हो गया था अथवा समाप्तप्राय था । उनमें से एक तो पुरुषवाचक को छोड़कर अन्य सर्वनाम, शब्द, यथा--`यह`, `वह`, `सो`, `जो`, `कौन` के कर्ताकारक बहुवचन का परसर्गीय रूप `इन (ने)`, `उन(ने)`, `जिन(ने)`, `किन(ने)` आदि का प्रयोग है । उक्त रूपों में इन शब्दों का प्रयोग पुरानी हिन्दी में अथवा कुछ अंशों में भारतेन्दुयुगीन भाषा (विशेषत: भाषा के निर्माता स्वयं भारतेन्दु एवं भट्ट ब की कृतियों की भाषा) में वर्तमान मिलता है तथा उसी परम्परा से परम्परित द्विवेदी-युग की कुछ आरम्भिक कृतियों में भी ये रूप मिलते हैं[१] । किन्तु युग परवर्ती रचनाओं में कर्ता के रूप `इन्हों`, `उन्हों`, `तिन्हों`, `जिन्हों`, `किन्हों` आदि का ही प्रयोग हुआ है और आज भी यही प्रयोग शिष्ट माना जाता है ।

सर्वनामों के उक्त सम्बन्धकीय रूपों (यथा-- `इन्हों`, उन्हों`, `जिन्हों` आदि) का प्रयोग द्विवेदी पूर्व की भाषा का व्याकरण लिखने वालों ने कर्ताकारक के अतिरिक्त अन्य कारकों में भी करना का विधान किया है, जैसे-- गंगाप्रसाद ने `उन्हों`, `इन्हों`, `किन्हों` का प्रयोग सब रूपों में बताया है, किन्तु `जिन्हों`, `तिन्हों` `किन्हों` का प्रयोग केवल कर्ताकारक में बताया है[२] । सुधाकर द्विवेदी ने `उन्हों`, `इन्हों` का प्रयोग सब कारकों में उचित ठहराया है । इनके अतिरिक्त अन्य किसी सर्वनाम शब्द का इन रूपों में प्रयोग नहीं बताया है[३] । किन्तु गुरु ने अपने व्याकरण में केवल कर्ताकारक के लिए ही उक्त रूपों

१- द्विवेदी जी ने सरस्वती में प्रकाशित अपने निबन्ध `भाषा और व्याकरण` में `इन` तथा `इन्हों` आदि की द्वैधता की ओर भी संकेत किया है, किन्तु कौन सा रूप उपयुक्त है, इसका निर्णय न करके केवल द्विविधता के प्रति आपत्तिमात्र प्रस्तुत की है, इतना अवश्य है कि उन्होंने अपनी भाषा में `इन्हों`, `जिन्हों`, `उन्हों` आदि रूपों का ही प्रयोग किया है । (दे०सर०भाग७सं०२, पृ०६८--भाषा और व्याकरण) ।

२- दे० हिन्दी व्याकरण सन् १९१२, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद

३- दे० हिन्दी भाषा का व्याकरण सन् १८६०, बनारस ।

के प्रयोग का विधान बताया है[१]। (क्योंकि भाषा के अनुसार व्याकरण में भी परिवर्तन होता रहता है, अत: उक्त लेखकों द्वारा दिए गए सार्वनामिक रूपों का परस्पर तुलना से तत्कालीन भाषा के विकास का सहज अनुमान लगाया जा सकता है ।) द्विवेदी-युग के आरम्भ में कुछ लेखकों ने उक्त रूपों का अनियमित प्रयोगकिया है, यहां तक कि स्वयं द्विवेदी जी की आरम्भिक रचनाओं में भी यत्र-तत्र ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं,[२] किन्तु आगे चलकर भाषा का जो परिनिष्ठित रूप निर्मित हुआ उसमें उक्त रूप केवल कर्ता कारक के लिए प्रयोग में लाए गए । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ~~सर्वसाम~~ कर्ताकारक बहुवचन के लिए उक्त रूप ही शेष रहा ।

दूसरा है--`जो` का नित्य सम्बन्धी सर्वनाम `सो` तथा उसके विभिन्न रूपों का प्रयोग । इस सर्वनाम का प्रयोग भी द्विवेदी-युग की आरम्भिक रचनाओं में यदि मिलता भी है तो परवर्ती भाषा में क्रमश: कम होता गया है । इसके स्थान पर आगे चलकर प्राय: `वह` तथा उसके अन्य रूपों का ही प्रयोग होने लगा था, यथा--

जो कामकाज पाकर मूंड मुड़ा लेते हैं वे उस काम से बाज आवैंगे। ।[३]
जो पढ़े-लिखे .... है वे किया ही करते हैं ।
जिस समय वह पहुंचा उस समय मिसिर जी अवस्थी जी से कुछ कह रहे थे[४]

`सो` का प्रयोग यदि कहीं हुआ भी है तो केवल साधारण(पर कीं रक्षित) रूप में । इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले कहा जा चुका है, `तिस` के साथ अधिकरण कारक के प्रत्यय `पर` के योग से निर्मित `तिसपर` शब्द का अव्यय रूप में प्रयोग अधिक मिलता है अथवा समानुप्रास द्विरुक्तादि शब्द के रूप में भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग हुआ है,यथा--`जिस-तिस का जिस-तिस को` आदि किन्तु ऐसे प्रयोग अधिक नहीं मिलते ।

सर्वनामों के प्रयोग में वचनात्मक दृष्टि से यह विकल्प पाया जाता है कि सभी सर्वनामों के बहुवचन के रूप एक वचन के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं । ` मैं ` के बहुवचन के रूप `हम`का

१- दे० हिन्दी व्याकरण--गुरु । २- दे०स०हो०अंक--कविता खण्ड,पृ०२५ द्विवेदी जी द्वारा १९०१ में रचित कविता । ३- भारतजीवन ११-१२-१९५० से उद्धृत स०भाग ७ भाषा और व्याकरण,पृ०६७ । ४- `अनाथ पत्नी`-- भग०बाजपेयी,पृ०९६ ।

एकवचन के अर्थ में प्रयोग तो जैसे जैसे हिन्दी में परिनिष्ठता आती गई, वैसे -वैसे लिखित भाषा से समाप्त हो गया(बोलचाल में आज भी बहुधा जन बहुवचन रूपों को ही अपनाते हैं) किन्तु `तू`,`यह`,`वह`,`सो`,`जो` के बहुवचन रूप `पात्र,भाव एवं परिस्थिति`के अनुसार एकवचन में भी प्रयुक्त होकर रूढ़ हो गये हैं । उदाहरणस्वरूप`तू` सर्वनाम को लिया जा सकता है । इसके एकवचन के विभिन्न कारकीय रूपों का प्रयोग अपने से बहुत छोटे व्यक्ति अन्तरंग मित्र, अत्यधिक प्रियजन(श्रद्धा के पात्र भी) कोप के भाजन तथा निरादृत पात्र के प्रति ही किया जा सकता है, किन्तु बहुवचनीय रूपों का प्रयोग प्रायः सभी पात्रों के लिए ही होता है । उक्त स्थितियों में द्विवेदी युगीन `तू` सर्वनाम के कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं--

(क) एकवचनीय रूपों का प्रयोग--

मां कह एक कहानी,
बेटा समझ लिया क्या तूने मुझको अपनी नानी
तू है हटी मानधन मेरे सुन उपवन में बहुत सबेरे
तात भ्रमण करते थे तेरे जहां सुरभि मनमानी`[१]
(पुत्र के प्रति प्रयुक्त)

`क्या भैया की भी सहायता कर सकता है तू इस काल
तुझको अपना ही विचार कर इस प्रकार कहता हूं मैं,
तुझे ज्ञात है तुझसे जैसी तुष्ट सदा रहता हूं मैं ।।`[२]

(अन्तरंग सहयोगी के प्रति)

`लड़के ने मुस्कराकर पूछा--तेरी कुड़माई हो गई ?`
`जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही बड़ा आम है`[३]
(समवयस्का के प्रति)

`पर तू न कुछ संकट सहे, `तेरा निरादर देश में`
`भूलकर तुझको`[४] (मातृभाषा के प्रति)

----

१ यशोधरा -- गुप्त । २- स०भाग ११ सं०६,पृ०४२६(कविता)-- गुप्त ।
३ `उसने कहा था` -- गुलेरी । ४- स०भाग १५ सं०१,सं० ४, पृ०१७७(कविता) -- केशवप्रसाद मिश्र ।

'शंकर जादायार तुझे मैं जान चुका हूं'[1] (शंकर के प्रति)

'तू एक असभ्य जंगली आदमी है । यही समझ कर मैंने तेरे वचन सह लिये'[2] (असभ्य व्यक्ति के प्रति-- तिरस्कार के अर्थ में)

(ख) बहुवचनीय रूपों का एक वचन में प्रयोग-- तू के बहुवचन रूपों का एकवचन में प्रयोग सर्वथा मिलता है,यथा--

तुमने तो इतना अधिक पढ़ा है, तुम तो सब कुछ समझते हो,
मैं तुम्हें क्या समझाऊं[3] ?
आगे व पढ़ना तो अब तुम्हारा हो न सकेगा[4]

(उपर्युक्त उदाहरणों में 'तुम' के सभी रूप हैं,अत: अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं समझी गई)

तुम की भांति ही वह, यह ,जो , सो आदि के बहुवचनीय रूप ही प्राय: एकवचन में प्रयुक्त हैं ।यथा--

वह -- वे जैसे शूरवीर थे वैसे प्रकाण्ड पण्डित भी[5]
उनका वह सब सुन्दर लीलामय भाव तिरोहित हो चला[6]
अपनी इस कला पर उन्हें बड़ा गर्व होता होगा । पर क्या
उन्होंने कभी यह सोचा होगा कि मैं क्या कर रहा हूं[7] ?

यह -- ऐसा अनुमान होता है कि ये वही हर्ष हैं जिनकी राजधानी
कन्नौज थी[8]
इन्हें मत खाना ये विद्याधर राजपुत्र जी मूतवाहन हैं[9]
इन्होंने 'भारत के व इकताली वर्ष' और वेलिंगटन का उदय'
नाम की दो पुस्तकें लिखी है[10] ।
इनको हिन्दी में मात्रा कहते हैं[11]

जो -- ये वही हर्ष है * जिनकी राजधानी कन्नौज थी[12]
जिन्होंने दया से मेरे बदले अपना शरीर आपके अर्पण कर दिया है[13]

१-सर०भाग२१ सं०३,पृ०१३०(कविता)-नाथूरामशंकर शर्मा।२-किराता०--द्विवेदी,पृ०२६।३,४-अनाथ पत्नी--भगवती प्र०बाजपेयी,पृ०६७।५- हि०अभि०ग्र०,पृ०२८६।६- चिन्ताधार-प्रसाद,पृ० १०-११।७-अनाथ पत्नी- भगवती प्र०बाजपेयी,पृ०६३।८-हि०अभि०ग्र०२८६।९-सर०भाग१५ख०१ सं०५,पृ०२८२।१०- वही ।११-हिन्दी व्याकरण--गंगाप्रसाद,पृ०१३४। १२-हि०अभि०ग्र०,पृ०२८६ १३-सर०भाग१५ ख०१ सं०५पृ०२८२ ।

बहुवचनीय रूपों का एकवचन में प्रयोग किये जाने के कारण इनके बहुवचनात्मक अर्थ में 'लोग' अथवा 'सब' शब्द का योग करके कारक के अनुसार विभिन्न स्वरूप देने की प्रथा भी द्विवेदी-युग के पूर्व से ही वर्तमान रही है तथा द्विवेदीयुगीन भाषा में भी इन शब्दों को बहुवचन का सूचक बनाया गया है, यथा--

हमलोग क्या जानती थीं कि वह डाइन वाटिका में आ बैठी है[1]

हमलोगों का उक्त विचार तो पूरा न हुआ[2]

मुझे विश्वास है कि तुम लोगों की सहायता से मैं....[3]

जब वेलोग निकट आ गये[4]

जो लोग साहित्य में परीक्षा का काम करते हैं[5]

द्विवेदी-युग में सर्वनाम के प्रयोग में एक विशेष परिवर्तन यह भी देखने में आता है कि युगपूर्व के लेखकगण प्राय: अन्यपुरुष सर्वनाम 'यह', 'वह' के एकवचन का रूप बहुवचन के लिए भी प्रयोग में लाते थे, यथा--

'वह तीनों व्यक्ति', 'यह सभी बातें', 'जिन्हें आवश्यकता होगी वह स्वयं चले आयेंगे' आदि ।

किन्तु व्याकरणिक दृष्टि से दोष-पूर्ण होने के कारण इस प्रकार के प्रयोग द्विवेदी-युग में बहुत ही न्यून हो गये थे । युग के आरम्भ में ही प्रकाशित अपने लेख 'भाषा और व्याकरण' में स्वयं द्विवेदी जी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि 'वह' और 'यह' के बहुवचन 'वे' और 'ये' अब अधिक लिखे जाने लगे हैं प्रमाण के लिए उन्होंने तत्कालीन पत्रिकाओं यथा--'भारतजीवन,' 'हिन्दोस्थान', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'समालोचक', नवीनभारत आदि से उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, उनमें से कुछेक उदाहरण इस प्रकार हैं--

'वे दूसरे के लिए उपदेशक कब होंगे'

जो काम काज न पाकर मूड मुडा लेते हैं वे उस काम से बाज आवेंगे

(भारत जीवन ११-१२-१९०५)

वे बंगाली भाषा के अक्षर से मिलते जुलते हैं

वे रानियां बहुत सी पुस्तकों को लायी थीं

(हिन्दोस्थान२८-१२-१९०५)

१-सर०हीरक जयन्ती विशे०(कहानी)-भगवानदास,पृ०१६७। २-द्वि०अभि०ग्र० अप्रौढ हिन्दी--रामचन्द्र वर्मा,पृ०३३५।३- शिवासाधना--हरिकृष्ण प्रेमी,पृ०५। ४-सर०भाग१५,सं०१,सं०१, पृ०२८२। ५-पत्रपात्र--बख्शी,पृ०१४६।

इसी सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने यह भी बताया है कि `हरिश्चन्द्र ने भी अपनी पुस्तकों में `ये` और `वे` का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं बहुलता से किया है ।`[1]

द्विवेदी जी ने स्वयं भी `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं में उक्त प्रयोग से सम्बन्धित त्रुटियों का संस्कार किया है, जैसे --

मूल -- वह नैन जो कभी २ प्रेम नीर से भर जाते हैं ।।
सुधार-- वे नैन जो कभी कभी प्रेम नीर से भर जाते हैं।।[2]

कारकीय प्रयोग में संज्ञा के परसर्गों को सटाकर अथवा प्रकृति से अलग लिखने से संबंधित विवाद तो उठ खड़ा हुआ था, किन्तु सर्वनामों के विषय में प्राय: सभी लेखक प्रकृति-प्रत्यय सटाकर लिखने के मत से भी सहमत थे ।कतिपय लेखकों के लेखन में यदि कुछ भेद था भी, जैसे --

उनको, जिसका, उन्होंने[3] आदि

तो पत्रिका में प्रकाशित करते समय सुधार दिया गया अथवा लेखक ने स्वयं अपनी लेखनी में सुधार कर लिया ।

३.३.विशेषण

जहां तक विशेषण-शब्दों की पद-रचना की बात है, आलोच्य युग में इनका निर्माण भी प्राय:(कुछ अपवादों को छोड़कर) व्याकरण के नियमानुसार ही हुआ है, यथा--

३.१. विकारी विशेषण

१. मूल सार्वनामिक विशेषणों का रूपान्तर विशेष्य के वचन एवं कारक के अनुसार होना, यथा--

साधारण रूप		सम्बन्धकीय रूप	
एक वचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
यह बात	ये महात्मा	इस सन्त मत के	इन प्रान्तों में
वह लड़का	वे वचन	उस व्याकरण में	उन शब्दों से

१- द्विवेदी जी के उपर्युक्त विचारों के लिए दे० सर०भाग ७सं०२,भाषा और व्याकरण, पृ०६७-६८ । २- सर०पां० १६०५- कन्यादान(कहानी)ले०-पूर्ण सिंह ।३-सर०पां०१६०६,शब्द-रहस्य-ब्रजनन्दनसहाय।४- सर०पां०१६१६ सन्त निहाल सिंह-लन्दन से भेजा गया निबन्ध ।

इसी सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने यह भी बताया है कि `हरिश्चन्द्र ने भी अपनी पुस्तकों में `ये` और `वे` का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं बहुलता से किया है।`[1]

द्विवेदी जी ने स्वयं भी `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं में उक्त प्रयोग से सम्बन्धित त्रुटियों का संस्कार किया है, जैसे --

मूल -- वह नैन जो कभी २ प्रेम नीर से भर जाते हैं ।।
सुधार-- वे नैन जो कभी कभी प्रेम नीर से भर जाते हैं।।[2]

कारकीय प्रयोग में संज्ञा के परसर्गों को सटाकर अथवा प्रकृति से अलग लिखने से संबंधित विवाद तो उठ खड़ा हुआ था, किन्तु सर्वनामों के विषय में प्राय: सभी लेखक प्रकृति-प्रत्यय सटाकर लिखने के मत से भी सहमत थे।कतिपय लेखकों के लेखन में यदि कुछ भेद था भी, जैसे --

उनको, जिसका, उन्होंने[3] आदि

तो पत्रिका में प्रकाशित करते समय सुधार दिया गया अथवा लेखक ने स्वयं अपनी लेखनी में सुधार कर लिया।

३.३.विशेषण

जहां तक विशेषण-शब्दों की पद-रचना की बात है, आलोच्य युग में इनका निर्माण भी प्राय:(कुछ अपवादों को छोड़कर) व्याकरण के नियमानुसार ही हुआ है, यथा--

३.१. विकारी विशेषण

१. मूल सार्वनामिक विशेषणों का रूपान्तर विशेष्य के वचन एवं कारक के अनुसार होना, यथा--

साधारण रूप		सम्बन्धकीय रूप	
एक वचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
यह बात	ये महात्मा	इस सन्त मत के	इन प्रान्तों में
वह लड़का	वे वचन	उस व्याकरण में	उन शब्दों से

१- द्विवेदी जी के उपर्युक्त विचारों के लिए दे० सर०भाग ७सं०२,भाषा और व्याकरण, पृ०६७-६८ । २- सर०पा० १९०५- कन्यादान(कहानी)ले०-पूर्ण सिंह ।३-सर०पा०१९०६,शब्द-रहस्य-व्रजनन्दनसहाय।४- सर०पा०१९१६ सन्त निहाल सिंह-लन्दन से भेजा गया निबन्ध ।

साधारण रूप		सम्बन्धकीय रूप	
एक वचन	बहुवचन	एक वचन	बहुवचन
जो दशा	जो सेवक	जिस मार्ग पर	जिन सन्तों के
कौन बात	कौन सी बातें+	किस बात में	किन किन बातों+ का
कोई पुस्तक	कोई कोई स्त्रियां	किसी पात्र का	किन्हीं परिस्थितियों में

'कुछ' सार्वनामिक विशेषण में विकार नहीं होता, यथा--

कुछ आशय	कुछ पुस्तकें	कुछ कारण से	कुछ कवियों को

२. अकारान्त सभी विशेषणों का अपने विशेष्य के लिंग, वचन एवं कारक के अनुसार रूपान्तरित होना। इस रूपान्तरण में साधारण रूप के बहुवचन एवं सम्बन्धकीय रूप के दोनों वचनों में 'ए' तथा स्त्रीलिंग के सभी रूपों एवं वचनों में 'ई' में परिवर्तित होने का विधान है, यथा--

(क) यौगिक सार्वनामिक विशेषण--

साधारण रूप		सम्बन्धकीय रूप	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
ऐसा चमत्कार	ऐसे पात्र	ऐसे व्यक्ति को	ऐसे पात्रों का
ऐसी प्रकृति	ऐसी बातें	ऐसी मनोवृत्ति को	ऐसी मनोवृत्तियों से

(अन्य सभी यौगिक सार्वनामिक विशेषणों के रूप भी उपर्युक्त रूपों के अनुसार ही हैं।)

(ख) गुणवाचक विशेषण --

अच्छा चमत्कार	अच्छे छन्द	घने वन में	थोड़े छन्दों ने
सच्चा प्रेम	नये नये ग्रन्थ	छोटे लड़कों ने	अच्छे कवियों ने
सस्ता काम	झूठे सच्चे भेद	पुराने जमाने से	पुराने कपड़ों से
लम्बी नाक	छोटी जातें	चितेरी विद्या का	पुरानी वस्तुओं की
ओछी प्रकृति	नई नई बातें	पुरानी चाल की	भड़कीली वस्तुओं को

+ -'कौन' तथा 'कोई' का प्रयोग प्रायः एक वचन में होता है। बहुवचन में द्विरुक्त अथवा वाक्यांश रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।

(ग) संख्यावाचक विशेषण --

(i) क्रमबोधक (इसमें बहुवचन नहीं होता)

साधारणरूप		सम्बन्धकीय रूप	
एक वचन	बहुवचन	एक वचन	बहुवचन
पहला राजा	--	दूसरे बेटे ने	--
तीसरी सदी		सत्रहवीं शताब्दी	

(ii) आवृत्ति सूचक

दुगुना धन	बीसगुने मनुष्य	दुगुने उत्साह से	चौगुने लोगों ने
दुगुनी शक्ति	चौगुनी इमारतें	चौगुनी शक्ति से	कई गुनी रचनाओं से

(iii) परिमाणवाचक

सारा सौख्य	सारे बाजार	सारे जहां से	सारे गुणों पर
सारी विद्या	सारी सहेलियां	सारी पुस्तक में	सारी रचनाओं में
कितना भेद	कितने फल	कितने प्रेम से	कितने लोगों ने
कितनी भक्ति	कितनी पुस्तकें	कितनी हिकमतसे	कितनी बातों में

३. सम्बन्ध बोधक विशेषण (सम्बन्ध बोधक संज्ञा तथा सर्वनाम शब्द सम्बन्धी शब्द के विशेषण होते हैं)के प्रत्ययों में आकारान्त विशेषणों की भांति विकार होना, यथा--

राजा का पुत्र	राजा के पुत्र	राजा के बाग में	जीवन के मानदण्डों का
पूर्व जन की बात	जीवन की कठिनाइयां	मरने की कल्पनासे	जीवन की कठिनाइयों से
अपना घर	अपने विचार	अपने घर में	अपने लोगों से
अपनी परिस्थिति	अपनी भावनाएं	तुम्हारी स्थिति में ।	उनकी बातों से

४. समता सूचक के अर्थ में आकारान्त प्रत्ययों में विकार होना, यथा--

फूल सा कोमल, माखन से मुलायम, मिठाई सी मीठी

तुम जैसा मनुष्य, ध्रुव जैसे बालकों, सीता जैसी नारी

मधु सरीखा मीठा, तुम सरीखे छलिये ने, उस सरीखी कुटिल स्त्री से आदि ।

५. संस्कृत विशेषण शब्दों में स्त्रीलिंग विशेष्य के अनुसार विकार होना--

यद्यपि यह शैली पूर्णत: संस्कृत की है,जो द्विवेदी-युग में युगपूर्व से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में व्यवहृत होती आ रही थी । द्विवेदी-युग में हिन्दी भाषा को सरल एवं सुबोध बनाने के प्रयास ने गद्य भाषा से तो ऐसे प्रयोगों को कम किया, किन्तु जैसा कि शब्द-योजना के अन्तर्गत लक्षित किया जा चुका है, आलोच्य-युग में पद्य भाषा सरल बोलचाल के रूप में से उत्तरोत्तर संस्कृतनिष्ठता की ओर अग्रसर होती गई,अत: पद्य भाषा में तत्कालीन अनेक कवियों ने स्त्रीलिंग विशेष्य के साथ तत्सम विशेषणों में स्त्री-प्रत्यय का योग कर उन्हें स्त्रीलिंग रूप में व्यवहृत किया है । ऐसे प्रयोगकर्ताओं में रामचरित उपाध्याय,अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध`, कामताप्रसाद गुरु, केशवप्रसाद मिश्र तो प्रमुख हैं ही,अन्य कवियों की भाषा में भी शुद्धता की दृष्टि से ऐसे प्रयोग किये गये हैं । द्विवेदी जी की आरम्भिक कविताओं में तो इस प्रकार के प्रयोग अधिक हैं,किन्तु बाद की रचनाओं में इनका अभाव पाया जाता है ।अत: उन्हें इस कोटि के प्रयोगकर्ताओं के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता । उदाहरणार्थ उद्धृत प्रयोग -

(१) `आ` प्रत्यय द्वारा --

भारतीया धरा,[१] उसी भांति है जन्म की भू उदारा[२]
ज्योतिर्मयी विकसिता-हसिता लता की[३]
क्यों आज तू दीना हुई, पर नहीं हो सकती स्थिरा तू[४]
वे पाक शास्त्र विशारदा[५] हैं खण्डिता नायिका[६]

कविवर अयोध्यासिंह उपाध्याय`हरिऔध` ने तो अपनी रचना `प्रियप्रवास` में`आ` प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग विशेषणों की लड़ियां पिरो दी हैं, उदाहरणस्वरूप --

गृहगता जननी अति शंकिता (पृ०१८९)
मालिन्य हीन मुदिता नव दिग्वधू थीं
थी भव्य-भूमि गत-कर्दम स्वच्छ रम्या (पृ०२०३)
थे भासते पति ता - अवलम्बिता का (पृ०२११)
या तू होती मृदु-पवन से मन्द आन्दोलिता (पृ०२१८)

१-सर०भाग२२ खं०१,सं०१(कविता)--रा०च०उपा०।२- काव्यवाटिका(कविता)--गुरु ।
३-प्रियप्रवास--हरिऔध,पृ०२११ । ४- सर०भाग १५,खं०१ सं०४--केशवप्रसाद मिश्र ।
५-भा०भा०--गुप्त,पृ०६५ । ६- रसज्ञ-रंजन--द्विवेदी ।

ऐसे माधो-विरह-दव से मैं महादग्धिता हूं
जो तू मेरे सदृश प्रिय-प्रेम से वंचिता है (पृ०२२०)
ऐसे प्यारे रसिक अलि से तू असम्मानिता है

कालिन्दी सी कलित-सरिता दर्शनीया निकुंजें (पृ०२२१)
म्लाना होती अहह नित है अल्प भी जो न फूली

कवि की सम्पूर्ण रचना उक्त प्रकार के विशेषणों से पूर्ण है । यद्यपि आधुनिक प्रयोग की प्रकृति की तुलना में उक्त प्रयोग अस्वाभाविक प्रतीत होता है,किन्तु भाषा की शुद्धता और संस्कृतनिष्ठता की दृष्टि से दोषयुक्त नहीं है ।

(२) 'ई' प्रत्यय द्वारा --

ये रचनायें और उक्तियां स्थायिनी होती हैं[१]
भयंकरी पाणि[२]-समूह ध्वंसिनी आर्तहरिणी आरती[३]
बहुत उपयोगिनी बातें[४],सृष्टिकारिणी कल्पना[५] आदि ।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की कविता से उद्धृत स्त्री प्रत्ययों से बने कुछ प्रयोगों से युक्त अधोलिखित अवतरण भी द्रष्टव्य हैं --

भारत भूमि सुहावनि
मलय समीर चले मन भावनि
तू ही कमला कमल विहारिनि
सुखदा वरदा, अतुला,अमला
बानी विद्यादायिनि तारिनि,
सुस्मित,सरला,भूषित विमला
धरनी,भरनी,जननी पावनि।
जय जय भारत भूमि सुहावनि ।।[६]

१-चोखे चौपदे-- हरिऔध--'वक्तव्य' । २- वही । ३- भा०भा० -- गुप्त । ४-सा०सी०-- द्विवेदी । ५- वि०अभि०ग्र०-- शुक्ल । ६- काव्यवाटिका--राष्ट्रीय गीत पृ० पृ०२६-२७ ।

६. संख्या अथवा परिमाण की अनिश्चितता में निश्चित संख्या अथवा परिमाणवाचक विशेषण में विकार का होना, यथा--

बीसों बातें, सैकड़ों भाषाओं, हजारों ग्रन्थ, हजारों ग्रन्थों के,
लाखों ग्रन्थों में, घड़ों दूध, सेरों शहद आदि ।

`हरिऔध` ने उर्दू प्रत्यय के योग द्वारा उक्त प्रकृति के अर्थ में `लाखहा` का भी प्रयोग किया है, यथा--

लाखहा लोग तो न मर मिटते (चौखे-चौपदे)

इस प्रकार इक्के-दुक्के शब्द `हजारहा, बारहा आदि उक्त युग की हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे थे ।

आलोच्य-युग में `बीसों` के स्थान पर `बीसियों` का प्रयोग भी किया गया है यथा--

बीसियों प्राचीन ग्रन्थों के नाम[1], बीसियों वाक्य,
बीसियों पचासो[2] आदि ।

आज भी कतिपय पुराने संस्कारों से प्रभावित प्रयोक्तागण बोलचाल तथा लेखन में `बीसियों` का ही प्रयोग करते हैं[3] । किन्तु सर्वमान्य प्रचलन `बीसों` का ही है ।

३.२ अविकारी विशेषण

उपर्युक्त प्रकार के विशेषणों के अतिरिक्त अन्य स्वरान्त अथवा व्यंजनान्त विशेषण अविकृत ही होते हैं, यथा--

१. मूल सार्वनामिक विशेषण `कुछ` (दे० मूल सार्वनामिक विकृत विशेषण के सन्दर्भ में)

२. गुणवाचक विशेषण--

(I) साधारण रूप-विशेष्य के साथ--

एक वचन	बहुवचन
घोर विश्वासघात	दाक्षिणात्य विद्वान
नूतन नाच	नवीन नवीन अंकुर

१-सा०सी०--द्विवेदी । २- हि०अभि०ग्र०--रामचन्द्र वर्मा, पृ०३३४ तथा ३३५ पर क्रमश: ।

३-उदाहरणार्थ दे० बाबूराम सक्सेना द्वारा दक्खिनी हिन्दी तथा अश्क द्वारा `डाची` में प्रयुक्त ।

एकवचन	बहुवचन
उज्ज्वलम शक्ति	नूतन कल्पनायें
भारी विद्वान	सुखी व्यक्ति
सती स्त्री	सती नारियां
साधु पुरुष	साधु पुरुष
लघु उद्योग	लघु उद्योग
हिन्दू महिला	हिन्दू नारियां
अद्भुत बालक	अद्भुत तमाशे

(ii) सम्बन्धकीय रूप विशेष्य के साथ

यथार्थ धर्म का	मानवीय भावों को
स्वस्थ देह	अनुपम महिलायें
सुखी जीवन के लिए	प्रतिभाशाली विद्वानों ने
सती स्त्री के	सती स्त्रियों के
लघु उद्योग से	लघु उद्योगों से
साधु प्रकृति से	मृदु कल्पनाओं से
अद्भुत व्यक्ति में	अद्भुत चमत्कारों द्वारा
महत् भावना के	चमत्कृत शक्तियों के

३. संख्यावाचक विशेषण--

पूर्व उद्धृत प्रकृति के संख्यावाचक विशेषणों के अतिरिक्त अन्य सभी संख्यावाचक अविकृत ही होते हैं। द्विवेदी-युग में भी इसी प्रवृत्ति का निर्वाह हुआ है।

तात्पर्य यह है कि द्विवेदी युगीन विशेषणों के प्रयोग में व्याकरण के समस्त नियमों के यथावत् पालन की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।

३.४.क्रिया

१.क्रिया की प्रकृति

आलोच्यकालीन क्रिया की पद-रचना के सन्दर्भ में उसकी प्रकृति पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। परम्परागत आधार पर तत्कालीन क्रियाओं के मुख्य दो भेद किये जा सकते हैं -- १. मूल तथा २. यौगिक।

१. मूल क्रियाएं -- जहां तक प्रयोग में मूल क्रियाओं के आने की बात है, इन क्रियाओं में तत्कालीन कोई विशेषता दृष्टिगत नहीं होती । इतना अवश्य है कि अन्य शब्द-भेदों की भांति तत्कालीन क्रियाओं के कोश में भी पर्याप्त वृद्धि हुई । विभिन्न भाषाओं से गृहीत क्रिया-शब्दों के व्यापक भण्डार ने हिन्दी भाषा के विकास में पर्याप्त योग दिया(दे०-शब्द-योजना) ।

२. यौगिक क्रियाएं -- जहां तक यौगिक क्रियाओं,यथा--प्रेरणार्थक,नामधातु एवं संयुक्त क्रियाओं के निर्माण एवं प्रयोग का प्रश्न है, उनमें भी अधिकांशत: आधुनिक व्याकरण के नियमों की समानता पाई जाती है, यदि कुछ विशेषताएं हैं भी तो उनकी संख्या अधिक नहीं है ।

(१) प्रेरणार्थक धातुएं, जैसे-

कहलाना-कहलवाना, छपाना-छपवाना, कराना-करवाना,
झुकाना-झुकवाना, बनाना-बनवाना, बुलाना-बुलवाना,
दिखाना-दिखलाना, दिखवाना,लगाना- लगवाना,
बैठाना-बैठवाना, मिटाना- मिटवाना आदि

नियमानुसार ही निर्मित एवं प्रयुक्त हुई हैं । बोलियों के प्रभाव तथा पूर्व संस्कारों के फलस्वरूप कहीं-कहीं कहाना,कहवाना, छोड़ाना, देखाना,बैठालना आदि का प्रयोग भी हो गया है, किन्तु तत्कालीन भाषा के परिष्कार की प्रक्रिया की धारा में ऐसे प्रयोग विलुप्त होते गये ।

(२) नाम धातुओं,यथा-- जन्मना,गुंजारना, हर्षना,प्रकटना,प्रकाशना आदि का प्रयोग आलोच्य-युग की गद्य-भाषा में तो उत्तरोत्तर कम होता गया,किन्तु पद्य में उनका प्रयोग अधिक मिलता है(दे०-शब्द-योजना) । कालान्तर में नामधातुओं के स्थान पर संज्ञा तथा क्रिया के योग से बनी संयुक्त क्रियाएं अधिक व्यवहार में लाई जाने लगीं ।

(३) संयुक्त क्रियाएं-- खड़ीबोली हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है । द्विवेदी-युग में इन क्रियाओं की संख्या में और भी विकास हुआ । जैसा कि अभी कहा जा चुका है, युगपूर्व भाषा में जो नामधातुओं का प्रयोग हो रहा था, उनका स्थान भी अब संयुक्त क्रियाओं ने ही लिया । इन क्रियाओं के निर्माण में परंपरागत अधोलिखित पद्धतियां व्यवहार में लाई गई हैं :--

(क) कृदंत+क्रिया -- विभिन्न कृत् प्रत्ययों से निर्मित कृदंतों तथा क्रिया के योग से बनी कुछ क्रियाएं इस प्रकार हैं --

(१) क्रियार्थक संज्ञाओं के योग से बनी विभिन्न अर्थ सूचक क्रियाएं, यथा--

करना चाहिए, देने चाहिए, पढ़नी चाहिए, सुननी चाहिए।
लेना पड़ता है, कहना पड़ता है, देने पड़ेंगे, उठानी पड़ी
जाना होगा, करने होंगे, सुननी होगी, कहनी होगी
(आवश्यकता-बोधक)

सुनने लगते हैं, चलने लगा, बतलाने लगी, रोने लगी --(आरम्भबोधक)
पनपने देते हैं, चलने देंगे, जाने दो, कहने दिया --(अनुमति बोधक)।
देना चाहता है, लगाना चाहते हैं, जमाना चाहते थे, लिखना चाहेगी । (इच्छाबोधक)

इच्छाबोधक 'चाहना' क्रिया में भूतकालिक कृदंतों के योग का प्रचलन भी इस युग में प्राचीन परम्परा के निर्वाह-स्वरूप वर्तमान था, तदनुसार तत्कालीन अनेक लेखकों की भाषा में ऐसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु उन्हीं लेखकों के द्विविध प्रयोगों से यह निश्चित हो जाता है कि उक्त क्रियार्थक संज्ञाओं के योग से बनी इच्छाबोधक क्रिया को धारा ही विकास ह को प्राप्त हो रही थी (दे० भूतकालिक कृदंतों से बनी क्रियाएं) ।

(२) तात्कालिक कृदंतों से बनी हुई क्रियाएं-- तात्कालिक कृदंतों में आना, जाना, फिरना, रहना आदि क्रियाओं के योग से निर्मित नित्यतासूचक अथवा क्रमबोधक संयुक्त क्रियाओं के उदाहरण इस प्रकार हैं --

चलता आ रहा है, करते आये हैं, रहती आई है
चलते जाते हो, घूमता जाता है, बोलती गई,
घूमता फिरता है, मांगते फिरते हैं, कहती फिरेगी
सोचता रहता है, आते जाते रहे, जाती रही आदि ।

(३) भूतकालिक कृदंतों से बनी संयुक्त क्रियाएं -- भूतकालिक कृदंतों में आना, जाना, देना, लेना, करना, बह चाहना आदि के योग से बनी विभिन्न अर्थसूचक संयुक्त क्रियाओं के उदाहरण --

चला आता है, क बहा जा रहा था, चले जा रहे थे--(तत्परतासूचक)
चुका दिया, मुरझा गया है, चली आई --(नियमबोधक)

उड़ा देती है, चला आता है, किया करते हैं --(अभ्यासबोधक)
बैठी रहती है, बहा रही है, रहा करेंगे --(नित्यताबोधक)
किया चाहते हैं, खेला चाहते हैं, खेला चाहता हूं । [१] (इच्छाबोधक)
चला चाहता हूं, हुआ चाहता है, हुआ चाहता है।

इच्छाबोधक क्रियाओं के विषय में जैसा कि संज्ञानार्थक क्रिया के योग से बनी क्रियाओं के सन्दर्भ में कहा जा चुका है, पुराने संस्कारों वाले कई लेखक उक्त भूतकालिक कृदंतों से बनी क्रियाओं का भी प्रयोग कर रहे थे,किन्तु उन्हीं लेखकों की समान कृतियों में द्वैध प्रयोग का पाया जाना उक्त प्रयोगों के प्रभाव की न्यूनता का भी संकेत देता है, यथा--

किया चाहते हैं ।
लिखना चाहते थे । [२]
सबको एक किया चाहते हैं।
किनारे लगाना चाहते हैं । [३]
कृष्ण से मिलना चाहते [४]

तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु-युग में जहां `चाहना` में भूतकालिक कृदंतों के योग से बनी इच्छाबोधक क्रियाओं का प्रयोग अधिक हुआ है(यद्यपि उक्त काल से ही वर्तमानकालिक कृदंतों का प्रयोग उत्तरोत्तर भी बढ़ने लगा था) वहीं द्विवेदी-युग तक क्रियार्थक संज्ञाओं के योग से बनी इच्छाबोधक क्रियाओं को ही सामान्यत: प्रयोग में लाया जाने लगा ।

कर्मवाच्य तथा भाववाच्य की सम्पूर्ण क्रियाएं भूतकालिक कृदंतों से ही बनती हैं, तथा द्विवेदी जी की भाषा में कर्मवाच्य में भी अधिकांश वाक्यों का प्रयोग होने के कारण ऐसी क्रियाएं पर्याप्त संख्या में हैं,जैसे --

लिखी जाती है, किए जायेंगे, कहलाये जाने लगे,
कराया गया, कही जाती नहीं, चला नहीं जाता।आदि

(४) पूर्वकालिक कृदंतों से बनी क्रियाएं-- पूर्वकालिक प्रत्ययरहित कृदंतों में आना,जाना, उठना,पड़ना,देना,लेना,रहना आदि के योग से बनी इन संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग हिन्दी

१- क्रमश: मिश्रबन्धु,गुरु,भट्ट की कृतियों से उद्धृत । २-मिश्रबन्धु--मिश्र,विनोद,भूमिका।
३- बदरी०भट्ट -- हिन्दी,पृ०५६ । ४- वही,पृ०६६ ।

में अधिक होता है,अत: सामान्य नियमों के अनुसार द्विवेदी-युग की भाषा में भी इस प्रकार की क्रियाएं अधिक हैं । इस कोटि की क्रियाओं को क्रिया + क्रिया से बनी संयुक्त क्रियाओं के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है । विभिन्न अर्थबोधक कुछ क्रियाओं के अधोलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

(अ) अवधारणबोधक--

आ जाता, आ जाती, आ गए, बीत गई, समझ गई थी,
रो उठता है, हो उठता है, चौंक उठे, भड़क उठे, कह उठी,
लिख देवे, बुहार दिया, कर देते हैं, तोड़दो, रख देंगे ,सजा
लाये, व्याह लाओ, पूछ लूं, मिल लूं, सोच लूं,चलपड़े, गिर-
पड़ा, बोल पड़ी, कूद पड़ेंगे,रोपड़ेंगी, लड़रहे हैं, हो रहा है,
बह रहा, सो रहे, मच रही आदि ।

विशेष-- पूर्वकालिक कृदंत+क्रिया के मेल से बने शब्द को दो क्रियाओं से बने एक संयुक्त शब्द माना जाने के कारण कुछ लेखकों अथवा प्रकाशकों द्वारा दोनों योगी शब्दों को अलग अलग शिरोरेखा अन्तर्गत न देकर एक ही शिरोरेखा के अन्तर्गत रखने की विधि भी अपनाई गई है,यथा--

लगगया, करलिया,दीगई,आजाती[1];आगया है[2];
पूछलूं, मिललूं, सोचलूं,तोड़दो,लड़रहेहैं,होरहाहै[3];
होगई[4]; आगये,आगई[5]

उपर्युक्त उदाहरण जिन लेखकों की रचनाओं से उद्धृत किए गए हैं, उनकी अन्य रचनाओं अथवा एक ही रचना के भिन्न प्रयोगों को देखने से यह अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि उपर्युक्त प्रयोगों का निर्वाह न तो उक्त-युग में अधिकता से हो पाया और न आगे इसका प्रसार हुआ । जैसे बदरीनाथ भट्ट की १६१२ई० में रामभूषण प्रेस आगरा से प्रकाशित पुस्तक `कुरुवनदहन` में उपर्युक्त प्रकार की संयुक्त क्रिया सर्वत्र एक ही शिरोरेखा के अन्तर्गत लिखी गई है,किन्तु सन् १६२४ई० में `गंगापुस्तकमाला लखनऊ`

१-बे०वि० रत्ना--द्विवेदी । २- किराता० -- द्विवेदी । ३- कुरुवनदहन--बदरी० भट्ट । ४- हिंदी--बदरी०भट्ट । ५-पंचपात्र--बख्शी ।

से प्रकाशित `हिन्दी` में एकाध शब्द ही एक शिरोरेखा के अन्तर्गत आये हैं,अन्यथा अलग-अलग शिरोरेखा का ही प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार पदुमलाल पुन्नालाल रचित `पंचपात्र` नामक कृति में कतिपय स्थलों पर प्रयुक्त उद्धृत शब्दों(यथा- आगये,आगई) के अतिरिक्त अन्य स्थलों के शब्द अलग-अलग शिरोरेखा के अन्तर्गत है । द्विवेदी जी की भी आरम्भिक रचना `बेकन विचार रत्नावली` में भले ही शिरोरेखा एक है तथा किराताजुंनीय में भी `आ` के साथ `जाना` किया, किन्तु अन्य रचनाओं में प्राय: ऐसी लेखन विधि नहीं अपनाई गई है ।

(आ) शक्तिबोधक--`सकना` अथवा `पा ` के योग से निर्मित कुछ शक्तिबोधक संयुक्त क्रियाएं निम्नलिखित है --

बदल सकता, बदल सकते, हो सकती, पहुंचा सकता,
बतला सकता, पाती आदि ।

(इ) पूर्णता बोधक --`चुकना` क्रिया योग से बनी क्रियाएं इसके अन्तर्गत आती है, यथा--

हो चुका, कर चुके, खा चुके, देख चुके, दिखा चुके आदि ।

(५) पूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्तों से बनी क्रियाएं यथा--

लिए आती हूं, किए जाती है आदि ।

इन क्रियाओं का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है ।

(ख) संज्ञा + क्रिया

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, आलोच्य-युग में परिनिष्ठित तथा परिमार्जित भाषा से उत्तरोत्तर नाम धातुओं का प्रयोग विदा लेने लगा था । अत: उनका स्थान संज्ञा+ क्रिया के संयोग से निर्मित संयुक्त क्रियाओं ने लिया । आधुनिक भाषा-प्रयोग की भी यही प्रवृत्ति है । ये क्रियाएं मूल तथा यौगिक (तद्धितान्त एवं कृदंतीय) दोनों प्रकार की संज्ञाओं में `करना`,`होना` तथा`देना`आदि के योग से बनती हैं,यथा--

उपाय किया, चरितार्थ किया है,व स्वीकार करते हैं
उद्भावना की है, चढ़ाई की, प्रयास करते हैं,
बलिदान हुए, संचार हुआ, अवतार होता है,
उलाहना दिया, जवाब देते हैं, आज्ञा दी,धन्यवाद
दी आदि ।

भारतेन्दु-युग में प्राय: `आज्ञा` और `धन्यवाद` के साथ सहयोगी क्रिया `करना` के योग का प्रचलन भी समानरूप से था और द्विवेदी-युग में भी किंचित् पुराने लेखकों द्वारा ऐसे प्रयोग किये गये हैं, किन्तु सामान्य व्यवहार में `देना` क्रिया के योग था ही नियम प्रतिष्ठित है। उक्त प्रयोगों के अतिरिक्त द्विवेदी-पूर्व भाषा में कुछ ऐसी क्रियाएं भी मिलती हैं, जिनके पूर्व शब्द विशेषण के स्थान पर संज्ञा का ही प्रयोग किया है, यथा--

दुष्टवायु नाश हो जाता है, गयासुद्दीन का प्राण विनाश किया,
मत प्रकाश करता है[1]। आदि (शेष दे० द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की
स्थिति)।

भारतेन्दु-युग में ऐसे प्रयोग शुद्ध माने जाते थे, क्योंकि इनकी शुद्धता का समर्थन उनके परवर्ती व्याकरणकार कामताप्रसाद गुरु ने भी किया है। उन्होंने `सभा विसर्जन हुई` के स्थान पर `सभा विसर्जित` हुई को अधिक प्रचलित न मानकर `किसी किसी लेखक का` ही प्रयोग माना है, किन्तु गुरु के इस कथन से कि `यह प्रयोग अभी सार्वत्रिक नहीं है,`[2] यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे चलकर दूसरे प्रकार का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और द्विवेदी-युग में उक्त संज्ञाओं के स्थान पर उनका विशेषण रूप ही ग्रहणीय हुआ।

संज्ञा तथा क्रिया-शब्दों के योग से बनी संयुक्त क्रियाओं में `करना` सहायक क्रिया के योग से निर्मित क्रियाएं अधिक प्रयोग में लाई जाती हैं। तदनुसार द्विवेदी-युग में भी ऐसी क्रियाओं की ही बहुलता है।

<u>(ग) विशेषण+ क्रिया</u>

संज्ञा के साथ युक्त होने वाली संयुक्त क्रिया के विशेष सन्दर्भ में यह बताया जा चुका है कि द्विवेदीपूर्व भाषा में ही संज्ञा के स्थान पर रचना सम्बन्धी विशेष नियम के अनुकूल विशेषण शब्द का प्रचलन होने लगा था और कालान्तर में इन्हीं प्रयोगों को शुद्ध माना जाने लगा, यथा--

चमत्कृत किया, प्रवृत्त करे, व्यतीत करने को
प्रवृत्त नहीं होता, परिणत हो जाते हैं,
निर्मित हुए मालूम होते थे, प्रकाशित होती,
प्रकट हो रहा था, आदि।

----

१ भारतेन्दुकृत `होली`, `बादशाह दर्पण`, पंचपवित्रात्मा आदि रचनाओं में क्रमश: प्रयुक्त।
२ दे० हिन्दी व्याकरण-- गुरु- ४२१ सू०।

द्विवेदी पूर्व की रचनाओं में `प्रकाशित` के स्थान पर `प्रकाश` शब्द का प्रयोग परम्परा के अनुकूल शुद्ध माना जाता रहा । यही कारण है कि भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में अधिकांश स्थलों पर `प्रकाश होना` क्रिया का ही प्रयोग किया है । इसके ठीक विपरीत `प्रकट` शब्द यद्यपि स्वयं विशेषण है, किन्तु उसमें भी `इत` प्रत्यय के योग से विशेषण बनाकर संयुक्त क्रिया का निर्माण भी भारतेन्दु की भाषा की विशेषता ह रही है(दे० द्विवेदी पूर्व खड़ीबोली की स्थिति) । किन्तु द्विवेदी-युग में सर्वसम्मति से उद्धृत प्रयोगों को ही शुद्ध माना जाने के कारण साहित्यिक खड़ीबोली में प्रधानता ही प्रयोगों की है, तत्कालीन प्रतिनिधि लेखकों यथा द्विवेदी, मिश्रबन्धु आदि की भाषा में भी प्रकाशित कराया गया[1], प्रकाशित होती[2], प्रकट हो रहा[3] था आदि का ही प्रयोग मिलता है ।

(घ) पुनरुक्ति-निर्मित संयुक्त क्रिया --(दे० शब्द-योजना २.३.३.१.८)

(ङ०) दो से अधिक शब्दों से बनी संयुक्त क्रियाएं--

संयुक्त क्रियाओं का विस्तार भी व्याकरणानुकूल ही देखा गया है । ये बहुशब्दों से निर्मित क्रियाएं कर्तृवाच्य में तो हैं ही, कर्मवाच्य एवं भाववाच्य की क्रियाएं अधिक हैं, उदाहरणार्थ --

चला आ रहा था, दौड़ी जा रही है, घसीट ले गए हैं,
कहलाये जाने लगे, मानी जा सकती, बदल दिये गये हैं आदि ।

२. रूपात्मकता

क्रिया का रूप काल, वाच्य, अर्थ तथा कर्ता अथवा कर्म के लिंग, वचन पर आधारित होता है, अत: द्विवेदी युगीन क्रिया के रूपों का विश्लेषण भी उपर्युक्त तत्वों के आधार पर ही किया जायेगा ।

तत्कालीन क्रिया के रूपतत्व(पदरचना) का अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि आलोच्य-युग में जिस प्रकार अन्य शब्द-भेदों के रूपों में आधुनिक व्याकरण -पद्धति की दृष्टि से सामान्यता पाई जाती है, इसी प्रकार क्रिया रूप में भी लगभग सामान्यता ही है । अर्थात् युगपूर्व की जितनी अनियमितताएं थीं, उनका परिष्कार कर प्रायः उसके रूपों को आधुनिक प्रयोग के अनुकूल ढालने का प्रयत्न किया गया है । फिर भी कुछएक प्रयोग

१- मिश्र० विनोद-- मिश्रबन्धु । २- किराता०--द्विवेदी । ३- वही

ऐसे हैं,जिनमें उक्त युग में भी परिवर्तन नहीं हो पाया था और लोगों ने सामान्यत: उन्हें भी अपना लिया था, अत: उन सबका विवेचन भी सामान्य प्रयोगों के साथ-साथ करना ही समीचीन होगा ।

विभिन्न कालों में प्रयुक्त आलोच्ययुगीन क्रियाओं के रूपान्तर के नमूने उदाहरणार्थ इस प्रकार हैं --

१. कर्तृवाच्य

१.तिङन्त रूप--

(१) सम्भाव्य भविष्यत् (इसमें लिंग-भेद नहीं होता)

	एकवचन	बहुवचन
उत्तमपुरुष-	पढूं	पढें
	आऊं	आएं,आयें,आवें
	जीऊं	जिएं, जियें, जीवें
	हुऊं,हुऊं	हुएं,हुयें, हुवें
	दूं	दें,देवें
	होऊं	होएं, होयें, होवें
मध्यमपुरुष--	करे	करो
	जा,जाए,जाये, जावे	जाओ,जावो
	पिए,पिये, पीये,पीवे	पिओ
	ले,लेवे	लो,लेओ
	हुए,हुवे	हुओ,हुवो
	होए,होये,होवे	होओ,होवो

अन्यपुरुष -- एकवचन के रूप मध्यमपुरुष-एकवचन की भांति हैं । तथा बहुवचन के रूप उत्तमपुरुष-बहुवचन की भांति हैं ।

विशेष-- सम्भाव्य भविष्यत् के जिन रूपों के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं,उनमें से अधिकांश प्रयोग तो आधुनिक खड़ीबोली के रूपों के अनुकूल ही हैं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा

सकता है कि द्विवेदी युगीन साहित्यिक खड़ीबोली में सम्भाव्य भविष्यतकाल की रूपात्मकता प्राय: आधुनिक खड़ीबोली के अनुकूल है, फिर भी जो विविधताएं देखने में आती हैं, वे तत्कालीन पुराने लेखकों का प्राय: पुरानी कृतियों से ही ली गई हैं । यद्यपि ये विविधताएं मुख्यत: वर्तनी से ही सम्बन्धित हैं, फिर भी रूप-रचना पर भी उनका पूर्ण प्रभाव पड़ता है, जिन लेखकों की रचनाओं अथवा पत्रिकाओं में उक्त प्रकार की अनियमितताएं मिलती हैं उनका उल्लेख वर्तनी के अन्तर्गत किया जा चुका है(दे० वर्णविन्यास रूपान्तरित पदों की वर्तनी सम्बन्धी विशिष्टताएं १.क.८) । जैसा कि सर्वनाम के वचनों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, सामान्यत: बहुवचन के सर्वनाम एकवचन में भी प्रयुक्त होते हैं तथा द्विवेदीयुगीन भाषा में भी ऐसे प्रयोगों की बहुलता है, उसी प्रकार क्रिया शब्दों के भी बहुवचन के रूप एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं ।

सम्भाव्य भविष्यत अथवा आशार्थ क्रियारूपों में एक विशेषता यह है कि भारतेन्दु युग में आ,जा के उक्त रूपों में आयं,जाय--आये जाये अधिक प्रचलित थे उनके अतिरिक्त आवे-जावें आदि रूप भी प्रयोग में आते थे ,किन्तु द्विवेदी-युग में आधुनिक प्रयोगों के बीजरूप में जो रूप आया, वह था 'आयें','जायें' अथवा आएं जाएं आदि रूप । उक्त युग में यद्यपि इनका व्यवहार बहुत कम हो पाया था, किन्तु आज यही रूप सामान्यत: प्रचलित हैं,अन्य रूप अब साहित्यिक हिन्दी से प्राय: समाप्तप्राय है । इसी प्रकार क्रिया में 'व' के आगम से जितने रूप उस समय हिन्दी में प्रचलित थे, वे केवल पुरानी हिन्दी के प्रतीक के रूप में ही अपनाये जाते हैं, सर्वमान्य साहित्यिक हिन्दी के रूप में नहीं ।

(२) सामान्य भविष्यत्

क्रिया के सम्भाव्य भविष्यत् रूप में ही गा, गे, गी (विभिन्न वचन एवं लिंग के अनुसार) के आदेश से भविष्यत् काल का रूप निर्देशित होता है, अत: आलोच्य-युग में सामान्य भविष्यत् काल की क्रियाओं के भी लगभग सभी सामान्य भविष्यत् के ही समान हैं, उदाहरणार्थ--

←(१) पुंल्लिंग रूप

	एकवचन	बहुवचन
उत्तमपुरुष	पढ़ूंगा →	पढ़ेंगे

एकवचन	बहुवचन
जाऊंगा	जायंगे°, जायेंगे, जाएंगे, जावेंगे
जीऊंगा	जिएंगे, जियेंगे, जावेंगे
लूंगा, लेऊंगा+	लेंगे, लेवेंगे+
होऊंगा, हूंगा•	होंगे
रोऊंगा	रोएंगे, रोयेंगे, रोवेंगे
मध्यमपुरुष-- कहेगा	कहोगे
जायगा, जाएगा, जायेगा। जावेगा।	जाओगे, जावोगे
पियेगा, पीएगा, पीवेगा	पिओगे, पीओगे
होगा, होएगा•, होयेगा, होवेगा।	होगे, होओगे, होवोगे

अन्यपुरुष-- सम्भाव्य भविष्यत् की तरह एकवचन की क्रियाएं मध्यमपुरुष एकवचन की भांति तथा बहुवचन की क्रियाएं उत्तम पुरुष बहुवचन की भांति।

(२) स्त्रीलिंग रूप

`गा`, `गे` के स्थान पर दोनों वचनों में `गी` के आदेश से बनी स्त्रीलिंग क्रियाएं पुंल्लिंग क्रियाओं की भांति ही प्रयुक्त हैं। अत: उन्हें यहां प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेष-- जैसा कि पहले कहा गया है, सामान्य भविष्यत् में सम्भाव्य भविष्य के रूप के अतिरिक्त केवल गा, गे का आदेश होता है, अत: तत्सम्बन्धी दोनों की सामान्यताएं एवं विशिष्टताएं भी लगभग समान हैं। किसी रूप के प्रयोग सम्बन्धी विशेषताओं में यदि अन्तर मिलता है तो वह है एकाधारी आकारान्त धातु, यथा आ, जा, ला आदि के उत्तम पुरुष एवं अन्य पुरुष के बहुवचन तथा मध्यम पुरुष एवं अन्य पुरुष के एकवचन रूपों के प्रयोग में। अर्थात् सम्भाव्य भविष्यत् काल की क्रिया में जहां उक्त पुरुषों के उक्त

०- द्विवेदी युग में यह रूप अधिक प्रचलित था। + - यह रूप भी सर्वप्रचलित नहीं था। इस रूप पर उर्दू का प्रभाव कारणीभूत है। • - पूर्वी प्रभाव स्वरूपप्रयुक्त ये रूप विरल ही मिलते हैं।

वचनों में आय,जायं,खायं आदि के साथ `ए` स्वर के आदेश से आयें,जायें,खायें आदि का भी प्रचलन होने लगा था, वहां सामान्य भविष्यत् काल में अधिकांशत: बिना `ए` के आदेश के जायंगे, आयंगे, खायंगे आदि का ही प्रयोग हुआ मिलता है । यदि `ए` का आदेश हुआ भी है तो `य` के स्थान पर `व` के साथ, यथा जावेंगे, आवेंगे,खावेंगे आदि(`व` के योग से बनी क्रियाओं के लिए दे० वर्ण विन्यास-रूपान्तरित पदों की वर्तनी-सम्बन्धी विशिष्टताएं १. क्र.८।)

(३) प्रत्यक्ष विधिकाल

प्रत्यक्ष विधिकाल(अर्थात् वर्तमानकालिक आज्ञार्थ,सम्मति,विनती एवं आग्रह सूचक) क्रिया रूपों को छोड़कर शेष पुरुष एवं वचन के रूप सम्भाव्य भविष्यत् की भांति ही होते हैं--अन्तर केवल प्रयोग का होता है । अत: यहां उक्त काल की क्रियाओं के सम्पूर्ण रूपों को न देकर केवल भिन्नता रखने वाले रूपों का उल्लेख ही औचित्य है,जैसे --

मध्यम पुरुष-एकवचन-- आ,जा, कर,दे पी,छू,हो,आदि

आदर सूचक -- आइए,जाइए,करिये,[१] कीजिए

दीजिए,पीजिए,छूइए,होइए आदि ।

१ मैथिलीशरण गुप्त कृत `भारत भारती` की एक ही कविता में प्रयुक्त मूलधातु,नामधातु, एवं प्रेरणार्थक धातुओं से निर्मित अनेक आदरसूचक क्रियाओं का समाहार इस प्रकार है--

अपनाइए,उपजाइए,कहलाइए,चलाइए,छुड़ाइए,जाइए, दिखाइए,निहारिए,पढ़ाइए,पलटाइए,पहुंचाइए,प्रकटाइए फैलाइए,बचाइए,बनाइए,भगाइए,मिटाइए,लताइए, सरसाइए,सिखाइए--पृ०१८७-१८८।

विशेष--

`होना` क्रिया का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विधि काल में आदरसूचकरूप `हूजिए` तथा `हूजिएगा`[२] भी इतस्तत: प्रयुक्त है, इस प्रयोग पर उर्दू का प्रभाव है । वैसे

१-प्रसाद की कृति `चित्राधार` में दोनों रूपों में प्रयुक्त यथा-- रक्षा करिये,रक्षा कीजिये (क्रमश: पृ०१०३,१०४) आधुनिक प्रयोग की प्रवृत्ति `करिये` की ओर है ।

२- सा०सी०--द्विवेदी में प्रयुक्त ।

यह प्रयोग आज भी साहित्यिक भाषा में विरल ही व्यवहृत होता है । कविता में मात्राओं के सन्तुलन के विचार से `दीजे`,`लीजे`(आदरार्थ) क्रिया का प्रयोग भी कुछ लेखकों ने किया है(दे०वर्ण विन्यास--विशिष्टताएं) । इसी प्रकार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विधिकाल के रूप में द्विवेदी युगीन कविताओं में प्रयुक्त दीजियो, लीजियो[१], फैलाइयो,आइयो[२] जैसी आदरसूचक क्रियाएं भी उल्लेखनीय हैं । किन्तु कालान्तर में ऐसे शब्द भी अप्रचलित हो गए ।

॥४॥ परोक्ष विधिकाल

मध्यमपुरुष में मूल क्रिया में `ना` के आदेश से निर्मित यह क्रिया भविष्यत्कालीन आज्ञासूचक के अर्थ में प्रयुक्त होता है । ऐसी क्रियाएं भी तत्कालीन भाषा में सामान्यरूप से प्रयुक्त हैं,यथा--

देखो, भूल से भी ऐसा न करना, कार्य करके ही आना,
मिथ्या का सहारा न लेना, कडुवे वचन भी मुख से मत
उच्चारना आदि । आदर के अर्थ में-- मुझे अपना ही
समझियेगा,कृपा-दृष्टि रखियेगा आदि ।

विशिष्ट प्रयोग में दीजियो, लीजियो,कीजियो अथवा छुजियेगा रूप आता है, जिनका उल्लेख प्रत्यक्ष विधिकाल के अन्तर्गत किया जा चुका है ।

२.कृदन्त रूप

क. वर्तमानकालिक कृदन्तों से बने काल

॥कर्तरि प्रयोग॥

॥१॥ सामान्य संकेतार्थ काल

मूल क्रिया में तीनों पुरुषों में समान रूप से लिंग-वचन के अनुसार ता-ते-ती तीं के आदेश(योग) से निर्मित द्विवेदी युगीन उक्त काल की क्रिया में कोई विशेषता अथवा विरूपता परिलक्षित नहीं होती, यथा--

पुंल्लिंग--

एकवचन(मैं,तू,वह) करता
बहुवचन(हम,तुम,वे) करते

१- भारत-भारती, गुप्त, पृ०६४ । २- काव्य वाटिका--प्रभावती का पत्र --लोचनप्रसाद पाण्डेय,पृ०११६ ।

स्त्रीलिंग --

एकवचन(मैं,तू,वह) करती

बहुवचन(हम,तुम,वे) करतीं

(२) सामान्य वर्तमानकाल

वर्तमानकालिक कृदंत के साथ स्थिति दर्शक क्रिया `होना` के सामान्य वर्तमान काल के विभिन्न रूपों के योग से निर्मित द्विवेदी युगीन उक्तकालीन क्रियाओं के रूप भी लगभग सामान्य ही हैं,यथा--

पुंल्लिंग

	एक वचन	बहुवचन
उत्तमपुरुष--	आता हूं	आते हैं
मध्यमपुरुष--	आता है	आते हो
अन्यपुरुष --	आता है	आते हैं

स्त्रीलिंग

उत्तम पुरुष--	आती हूं	आती हैं
मध्यमपुरुष--	आती है	आती हो
अन्यपुरुष --	आती है	आती हैं

प्राय: सहकारी क्रिया `होना` के योग से रहित सामान्य संकेतार्थकाल की क्रियाएं भी सामान्य वर्तमानकाल के अर्थ में प्रयुक्त होती है,यथा--

`यदि हमारे पास कोई वस्तु नहीं है और दूसरा उसे प्राप्त करता है, तो वह इस उद्देश्य से नहीं प्राप्त करता कि उससे हम अपनी हेठी समझ कर दुखी हों(चिन्तामणि--शुक्ल)

`जिसके प्रति ऐसा क्रोध किया जाता है,उसके मानसिक उद्देश्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता (वही)।

यह प्रवृत्ति युगपूर्व से ही चली आ रही थी तथा आज अंग्रेजी भाषा के संक्षेपीकरण की प्रक्रिया-स्वरूप इस प्रकार के प्रयोगों में और भी बढ़ती होती जा रही है ।

(3) अपूर्ण भूतकाल

वर्तमानकालिक कृदंत में `होना` क्रिया के भूतकालिक रूप था-थे-थी-थीं के योग से

निर्मित निम्नलिखित रूप की क्रियाओं का योग भी सामान्यत: उचित ही हुआ है--

	एक वचन	बहुवचन
पुंल्लिंग --	पढ़ता था	पढ़ते थे
	(तीनों पुरुषों में सामान्य रूप)	
स्त्रीलिंग --	पढ़ती थी	पढ़ती थीं
	(तीनों पुरुषों में सामान्य रूप)	

सामान्य वर्तमानकाल की भांति उक्त काल के अर्थ में भी प्राय: बिना सहायक क्रिया के केवल तत्कालिक कृदंत से ही कार्य लेने की प्रक्रिया भी रही है,यथा--

> `बार बार वही एक बात होती थी । इसके बाद बुढ़ा
> अपनी झोली से सामान निकालता । आंखों में चश्मा
> लगाकर वह बनाने बैठता परन्तु उसी समय उसको खेत
> की याद आती ।[१]

आज यह प्रवृत्ति कथा-साहित्य में जोरों पर है ।

[४] सम्भाव्य वर्तमान काल

वर्तमान कालिक कृदंतों में `होना` क्रिया के सम्भाव्य रूप के योग से निर्मित तत्कालीन क्रियाएं लिंग,वचन एवं पुरुष के अनुसार निम्नवत् हैं --

पुंल्लिंग

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष --	करता होऊं	करते हों
मध्यम पुरुष --	करता हो,करता होवे	करते होओ
अन्य पुरुष --	एकवचन रूप मध्यमपुरुष एक वचन की भांति तथा बहुवचन उत्तम पुरुष बहुवचन की भांति ।	

१- पंचपात्र --`खिलौना`-- बख्शी ।

स्त्रीलिंग

उत्तम पुरुष --	करती होऊं	करती हों
मध्यमपुरुष --	करती हो,करती होवे+	करती हों
अन्यपुरुष --	एक वचन रूप-मध्यम पुरुष एक वचन की भांति तथा बहुवचन उत्तमपुरुष एक वचन की भांति ।	

+आगे चलकर इन द्वितीय प्रकार के रूपों का परिनिष्ठित हिन्दी से प्राय: लोप होने लगा था । शिष्ट रूप में `करता हो` तथा `करती हो` रूप ही वर्तमान रह गया था ।

(5) सन्दिग्ध वर्तमान काल

इस काल में वर्तमान कालिक कृदंतों के साथ `होना` क्रिया के सामान्य भविष्यत्-कालीन सम्पूर्ण रूपों से युक्त क्रियाएं प्रयुक्त हैं ।

(6) अपूर्ण संकेतार्थ काल

वर्तमानकालिक कृदंतों में सहायक क्रिया `होना` के संकेतार्थ रूप होता- होते-होती के योग से बने इस काल की क्रियाओं का प्रयोग भी व्याकरण के सामान्य नियमों के अनुसार ही हुआ है ।

ख. भूतकालिक कृदंतों से बने काल

काल की इस कोटि में भूतकालिक कृत प्रत्यय `आ-या (पुंल्लिंग रूप) तथा `ई` (स्त्रीलिंगरूप) से निर्मित क्रियाएं आती हैं । इनमें पुरुष-भेद नहीं होता, केवल लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तन होता है ।

(1) सामान्य भूतकाल

मूल क्रिया में उपर्युक्त प्रत्ययों के योग से बनी आलोच्य युग में व्यवहृत क्रियाओं के रूप इस प्रकार हैं--

	एक वचन	बहुवचन
पुंल्लिंग	हुआ,हुवा	हुए,हुये, हुवे
	किया,किआ	किये,किए
	आया	आये,आए
	चला	चले

स्त्रीलिंग -- एक वचन में `ई` कारान्त होने तथा बहुवचन में अनुस्वार
सहित `ईं` कारान्त होने का विधान है, यथा--
हुई-हुईं, की-कीं, आई-आईं, चली-चलीं आदि ।

सामान्य भूतकाल के पुंल्लिंग रूपों में उपर्युक्त विरूपता के सम्बन्ध में `वर्ण विन्यास` प्रकरण के अन्तर्गत बताया जा चुका है(दे० वर्ण विन्यास-शब्दों के रूपान्तरण सम्बन्धी विशिष्टताएं १.क.८) यद्यपि उक्त द्विविधताओं में से अधिकांश में आलोच्य-काल में न्यूनता होकर एकात्मता की स्थापना हो गई थी `हुए-हुये` `आये-आए` का अन्तर प्राय: लेखकों की लेख-शैली में चली आ रहा है,फिर भी `हुये` का प्रयोग व्याकरण सम्मत नहीं माना जाता ।

(2) आसन्न भूतकाल →

भूतकालिक कृदंतों के साथ सहकारी क्रिया `होना` के सामान्य वर्तमानकालिक रूप के योग से बनी क्रियाएं इस प्रकार हैं--

पुंल्लिंग

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष --	आया हूं	आये हैं,आए हैं
मध्यमपुरुष --	आया है	आये हो,आए हो

अन्यपुरुष -- एक वचन मध्यम पुरुष के एक वचन की भांति तथा बहुवचन उत्तम पुरुष के बहुवचन की भांति ।

स्त्रीलिंग

भूतकालिक कृदंत के `ई` कार रूप के साथ पुंल्लिंग के ही सहकारी क्रियाओं का योग होता है । इस रूप में कोई विशेषता नहीं है ।

(3) पूर्ण भूतकाल

भूतकालिक कृदंतों के साथ सहकारी क्रिया `होना` के भूतकालिक रूप था-थे-थी-थीं (वचन तथा लिंग के अनुसार) के योग से निर्मित इस काल की क्रियाएं भी सामान्यत: प्रयुक्त हैं ।

(4) सम्भाव्य भविष्यत् काल ⟶

भूतकालिक कृदंतों में 'होना' के सम्भाव्य भविष्यत् काल के रूपों के योग से बनी संयुक्त क्रियाएं भी सम्भाव्य भविष्यत् काल के अन्तर्गत आती हैं, जिनका प्रयोग द्विवेदीयुगीन भाषा क में नियमित रूप से हुआ है ।

(5) संदिग्ध भूतकाल ⟶

भूतकालिक कृदंतों में 'होना' के संदिग्ध रूप से बने इस काल का प्रयोग भी सामान्य रूप से ही हुआ है ।

(6) पूर्ण संकेतार्थ काल

भूतकालिक कृदंतों में 'होना' क्रिया के संकेतार्थ रूप के योग से बनी इस काल की क्रियाओं के प्रयोग भी व्याकरणिक नियमों के अनुकूल ही हैं ।

ग. उपर्युक्त कृदंतीय कालों के अतिरिक्त पूर्वकालिक क्रिया अथवा क्रिया के मूल रूप में 'रहना' के भूतकालिक रूप के साथ 'होना' सहकारी क्रिया के विभिन्न कालिक रूपों से निर्मित 'तात्कालिक वर्तमान' (यथा-- कर रहे हैं, चला रहे हैं), तात्कालिक भूत (यथा-- पढ़ रहे थे, पढ़ रही है), तात्कालिक भविष्यत् (यथा-- नहा रहा होगा, चल रहे होंगे) अथवा इसी प्रकार के अन्य कालिक क्रियाओं का प्रचलन भी इस युग में अधिक हो गया था । साथ ही इस प्रयोग से सम्बन्धित एक विशेष बात यह भी थी कि जिस प्रकार शब्द की मितव्ययिता के वशीभूत होकर 'सामान्य वर्तमान' अथवा 'अपूर्ण भूतकाल' की क्रियाओं से सहकारी क्रिया का लोप किया जाने लगा था, उसी प्रकार प्रायः कविता की भाषा में तात्कालिक वर्तमान अथवा 'तात्कालिक भूत' की सहायक क्रिया के लोप का भी प्रचलन होने लगा था, यथा--

(तात्कालिक वर्तमान)--

इनकी कृपा से हो रहा तेरा निरादर देश में[1]

कोई जगत को सत्य कोई स्वप्नमात्र बता रहा ।
कोई शकुनि उनमें वहां मध्यस्थ भाव जता रहा ।[2]

\+ \+ \+

१- स०भाग १५ खं.१. सं०४ (कविता)--केशव मिश्र ।

२- भा०भा० -- गुप्त ।

(तात्कालिक भूत)--

सरसता प्रतिबिम्बित हो रही[1]

२. कर्मवाच्य

आलोच्ययुगीन कर्मवाच्य की क्रियाओं के काल-निर्माण के वही नियम हैं जो कर्तृवाच्य के। अन्तर केवल सम्पूर्ण पद-रचना में होता है, क्योंकि कर्मवाच्य में क्रिया आत्मने पद में प्रयुक्त होती है साथ ही कर्म उद्देश्य होने के कारण लिंग, वचन आदि कर्म के ही अनुकूल होते हैं, कर्ता के नहीं। कर्मवाच्य की क्रियाएं सभी संयुक्त होती है, जिनकी मुख्य(पूर्व) क्रिया भूतकालिक कृदंत में परिवर्तित हो जाती है, यथा--

बुलाया जाता हूं, पाए जाते हैं, लिखी जाती है
लिखा गया था, बनाये गये थे, कही गई थी
माना जायगा, विभूषित किए जायंगे, प्रकाशित कर दी जायगी
बुलाया जाय, देखे जायं, कही जाय । आदि ।

३. भाववाच्य

भाववाच्य की क्रियाएं अकर्मक होती हैं और किसी भी अकर्मक क्रिया के भूतकालिक कृदंत रूप में `जाना` के विभिन्न कालिक रूप के योग के साथ प्रयुक्त होता है--यथा,

मुझसे बोला नहीं जाता
उससे चला नहीं गया
तुमसे रोया नहीं जायगा आदि ।

(भाववाचक क्रियाएं अधिक नहीं हैं)

क्रिया-प्रयोग की उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता वाक्य में उसके प्रयोग द्वारा ही जानी जा सकती है, अत: यहां विशेषत: रूप रचना पर विचार करके शेष प्रयोगों का वाक्य-प्रकरण के अन्तर्गत ही दिया जाना उपयुक्त है ।

४.३ प्रयोग-सम्बन्धी कुछ विशिष्टताएं

यद्यपि द्विवेदी-युग में भाषा के व्याकरणिक सुधार पर विशेष ध्यान दिया गया जिसके अनुसार व्याकरण के विविध पक्षों में पर्याप्त सुधार के साथ एकात्मता का समावेश हुआ, फिर भी परीक्षण-प्रयोग की प्रक्रिया सतत् वर्तमान रहने के कारण अथवा भिन्न भिन्न लेखकों की रुचिगत अथवा संस्कारगत शैली की वैषम्यता के कारण शब्द-रूपों एवं उनके प्रयोगों में द्वैधता बनी ही रही । तत्कालीन कुछ क्रिया शब्दों का रचना-प्रक्रिया एवं

----

१ प्रियप्रवास --`हरिऔध` ।

प्रयोगों में भी उक्त द्वैधता वर्तमान दिखाई देती है, उनमें से कुछ का संकेत तो यथास्थल किया जा चुका है ।-शेष कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो विशेष ध्यानाकर्षण के विषय हैं, उदाहरणार्थ--

१- `देखना` क्रिया को लिया जा सकता है । इस क्रिया का कई प्रसंगों में समान अर्थ होने से अथवा व्याकरण के नियमानुसार रचना की एक पद्धति ग्रहणीय होने के उपरान्त भी इसे भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा अथवा एक ही लेखक द्वारा अलग-अलग रूपों में व्यवहृत किया गया है, यथा--

क. संयुक्त क्रिया के रूप में एक ही क्रिया के साथ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग--

(i) `पड़ना` के साथ कृदंतीय रूप--`देख-दीख-दिखाई-दिखलाई` --

देख -- बहती हुई गंगा देख पड़ी[1], देख पड़ेगा[2]

दीख-- कौरव सेना दीख पड़ी[3]

दिखाई-- सौन्दर्य दिखाई पड़ता है[4]

दिखलाई-- दिखलाई पड़ते हैं[5]

(ii) `देना`, `जाना` के साथ कृदंतीय रूप--`दिखाई[6] -- दिखलाई` --

दिखाई -- दिखाई देता है[7], दिखाई देती है[8], दिखाई जाती है[9]

दिखलाई-- दिखलाई देते थे[10], दिखलाई देते हैं[11]

ख. कहीं संयुक्त क्रिया के रूप में प्रयोग किया गया है तो कहीं असंयुक्त के रूप में --

दिखाई देती है[12], दिखाई पड़ता है[13]

दीखेगा[14], दीखते हैं[15]

१- किरात० -- द्विवेदी । २- मिश्र० विनोद-- मिश्रबन्धु । ३- सर०भाग ११ सं०६,पृ०४ (कविता) ४- चिन्तामणि-- शुक्ल । ५- हिन्दी-- बदरी०भट्ट । ६-(नीचे देखें)
७- हिन्दी-- बदरी०भट्ट । ८- पंचपात्र-- बख्शी । ९- चिन्तामणि-- शुक्ल ।
१०- ६- सरस्वती १९१७ की पां० में एक स्थान पर लेखक द्वारा लिखे गए `दिखते हैं` को काटकर द्विवेदी जी ने `दिखाई देते हैं` लिखा है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी को `दिखाई देना` शब्द अधिक व्याकरण सम्मत लगा न कि `दिखते हैं ।` १०- भा०भा०-गुप्त पृ०११५ ।११- हिन्दी-- बदरी०भट्ट,पृ०६१ । १२- हिन्दी -- बदरी० भट्ट,पृ०३२ ।
१३- चिन्तामणि-- शुक्ल,पृ०१६७ । १४- हिन्दी-- बदरी०भट्ट,पृ०३१ ।
१५- भा०भा० -- गुप्त, पृ० १२१ ।

ग. प्रेरणार्थक क्रिया के रूप में भिन्नता यथा--

दिखाती, दिखाती है[१]

दिखलाता है[२], दिखलाते हैं[३], दिखला रहे हैं[४], दिखला रही है[५]

सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि एक ही लेखक की एक ही रचना में भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं,जैसे --

(i) बख्शी जी कृत पंचपात्र में पृ०१८८ पर --

दो धाराएं स्पष्ट दिखाई देती हैं

उसमें एक अनिन्द्य सुषमा का दृश्य दिखलाता है ।

(ii) मैथिलीशरण गुप्त कृत 'भारत-भारती' में--

दिखलाई देते थे(पृ०११५)[६]

आज वे ही दीखते (पृ०१२१)

पथ हमें दिखला रहे (पृ०१२६)

(iii) बदरीनाथ भट्ट कृत 'हिन्दी' में --

दीखेगा(पृ०३१),दिखाई देता है (पृ०३२)

दिखलाई देते हैं(पृ०६१), दिखलाई पड़ते हैं(पृ०७३)

२. इसी तरह 'कहना' क्रिया के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं । परिनिष्ठित खड़ीबोली में आत्मनेपद[५] में 'कहना' का प्रेरणार्थक रूप 'कहलाना' नियम- संगत माना जाता है तथा द्विवेदी युग में भी परवर्ती शब्द का ही प्रयोग अधिक होने लगा, फिर भी पूर्व संस्कार की देन स्वरूप 'कहाना' के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं,यथा--

कहाते हैं[७], द्विजाभास कोरे कहाना नहीं[८]

तो फिर कहाती किस तरह अर्द्धांगिनी सुकुमारियां[९]

इतना अवश्य है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग पुरानी कविताओं में ही देखने को मिलता

३. दीखना क्रिया की भांति `सुनना` के द्विविध रूप भी द्रष्टव्य हैं, यथा--

चर्चा सुन पड़ती है,[1] ठुमरियां सुनाई देती हैं[2]

अलग-अलग लेखकों द्वारा तो भिन्न-भिन्न प्रयोग किये ही जा रहे थे, यद्यपि `सुनाई देना` के प्रयोग की शैली बहुसंख्यक प्रयोगकर्ताओं द्वारा मान्य थी ।

४. `मिटना` अथवा प्रेरणार्थक रूप में `मिटाना` का प्रयोग तो सर्व प्रचलित था ही साथ ही कुछ लेखकगण `मेटना` का प्रयोग भी कर रहे थे, जैसे --

भीम-भुजंग-ओष्ठ चुम्बन कर नश्वर देह दीजिए मेट[3]
यद्यपि हमारे मेटने को ठाठ कितने हैं ठने ।
वीरो! उठो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो। ।[4]
मेटूं कैसे यह अंतराय[5]
उसे अब तक कोई मेट नहीं सका[6]

ऐसे प्रयोग गद्य की अपेक्षा पद्य में अधिक हुए हैं किन्तु ये सर्वव्यापी न बनकर सीमित लेखकों एवं कवियों के निजत्व की सीमा में परिबद्ध होकर ही रह गये । उपर्युक्त प्रयोगकर्ताओं में मैथिलीशरण गुप्त के द्विविध प्रयोग से ही यह प्रकट हो जाता है कि इस प्रयोग को उन्होंने पूर्णत: अंगीकार नहीं कियाथा, यथा--

यूनान मिस्रादिक मिटे हैं किन्तु हम अब भी बने।
यद्यपि हमारे मेटने के ठाठ कितने हैं ठने ।[7]

यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त तथा सियारामशरण गुप्त दोनों भ्राताओं द्वारा किए गए समान प्रयोग को देखकर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि `मेटना` रूप का प्रयोग इनकी संस्कारगत तथा स्थानीय शैली थी ।

उपर्युक्त द्विविधताओं अथवा अनिश्चितताओं के होते हुए भी तत्कालीन क्रियाप्रयोग की सामान्य स्थिति को देखते हुए यह निश्चित हो जाता है कि इस दिशा में भी सुधार की प्रवृत्ति पूर्णत: वर्तमान थी, जिससे आगे चलकर एकादर्श की स्थापना हो सकी ।

क्रिया का सम्बन्ध उद्देश्य से होता है, अत: इसकी प्रयोगगत विधाओं पर `वाक्य` के अन्तर्गत प्रकाश डालना उपयुक्त है ।

१-हिन्दी--बदरी०भट्ट, पृ०८७। २-वही, पृ०९५ । ३- सर०ही०अंक, पृ०४७(कविता)--रा०च० उपा०--र०काल१९०७ई० । ४-भा०भा०--गुप्त, पृ०क्रमश: २६७, २७४ । ५-वि०अभि०ग्र०(पूजा) सिया०गुप्त, पृ०१ । ६- हिन्दी--बदरी०भट्ट, पृ०९५ । ७-भा०भा०--गुप्त, पृ० १६६।

३.५.अव्यय

१. रूप

विवेच्य-युगीन अव्यय शब्दों की रूप-रचना के सम्बन्ध में कोई विशेष बात उल्लेखनीय इसलिए नहीं है, क्योंकि ये शब्द अधिकांशतः अविकारी होते हैं, अर्थात् इनके रूप में संबंधित शब्दों के लिंग, वचन आदि के अनुसार परिवर्तन नहीं होता, यथा--

धुएँ का गोला शनैः शनैः चढ़ रहा था, धूप शनैः शनैः पृथ्वी पर उतरती जा रही थी, वे लोग मारे डर से खिसक गये, चोर चुपके से घर में घुस आया, तुम आजीवन सुखी रहोगे, वह आजीवन ऋण के बोझ से दबा रहा, भोजन के बिना तो कुछ दिन जीवित रहा जा सकता है, आवश्यक वस्तुओं के बिना कार्य नहीं हो सकता, मैं और तुम, लड़के और लड़कियाँ आदि ।

इनके अतिरिक्त जो विकारी अव्यय होते भी हैं, वे सर्वनाम तथा विशेषण के ही आकारान्त शब्द हैं, यथा--

हम सांसारिक बन्धनों में ऐसे जकड़े हुए हैं, तू कैसा लग रहा है, मैं इन विचारों में ऐसी उलझी हुई हूं, तुमने यह अच्छा कहा , तो तुम्हीं भले रहे, मुझे अकेली पाकर आदि ।

ऐसे शब्दों के रूपान्तर के नियम विभिन्न शब्द-भेदों के अन्तर्गत दे ही दिये गये हैं ।

२. प्रयोग

प्रयोगगत भेद के अनुसार किये गये नामकरण यथा--क्रिया विशेषण, सम्बन्धबोधक, समुच्चयबोधक एवं विस्मयादि बोधक अव्ययों का उल्लेख पुनरावृत्ति-दोष से बचने के लिए केवल `वाक्य` प्रकरण में करना ही पर्याप्त होगा, क्योंकि इनकी सार्थकता वाक्य के माध्यम से ही निर्देशित होती है ।

--०--

४

पदबन्ध

४

पदबन्ध

दो अथवा दो से अधिक शब्दों की समष्टि से बना वह विस्तृत रूप जो किसी एक शब्द-भेद के अन्तर्गत आता है, पदबन्ध कहलाता है । उदाहरणार्थ --

१. द्विरुक्तादि शब्द[1], यथा-- घर घर, जहां तहां, जैसे तैसे, जहां का तहां, आप ही आप, अच्छा बुरा आदि ।

२. समास -- गंठबन्धन, पाषाण हृदय, कर्मभूमि

३. कारक एवं सम्बन्धी शब्दों का समूह, यथा-- विष का घूंट, सांप के पहलुए, तत्वों की खोज आदि ।

४. संयुक्त क्रियाएं -- कहने दिया, बोलते जा रहे हो, कहता जाता है, आते जाते रहे, सजा लाये आदि ।

५. विशेषण विशेष्य का समूह -- ज्ञानी पुरुष, कुत्सित वृत्ति, अनहोनी बातें, अनेक ग्रन्थ, अधिकाधिक कृतियां, बहती गंगा, दलित मानव आदि ।

६. विविध शब्दों का समूह -- चाहे जो हो, हो या न हो, तिस पर भी, फिर क्या कहना, कई महात्माओं का समूह, भिन्न भिन्न मतावलम्बी आदि ।

१- द्विरुक्तादि शब्द व्युत्पत्ति तथा एकार्थता की दृष्टि से भले ही शब्द के विषय हैं, किन्तु रचनात्मक दृष्टि से ये वाक्यांश ही हैं ।

आलोच्य युगीन खड़ीबोली में भाषा-गठन के समष्टिगत विकास के साथ ही विभिन्न भावों-उपभावों के विश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति के साधन-रूप में पदबन्धों की अधिक वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त वाक्यों के कलेवर के विस्तार के साथ ही पदबन्धों के कलेवर में विस्तार भी इस युग की विशेषता है । तत्कालीन रचनाओं में प्राय: यह पाया गया है कि कालक्रम से जैसे-जैसे लम्बे-लम्बे वाक्य प्रयोग में लाये जाने लगे, वैसे-वैसे उन वाक्यों के अंग पदबन्ध भी विस्तृत होने लगे । विशेषत: संज्ञा तथा क्रिया विशेषण पदबन्ध । पदबन्धों के संक्षिप्त एवं विस्तृत कलेवर के प्रयोग में विधागत भेद भी कारणीभूत है । एक ओर कहानियों की भाषा के सरल होने और तदनुरूप छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग करने के कारण उनके पदबन्ध भी छोटे ही हैं,किन्तु निबन्धों(विशेषत: गवेषणात्मक एवं आलोचनात्मक) में जहां विषय की जटिलता है, वहां वाक्य के विस्तार के अनुरूप ही पदबन्ध भी विस्तृत होते गये हैं । तत्कालीन कविताओं में भी उक्त प्रकार की ही विशेषता परिलक्षित होती है । यद्यपि रचना की दृष्टि से इन पदबन्धों में कोई नवीनता दृष्टिगत नहीं होती,किन्तु रूप विस्तार के रूप में तत्कालीन प्रयोग महत्वपूर्ण हैं । अत: आलोच्य युग में व्यवहृत पदबन्धों के उदाहरण अधिक संख्या में न देकर केवल इतना दिखाना ही पर्याप्त है कि ये पदबन्ध कितने छोटे-से - छोटे रूप से लेकर बड़े-से-बड़े रूप में प्रयुक्त होने लगे थे । व्याकरणिक भेद के अनुसार इनका अवलोकन निम्नलिखित वर्गों में किया जा सकता है[१]--

१. संज्ञा पदबन्ध

इसमें संज्ञा तथा परसर्ग, संज्ञा शब्दों की द्विरुक्ति, कारक तथा तत्सम्बन्धी शब्दों के समूह एवं विशेषण के योग से निर्मित एक ओर छोटे से छोटे पदबन्ध हैं तो दूसरी ओर उक्त शब्दों को विस्तृत रूप देने वाले सहयोगी शब्दों के योग से बने लम्बे-लम्बे पदबन्ध भी अधिक प्रयोग में लाये गये हैं । उदाहरण रूप में छोटे से छोटे पदबन्धों से लेकर बड़े से बड़े पदबन्ध क्रमानुसार इस प्रकार है --

संज्ञा + परसर्ग	-- महेश ने, सिन्धु की
संज्ञा + संज्ञा	-- जन जन
	कोष-विभाग
संज्ञा+परसर्ग+संज्ञा	-- घर का घर
	पंडितों का कथन
	विपद पर विपद
	अंग्रेजों ही का दौर दौरा

१- अगले पृष्ठ पर देखें ।

समय का नष्ट करना

हे आर्य कुल देवियो

विशेषण+संज्ञा-- कुत्सित विचार

मरा बैल

एक लाख रुपये

छोटे से ग्रन्थ (में)

चांद सा मुखड़ा

निज निज गृह (में)

लिपा पुता घर

संज्ञा एवं विशेषण का

विस्तार + संज्ञा --देश देश के राजे

बने दिनों की याद

हमारी अन्य त्रुटियां

दिव्य प्रेम का लोक

उनकी अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएं

ऊपर लिखी बातों से

इन चौबीस करोड़ मनुष्यों में

एक प्रान्त में प्रकाशित होने वाले पत्रों का

इकतीस से आगे के श्लोकों की रचना पर

प्रतिबिम्ब को बिम्ब तक पहुंचाने का साधन

यह तथा हमारी अन्य त्रुटियां यदि क्षमा की जाने योग्य हों तो (क्षमा की जायं)[1]

२. सर्वनाम पदबन्ध

सर्वनाम + सर्वनाम -- कोई कोई

सर्वनाम+परसर्ग+सर्वनाम -- कुछ का कुछ

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी संख्या--१)

१- विभिन्न वर्गों के अन्तर्गत दिये गये उदाहरणों में दो-तीन शब्दों से बने पदबन्धों के सन्दर्भ देने की आवश्यकता इसलिए नहीं है, क्योंकि ऐसे पदबन्ध सामान्यत: प्रयुक्त मिलते हैं, किन्तु विशिष्टरूप में जो दीर्घकाय पदबन्ध प्रयुक्त हैं उनके सन्दर्भ यथास्थान दिये आवश्यक हैं।

१- किरातार्जुनीय (अनु०)--म०प्र० द्विवेदी (भूमिका)

सर्वनाम+ अव्यय + सर्वनाम -- कुछ न कुछ
मैं ही मैं

विस्तार सहित विशेषण + सर्वनाम | -- मेरे सुख दुख का विधाता वह
अपने ही पुत्रों से सताया गया मैं

सर्वनाम पदबन्धों सीमित होते हैं और वे भी प्राय: द्विरुक्तादि शब्दों की कोटि में ही आते हैं।

३. विशेषण पदबन्ध

विशेषण + विशेषण-- सुन्दर सुन्दर
खरा खोटा
अति कोमल
सबसे सुन्दर
अतिशय उदार

विशेषण+परसर्ग।प्रत्यय+विशेषण -- ढेर को ढेर
रामानुज के आश्रित
विद्वानों द्वारा उल्लिखित
कमल सा कोमल
हरिश्चन्द्र से सत्यवादी
परमहंस सम महात्मा
बहुत ही कम
एक न एक
मुगलों का बनवाया हुआ

४. क्रिया पदबन्ध

संयुक्त क्रियाएं तो पदबन्ध होती ही हैं, इनके अतिरिक्त संज्ञा, सर्वनाम विशेषण पदबन्धों के अतिरिक्त वाक्य का प्राय: सम्पूर्ण अंश क्रिया पदबन्ध में ही लिया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप --

आओ आओ — हट हट

जाओ न जाओ — कहो या न कहो

चलते चलते थक गये — गाते बजाते बढ़ रहे हैं

उखड़ी उखड़ी दिखाई देती हो — कटिबद्ध होकर अपने लक्ष्य पर बढ़ते चले जाते हैं

आदि ।

५. क्रियाविशेषण पदबन्ध

संज्ञा पदबन्धों की भांति क्रियाविशेषण पदबन्धों में भी कलेवर विस्तार की अधिक सम्भावना रहती है । अत: आलोच्ययुगीन खड़ीबोली में विभिन्न शब्दों से निर्मित क्रिया पदबन्धों[1] के छोटे से लेकर लम्बे से लम्बे रूपों का प्रयोग मुक्तरूप से किया गया है । उदाहरणस्वरूप --

तब तक

कोसों तक

ज्यों की त्यों

आप से आप

तिस पर भी

कुछ दिन पीछे

सिवा इसके कि

परन्तु फिर भी

यहां तक कि

चाहे जो हो

फिर क्या कहना

हो या न हो

क्षण भर में ही

तिस पर भी तुर्रा यह कि[2]

१- संज्ञा पदबन्धों की भांति क्रिया विशेषण पदबन्धों के भी लघुरूपों के सन्दर्भ न देकर केवल विस्तृत रूप के ही सन्दर्भ देने की आवश्यकता समझी गई है ।

२- सर०अ०पि०पु० भाग १५ सं० १, पृ०२४ ।

पीछे न जाने कितनी बार[1]

हिन्दी लिखना आरम्भ करने से पहले[2]

भाषा के अनेक अंगों पर बहुत दिनों तक विचार करने के उपरान्त[3]

व्याकरण रटते रटते और कोशकण्ठ करते करते[4]

अपने अध्यात्मवाद के लिए पद्मावत की कहानी चुनकर और

पद्मावत की कहानी में आध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर[5]

वास्तव में रचनात्मक दृष्टि से द्विवेदी युगीन भाषा के पदबन्धों का अवलोकन करने पर पूर्व की अपेक्षा कोई विशिष्टता दृष्टिगत नहीं होती, किन्तु स्वरूपगत एवं प्रयोगगत दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस युग के लेखकों की प्रवृत्ति अधिक से अधिक शब्द-समूहों से निर्मित अधिकाधिक पदबन्धों से युक्त वाक्यों के प्रयोग की ओर अधिक झुकती गई है (दे०--वाक्य प्रकरण भी)। अर्थ की दृष्टि से तत्कालीन पदबन्ध-प्रयोग पर 'अर्थ' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जायेगा।

-o-

१- द्विवेदी पत्रावली -- मै०श० गुप्त, पृ०४५। २- द्वि०अभि०ग्र०-रामचन्द्र शुक्ल, पृ०३३६

३- वही।　　४- सा०सी०-- म०प्र० द्वि०, पृ०६६।

५- द्वि०अभि०ग्र०--पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ०४००-- बड़थ्वाल की इस रचना में बड़े बड़े वाक्यों के प्रयोग के कारण पदबन्धों का दीर्घकाय होना भी स्वाभाविक है।

५

वाक्य-पद्धति

५

वाक्य- पद्धति

`वाक्य` भाषा की सबसे छोटी इकाई `ध्वनि` से लेकर `पदबन्धादि` अवयवों से गठित पूर्ण इकाई है। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा प्रयुक्त अथवा युग-विशेष में प्रचलित भाषा के संगठन, रीति अथवा शैली के अवलोकनार्थ उसके निर्मायक उपादान `वाक्य` का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। अत: जब हम खड़ीबोली हिन्दी के विकास में द्विवेदी-युग के योगदान का मूल्यांकन करते हैं तो तत्कालीन वाक्य-रचना सम्बन्धी विभिन्न शैलियों के अध्ययन की बात स्वत: मुखर हो उठती है।

उक्त दृष्टिकोण से आलोच्यकालीन वाक्य-पद्धति के अध्ययन के विषय के मुख्य दो विभाग किये जा सकते हैं -- (१) पद-योजना, (२) वाक्य-रूप।

५.१.पद-योजना

हिन्दी-वाक्य-रचना-विधान के अन्तर्गत विभिन्न गुण-सूचक तत्व-आकांक्षा, आसक्ति तथा योग्यता के साथ ही रचनात्मक तत्व --`पदान्वय अथवा पद सम्बन्ध` तथा `पद-क्रम अथवा पद-समीपता` का अध्ययन भी अपेक्षित है। अत: उक्त सम्पूर्ण तत्वों के आधार पर नियोजित द्विवेदी युगीन पदों का अध्ययन भी अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है --

१. आकांक्षा तथा अध्याहार

वाक्य की पूर्णता-हेतु अपेक्षित पदों की स्थापना ही `आकांक्षा` का विषय है। द्विवेदी-युग में व्याकरणिक नियमों के अन्तर्गत पदाकांक्षा पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया

गया । जैसे उद्देश्य के साथ विधेय, विधेय के साथ कर्म अथवा पूरक शब्दों का आना आदि । ये आकांक्षित पद प्राय: तो अपने आकांक्षी शब्द के साथ आते ही हैं, किन्तु कुछ स्थितियों में कुछ पदों का लोप होने पर भी अर्थ पूरा हो जाता है, उदाहरणार्थ--

(१) `भैया तुम कहां जा रहे हो ?`

(२) `कहीं नहीं`

वाक्य संख्या(१) में अर्थ की पूर्णता-हेतु एक दूसरे से सम्बन्धित सभी पद उपस्थित हैं, किन्तु वाक्य संख्या (२) में केवल अव्यय में ही कर्ता तथा क्रिया का भी अस्तित्व निहित है । इस प्रकार वाक्य से शब्दों का लोप करके उसका संक्षेपीकरण करना ही `अध्यवहार` है ।

द्विवेदी-युग में वैसे तो सम्पूर्ण आकांक्षित पदों से युक्त वाक्य की योजना हुई ही है, यथा--

`प्रश्नोत्तर रत्न माला नामक ३२ श्लोकों का पुस्तक देखने में बहुत ही छोटा है, परन्तु उसका उपदेश अमूल्य और सर्वमान्य होने के कारण प्राचीनकाल से ही वह रत्नों के माला के समान कण्ठ में धारण करने योग्य हो जाता है[१]`

`यह आपके हौसले की बुलन्दी की एक मिसाल है । अगर मैं यह कहूं कि आप भारत के दिमाग हैं तो वह मुबालगा न होगा[२]`

यहां तक कि युग-प्रणेता पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी भी प्राय: वाक्य में सम्पूर्ण आवश्यक पदों के न्यास के प्रति सतर्क रहते थे । `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई कृतियों में किये गये संशोधन उनकी उक्त प्रवृत्ति के प्रमाण हैं, यथा--

(१) मूल-- मैं अपने स्थान से उठा और अपने एक नए एकान्तवासी मित्र के यहां जाना विचारा-- जाकर देखा तो वे ध्यान मग्न सिर नीचा किए हुए कुछ सोच रहे थे ।

सुधार-- मैं अपने स्थान से उठा और अपने एक नए एकान्तवासी मित्र के यहां मैंने जाना विचारा--जाकर मैंने देखा तो वे ध्यानमग्न सिर नीचा किए हुए सोच रहे थे[३]।

१- स०पां०, १६०६-- गौरीशं०हीराचन्द ओझा । २- कुछ विचार-- प्रेमचन्द

३- स०पां० १६०३-- `ग्यारह वर्ष का समय`-- शुक्ल ।

(२)मूल-- उसने ज्ञात किया कि नदी तल पर फैले हुए कुमुदिनी के
चौड़े चौड़े पत्ते.....
सुधार-- उसने ज्ञात किया है कि नदी तल पर फैले हुए कुमुदिनी
के चौड़े चौड़े पत्ते.....[1]

किन्तु इतना होते हुए भी विषय की विविधता एवं तदनुरूप विभिन्न शैलियों को अपनाये जाने के कारण इस युग में `अध्याहृत` वाक्यों का प्रचलन अधिक हो गया । हां, इतना ध्यान अवश्य रखा गया कि शब्दों का`लोप` अथवा वाक्य का `संक्षेपीकरण` ऐसा हो, जिससे व्याकरण के नियम का उल्लंघन न हो । इतिवृत्तात्मक विषयों के वाक्य तो प्राय: सम्पूर्ण अंगों से पूर्ण हैं,किन्तु भावात्मक एवं विचारात्मक निबन्धों,संवादों तथा कविता के छन्दों में प्राय: अध्याहृत वाक्यों का प्रयोग हुआ है,उदाहरणार्थ--

निबन्धों में अधिकांशत: क्रिया अथवा कभी-कभी कर्ता आदि का लोप उस स्थिति में होता है, जब वाक्य मिश्रित अथवा संयुक्त होता है और उस अर्थ का द्योतक क्रिया अथवा कर्ता अथवा अन्य शब्द सम्बन्धी उपवाक्य में आ चुका होता है, यथा--

उसमें वस्तु की ओर लक्ष्य है व्यक्ति की ओर नहीं(   )।
ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्धा वस्तुगत (   )।[2]
कितने तरह के रंग थे और कितने तरह की रेखायें (   )।
पहले सौन्दर्य से विकार होता है दूसरे (   ) से प्रेम और
तीसरे (   ) से भक्ति और तन्मयता(   )[3]
साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है-- राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गन्दे नालों के अन्दर ऊषा की लाली में, सावन भादों की अंधेरी रात में ।[4]
वह सोचने लगी--हाय(   ) कितनी निर्दय है[5]

कभी-कभी वाक्य का सम्बन्ध किसी विशेष काल से न होकर सब कालों से होता है, तो ऐसी स्थिति में सहायक क्रिया का लोप कर दिया जाता है, जैसा कि द्विवेदी जी

१- सर०,पा० १९०४-- सूर्यनारायण दीक्षित ।   २- चिन्तामणि -- शुक्ल
३- पंचपात्र -- बख्शी ।   ४- कुछ विचार -- प्रेमचन्द ।
५- बूढ़ी काकी -- प्रेमचन्द ।

द्वारा किये गये सुधार से स्पष्ट हो जाता है--

मु०-- अतएव शब्दों का उच्छेद हुए बिना उनकी व्युत्पत्ति के उच्छेद की कभी सम्भावना नहीं है ।

सु०-- अतएव शब्दों का उच्छेद हुए बिना उनकी उत्पत्ति के उच्छेद की कभी सम्भावना नहीं[1] ।

इसी प्रकार वाक्य में अल्प शब्द-प्रयोग की प्रवृत्ति का प्रचलन होने के कारण आलोच्य युग में प्राय: सहायक क्रिया का लोप कर दिया गया है,यथा--

यदि हमारे पास कोई वस्तु नहीं है और दूसरा प्राप्त करता है तो वह इस उद्देश्य से नहीं प्राप्त करता कि उससे हम अपनी हेठी समझ कर दुखी हों[2] ।

परन्तु कविता की भाषा में तो मात्राओं की पूर्णता के हेतु ही प्राय: सहायक क्रिया का लोप हो जाता है,यथा--

है कांखता कोई कहीं,कोई कहीं रोता पड़ा

....

गिरकर कभी उठते वहां, उठकर कभी गिरते वहां

....

कृमि कीट खग मृग आदि भी भूखे नहीं सोते कभी

....

कुछ समझ पड़ता है नहीं[3]

कविता में तुक,लय,मात्रा आदि के कारण कहीं-कहीं ऐसे अध्याहार के उदाहरण से भी मिलते हैं, जहां शब्द का लोप होना दोषपूर्ण प्रतीत होने लगता है,यथा--

सजनि सदा श्रम हरती हो तुम

पथिकों का, (   ) शीतल करके[4]

१- सर०पां० १६०६-- शब्दरहस्य-- ब्रजनन्दनसहाय ।   २- चिन्तामणि -- शुक्ल

३- भा०भा० -- गुप्त ।   ४- छाया -- पंत ।

उक्त पंक्तियों में शीतल करने की क्रिया के कर्म का लोप हो जाने से अन्वय में अपूर्णता आ जाती है।

संवादों में तो प्राय: अनेक शब्दों का लोप होकर पूर्व सम्बन्ध के आधार पर एक शब्द से ही वाक्य पूर्ण होता है, यथा--

सच[1]

क्यों[2]

क्यों नहीं[3]

फिर[4]।

कहानी कला के विकसित रूप में ऐसे वाक्य अधिक प्रयुक्त हैं, उदाहरणार्थ--

'और कुछ'

'हां'

'क्या'

तुम्हारा और रजनी का विवाह

'नहीं, लता'

'क्यों नहीं'[5]

आधुनिक रचनाओं में उक्त शैली की ही प्रधानता है।

द्विवेदी-युगीन वाक्य-रचना में अल्प शब्द-प्रयोग अथवा अध्याहार की शैली यद्यपि विभिन्न विधाओं में अपनाई जाने लगी थी और उसका प्रभाव भाषा की व्याकरणिकता पर अधिक नहीं पड़ा, फिर भी उक्त प्रवृत्ति के कारण तत्कालीन भाषा में कतिपय स्थलों पर अन्वय दोष आ ही गये हैं, यथा--

सजनि सदा श्रम हरती हो तुम, पथिकों का शीतल करके[6]

उपर्युक्त पद्यांश के दूसरे चरण में कर्म का लोप होना दोषपूर्ण है। इसी प्रकार कविता में प्राय: प्रत्ययों अथवा परसर्गों का लोप हुआ मिलता है, जिससे अर्थ की सहजता में व्यवधान उपस्थित होने की आशंका रहती है, यथा--

----

१- पंचपात्र-- बख्शी, पृ०८० ।　　　　२- वही, पृ०८४ ।

३- वही ।　　　　४- अनाथ पत्नी -- भगवती प्रसाद वाजपेयी ।

५- सर०हीर० अंक(कहानी)--धनीराम प्रेमी, र०काल १९३२ ।

६- छाया -- पंत ।

`श्रवण से जिसको गुरु गर्जना
कंप उठा सहसा उर दिग्वधू`[1]

उपर्युक्त छन्द में `श्रवण` के साथ `करना` कृदंत के विकृत रूप के योग से अभीष्ट अर्थ `सुनना` सिद्ध होता है अन्यथा `श्रवण` संज्ञा `कान` के अर्थ में लिया जा सकता है। इसी प्रकार `दिग्वधू` के सम्बन्ध बोधक प्रत्यय `का` के लोप हो जाने पर वह भी `उर` का समानान्तर `कर्ता` कारक प्रतीत होने लगता है। यद्यपि ऐसे प्रयोग दोषपूर्ण हैं, किन्तु तत्कालीन प्रतिनिधि कवियों ने तुकबंदी की चिन्ता में तथा भावना के प्रवाह में बहकर प्रत्ययादि की अवहेलना कर दी है।

कहीं-कहीं गद्य में भी लोप-जनित त्रुटियां दिखाई पड़ती हैं, उदाहरण के लिए वाक्य है--

मैंने अकबर के सामने तलवार उठाई और लड़ा भी।

इस वाक्य में मुख्य उपवाक्य के समान स्वतन्त्र उपवाक्य `लड़ा भी` स्थान रचना की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु उद्देश्य के साथ इसका अन्वय दोषपूर्ण है, क्योंकि `लड़ना` अकर्मक क्रिया है, अत: क्रिया के भूतकालिक रूप के साथ प्रत्यय रहित उद्देश्य `मैं` होना चाहिए।

किन्तु अध्याहार सम्बन्धी ये दोष द्विवेदी-उत्तरकाल की रचनाओं में और भी देखने को मिलते हैं। `सरस्वती हीरक जयन्ती अंक में १९४२ के `सरस्वती` अंक से संकलित रचना से उद्धृत वाक्य द्रष्टव्य हैं--

`कल्लूमल ने देखा और लौट आया`
`रामदीन ने उसके कान के पास मुंह ले जाकर कुछ कहा और फिर उसकी ओर देखकर बोला --` आदि

प्राय: बल देने के लिए अनपेक्षित अथवा अनावश्यक शब्दों का प्रयोग भी कर दिया जाता है, यथा--

`लेकिन फिर भी सुखी जीवन के लिए नीरोग शरीर लाजिमी चीज है`[2]

किन्तु आज की अपेक्षा द्विवेदी-युग में इन दोहरे शब्दों का अथवा अनावश्यक शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक नहीं दिखाई देती। अनावश्यक शब्दों के निषेध के लिए भी द्विवेदी जी ने कहीं-कहीं लेखनी चलाई है, यथा--

----

१- प्रियप्रवास -- हरिऔध। २- स०पां०, १९०३(कहानी) -- शुक्ल।

मूल० -- इसी कारण से मैं विशेष पूछ पाछ नहीं करता ।
सुधार-- इसी कारण मैं विशेष पूछ पाछ नहीं करता[1] ।
(शेष दे० द्विवेदी जी द्वारा सुधार)

२. आसक्ति

आसक्ति में दो बातें आती हैं-- एक, उच्चारण सम्बन्धी-- जैसे,एक पद कहने के पश्चात् ही क्रम भंग न करते हुए दूसरा पद कहना । दूसरा, लेखन एवं उच्चारण दोनों से सम्बन्धित अर्थात् एक वाक्य के अन्तिम पद अथवा पदबन्ध को दूसरे वाक्य में दोहराते हुए पूर्वापर वाक्यों को परस्पर गुम्फित करना[2] । आलोच्ययुगीन साहित्यिक भाषा के अध्ययन में आसक्ति गुण का विवेचन इसलिए अधिक महत्व नहीं रखता,क्योंकि एक तो इसका अधिक सम्बन्ध मौखिक भाषा में है, जब कि यहां विचार लिखित भाषा का करना है। दूसरे, वाक्य के अन्तिम पद या वाक्यांश को दोहरा कर एक वाक्य को दूसरे वाक्य से जोड़ने की शैली पुराने किस्से-कहानियों में अपनाई जाती रहा है--यथा--

'एक लड़की थी । उस लड़की का जन्म आर्द्रा नक्षत्र में हुआ था ।
आर्द्रा नक्षत्र में जन्म होने के कारण.... '

आलोच्य-युग में इस प्रकार की शैली को इतर साहित्यिक शैली माना जाने लगा था ।

३. योग्यता / उपयुक्तता

वाक्य की योग्यता उसमें(वाक्य में) पिरोये गये शब्दरूपी मनकों की योग्यता अथवा औचित्य पर निर्भर करता है । वस्तुत: कोई भी वाक्य सार्थक तभी सिद्ध होगा, जब उसके शब्द उपयुक्त अर्थबोधक होंगे । जैसा कि अन्य भाषाविदों ने उदाहरण प्रस्तुत किया है-- यदि कोई कहता है कि ' खेत आग से सींचा गया अथवा सींचा जा रहा है' तो यहां वाक्य की अयोग्यता सिद्ध होती है,क्योंकि चाहे अभिधात्मक दृष्टि से अथवा लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक दृष्टि से आग द्वारा खेत का सींचा जाना कभी सम्भव नहीं, किन्तु यदि कहा जाय कि अमुक व्यक्ति ने अपनी लड़की को कुएं में ढकेल दिया' तो यह वाक्य सभी अर्थों(अभिधा,लक्षणा,व्यंजना) में उपयुक्त हो सकता है । इसी प्रकार यदि

१- सर०पां० १६०३(कहानी)-- शुक्ल

२- उदाहरण के लिए दे० हि०सा० का वृ०इति०--द्वि०भाग,पृ०३६६ ।

कोई कहता है कि 'तुम उल्लू हो' तो मानव का उल्लू होना अभिधात्मक दृष्टि से भले ही उपयुक्त न हो, किन्तु लाक्षणिक दृष्टि से तो यह वाक्य मूर्ख व्यक्ति के अर्थ में उपयुक्त ही है। --उपर्युक्त उदाहरणों को मोटे तौर पर शब्द एवं वाक्य की योग्यता के एक भेद के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

अर्थ एवं भाव की गहराई में प्रवेश करने के लिए इस 'योग्यता' गुण के अन्तर्गत वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का मूल्यांकन कई दृष्टिकोणों से किया जा सकता है।

द्विवेदी-युग में भाषा के क्षेत्र में समयानुकूल व्याप्त सुधारवादी प्रवृत्ति के कारण तथा स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्वारा अंगीकृत सुधारवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप (द्विवेदी जी का ध्यान सबसे अधिक शब्द-प्रयोग के औचित्य की ओर ही गया था) इसके क्षेत्र में शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध में जो प्रवृत्तियां अपनाई गई, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है--

१. शब्दों अथवा पदों के परस्पर सम्बन्ध के अनुरूप भाषागत तादात्म्य स्थापित करना

भाषा की परिनिष्ठता को अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक है कि परस्पर सम्बन्धित शब्दों में भाषागत समानता हो। उदाहरणार्थ--

'विशाल आंखें' अथवा 'बड़े बड़े नेत्र'

कहने पर सम्बन्धी शब्दों में एकात्मता स्थापित नहीं हो पाता है। उक्त वाक्यांशों में एकात्मता तभी स्थापित होगी, जब 'आंखें' के स्थान पर 'नेत्र' अथवा 'बड़े बड़े' के स्थान पर 'विशाल' शब्द का प्रयोग किया गया। इसी प्रवृत्ति पूर्वापर शब्द को ध्यान में रखकर अपनाई जानी चाहिए। भारतेन्दु युगीन भाषा में इस सम्बन्ध में प्राय: अनियमितताएं पाई जाती हैं, किन्तु द्विवेदी-काल की भाषा में उत्तरोत्तर सुधार हुआ दिखाई देता है। 'सरस्वती' पत्रिका के लिए आई हुई कृतियों में द्विवेदी जी के सुधार स्वयं इस बात के साक्षी स्वरूप हैं, यथा--

क. संस्कृत शब्द को काट कर हिन्दी/उर्दू शब्द की स्थापना--

मूल-- भावों को प्रगट करने के अर्थ होता है।
सुधार-- भावों को प्रगट करने के लिए होता है।[१]

१- स०पा०, १९०३ (कहानी) -- शुक्ल।

मूल-- या तो वह सहस्र मुद्रा जुर्माने का दाखिल करे | [1]
सुधार-- या तो वह एक हजार रुपया जुर्माने का दाखिल करे।

मूल -- मेरे मकान के सामने ही एक छोटी सी वाटिका थी । [2]
सुधार-- मेरे मकान के सामने ही एक छोटी सी बगिया थी ।

ख. हिन्दी/तद्भव/फ़ारसी शब्द को काटकर संस्कृत शब्द की स्थापना --

इस प्रकार के सुधार (विशेषत: फ़ारसी शब्दों के स्थान पर संस्कृत के सरल शब्दों की स्थापना सम्बन्धी) द्विवेदी जी ने अधिक किये हैं, जिनका उल्लेख शब्द-योजना के अन्तर्गत भी किया गया है ।

मूल -- तांबा पत्र । [3]
सुधार-- ताम्र पत्र ।

मूल -- अलग अलग मजहबों और जातियों में ...... [4]
सुधार-- भिन्न भिन्न सम्प्रदायों और जातियों में...

मूल -- क्योंकि सृष्टि और स्रष्टायें ऐसी चीज़ें हैं । [5]
सुधार-- क्योंकि सृष्टि और स्रष्टा ये ऐसी वस्तुएं हैं।

मूल -- पाश्चात्य विज्ञान की बड़ी क़द्र रहा करती है। [6]
सुधार-- पाश्चात्य विज्ञान की बड़ी प्रतिष्ठा है

मूल -- मनुष्य विज्ञान से बहुत कुछ तकलीफ और आराम दोनों उठा सकता है । [7]
सुधार-- मनुष्य विज्ञान से सुख और दु:ख दोनों बहुत कुछ उठा सकता है ।

२. अर्थ-सम्बन्ध/ अर्थ की उपयुक्तता की दृष्टि से शब्द-चयन

शब्दार्थ सम्बन्धी सूक्ष्म ज्ञान की अनभिज्ञता, व्याकरण की अल्पज्ञता अथवा पारम्परि धारा में गतिरोध रहित प्रवाहितता के फलस्वरूप प्राय: लेखकगण ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो अपने सहयोगी शब्दों के साथ अर्थ का समन्वय स्थापित नहीं कर पाते अथवा

१-सर०पा०,१६०६ 'भूल भुलैया' --शिवकु० चतु० । २-सर०पा०सित०१६१७-तोताराम गुप्त ।
३-सर०पा०,१६१७--कृष्ण विनायक फड़के । ४-सर०पा०१६१७--कृष्ण विनायक फड़के ।
५-सर०पा०,१६१७--कौशलेन्द्रप्रसाही । ६- वही
७- वही ।

स्थान विशेष पर उनका अर्थ उपयुक्त नहीं बैठता । जैसे-- यदि कहा जाय कि `अमुक बालक बड़ा कुशल है` अथवा `अमुक राजा ने एक भव्य स्मारक बनाया` तो इन वाक्यों में कुशल के साथ `बड़ा` विशेषण तथा `राजा` उद्देश्य के साथ `बनाया` क्रिया की संगति नहीं बैठती । `बड़ा` के स्थान पर `बहुत` अथवा `अति` तथा `बनाया` के स्थान पर `बनवाया` प्रेरणार्थक रूप होना चाहिए ।

द्विवेदी पूर्व खड़ीबोली में उक्त प्रकार की अनेक अनियमितताएं वर्तमान है तथा पूर्व संस्कार के फलस्वरूप आलोच्य-युग में भी ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं, उदाहरणार्थ--

(क) संज्ञा सम्बन्धी--

`साहित्य में दूसरी कक्षा के कवि भी हैं अथवा उस काल में दूसरी कक्षा के ही कवि (2nd rate poet ) हुए हैं`[1]

उपर्युक्त वाक्यों में `श्रेणी` के स्थान पर `कक्षा` शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता ।

(ख) विशेषण सम्बन्धी --

परिमाणवाचक विशेषण `बहुत`, `अधिक` आदि के स्थान पर गुणवाचक विशेषण `बड़ा` का प्रयोग जो भारतेन्दु-युग तथा उसके पूर्व से ही चला आ रहा था, उस त्रुटि से द्विवेदी-युगीन लेखकगण भी प्राय: अनभिज्ञ रहे, क्योंकि तत्कालीन अनेक लेखकों की भाषा में `बड़ा` शब्द ही प्रयोग मिलता है, यथा--

बड़ी सरस, बड़ा ही उत्कृष्ट, बड़ी चर्चा हो रही थी[2]

इसी प्रकार `मिश्रबन्धु विनोद` में ही प्रयुक्त `ग्रन्थ` एवं `कवि` विशेष्यों के विशेषण के रूप में `भारी` शब्द उपयुक्त नहीं लगता, यथा--

एक भारी ग्रन्थ बनाया, `भारी` कवि थे ।

उपर्युक्त विशेषणों के स्थान पर `बड़ा` अथवा `बड़े` शब्द का प्रयोग उचित था ।

(ग) क्रिया सम्बन्धी --

(१) `भोज ने भोज पात्र नाम..... एक बहुत बड़ा समुद्र सा तालाब पहाड़ों को बांध कर बनाया`[3]

१- मिश्र०विनोद-- मिश्र ।   २- वही तथा पंचपात्र-- बख्शी ।

३- द्वि०अभि०ग्रन्थ -- काशी० जायसवाल ।

(२) पंच सहेली नामक पुस्तक बनाई....इनके बनाए हुए रुक्मिणीमंगल और छप्पय नीति नामक दो ग्रन्थ सुने जाते हैं।[१]

वाक्य संख्या(१) में उद्देश्य`भोज` ने तालाब `बनाने` का कार्य स्वयं न करके दूसरों से `बनवाया` होगा, अतः यहां `बनाया` का प्रेरणार्थक रूप`बनवाया` होना चाहिए। इसी प्रकार वाक्य (२) में `पुस्तक` कर्म के साथ `बनाई` अथवा `बनाए हुए` क्रिया अथवा कृदंत का प्रयोग उपयुक्त नहीं है।`पुस्तक` के साथ `रचना करना` अथवा `लिखना`क्रिया का सम्बन्ध उचित है।

इसी सम्बन्ध में कुछ अन्य असंगत उदाहरण भी द्रष्टव्य है,यथा--

इस ग्रन्थ में लेखकों के वर्णन लिखे हैं |
कहीं कहीं अनुमान से भी वर्णन लिख दिए गए हैं | [२]

उपर्युक्त वाक्यों में संयुक्त क्रिया के रूप में वर्णन संज्ञा के साथ `करना` सहयोगी क्रिया का योग उचित था न कि `लिखना` का। स्वयं उपर्युक्त प्रयोगकर्ता लेखक ने अपनी उक्त रचना में ही अन्यत्र `करना` शब्द[३] का प्रयोग किया है, यथा--

वर्णन कर देते हैं

द्विवेदी पूर्व भाषा में जहां `आज्ञा` उपदेश, `धन्यवाद` आदि के साथ सहयोगी क्रिया `करना` के योग का प्रचलन अधिक था, जैसे आज्ञा करना, उपदेश करना,`धन्यवाद करना` आदि, वहां आलोच्य-युग में यह प्रचलन अधिक कुछ कम हो गया और `करना` के स्थान पर `देना` शब्द का प्रयोग सामान्यतः होने लगा, जैसे --

राजा ने उसे आज्ञा दी[४], दूसरों को उपदेश देते हैं[५],धन्यवाद दिया[६]

फिर भी इस युग में भी इतस्ततः युग-पूर्व-प्रयोग की प्रक्रिया दिखाई पड़ ही जाती है यथा--

जिन्हें[७] अपने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को गीता का उपदेश करते हुए प्रकट किया था।

जिनके प्रकाशन के लिए उसे किसी ने प्रेरणा न की थी[८]

१- मिश्र०विनोद -- मिश्र। २- मिश्र०विनोद-- पृ०। ३-वही ४- किराता०-- द्विवेदी। ५- कुछ विचार -- प्रेमचन्द। ६- पंचपात्र--बख्शी। ७- भा०भा०--प्रस्तावना--गुप्त ८- समालोचना समुच्चय -- द्विवेदी।

संयुक्त क्रियाओं में जहां विशेषण होना चाहिए, वहां संज्ञा से ही कार्य लेना भारतेन्दु परम्परा की ही देन है, जैसे --

एक चित्र प्रकाश हुआ करता था[1]

किन्तु द्विवेदीयुगीन भाषा में ऐसे प्रयोग अधिक नहीं मिलते ।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकार के दोष आलोच्ययुगीन भाषा में भी वर्तमान थे, किन्तु कुछ तो तत्कालीन साहित्यिकों के स्वयं के प्रयास से तथा कुछ द्विवेदी जी द्वारा किये गये सुधारों अथवा सुधार के सम्बन्ध में दिये गये निर्देशनों के फलस्वरूप इस क्षेत्र में पर्याप्त संस्कार भी हुआ, इस सम्बन्ध में भी द्विवेदी जी द्वारा किये गये सुधारों के कुछ नमूने प्रस्तुत किये जा सकते हैं, यथा--

(क) संज्ञा, सर्वनाम सम्बन्धी-- मूल -- साधारण पुरुषों की दृष्टि में। [2]
सुधार--साधारण जनों की दृष्टि में

मूल --मनमोहिनी सतोगुणी अवस्था दिखाते हैं। [3]
सुधार--मनमोहिनी सतोगुणी छटा दिखाते हैं

मूल --जिसके धारण करने से हर कोई द्विज हो सकता है । [4]
सुधार--जिसके धारण करने से हर आदमी द्विज हो सकता है ।

(ख) विशेषण सम्बन्धी-- मूल --महाकवि के इस पद्य में [5]
सुधार--महाकवि के निर्दिष्ट पद्य में।

मूल --जो दृढ़ प्रयत्न कर रहे हैं वे बड़े ही उपयोगी हैं[6]
सुधार--जो दृढ़ प्रयत्न कर रहे हैं वे बहुत ही प्रशंसनीय हैं ।

मूल -- सुन्दर भयानक छोटे बड़े जीवजन्तु। [7]
सुधार--अद्भुत अद्भुत जीवजन्तु

१- हिं०भा० -- बा०मु० गुप्त । २- सर०पां०, १९२० आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से रचना । ३- सर०पां०, १९०६ -- पूर्ण सिंह । ४- सर०पां० १९१७ ।
५- सर०पां० १९२० । ६- सर०पां०, १९१६ लंदन की रचना ।
७- सर०पां० १९०६ ।

उपर्युक्त मूल लिपि में `सुन्दर` के साथ भयानक शब्द के प्रयोग से अर्थ की असंगति सिद्ध होती है, अत: सम्पादक द्वारा उक्त दोनों शब्दों के स्थान पर रखे गये शब्द उचित हैं।

(ग) क्रिया सम्बन्धी --

मूल-- हृदय की ग्रन्थि किस तरह से टूटती है [1]
सुधार-- हृदय की ग्रन्थि किस तरह से खुल जाती है।
मूल -- भारमल का बेटा भामाह कहीं तीर्थ-यात्रा को जाता था[2]। [3]
सुधार-- भारमल का बेटा भामाह कहीं तीर्थ-यात्रा के जा रहा था।

(घ) अव्ययादि सम्बन्धी--

मूल -- विवाह के पीछे विधवा हो गई।[4]
सुधार-- विवाह के बाद विधवा हो गई।
मूल -- लन्दन से पश्चिम-दक्षिण दिशा में यह लगभग इतनी[5]
दूर है..... यहां से कच्चा माल निकाल कर.....
सुधार-- लन्दन से पश्चिम-दक्षिण दिशा में यह लगभग उतनी[6]
दूर है....वहां से कच्चा माल

३. सम्बन्धबोधक शब्दों की उपयुक्तता का दृष्टिकोण

सम्बन्धबोधक कुछ शब्दों के प्रयोग में तो परम्परा का उल्लंघन किया गया, यथा-- सर्वनाम `जो` के साथ उसके सम्बन्धी शब्द `सो` के स्थान पर `वह` अथवा `वे` तथा `जिस` के सम्बन्धी शब्द `तिस` के स्थान पर `उस` शब्द का प्रयोग आलोच्य-युग में शिष्ट भाषा के अन्तर्गत होने लगा था (दे०पद-रचना--सर्वनाम ३.२.[४])किन्तु अव्यय `जैसे-तैसे`, `ज्यों-त्यों`, `जहां-तहां` आदि के प्रयोग के सम्बन्ध में प्राय: परम्परागत पद्धति का ही अनुसरण किया गया, उदाहरणार्थ--

सूर्योदय होने पर दीपक हो जाता निष्प्रभ जैसे
उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा-हीन हुआ तैसे।[7]

१-सर०पां०,१६०६--पूर्णसिंह । २- ऐसे प्रयोग द्विवेदी-युग में कतिपय रचनाओं में मिल जाते हैंयथा--(प्रतिमा को रोती हुई देखकर)-- ये लो, तुम भी रोती हो । भला तुम क्यों रोती हो ? अनाथ पत्नी--भगवती प्र० बाजपेयी । ३- सर०पां० । ४- सर०पां० ।
५- सर०पां०, १६२० । ६- सर०पां० । ७- सर०भाग१२सं०६(कविता)-- गुप्त

स जय निज उपकारों का ज्यों बदला कभी न लेते हैं
प्रत्युपकार रूप ऋण ज्यों ही प्राणों से भी देते हैं[1]
ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों त्यों कवियों के लिए
यह काम बढ़ता जायगा[2]।

जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया
जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो
सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती[3]।

यद्यपि उनके पहले भी कई योरप-निवासियों ने इस देश में
आकर संस्कृत की थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त की थी, तथापि
सर विलियम की तरह बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को झेलकर
संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान और किसी ने उनके पहले नहीं प्राप्त
किया था[4]। ,

('यदि' तथा 'अगर' के दोनों के साथ 'तो' का ही प्रयोग) --

यदि सर विलियम जोन्स संस्कृत सीख कर संस्कृत के ग्रन्थों
का अनुवाद अंग्रेजी में न प्रकाशित करते तो शायद संस्कृत-
भाषा और संस्कृत साहित्य का महत्व योरप के विद्वानों पर
विदित न होता[5]।

बात यह है कि अगर तुम्हारे आने में देरी हुई......
तो मैं संकट में पड़ जाऊंगा[6]।

फिर भी आलोच्य-युग में उक्त संयोजन के साथ ही सर्वनाम की भांति अव्यय-युग्मों में भी परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था, यथा--

जैसे जैसे निकट से उनका परिचय मिलता गया, वैसे वैसे उनकी
रुच्यता और सहृदयता का अधिकाधिक अनुभव होने लगा[7]।

१- स०भाग ११ सं०६(कविता)--गुप्त ।
२- चिन्तामणि -- शुक्ल ।
३- द्वि०अभि०ग्र०-- शुक्ल ।
४- सा०सी० -- द्विवेदी ।
५- सा०सी० -- द्विवेदी ।
६- पंचपात्र -- बख्शी ।
७- द्वि०पत्रा० -- (आचार्य देव) -- गुप्त ।

शब्दों के परम्परागत प्रयोग के अन्तर्गत दिये गये `जैसे-तैसे` सम्बन्धी उद्धरण तथा उपर्युक्त उद्धरण की तुलना करने से एक ही लेखक (गुप्त जी) की लेखनी के द्विविध रूप अथवा क्रमश: परिवर्तित रूप का परिचय मिल जाता है ।

अन्य उदाहरण --

दस पांच यद्यपि पुत्र तेरे हैं लगे उपचार में
पर नहीं हो सकती स्थिर तू इन्हीं से संसार में[1] ।

४. पुनरुक्ति-दोष से बचाने के लिए भिन्न शब्द की स्थापना

वाक्य में संज्ञा शब्द का प्रयोग करने के पश्चात् उसके स्थान पर सर्वनाम को नियमित रूप से रखने अथवा किसी भी शब्द की पुनरुक्ति को प्राय: बचाकर उसके स्थान पर निर्दिष्ट अर्थ सूचक अन्य शब्द के प्रयोग की प्रणाली को आलोच्ययुगीन शिष्ट भाषा के अन्तर्गत गृहीत करने का यथासम्भव प्रयास किया गया । उदाहरणार्थ--

बिना उत्साह के नीतिशास्त्र के पन्ने पलटने और[2] उनपर विचार
करते रहने से ही सिद्धि नहीं प्राप्त हो जाती ।
परन्तु चन्द कविता की महत्ता को खूब समझते थे । वे जानते थे
कि कवि का पद बड़ा[3] ऊंचा है । उन्होंने अपनी कविता के
सम्बन्ध में लिखा है ।

द्विवेदी जी ने भाषा-सुधार अभियान में इन त्रुटियों का भी संस्कार किया है, यथा--

मूल-- मेलों में हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से बड़ी स्वतंत्रता
के साथ मिलते-जुलते हैं मेले में सब प्रकार के लोग....
सुधार--मेलों में हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से बड़ी स्वतन्त्रता
के साथ मिलते-जुलते हैं उनमें सब प्रकार के लोग....[4] ।

संज्ञा के स्थान पर सर्वनाम शब्द रखने से सम्बन्धित द्विविधाजनक प्रयोग का अधोलिखित सुधार द्विवेदी जी की सतर्क बुद्धि का परिचायक है --

----

१- सर०भाग १५,सं०१,सं०४(कविता)--केशव०मिश्र । २- किराता० -- द्विवेदी ।
३- पंचपात्र -- बख्शी । ४- सर०पां०१६१७-नारायणप्रसाद आ

मूल -- श्रीनगर और आश्विनपुर में चिरकाल से बैर चला आता था।
इस कारण से वहां पर कानून प्रचलित था कि अगर कोई
श्रीनगर का व्यापारी आश्विनपुर में आवे तो....

सुधार-- श्रीनगर और आश्विनपुर में चिरकाल से बैर चला आता था।
इस कारण से आश्विनपुर में कानून प्रचलित था कि अगर
श्रीनगर का कोई व्यापारी वहां आवे तो.....[१]

उपर्युक्त 'मूल' लिपि के प्रथम वाक्य में दो संज्ञाओं के प्रयोग के पश्चात् दूसरे वाक्य में प्रथम संज्ञा के लिए प्रयुक्त सार्वनामिक अव्यय 'वहां' के विषय में यह भ्रम हो सकता था कि यह शब्द द्वितीय संज्ञा के बदले में प्रयुक्त है, क्योंकि सर्वनाम अथवा सार्वनामिक अव्ययों का प्रयोग अपने पर आये हुए संज्ञा शब्द के स्थान पर ही किया जाता है। अत: अर्थ की द्वैधता अथवा भ्रमात्मकता को हटाने के अभिप्राय से द्विवेदी जी ने अव्यय को काट कर पुन: संज्ञा की स्थापना की है तथा उसके पश्चात् के वाक्य में उस एक संज्ञा शब्द को आवृत्ति से बचाने के उद्देश्य से उसके स्थान पर 'वहां' शब्द का प्रयोग किया है। उक्त प्रकार के अनेकों सुधार द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में किये हैं।

५. युग-प्रथा अथवा लेखक की स्वरुचि के अनुकूल शब्दचयन का दृष्टिकोण

उक्त प्रकार के शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात है--विद्वानों अथवा अनुभवी व्यक्तियों द्वारा किसी शब्द के विषय में निर्धारित मत का अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित किया जाना। उदाहरण के लिए 'सदृश' शब्द को लिया जा सकता है। तत्सम प्रधान भाषा वाले अधिकांश लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग 'समान' अथवा 'तरह' के स्थान पर किया है। यहां तक कि द्विवेदी जी ने भी 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आई हुई पाण्डुलिपियों में संशोधन करके 'समान' के स्थान पर 'सदृश' शब्द लिखा है --

मूल -- बुझे हुए दीपक के समान ज्योतिर्हीन मुख ....[२]
सुधार--बुझे हुए दीपक के सदृश ज्योतिर्हीन मुख

इतना ही नहीं, वरन् उन्होंने भाषा-संशोधन में 'समान' शब्द का प्राय: निषेध ही करना उपयुक्त समझा है, भले ही उसके स्थान पर 'तरह' शब्द का प्रयोग किया जाय, यथा--

---

१-स०पा०, १९०६--शिवकुमार चतुर्वेदी।
२- स०पा०, १९१७।

मूल -- ईश्वर मनुष्य ही के समान सोचता है ।[1]

सुधार--ईश्वर मनुष्य ही की तरह सोचता है ।

शब्दों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में लेखकों का निजी दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण है । इस प्रसंग में भाषा-नायक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के ही दृष्टिकोण को लिया जा सकता है । उन्होंने भाषा को निश्चित स्वरूप के अनुरूप ढालने के प्रयास में स्व सम्पादित पत्रिका `सरस्वती` की हस्तलिखित रचनाओं में शब्दावली सम्बन्धी जो सुधार किए हैं, उनका उल्लेख भी प्रमाण रूप में आवश्यक है,जैसे --

(क) 'जैसे-जैसे'--'वैसे-वैसे' के स्थान पर 'ज्यों-ज्यों'-- 'त्यों-त्यों' का प्रयोग --

मूल -- जैसे- जैसे बुद्धि का विकास होता गया वैसे वैसे ईश्वरी भावनाओं के भी सैकड़ों भेद होते गये ।

सुधार--ज्यों ज्यों बुद्धि का विकास होता गया त्यों त्यों ईश्वरी भावनाओं के भी सैकड़ों भेद होते गये ।[2]

सम्भवत: द्विवेदी जी की ही प्रेरणा से अधिकांश लेखकों ने `ज्यों-त्यों` का प्रयोग अधिक किया है । किन्तु अब उक्त दूसरे प्रकार के शब्दों के प्रयोग की प्रथा अधिक नहीं रह गई है ।

इसी भांति अन्य कुछ सुधार अधोलिखित हैं --

मूल -- शब्दों को उनकी व्युत्पत्ति के संग घनिष्ट तथा दृढ़ सम्बन्ध है[3]

सुधार--शब्दों का उनकी व्युत्पत्ति के साथ घनिष्ट और दृढ़ सम्बन्ध है

मूल --जो लोग अपना सब ध्यान केवल शरीर की उन्नति करने में लगा देते हैं ।

सुधार--जो लोग अपना सारा ध्यान केवल शरीर की उन्नति करने में लगा देते हैं ।[4]

तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी ने उपयुक्त शब्द की स्थापना के विचार से `सरस्वती` की कृतियों में जैसे चाहा वैसे संशोधन किया है ।

१- सर० पां०, अग० १९१७ । २- सर०पां०१९२७(निबन्ध)-कृष्णविनायकफ

३- सर० पां०, १९६०(शब्दरहस्य)-- शिवपूजन सहाय ।

४- सर०पां० ।

.४. पदान्वय/ पद-सम्बन्ध

विशेषण एवं विशेष्य, सम्बन्धकारक(भेदक) एवं सम्बन्धी शब्द भेद्य,कर्ता,कर्म एवं क्रियादि का उनके लिंग,वचन,पुरुष आदि के अनुसार परस्पर समन्वय हो `पद-सम्बन्ध` का विषय है । वाक्य-निर्माण में पद-सम्बन्ध-विचार की प्रक्रिया अपेक्षित होती है । पदों के उपयुक्त संगठन के बिना वाक्य में अनगढ़ता,शिथिलता के साथ-साथ प्राय: अर्थान्तरण का दोष भी आ जाता है । अत: विकसित एवं परिनिष्ठित भाषा का लक्षण यही है कि उसके वाक्यों का गठन ऐसा हुआ हो, जिनमें पदों का अन्वय सुनिश्चितरूप से हुआ हो ।

द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली यद्यपि परिनिष्ठता की ओर चरण बढ़ा रही थी,किन्तु उसमें अन्वय सम्बन्धी अनेक अनियमिततायें वर्तमान थीं(दे०द्विवेदी-पूर्व खड़ीबोली की स्थिति १.२ ख.३.३) उन अनियमितताओं को दूर करना द्विवेदी-युगीन भाषा-सुधार-अभियान का एक प्रमुख अंग था । और इस अभियान का परिणाम यह हुआ कि आलोच्य युगीन भाषा में पूर्व-युग की भाषा की अपेक्षा अन्वय-दोष बहुत न्यून रह गये थे । अध्ययन की सुविधा के लिए तत्कालीन पदान्वय सम्बन्धी प्रमाणों का अवलोकन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करना समीचीन होगा --

१. विशेषण एवं विशेष्य -सम्बन्ध

विशेषण-विशेष्य सम्बन्धों में विशेष्य के अनुसार रूपान्तरित विशेषण पदों का उल्लेख `पद-रचना` अध्याय में किया जा चुका है । जहां तक इन विशेषण-विशेष्य शब्दों के प्रयोग में समुचित रूप से अन्वय का प्रश्न है, उसमें भी द्विवेदी युगीन भाषा में प्राय: नियमितता ही पाई जाती है, उदाहरणार्थ--

(१) अनेक विशेष्यों का एक ही विशेषण होने पर उस विशेषण का रूप प्रथम के अनुसार होना, यथा--

> तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों,दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है ।[1]
>
> जड़ जगत के भीतर पाये जाने वाले रूप,व्यापार या परिस्थितियां...[2]

१- कुछ विचार -- प्रेमचन्द । २- चिन्तामणि-- शुक्ल ।

किन्तु इस सम्बन्ध में युग की विशेषता ए यह रही कि प्राय: लेखकगण अलग-अलग विशेष्य के लिए अलग-अलग विशेषण का भी प्रयोग करने लगे थे, जैसे --

कोई विघ्न-बाधा, कोई रुकावट न पड़ी[1]

इसी से क्षात्र धर्म के सम्बन्ध में जो मधुर आकर्षण है वह अधिक व्यापक पद्धति अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक स्पष्ट है।[2]

इसके परिणामस्वरूप अलग-अलग लिंग-वचन के विशेष्य के साथ भिन्न-भिन्न रूप के विशेषण का प्रयोग होना स्वाभाविक था, यथा--

कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा

(चिन्तामणि शुक्ल)

वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलायेगा कि चारों ओर से खींच लेगा ?[3]

मेरी भक्ति मेरा प्यार, प्रेम उन्हें अवश्य ही खींच लावेगा[4]

उक्त दूसरी शैली ही आलोच्य-युग में अधिक प्रचलित हुई और आज भी प्राय: यही शैली व्यवहार में लाई जाती है।

(2) एक विशेष्य के कई विशेषण होने पर उन सभी विशेषणों में (यदि वे विकृत शब्द हैं तो) विशेष्य के अनुरूप विकार होना --

'झूठे सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके'
'नई नई सुन्दर भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को'
'काम में लगे हुए सभी लोग' [5]

(3) बहुसूचक संख्यावाचक विशेषण होने पर भी काल, दूरता, माप, धन, दिशा और रीति-वाचक विशेष्य में विकार न होना (अवधारण की स्थिति को छोड़कर)

कोई बारह तेरह वर्ष की बात है[6]

1- सर०हीर० अंक-- प्रेमचन्द। 2- चिन्तामणि -- शुक्ल। 3- वही।

4- सर०हीर०अंक, पृ०२६८। 5- द्वि०अभि०ग्र०।

6- द्वि०अभि०ग्र० -- शुक्ल।

यद्यपि अपवाद स्वरूप विशेष्य भी विकृत हुआ मिलता है, यथा--

उसकी कविता की मोहिनी शक्ति सैकड़ों बरसों प्रमाणित होती रही है[1]

(4) विभागवाचक विशेषण का विशेष्य एकवचन में होना, यथा--

हे हर एक रस में[2]

एक एक व्यक्ति के दूसरे दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दु:खद - दोनों रूप बराबर रहे हैं[3]।

सुखी होने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है[4]।

(5) विभक्ति रहित कर्ता के विशेषण में विधेय विशेषण की स्थिति में आने पर कर्ता के समान ही विकार होना --

क्यों आज तू दाना हुई[5]

तुम परम ध्येय, नित गेय श्रेयदायक हो[6]

(6) प्रत्ययरहित कर्म के पश्चात् आने वाले आकारान्त विधेय विशेषण का लिंग-वचन कर्म के लिंग-वचन के ही अनुसार होना--

पुस्तकों की भाषा कैसी होनी चाहिए[7]

२. सम्बन्धकारक(भेदक) तथा सम्बन्धी शब्द(भेद्य)-- सम्बन्ध

सम्बन्धकारक अपने सम्बन्धी शब्द का विशेषण ही होता है। तदनुसार 'पद-रचना' प्रकरण में सम्बन्धकारक को 'सम्बन्ध-बोधक विशेषण' नाम से अभिहित करके सम्बन्धी शब्द के अनुसार रूपान्तरण का उल्लेख किया गया है। अत: इन पदों की अन्विति में भी विशेषण -विशेष्य की अन्विति के नियमों का ही पालन किया गया है, उदाहरणार्थ--

(1) सम्बन्ध कारक का लिंग, वचन सम्बन्धी शब्द से भिन्न होते हुए भी सम्बन्ध कारक के प्रत्यय में सम्बन्धी शब्द के अनुसार विकार-विकार होना, यथा--

सैकड़ों भाषाओं और बोलियों का मूलाधार संस्कृत ही है[8]

१- हिंदी-- बदरी०भट्ट, पृ०६३। २- कुछ विचार -- प्रेमचन्द। ३- चिन्ता०--शुक्ल।
४- चिन्ता-- शुक्ल। ५- सर०भाग१५ सं०१, सं०४(कविता)।
६- वीणा(कविता)--सोहन०द्विवेदी। ७- सर० पा०। ८- सा०सी०--द्विवेदी।

(2) किसी सम्बन्ध कारक के अनेक सम्बन्धी शब्द होने पर उसका रूप प्रथम सम्बन्धी शब्द के लिंग-,वचन के अनुसार होना,जैसे--

दूसरों को हानि और दुःख पर हंसने में विशेष आनन्द आता है।[1]

यदि गुलाब को उठाया जाय तो उसके वृक्ष,पत्तो,कांटे,डालियां,फूल..[2]

किन्तु जैसा कि विशेषण-विशेष्य के प्रसंग में कहा जा चुका है, आलोच्य-युग में अलग अलग विशेष्य के लिए अलग-अलग विशेषणों का प्रयोग करने के कारण उपर्युक्त नियम के अन्तर्गत आने वाले प्रयोगों में न्यूनता आने लगी,यथा--

वह अपने स्नेह,अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलायेगा कि चारों ओर से खींच लेगा।

(शेष दे०विशेषण-विशेष्य का अन्वय(३))

३. कर्ता,कर्म एवं क्रिया -सम्बन्ध

कर्ता,कर्म तथा क्रिया के परस्पर समन्वय से सुगठित वाक्य भाषा का परिष्कृत इकाई है।अर्थात् भाषा की शुद्धता कर्ता अथवा कर्म के लिंग,वचन,पुरुष के अनुरूप क्रिया-युक्त वाक्य पर ही निर्भर करती है,क्योंकि इन्हीं शब्द-भेदों के समाहार से पूर्ण वाक्य का निर्माण होता है।

द्विवेदी-पूर्व भाषा उक्त शब्द-भेदों के अनन्वय से सामान्यतः तो मुक्त दिखाई देती है,फिर भी तद्युगीन कृतियों में कुछ ऐसी त्रुटियां पाई जाती हैं,जिनकी तुलना में आलोच्य-युगीन साहित्यिक भाषा शुद्ध एवं परिष्कृत दिखाई देती है। यहां तक कि द्विवेदी-पूर्व-युग प्रवर्तक स्वयं भारतेन्दु की भाषा में उक्त शब्द-भेदों के अन्वय से सम्बन्धित अनेक दोष मिलते हैं(दे०द्विवेदी पूर्व खड़ीबोली की स्थिति २.२.ख.३.३(२)) परन्तु द्विवेदी-युग की आरम्भिक अवस्था में यदि कतिपय लेखकों की भाषा में इस प्रकार की शिथिलताएं मिल जाती हैं तो कालान्तर में इन दोषों में पर्याप्त सुधार हो गया है। तत्कालीन प्रतिनिधि लेखकों की भाषा तो उक्त प्रकार के दोष से सर्वथा रहित है। प्रमाण-स्वरूप विभिन्न नियमों के अन्तर्गत आने वाले कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं --

---

१- सर० हीर०अंक,पृ०२१३।

२- मिश्रविं०-- मिश्र०।

३- चिन्तामणि -- शुक्ल।

(१) कर्तरि प्रयोग अर्थात् कर्ता के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार क्रिया का रूपान्तर होना --

इस प्रयोग में विभिन्न नियमों के अन्तर्गत किये गये अधोलिखित प्रयोग उल्लेखनीय हैं--

(क) अप्रत्ययकर्ताकारक को क्रिया का लिंग, वचन और पुरुष कर्ता (उद्देश्य) के अनुसार होना, यथा--

'सत्य मौजूद रहता है'[१]

'जो चीज़ जितनी सरल होती है'[२]

'प्रश्न किये जाते हैं'[३]

इतिहासकारों की प्रणाली नहीं मानी जा सकती[४]

(ख) यदि उद्देश्यपूर्ति के लिंग, वचन, पुरुष उद्देश्य से भिन्न हों तो क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष का उद्देश्य के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार होना, यथा--

और सूबों की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है[५]

हम सुधार करने की धुन से.... खुदाई फौजदार बन जाते हैं[६]

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी[७]

किन्तु उद्देश्य पूर्ति पर अधिक बल दिये जाने की स्थिति में क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष क्रियापूर्ति के लिंग, वचन, पुरुष का भी अनुसरण कर सकते हैं, यथा--

मगर यह समझना भूल होगी[८]

(ग) संयोजक समुच्चय बोधक से जुड़े हुए दो या दो से अधिक प्राणिवाचक, एकवचन उद्देश्यों की क्रिया का बहुवचन में होना, यथा--

उसके बाप और भाई शिकार के लिए जंगल गये थे[९]

यमुना के माता-पिता अनन्त धाम को चल पड़े[१०]

१- कुछ विचार -- प्रेमचन्द । २- वही । ३- वही ।

४- मिश्र०वि०-- मिश्र । ५- वही । ६- वही ।

७- भा०भा० -- गुप्त । ८- कुछ विचार--प्रेमचन्द। ९-पंचपात्र--बख्शी ।

१०- सर०हीर०अंक, पृ०२६७ ।

किन्तु अप्राणिवाचक उद्देश्यों की क्रिया का प्राय: एक वचन में ही होना, जैसे--

मुझे भी अन्न-जल रुचता[1]

(घ) विभाग बोधक अव्ययों के आने पर क्रिया का एक वचन में होना, यथा --

दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है[2]

(ङ०) समूह के रूप में आने वाले अनेक एक वचन की अप्राणिवाचक संज्ञाओं की क्रिया का बहुवचन में होना, यथा--

सुख सौन्दर्य, माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेमव्यापार इत्यादि उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं[3]

किन्तु अलग शब्द पर बल देने की स्थिति में क्रिया का एकवचन में ही होना, जैसे--

मेरी भक्ति-चाह, मेरा प्यार, प्रेम उन्हें अवश्य खींच लावेगा[4]

(च) एक से अधिक भिन्न लिंगों के उद्देश्यों के होने पर क्रिया का लिंग अन्तिम उद्देश्य के अनुसार होना, यथा--

उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा[5]

तब राजभवन से घोड़ा, हाथी और पालकी आई[6]

कर्तरि प्रयोग के अन्य नियमों का पालन भी उक्त नियमों की भांति सामान्यत: हुआ है ।

(२) <u>कर्मणि प्रयोग--अर्थात् क्रिया का रूपान्तर कर्म के लिंग, वचन और पुरुष के अनुरूप होना ।</u>

इस प्रयोग के मुख्य नियम, यथा--सकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक कृदंत से बने हुए कालों के साथ सप्रत्ययकर्ता कारक और अप्रत्यय कर्म कारक आने पर कर्म के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार ही क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष होने का विधान द्विवेदीयुगीन भाषा में सतर्कतापूर्वक किया गया है, उदाहरणार्थ--

एक दिन तुमने मेरे हाथ का खिलौना छीन लिया था[7]

आपने आज तक हजारों रुपये दिये हैं[8]

१- पंचपात्र -- बख्शी । २- चिन्तामणि--शुक्ल । ३- वही ।

४- सर०हीर०, अंक, पृ०२६८ । ५- चिन्तामणि--शुक्ल । ६- पंचपात्र--बख्शी ।

७- पंचपात्र -- बख्शी । ८- सर०भाग ५ सं०५ ।

जिन्होंने रसिक प्रिया में सभी रसों के उदाहरण श्रृंगार में ही दिए[1]

मृत मनुष्य की कमर टटोली[2]

कुशल-लाभ ने बीच बीच में चौपाइयां रचकर जोड़ दी[3]

इनके अतिरिक्त जो नियम कर्ता और क्रिया अन्वय में प्रयुक्त होतें हैं, उन्हीं के समान कर्म तथा क्रिया का भी अन्वय हुआ है ।

(३) भावे प्रयोग अर्थात् कर्ता वा कर्म किसी के लिंग, वचन और पुरुष का अनुसरण न करके क्रिया का अन्य पुरुष, पुलिंग, एक वचन में रहना--

यह विधान अकर्मक क्रिया के कर्ता के सप्रत्यय होने तथा सकर्मक क्रिया के कर्ता और कर्म दोनों के प्रत्यययुक्त होने पर होता है, यथा--

राजपुत्र ने कहा | ४
कजली ने पूछा |
तब शुभचिन्तकों ने आकर कहा |

यम ने ज्यों ही सोने की छड़ी से उसे छुआ | ५
तपस्वी ने लड़की के अनुरोध को मान लिया |

उसमें उसने उस भाषा को भी 'हिन्दी' ही बतलाया है[6]

४. कारकों का वाक्य के अन्य शब्दों से सम्बन्ध

कर्ता एवं कर्म कारक का क्रिया के साथ अन्वय एवं सम्बन्ध कारक तथा सम्बन्धी शब्द के परस्पर अन्वय का विवेचन किया जा चुका है । अब यह देखना है कि विभिन्न कारकों का वाक्य के अन्य शब्दों के साथ क्या सम्बन्ध है । वास्तव में 'कारक' रचना की दृष्टि से वाक्य के अन्य शब्दों के साथ संश्लिष्ट न होकर अर्थ से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अत: द्विवेदीयुगीन कारक-प्रयोग की व्याख्या 'अर्थ' प्रकरण के अन्तर्गत करना ही युक्तिसंगत है ।

पदों की अन्विति के उपर्युक्त उदाहरणों से यह नहीं समझना चाहिए कि आलोच्य-युगीन भाषा अन्वय दोष से सर्वथा मुक्त थी । पहिले कहा जा चुका है कि आलोच्य युग में भी पूर्व संस्कारों से संश्लिष्ट अथवा हिन्दी की व्याकरणिकता से अनभिज्ञ कुछ लेखकगण

१- मिश्र०वि०--मिश्र० । २- सर०भाग ५ सं०५ । ३- हिंसा० का इति०--शुक्ल ।
४- पंचपात्र-- बख्शी । ५- वही । ६- हिंदी-- बदरी०भट्ट ।

प्राय: ही दोषपूर्ण वाक्यादि का प्रयोग कर रहे थे । उन दोषपूर्ण प्रयोगों में कतिपय उदाहरण अन्वय सम्बन्धी त्रुटियों के भी हैं, यथा--

उसको कितने ही दवाएं दीं[1]
लगातार कितने कलेजा कंपावे[2]
वह नैन जो कभी प्रेम नीर से भर जाते हैं
जिससे वह अपनी ताज़ा से ताज़ा दोहे और चौपाई को गायन करता है।[3]
विद्या यह नहीं पढ़ा[4]
उनके कोई सन्तान नहीं हुई[5]
है एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार द्वार पुकारते[6]

इस सन्दर्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी रचित `हिन्दी व्याकरण` शीर्षक निबन्ध से उद्धृत कुछ उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं, जिन्हें द्विवेदी जी ने अपनी कृति में तत्कालीन दोषपूर्ण भाषा के नमूने के रूप में प्रदर्शित किया है, यथा--

उनका रचा हुआ कई एक ग्रन्थ पढ़ने का संयोग पड़ा है
बाबू साहब ने कई एक दोहा बना दिये थे
भारतवासियों ने पश्चिमीय देशों से वर्णमाला लाया
कितनी वर्णमाला का हाल ज्ञात हुआ -- आदि ।

वस्तुत: वाक्य सम्बन्धी तत्कालीन अनियमितताओं के कारण ही आलोच्य युग में अन्वय सम्बन्धी समस्या अधिक विचारणीय विषय थी । वाक्य में पदों का अन्वय किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने वाक्यों के विविध प्रयोगों के औचित्य-अनौचित्य के सम्बन्ध में तत्कालीन अन्य भाषाविदों यथा, श्रीधरपाठक, देवीप्रसाद आदि से परामर्श लिया और इन विद्वानों ने उन प्रयोगों का संशोधन भी किया (उदाहरण के लिए दे० हिन्दी की प्रमुख समस्याएं २.४.३.(ई)) स्वयं द्विवेदी जी ने भी `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई कृतियों में इस प्रकार की त्रुटियों का सुधार किया ।

१- पंचपात्र--बख्शी । २- स०पा०१६१६(कविता) हरिऔध के उक्त प्रयोग में असावधानी प्रतीत होती है, अन्यथा उन्हें व्याकरण का समुचित ज्ञान था । ३-स०पा०१६०६ पूर्ण सिंह रचित कृति की उक्त त्रुटियों का संशोधन द्विवेदी जी ने पाण्डुलिपि में ही कर दिया है । ४- मजदूरी और प्रेम -- पूर्ण सिंह । ५- स०हो०अंक-- प्रेमचन्द । ६-भा०भा०--गुप्त । तत्कालीन काव्यकृतियों में छन्द की मात्राओं के नियमित निर्धारण में प्राय:परसर्ग संबंधी अनियमितताएं आ ही गई हैं ।

५.पदक्रम

वाक्य-निर्माण में पदों की यथास्थान प्रतिष्ठापना भी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि यथा-क्रम पद-बद्ध वाक्यों में ही भाषा का उपयुक्त अर्थ निहित होता है । कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दी भाषा के सप्रत्यय होने के कारण पदों के व्यतिक्रम से अर्थ में अन्तर नहीं पड़ता, यहां तक कि परसर्ग रहित शब्दों में भी व्यत्यय होने पर पदों की योग्यता के आधार पर अभीष्ट अर्थ समझ लिया जा सकता है ।

उक्त धारणा कुछ अंशों में तो ठीक हो सकती है, जैसे--

(क) मैं आपकी प्रतीक्षा बराबर करता रहा ।

(ख) आपकी प्रतीक्षा मैं बराबर करता रहा ।

(ग) मैं बराबर प्रतीक्षा करता रहा आपकी ।

उक्त क,ख,ग तीनों वाक्यों में शब्द-क्रम की समता न होने पर भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता । किन्तु यह धारणा सर्वत्र उपयुक्त नहीं होती । प्रायः ऐसा होता है कि नाम-पदों का व्यतिक्रम होने पर लक्ष्य अथवा कार्य की समानता भले ही सिद्ध हो किन्तु स्थान-परिवर्तन में बलाघातमकता के कारण भावात्मक दृष्टि से अन्तर हो ही जाता है । एक वाक्य की विभिन्न शैलियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जैसे --

(क) यह माला मैंने तुम्हारे लिए बनाई है

(ख) तुम्हारे लिए मैंने यह माला बनाई

(ग) मैंने तुम्हारे लिए यह माला बनाई है

उपर्युक्त तीनों वाक्यों के शब्द-क्रम के अनुसार उनके प्रथम शब्द पर बल दिया जाय तो प्रत्येक रूप के भाव में अन्तर प्रतीत होता है ।

यद्यपि मौखिक उच्चारण में एक ही वाक्य में लक्षित शब्द अथवा पद पर बल दिया जा सकता है, किन्तु लिखित भाषा में अर्थवत्ता का आधार तो पदों की क्रमबद्धता ही है ।

कुछ वाक्य ऐसे भी होते हैं, जिनपर बलाघात का कोई प्रभाव नहीं होता । ऐसे वाक्यों का अर्थ मौखिक अथवा लिखित दोनों रूपों में शब्द-क्रम पर ही निर्भर करता है, यथा--

अपनी वेषभूषा से शिक्षिका छात्रा प्रतीत होती है

अथवा

अपनी वेषभूषा से छात्रा शिक्षिका प्रतीत होती है

उपर्युक्त वाक्यों में 'छात्रा' और 'शिक्षिका' के व्यत्यय से दोनों के अर्थ में भारी भेद

उत्पन्न हो जाता है ।

इसी प्रकार यदि `जाओ न` वाक्य में शव्द-क्रम परिवर्तित करके `न जाओ` लिखा जाय अर्थ प्रतिकूल हो जायेगा ।

तात्पर्य यह है कि वाक्य के सुसंगठन और अर्थवत्ता के लिए व व्यांकरणिक क्रमबद्धता अनिवार्य होती है । पदों की क्रम रहितता से अर्थ में भ्रान्ति, वैपरीत्य एवं अनर्थता जैसे दोष आ जाते हैं । यद्यपि बलाघात तथा कविता में छन्दोबद्धता, लयात्मकता एवं तुकान्तता की स्थिति में क्रम परिवर्तन हो ही जाता है ।

साहित्यिक खड़ीबोली के आरम्भिककाल केगद्य में पद-क्रम के नियमों में छूट होने के कारण तथा दक्षिणी गद्य की तुकान्त शैली के प्रभाव के कारण व्यतिक्रम अधिक मिलता है, यथा--

> इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता रहता हूं उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को(रानी केतकी की कहानी--इंशा अल्लाखां)

भारतेन्दु युगीन गद्य भाषा में पूर्व की अपेक्षा सुधार तो मिलता है,फिर भी अक्रमता के दोष से तत्कालीन भाषा भी वंचित नहीं है । स्वयं भारतेन्दु की कृतियों में ही इस प्रकार की अनेक त्रुटियां पाई जाती हैं (दे० द्विवेदी पूर्व खड़ीबोली की स्थिति ६.२.ख. ३.२) किन्तु आलोच्य-युग नायक द्विवेदी जी पदों की क्रम रहितता के बहुत अधिक विरोधी थे । `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं में उन्होंने अधिक संशोधन उक्त प्रकार के ही दोषों के किये हैं,यथा+--

> मूल-- परन्तु उसमें दो एक हिन्दुओं के प्राचीन मन्दिर हैं ।
> सुधार-- परन्तु उसमें हिन्दुओं के दो एक बहुत प्राचीन मन्दिर है ।
> (१९०४ई०)
>
> मूल -- जिन विषयों का जातीय ग्रन्थकर्ताओं की लेखनी से निकला हुआ प्रमाण विश्वास नहीं दिलाता ।
>
> सुधार -- जिन विषयों का विश्वास जातीय ग्रन्थकर्ताओं की लेखनी से निकला हुआ प्रमाण नहीं दिलाता । (ब्रजनन्दनसहाय , १९०६ई०)

+-- उदाहरण प्रकाशन के हेतु आई हुई पाण्डुलिपियों से कालक्रमवार उद्धृत किए गए हैं ।

मूल -- जैसे धुले हुवे वृक्ष नवीन नवीन कोंपलें धारण किये हुए
सुधार--वृक्ष जैसे नवीन नवीन कोंपलें धारण किये हुए (१६०६)
मूल -- उसने जो कविता महाराणा की वीरता के बखान को बनाई
सुधार-- उसने महाराणा की वीरता के बखान को जो कविता बनाई
(जून१६१७)
मूल -- इस तरह के परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न आज हजारों वर्षों से .....
सुधार-- परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाले इस तरह के प्रश्न आज हजारों वर्षों से (१६१७ई०-- कृष्णाविनायक फडके)
मूल -- एक तांबापत्र भी उनका दिया हुआ देखने में आया है
सुधार-- उनका दिया हुआ एक तांबा पत्र भी देखने में आया है
मूल -- नकल इस तांबापत्र की यह है
सुधार-- इस ताम्रपत्र की नकल यह है
मूल -- हुलास ही दिल में रह गई
सुधार-- हुलास दिल में ही रह गई (१६१७--देवीप्रसाद)
मूल -- मिलन एक प्रकार का अवश्य हो रहा है
सुधार-- एक प्रकार का मिलन अवश्य हो रहा है
(१६२०- निराला)
मूल -- अर्द्ध चन्द्र के समान उसका आकार प्रतीत होता है
सुधार -- उसका आकार अर्द्ध चन्द्र के समान प्रतीत होता है
(१६२०- लक्ष्मण स्वरूप आक्सफोर्ड)
मूल -- एक दिन रायसाहब इसी सोच में बैठे हुए थे
सुधार -- रायसाहब एक दिन इसी सोच में बैठे थे
(१६२०-विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

केवल गद्य ही नहीं,वरन् कहीं-कहीं पद्य में भी आवश्यकतानुसार संशोधन किया गया है, यथा--

मूल -- मैं तो आश्रित प्रेम का प्रेमाश्रय पर आप हैं
मैं जलाधीन सा मीन हूं सलिलाशय पर आप हैं
सुधार--मैं तो आश्रित प्रेम का पर प्रेमाश्रय आप हैं
मैं जलाधीन सा मीन हूं पर सलिलाशय आप हैं

यही कारण है कि द्विवेदी-युगीन वाक्यों में आज की अपेक्षा अधिक क्रमबद्धता पाई जाती है । यह अवश्य है कि पद्य पर उनका अधिकार अधिक न होने के कारण उसके पद-क्रम में अधिक हस्तक्षेप नहीं कर सके । इसके अतिरिक्त यदि शैली की दृष्टि से देखा जाय तो भी पद्य में गद्यात्मक पद-क्रम का आग्रह होना सम्भव नहीं होता ।

ऐसी दशा में आलोच्ययुगीन भाषा में पद-क्रम की स्थिति के अवलोकनार्थ विषय का विवेचन गद्य और पद्य दोनों शैलियों के अन्तर्गत अलग-अलग करना समीचीन होगा ।

१. गद्य-शैली में पद-क्रम

जैसा कि कहा जा चुका है, द्विवेदीयुगीन भाषा की पद-योजना में पूर्व तथा पश्च-युग की अपेक्षा व्याकरणिक नियमों का अधिक सतर्कता पूर्वक पालन किया गया है । उदाहरण के लिए तत्कालीन गद्य भाषा की पद-योजना।पद-क्रम का अध्ययन अधोलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है --

१. सामान्य पद-क्रम

क. कर्ता, कर्म तथा क्रिया का स्थान-निरूपण

सामान्य वाक्य में पहिले उद्देश्य तथा तत्पश्चात् विधेय का स्थान आता है । इस नियम के अनुसार अकर्मक वाक्य में पहिले कर्ता तथा बाद में क्रिया का आना तथा सकर्मक वाक्य में कर्ता और क्रिया के मध्य कर्म का स्थान होना, यथा--

(I) अकर्मक वाक्य -- सुभद्रा बोली[1]

बुड्ढा है हंसने लगा[2]

बुड्ढे की युवावस्था लौट आई[3]

कर्ता और क्रिया के मध्य उद्देश्य की पूर्ति --

मैं ही किशनलाल हूं[4]

(II) सकर्मक वाक्य-- जब से ब्रह्मा ने सृष्टि रची[5]

उन्होंने असम्भव को सम्भव बनाने में हाथ लगाया है[6]

इसी प्रकार अन्य वाक्य भी प्राय: सुनियोजित ही पाये जाते हैं ।

१- पंचपाश -- बख्शी । २- वही । ३- वही । ४- वही ।

५- निर्मला-- प्रेमचन्द । ६- द्वि०अभि० ग्र० ।

ख. कर्ता तथा कर्म के अतिरिक्त अन्य कारकों का स्थान-निरूपण

अन्य कारक प्राय: अपने सम्बन्धी शब्द के पूर्व ही आते हैं,जैसे--

करण-- तुम्हीं से काम लेने के लिए तो मैं यहां खड़ा हूं[१]

उसने उसी मंद स्वर से कहा है[२]

अपादान --तुमने मुझसे मेरे हाथ का खिलौना छीन लिया[३]

हिन्दी अब पुराने पण्डितों के पंजे से निकल कर ....[४]

सम्बन्ध -- सभी कहते थे कि समय का मूल्य है, दम लेने की फुर्सत नहीं है[५]

मैं तो फिर यही कहूंगी कि बरातियों के नखरों का विचार छोड़ दो ।[६]

मुझे अपना एक घड़ा दो[७]

मेरी भूख नींद जाती रही है[८]

अधिकरण -- वहीं मैं उसपर चित्र बनाऊंगा[९]

किसी की स्थिति की वास्तविकता पर मुख्य और सापेक्षता पर गौण दृष्टि रखनी चाहिए ।[१०]

दूसरे के हृदय में अज्ञान की प्रतिष्ठा करके[११]

सम्बोधन -- सम्बोधन कारक प्राय: वाक्य अथवा उपवाक्य के आरम्भ में आते हैं--

छोटे बाबू । क्या हाल है ?[१२] गरुण जी इन्हें मत खाना[१३]

ग. विशेषण-विशेष्य-क्रम

विशेषण पद का प्राय: विशेष्य के पूर्व आने का नियम है, चाहे वह संज्ञा का विशेषण हो अथवा क्रिया का । तदनुरूप द्विवेदी युगीन उदाहरण अधोलिखित है--

(१) नाम/संज्ञा का विशेषण-- यहां खण्डिता नायिका का नाम आया है[१४]

१-पंचपात्र-- बख्शी । २- वही । ३- वही । ४- स०भाग २०,ख०१,सं०६ ।
५- पंचपात्र--बख्शी । ६- निर्मला-- प्रेमचन्द । ७- पंचपात्र -- बख्शी ।
८- सा०सी०-- द्विवेदी ।९- पंचपात्र--बख्शी । १०- चिंतामणि--शुक्ल ।
११- वही । १२- पंचपात्र--बख्शी । १३- स०भाग१५,ख०१ सं०५ ।
१४- रसज्ञ रंजन -- द्विवेदी ।

वे वचन जिनके द्वारा वे स्त्री जाति की भर्त्सना करते हैं[1]

नई नई सुन्दर, भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखने जाते हैं[2]

महत् भावना के फेर में पड़कर[3]

(2) आख्यात/क्रिया-विशेषण । — उसका पहचानना भी कठिन हो जायेगा[4]

हृदय अचानक कंपा दिया[5]

अपना मुख अपनी ही आंखों से नहीं देख पड़ता[6]

स्वास्थ्य सुधारने के निमित्त जाया करते हैं[7]

उन्हें इतना नीचे न गिरने दिया[8]

लेकिन यह आग कभी न कभी भड़केगी अवश्य[9]

घ. अव्यय -क्रम

क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने वाले अव्ययों के विषय में `विशेषण-विशेष्य` क्रम के प्रसंग में तो बताया ही जा चुका है । किन्तु समष्टिरूप में कुछ अव्ययों के क्रमनिरूपण के उदाहरण निम्नलिखित हैं --

(१) न --क्रिया विशेषण के रूप में तो क्रिया के पूर्व ही आता है, यथा--

उसके लिए विधवा विवाह अधार्मिक न रहेगा ।[10]

यदि समाज से उसका कोई भी सम्बन्ध न हो ।

कभी-कभी संयुक्त क्रिया में मुख्य एवं सहायक शब्द के मध्य भी आ जाता है, यथा--

किया न था[11]

(द्विवेदी-युग में निषेध के अर्थ में `न` के स्थान पर `नहीं` का प्रयोग अधिक होने लगा । इसलिए यद्यपि द्विवेदी, बख्शी आदि की पुरानी रचनाओं में `न` का प्रयोग अधिक हुआ है, किन्तु कालान्तर में स्वयं उनकी रचनाओं में तथा अन्य लेखकों की कृतियों में `नहीं` का व्यवहार ही प्रमुख स्थान ग्रहण करता है।)

१- द्वि०अभि० ग्र०--शुक्ल । ६० २- वही । ३- पंचपात्र -- बख्शी ।

४- सर०भाग२०, सं०६, सं०१ । ५- सर०भाग११, सं०६--गुप्त । ६- रसज्ञ रंजन--द्विवेदी ।

७- सर०भाग ४, सं० १० । ८- सेवा सदन --प्रेमचन्द । ९ - वही ।

१०- पंचपात्र--बख्शी । ११-सर०भाग११, सं०६ ।

समुच्चयबोधक के रूप में वाक्य अथवा उपवाक्य के पूर्व ही आता है, यथा--

हमारा यह अनुवादन तो परीक्षार्थी छात्रों के लिए है और न संस्कृत सीखने की इच्छा रखने वाले लोगों ही के लिए।[1]

न समाज का अन्त होगा न सदाचार का।[2][3]

अवधारण के अर्थ में वाक्य के अन्त में प्रयुक्त होता है--

तो देखिए न[4]

मरियम को बता देना सुलताना को नहीं समझो न[5]

(२) हां -- अवधारण के रूप में वाक्य के पूर्व ही आता है, जैसे--

हां, बबूल और झरबेरियों के रूखे पेड़ जहां तहां अवश्य खड़े थे[6]

(३) वस्तुत:, विशेषत:, साधारणत:-- अव्ययों का भी प्राय: वाक्य के आरम्भ में ही प्रयोग --

'वस्तुत: हिन्दी भाषा के सबसे बड़े शब्द-कोश का सम्पादन बिना इस प्रकार की छानबीन के हो ही नहीं सकता था।
'विशेषत: भाषा आदि की शुद्धता पर वे सबसे अधिक ध्यान रखते थे।'
'साधारणत: समझ में यही आता था कि....'[7]

(४) ही, भी, तो, भर, तक आदि का किसी शब्द भेद के साथ आकर अवधारण का बोध कराना, जैसे --

पहिले ऐसा ही एक अप्रासंगिक बतलाता हूं[8]

१-किरा०पां०--द्विवेदी। २- पंचपात्र -- बख्शी। ३- भारतेन्दुयुगीन भाषा में पूर्वी प्रभाव के कारण अवधारण के अर्थ में भी क्रिया के पूर्व ही प्रयोग में आया है। स्वयं भारतेन्दु की कृतियों में ही इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं -- यथा--

हम तो अधर्म ह नहीं न कर सकते थे (नी०दे०भार०)

काशी तो तुम्हारा तीर्थ न है (पुं०सं०--भार०)

४- सर०हीर०अंक--प्रसाद। ५- वही। ६- सर०भाग५, सं०५।
७- द्वि०अभि०ग्रं०-- रामचन्द्र वर्मा। ८- वही।

घड़ी भर आराम भी नहीं करने देती[1]

ऐसे जीने के बदले तो मर जाना ही अच्छा[2]

कोई कोई लड़के साल भर तक बिल्कुल नहीं पढ़ते[3]

`तो` कभी- कभी संयोजक के रूप में भी प्रयुक्त --

इसी तरह तरह की सोलह मोहरें हो जायें तो सुभद्रा के लिए-[4]

हार बन जाय ।

`ही` तथा `भी` के क्रम-निर्धारण में भारतेन्दु-युग में तो अनियमितता थी ही, द्विवेदी-युग में भी कहीं-कहीं सुनिश्चितता का अभाव दिखाई देता है(दे० अस्वाभाविक व्यतिक्रम)

(५) `विना` वा `बिना` कभी तो सम्बन्धी शब्दादि के पूर्व आता है और कभी बाद में--

(i) सम्बन्धी शब्द के पूर्व --

बिना विचारे, बिना जाने[5]

बिना आंख को पास ले जाकर सटाये,[6] बिना सदुपयोग या दुरुपयोग की[7]

सम्भावना की कल्पना किये , बिना काम किये

(ii) सम्बन्धी शब्द के पश्चात्--

धन के बिना संसार में रहना सम्भव नहीं[8]

अभाव कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती[9]

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि भूतकालिक कृदंतों के विशेषण रूप में `बिना` लगभग सर्वत्र अपने सम्बन्धी शब्द के पूर्व ही आया है ।

(६) जहां-तहां, ज्यों-त्यों आदि क्रिया विशेषणों का क्रिया के पूर्व ही आना --

हां बबूल और झरबेरियों के सूखे पेड़ जहां तहां अवश्य खड़े थे[10]

मैंने घड़ी को जहां का तहां रख दिया है[11]

ज्यों की त्यों ले लेने से[12]

१- पंचपात्र-- बख्शी । २- सर०भाग१९ सं०६ । ३- पंचपात्र--बख्शी । ४- वही ।
५- सरस्वती । ६- चिन्तामणि--शुक्ल ।७- पंचपात्र--बख्शी ।
८- चिन्तामणि-- शुक्ल । ६- वही । १०-सर०भाग५,सं०५ ।
११- पंचपात्र-- बख्शी ।१२- द्वि०अभि०ग्र०-- शुक्ल ।

(७) वाक्यों अथवा उपवाक्यों का सम्बन्ध अथवा विभाजन सूचित करने वाले अव्यय का वाक्य के आरम्भ में ही होना, यथा--

इधर सूर्य निकला और उधर मशीन चली[१]

यद्यपि वर्तमान रहन सहन ने इसे दुस्तर बना दिया है, तथापि सामान्य मनुष्य अगर बुद्धि से काम ले और प्राकृतिक जीवन के आदर्श की तरफ से आंखें न बन्द कर ले तो वह अपनी देह नीरोग रख सकता है[२]।

यदि सर विलियम जोन्स संस्कृत सीख कर संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद अंगरेजी में न प्रकाशित करते तो शायद संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य का महत्व योरप के विद्वानों पर विदित न होता। और यदि होता भी तो बहुत दिनों बाद होता[३]।

बात यह है कि अगर तुम्हारे आने में देरी हुई और तुम्हारे आने के पहले तुम्हारे[४] मृत्यु काल का डंका बज गया तो मैं संकट में पड़ जाऊंगा।

ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा।[५]

जैसे जैसे निकट से उनका परिचय मिलता गया, वैसे वैसे उनकी सदयता और सहृदयता का अधिकाधिक अनुभव होने लगा[६]।

जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती[७]।

वह या तो साधारण भाव शून्य गद्य की गीति का, शिखरिणी आदि नाना छन्दों में परिणत करेगा[८] या अपनी भद्दी और कुरुचि पूर्ण भावनाओं को छन्दोबद्ध करेगा।

१- द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द। २- वही। ३- सा०सी०--द्विवेदी।

४- पंचपात्र-- बख्शी। ५- चिन्तामणि -- शुक्ल। ६-द्विवेदी पत्रा०--गुप्त।

७- द्वि०अभि० ग्र०-- शुक्ल। ८- चिन्तामणि -- शुक्ल।

विस्मयादि बोधक अव्यय सामान्यत: वाक्य के पूर्व ही आते हैं, जैसे--

अच्छा ! उसे पाया कहां,[1] छि: छि: यह कैसी लज्जा की बात है।[2]

खैर ! अब आगे कहिए,[3] माना लड़के से नुकसान हुआ[4]

वाह ! सच कहता हूं[5], अहा ! उनका कितना सरल स्वभाव है[6]।

इस प्रकार द्विवेदीयुगीन गद्य-भाषा में सम्पूर्ण शब्द-भेदों के नियमित क्रम के उदाहरण पर्याप्त हैं ।

२. बलाघात/ अवधारण के कारण पद-क्रम-व्यत्यय

आलोच्ययुगीन भाषा के अध्ययन से यह विदित होता है कि तत्कालीन अधिकांश लेखकों ने पदों के सामान्य क्रम की शैली ही अपनाई है । इस प्रवृत्ति के मूल में भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने के प्रयास की प्रवृत्ति ही वर्तमान थी । फिर भी भावाभिव्यक्ति पर विशेष बल देने के अभिप्राय से प्राय: शब्दों में व्यतिक्रम हो जाना भी स्वाभाविक है । यद्यपि आज गद्य एवं पद्य दोनों में इस प्रकार के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और यह प्रवृत्ति सामान्य के अन्तर्गत आती है, किन्तु द्विवेदी-युग में नाटकों तथा कहानियों के संवादादि की भाषा में ही यह प्रक्रिया देखी जाती है, उदाहरणार्थ--

(१) कर्ता, कर्म तथा क्रिया का व्यत्यय--

तेरा कार्य मैं करूंगा,[7] मैं हूं खूनी[8]

कहीं-कहीं वर्णन में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं, यथा--

आजकल की हिन्दी कहानियां जिनको 'गल्प', 'आख्यायिका', 'लघुकथा' भी कहते हैं, हैं तो भारत की पुरानी कहानियों की ही सन्तति[9] ।

आती है गुलाब की महक[10]

इसी सन्दर्भ में वाक्यांशों का व्यतिक्रम भी द्रष्टव्य है --

हमारी भाषा की-यद्यपि वह मिश्रित सी दीखती है-- कुछ न कुछ प्रौढ़ता प्राप्त हो चुकी थी[11] ।

१,२,३ -- पंचपात्र -- बख्शी । ४- द्वि०अभि० ग्रं० -- प्रेमचन्द । ५- अनाथ पत्नी -- भगवती बाज० । ६- वही । ७-सर०होर०अंक--बालकृ०शर्मा । सर०काल १९१२ई० । ८- वही--रा०कु०वर्मा । ९- सिद्धान्त और अध्ययन--गुलाबराय १०- सर०होर०अंक--पंत ।११-हिंदी--बदरी०भट्ट

(२) सम्बोधन का व्यतिक्रम-- भावातिरेक के कारण अब सम्बोधन कारक का स्थानान्तरण होना भी आरम्भ हो गया था । यह स्थानान्तर है-- सम्बोधन-संज्ञा का वाक्य के पूर्व न आकर अन्त में आना,यथा--

तुम मुझको प्यार करती हो नूरी[१] ?

(किन्तु उसी स्थल पर वही सम्बोधन वाक्य के पूर्व भी आया है, यथा-- नूरी । तू कुछ चाहती है)

वैसे तत्कालीन नवोदित लेखकों ने इस पद्धति का अनुसरण अधिक किया है । पंत की तत्कालीन कृति 'ज्योत्स्ना' (कहानी) में सम्बोधन प्राय: अन्त में ही आये हैं,उदाहरणार्थ--

आ गई मुनिया, आ गये खंजन... थक गया हूं चाची[२]

(३) अवधारण अथवा बलाघात के कारण सबसे अधिक व्यतिक्रम क्रिया-विशेषण शब्दों और वाक्यांशों में हुआ है, जैसाकि अव्यय पद-क्रम के अन्तर्गत देख चुके हैं । उसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण यहां भी द्रष्टव्य हैं --.

आज शिवशम्भु की मनोवा छा पूर्ण हुई । आज उसे बुलबुलों की कमी है । आज उसके खेलने का स्थान बुलबुलिस्तान बन रहा है[३] ।

कभी कभी रात के अन्त होने पर घर लौटता था[४] ।

(वाक्यांश-व्यत्यय)--

अपने आध्यात्मवाद के लिये पद्मावत की कहानी चुनकर और पद्मावत की कहानी में आध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर उन्होंने असम्भव को सम्भव बनाने में हाथ लगाया है[५] ।

३.अस्वाभाविक व्यतिक्रम

यद्यपि प्रयोगकर्ता की अनभिज्ञता अथवा पारम्परिक प्रयोग के प्रभाव-जनित शब्द-क्रम की विशृंखलता अथवा व्यत्यय सम्बन्धी दोषों का द्विवेदी-युग में क्रमश: अभाव होने लगा था । जैसा कि विषय-निरूपण के परिचय में कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी स्वयं इस पक्ष में अधिक सतर्क थे और उन्होंने अपने सुधारों में सबसे अधिक सुधार इस विषय में ही

१- स०हीर० अंक-- प्रसाद । २- स०हीर०अंक-- पंत ।

३- शिवशम्भु के चिट्ठे --बा०मु०गु० । ४- पंचपात्र-- बख्शी ।

५- द्वि०अभि०ग्र० -- बड़थ्वाल ।

किये । उनके अतिरिक्त तत्कालीन अन्य पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक भी इस ओर से अन्यमनस्क नहीं रह सके । उन्होंने भी अपने पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ आई हुई पाण्डुलिपियों में सुधार किये । अनेक लेखकों ने भी तत्कालीन सुधारवादी विचार-धारा में अवगाहन कर स्वलेखनी का परिमार्जन किया । फिर भी तत्कालीन गद्य भाषा शब्द-क्रम सम्बन्धी दोषों से नितान्त रहित नहीं है । कुछ लेखकों की स्वतन्त्र रचनाओं में कहीं न कहीं व्यतिक्रम देखने को मिल ही जाता है,यथा--

> प्रात:कालीन क्षितिज के समान वक्र उसके[1] नेत्रपल्लव शिशिर से भी स्निग्ध और प्रकाश से भी उज्ज्वल हैं ।
>
> स्त्रियों के[2] लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष स्तम्भ है ।

किन्तु इन त्रुटियों की संख्या अधिक न होने से इन्हें नगण्य भी किया जा सकता है । हां, युग-विशेष में एक द्वैध 'ही' के प्रयोग के सम्बन्ध में अवश्य चल रहा था । कुछ लोग इस अवधारण-सूचक अव्यय को किसी शब्द के साथ प्रत्यय के पूर्व अथवा क्रियाक्तादि शब्द के मध्य में लगाते थे और कुछ लोग बाद में,यथा--

> पाठकों ही के,[3] तुम्ही को,[4] होवेहीगा,[5]
>
> दो ही एक मिलेंगे,[6] दो चार माननीय लोगों के ही[7]

आगे चलकर उक्त द्वैध-प्रक्रियाओं में अन्तिम प्रक्रिया ही अधिक उपयुक्त मानी गयी ।

२.काव्य-शैली में पद-क्रम

१. सामान्य विश्लेषण--

गद्य भाषा के व्याकरण के सामान्य नियमों के अनुसार पदक्रम का निर्वाह तो हो जाता है,किन्तु कविता की भाषा में छन्द की मात्रा एवं वर्णावृत्त के सम्यक् नियोजन के फलस्वरूप उसके(कविता के) तुक,लय,गति,यति के अनुसार पद-क्रम में व्यतिरेक हो ही जाता है । तदनुसार द्विवेदी युगीन क्रमभंगता अथवा व्यतिक्रम की प्रकृति के कुछ उदाहरण निम्नवत हैं --

---

१- पंचपात्र -- बख्शी ।　　　२- कुछ विचार-- प्रेमचन्द,पृ०२२०

३- सर०भाग२२ खं०१,सं०१ । ४- भा० का इति०--मिश्र , सर्वनाम शब्दों के साथ 'ही' की प्राय: सन्धि हो जाती है,अत: यहां बिना सन्धि का प्रयोग विशिष्टता के अन्तर्गत आता

५- चित्राधार -- प्रसाद ।　　　६- चिन्तामणि-- शुक्ल ।

७- चिन्तामणि -- शुक्ल ।

(१) कर्ता व्यतिक्रम -- कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग० में कपट न करते हैं[1]

(२)कर्ता,क्रिया व्यतिक्रम- हैं एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार द्वार पुकारते[2]

निकले हुए हैं दांत बाहर[3]

नव वल्ली सी खिली उत्तरा[4]

(३) कर्म,क्रिया व्यतिक्रम--थे हम कभी फैला चुके उसकी अलौकिक कान्ति को[5]

(४) संयुक्त क्रिया की स्थिति में युक्त शब्दों में विच्छेद। क्रम भंगता --

हैं एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार द्वार पुकारते[6] भा०भा०

है फैलनी पड़ती उन्हें[7]

है लपलपाती चाल उनकी छटपटाती देह है[8]

करके हरण[9]

संयुक्त क्रियाओं की क्रमभंगता के उदाहरण गुप्त जी की रचनाओं में भरे पड़े हैं।

(५) क्रिया विशेषण एवं क्रिया का व्यत्यय --

वे मति मन्द मूढ़ नर निश्चय पाय पराभव मरते हैं।[10]
कवच हीन तनु से ज्यों पैने बाण प्राण ले जाते हैं।
सूर्योदय होनेबाद पर दीपक ही जाता निष्प्रभ जैसे।[11]
उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा हीन हुआ तैसे।
सज्जन निज उपकारों का ज्यों बदला कभी न लेते हैं।[12]
प्रत्युपकार रूप ऋण त्यों ही प्राणों से भी देते हैं।
दस पांच यद्यपि पुत्र तेरे हैं लगे उपचार में[13]

(६) अन्य अव्यय व्यतिक्रम --

त्याग कर सकते नहीं, अनुराग कर सकते नहीं[14]
सुयश सौरभ से जिनके सदा ब्रज धरा बहु-सौरभवान थी[15]
मम दुख अवलोके या हए मंद तारे[16]

१-किराता०--द्विवेदी। २-भा०भा०-- गुप्त। ३- वही। ४- वही।
५- वही। ६- वही। ७- वही। ८- वही। ९-सर०भाग११सं०९(कविता)-गुप्त
१०-किराता०-- द्विवेदी। ११- सर०भाग ११ सं०९-- गुप्त। १२ - वही।
१३- सर०भाग १५,खं०१,सं०४-- केशव० मिश्र। १४- भा०भा०--गुप्त।
१५- प्रियप्रवास-- हरिऔध। १६- वही।

(७) विशेषण-विशेष्य व्यतिक्रम--

क्यों भर रही है सांस ठंडी[१], सौख्य सारा खो गया[२],
वे तुच्छ सुइयां भी विदेशी[३], माचिस विदेशी हम न लें तो[४],
प्राय: सदा दुर्भिक्ष ऐसा है बना रहता जहां[५]

(८) सम्बन्ध कारक -सम्बन्धीशब्द व्यतिक्रम--

भौंरा ही लेता है स्वाद कमल का न भेक कभी[६]

मन हाथ में उनका नहीं[७]

वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है[८]

प्राणाधार शरद राका के चटक चन्द्रिका के सुखसार[९]

२. विशिष्ट विश्लेषण --

सामान्यत: तो आलोच्ययुगीन कविताओं में शब्द अथवा पद-व्यत्यय अधिक नहीं हुआ है,किन्तु युग की प्रौढ़ावस्था में कुछ छायावादी कवियों की कविताओं में व्यतिक्रम के उदाहरण अधिक मिलते हैं । यहां तक कि अनियमित व्यत्यय के कारण किसी-किसी कवि की कविता में अन्वय सम्बन्धी दोष भी वर्तमान है । पद-क्रम में व्यतिक्रम की न्यूनाधिकता को प्रदर्शित करने के लिए तत्कालीन कविताओं से लिए गए उदाहरणों को प्रस्तुत वर्गों में दिखाया जा सकता है --

(क) जिनमें व्यतिक्रम न्यून है--

जैसा कि गद्य-भाषा की पद-क्रम-पद्धति के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि आलोच्ययुगीन वाक्यों की पद-क्रम-योजना में व्याकरण के सामान्य नियमों का पालन किया गया है, अत: कविता के क्षेत्र में भी अधिकांश साहित्यकार ऐसे थे,जिन्होंने काव्य-भाषा को भी व्याकरणिक नियमों से आबद्ध करने के प्रयास में कविता-रचना की उस पद्धति को अंगीकार किया,जिसमें शब्दों के क्रम में अधिक उलट-फेर न हो । पद-प्रयोग का

१-सर०,भाग १५,खं०१, सं०४(कविता)-- केशव मिश्र ।
२-सर०,भाग१५,खं०१(कविता)--लीलावती । ३-भा०भा०-- गुप्त । ४- वही ।
५- वही । ६- सर०पा०,१६०६--रा०च०उपा० । ७- भा०भा०-- गुप्त ।
८- वही । ९- सर०होर०अंक ।

इस प्रवृत्ति में उर्दू छन्द-शैली भी कारणीभूत थी, क्योंकि तत्कालीन अनेक कवियों ने उर्दू छन्दों के आधार पर ही हिन्दी की रचनाएं कीं[1]। इन कारणों के अतिरिक्त विशेष बात यह भी थी कि यह युग हिन्दी खड़ीबोली कविता का एक प्रकार से आरम्भिक युग ही था। अत: सरल-ऋजु शैली में कविता की रचना करके उसका विकास करना इस युग का अभिप्रेत लक्ष्य था।

काव्य-शैली की उक्त प्रवृत्तियों के प्रमाणार्थ अधोलिखित कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं --

शशधर में जो सुन्दरता है
कमलों में जो कोमलता है
जहां तहां लावण्य लता है
जिसमें जितनी गुण-गुरुता है
जब एकत्र उन्हें कर पाया
तब विधि ने यह रूप बनाया
सुन्दरता समूह उपजाया[2]

ध्यान से जयसिंह ने उसको लखा
और फिर उसके हृदय पर कर रखा
हो विकल उसको जगाने वे लगे
मर चुकी थी वह भला अब क्यों जगे[3]

जो पक्षपात पामर को मार भगावे
अन्याय असुर के उर में आग लगावे
झूठी सहृदयता के गद्य गीत न गावे
मन मन्दिर में समता की ज्योति जगावे
उस न्याय निरंकुश को जो अपनाता है
वह वीर समालोचक पदवी पाता है[4]

१-स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी उर्दू-कवियों की काव्य-पद्धति से प्रभावित थे और उन्होंने अन्य कवियों को भी उनकी पद्धति का अनुसरण करने का निर्देश दिया (दे०रसज्ञरंजन-पृ०३८-३२)
२- सर०पां०,१६०६--द्विवेदी।   ३- सर०भाग १७,खण्ड१,सं०४--गुरु।
४- सर०हीर०अंक--नाथूराम शं०शर्मा--र०काल १६०६ई०।

बाबू लोग पहाड़ों पर बंगलों में बैठे
धन-मद,जन-मद,शासन-मद तीनों से ऐंठे ।
खेल रहे शतरज, ताश, गंजीफा चौसर
या होते कुरबान पियानो पर जानों पर[1]

आप ही दिवाकर हैं, आप ही निशाकर हैं
आप हो तिमिर तेज रजनी अहर हैं
आप ही गगन घन दामिनी सुतारागन
आपही असुर वृन्द पूरन अमर है ।।[2]

मानव दानव दोनों ही का जिसने सुभग विभाग किया
अध्यापन अध्ययनकाल में केवल जिसने भाग लिया
विश्वोत्पत्ति प्रलय का कारण जिसने ठीक विचारा है-
सबदेशों में ज्ञान-गेह यह भारतवर्ष हमारा है[3]

ऊपर दिये गये विभिन्न उदाहरणों में व्यतिक्रम लगभग नहीं के समान होते हुए भी छन्दबद्धता,तुकान्तता एवं लयबद्धता का अभाव नहीं है । इसी प्रकार अधोलिखित उदाहरणों में केवल क्रिया पदों का विपर्यय हु हुआ है, शेष पद यथास्थान हैं --

तमोमय था सारा संसार
आ गये कैसे करुणागार ?
तड़ित करती थी उग्र विलास,
मेघ देता था सबको भास,
प्रकृति लेती थी दारुण श्वास,
जगत करता था हाहाकार,
आ गये कैसे करुणागार ।।[4]

१- काव्यवाटिका -- केशव मिश्र । २- काव्य वाटिका--रायदेवीप्रसाद पूर्ण
३- काव्यवाटिका -- रा०च०उपाध्याय । उपाध्याय जी की सम्पूर्ण कविताएं बहुधा इसी पद्धति का अनुसरण करती हैं । ४- पंचपात्र -- बख्शी ।

देखकर प्रिय कोष पड़ा भय ताप में
वेदन होतो हृदय घन को महा
शोक-विह्वल वह कराह कराह कर
आंसुवों की धार देता है बहा[1]

उर्दू-शैली के प्रभावस्वरूप केवल सहायक क्रिया-विपर्यय --

जहां जन्म देता हमें है विधाता
उसी ठौर में चित्त है मोद पाता
जहां हैं हमारे पिता बन्धु माता
उसी भूमि से है हमें सत्य नाता ।[2]

इसी सन्दर्भ में बदरीनाथ भट्ट द्वारा उर्दू-तर्ज़ पर लिखी गई 'गुज़ल' शीर्षक से प्रकाशित प्रार्थना की कुछ पंक्तियां भी द्रष्टव्य हैं --

यह स्वार्थ तम-का परदा अब तो उठा दे मोहन ।
अब आत्म त्याग-रवि को आभा दिखा दे मोहन ।

....

सद्भाव पंकजों को अब तो ज़रा हंसा दे
जातीयता -नलिनि का मुखड़ा खिलादे मोहन ।
द्विज-वृन्द वन्दना कर तेरा सुयश सुनावें,
वैरी उलूक-गण को अब तो छका दे मोहन ।

पदों के क्रम में न्यून व्यतिक्रम को शैली को तो तत्कालीन अधिकाधिक साहित्यिकों, यथा-- द्विवेदी, गुरु, शुक्ल, बख्शी आदि गद्यकारों तथा नाथूराम शंकर शर्मा, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, मुकुटधर पाण्डेय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, प्रभृति पद्यकारों ने अंगीकार किया हो, यहां तक कि आगे चलकर जो भावातिरेकवश अपनो कविता में अक्रमता का अधिक समावेश करने लगे थे, उन कवियों ने भी अपनी प्रारम्भिक कविताओं--विशेषत: जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं-- में पद-क्रम में अधिक व्यत्यय नहीं किया है । यदि व्यत्यय हुआ है भी तो उसमें विकार प्राय: नहीं मिलता है । अयोध्यासिंह उपाध्याय, प्रसाद,

----

१- सर०पा०,१६१६-- मुकुटधर पाण्डेय । २- सर०पा०,१६१७-- गुरु ।

गुप्त, सनेही तथा कुछ अंशों में पंत की रचनाएं इसी कोटि में आती हैं, उदाहरणार्थ--

दुखों की गरज क्यों न धरती हिलावे
लगातार कितने कलेजा कंपावे
बिपत पर बिपत क्यों न आंखें दिखावें
बिगड़ काल ही सामने क्यों न आवे ।[१]

फल्गु की है धार हृदय वामा का जैसे
रूखा ऊपर भीतर स्नेह सरोवर जैसे ।।
ढकी बर्फ से शीतल ऊंची चोटी जिनकी ।
भीतर है क्या बात न जानी जाती उनकी ।।[२]

प्यारे । आज नवीन भाव मेल हुआ तेरा मेरा
तू प्रिय है मैं प्रेमी हूं, बस मैं तेरा हूं तू मेरा ।
तेरे अटल प्रेम बन्धन में मुझे मुक्ति की चाह नहीं
एक अपांग दृष्टि हो तेरी फिर कुछ भी परवाह नहीं[३] ।

जिसने बढ़कर नहीं दीन जन को अपनाया
पतित बन्धु को पुन: उच्च जिसने न बनाया ।
सुनकर करुण करुण नाद न जिसने कान हिलाया,
दया सलिल साहाय्य-तृषित को नहीं पिलाया ।[४]

चूम मौन कलियों का मान
खिला मलिन-मुख में मुसकान
गूढ़ स्नेह का -सा नि:श्वास
पा सखियों से सौरभ-दान
छा जातीं हम अवनि, अकास[५]

१- सर०पा० १९१६-- हरिऔध । २- इन्दु--जनवरी,१९१४-- प्रसाद
३- वही-- गुप्त । ४- सर०पा०१९१७-- सनेही
५- सर०भाग २५, सं०२,सं०४-- पंत।

है यह वैदिक वाद
विश्व का सुख दुखमय उन्माद
एकतामय है इसका नाद
गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव-भाषण
श्रवण तक आ जाता है मन
स्वयं मन करता बात श्रवण [१]

(ख) जिनमें व्यतिक्रम कुछ अधिक है

पहिले दिये गये दृष्टान्तों से इतना तो स्पष्ट है कि तत्कालीन काव्य- रचना की प्रवृत्ति पद्य के छन्दों ब के शब्दों में कम से कम व्यतिक्रम करके भी उसे काव्य-गुणोपेत बनाने की रही है, किन्तु जैसे-जैसे कविता में कलापक्ष की अवहेलना कर भाव पक्ष को महत्व दिया जाने लगा, उसके शब्दक्रम की नियमितता पर प्रतिघात होने लगा । यों भी जैसा कि कहा जा चुका है कविता की भाषा में शब्द अथवा शब्द समूह-क्रम की छूट तो रहती ही है । यहां तक कि स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब कि `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई गद्य-रचनाओं में शब्द-क्रम सम्बन्धी सुधार सबसे अधिक किये हैं, पद्य-रचनाओं में इस प्रकार का लगभग संशोधन नहीं किया है ।

उपर्युक्त प्रवृत्ति के फलस्वरूप `हरिऔध`, प्रसाद, गुप्त, पंत तथा यत्र-तत्र सनेही जी की कुछ कृतियों में पदों के अधिक व्यतिक्रमित होने के उदाहरण मिलते हैं ।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध` ने अपनी कृति `प्रियप्रवास` में जिसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होने से कहीं-कहीं बोझिल भी हो गई है-- शब्दों अथवा वाक्यांशों के स्थानों में उलट-फेर अपनी अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक किया है, यथा--

घिर गया इतना तम तोम था
दिवस था जिससे निशि हो गया
पवन गर्जन औ घन-नाद से
कंप उठी व्रज-सर्व-वसुन्धरा

१- उच्छ्वास -- पंत

....

फिर अचानक धूलिमयी महा

दिवस एक प्रचण्ड हवा चली

श्रवण से जिसकी गुरु गर्जना

कंप उठा सहसा उर दिग्वधु

प्रसाद ने यद्यपि पदों का क्रम सामान्य रखते हुए भी अपने काव्य में कोमलध्वन्यात्मकता लयबद्धता, गीतात्मकता एवं भावव्यंजकता का समावेश सुन्दर ढंग से किया है, तथापि उनकी किसी-किसी रचना में शब्द अथवा वाक्यांशों की क्रम-विशृंखलता के उदाहरण अधिक हैं, यथा--

आम

जिनपर न वनस्पति कोई

श्यामल उगने पाती है

जो जनपद-परस तिरस्कृत

अभिशप्त कही जाती है

....

फिर विश्व मांगता होवे

ले नभ की खाली प्याली

तुमसे कुछ मधु की बूंदें

लौटा लेने का लाली

....

क्यों छलक रहा दुख मेरा

ऊषा की मृदु पलकों में

हा उलझ रहा सुख मेरा

सन्ध्या की घन अलकों में [१]

गुप्त जी की कृति `भारत-भारती` में भी शब्द।पद-क्रम की पर्याप्त छूट है, उदाहरण

१- आंसू-- प्रसाद ।

निज स्वामियों के कार्य्य में सम भाग जो लेतीं न वे
अनुरागपूर्वक योग जो उसमें सदा देतीं न वे

....
जो मातृसेवक हो वही सुत श्रेष्ठ जाता है गिना
कोई बड़ा बनता नहीं लघु और नम्र हुए बिना

....
तब निकल पड़ते हैं हृदय से
वचन ऐसे दुख दुख भरे [1]

पंत के कुछ छन्दों में तो शब्दों का व्यतिक्रम इस सीमा तक हुआ है कि उनमें दूरान्वय-दोष भी निहित हो गया है, यथा--

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निश्वास
प्रखर झरती जब पावस धार [2]

(ग) जिनमें व्यतिक्रम दोषपूर्ण है

पूर्वोल्लिखित उदाहरणों के आधार पर यह निर्णय लेना सुगम हो जाता है कि आलोच्यकालीन कविता में शब्दों अथवा पदों का व्यतिक्रम प्राय: उसी सीमा तक हुआ है जहां तक व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन न हो अथवा अर्थान्तरण सम्बन्धी दोष न हो, फिर भी कतिपय रचनाओं में रचनाकार के की निरंकुशता अथवा अभिव्यक्तिक बलात्मकता के कारण परोक्षरूप से शब्द-क्रम की अवहेलना हो जाने के कारणफलस्वरूप कहीं-कहीं अस्थानपदस्थता, पद-असम्बद्धता तथा अर्थान्तरण-सम्बन्धी दोष मिल जाते हैं, उदाहरणार्थ --

फिर अचानक धूलिमयी महा
दिवस एक प्रचंड हवा चली [3]

१- भा०भा० -- गुप्त ।   २- मौन निमन्त्रण-- पंत । (शेष दे० दोषपूर्ण शब्द
३- प्रियप्रवास -- प्रसाद ।

'हरिऔध' की कविता के इन दोनों चरणों में 'महा' एवं 'एक' का अस्थानिक प्रयोग होने से 'महा' प्रचण्ड का विशेषण न होकर 'दिवस' का विशेषण प्रतीत होता है तथा 'एक' दिवस का विशेषण न होकर 'प्रचण्ड' का विशेषण प्रतीत होता है। अत: उक्त चरणों में दूरान्वय एवं अस्थानपदस्थता दोनों ही दोष वर्तमान हैं, जिनके फलस्वरूप अर्थान्तरण का दोष भी उपस्थित हो सकता है। 'हरिऔध' की उक्त सन्दर्भित कृति (प्रियप्रवास) में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक और उदाहरण देखिए--

जब सुव्यंजक भाव विचित्र के
निकलते मुख अस्फुट शव्द थे
तब कहीं अपरांबुधि से कढ़े,
जननि को मिलते वर रत्न थे[1]।

इसी प्रकार गुप्त की कृतियों में भी प्राय: ऐसी अनियमितताएं मिल जाती हैं, जैसे--

नव वल्ली सी खिली उत्तरा फैली[2] मुख पर छटा गई[3]
पर पीटते हैं सिर विदेशी आज भी जिस शान्ति को[4]
पर दूसरे को एक हम कब काटने से चूकते[5]

गुप्त की उपर्युक्त पंक्तियों का अन्वय करते समय सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में इस प्रकार अन्तर हो सकता है--

प्रथम पंक्ति में 'फैल' शव्द 'फैली' लिखने के कारण यह शव्द 'उत्तरा' की क्रिया प्रतीत होता है, 'मुखपर' शव्दक्रिया 'फैली' का आधार हो जाता है तथा 'छटा गई' से छटा के समाप्त होने का आभास होने लगता है, जब कि वास्तविक भाव यह है कि उत्तरा नव वल्लरी सी खिली (और उसके) मुख पर छटा फैल गई।

इसी प्रकार दूसरी, तीसरी पंक्तियों में भी क्रम से 'विदेशी' शव्द अन्वय का अल्पज्ञान रखने वालों के लिए उद्देश्य न होकर 'सिर' का विशेषण हो सकता है तथा 'एक' शव्द 'दूसरे' से सम्बन्धित न होकर 'हम' का विशेषण माना जा सकता है।

प्रसाद जिन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करते हुए भी प्राय: ऋजु, सरल चरणों का ही निर्माण किया है, उनकी कविता में भी कहीं-कहीं पदों का अस्वाभाविक क्रम देखने को मिल जाता है, यथा--

---

१- प्रियप्रवास --प्रसाद। २-मात्राओं की संख्या ठीक रखने के अभिप्राय से कवि ने 'फैल' के स्थान पर 'फैली' शव्द का प्रयोग किया है, जो अर्थ की दृष्टि से दोषपूर्ण है। ३- स०भाग११ स०६,--गुप्त। ४- भा०भा०--गुप्त। ५-वही।

वेदना विकल फिर आई, मेरी चौदहों भुवन में

\+ + +

इस बड़ी व्यथा को मेरी रो रोकर अपनाओगे[1]

उपर्युक्त प्रथम पंक्ति में `मेरी विकल वेदना` वाक्यांश को विशृंखलित करके अनुपयुक्त स्थानों पर प्रयोग करने के कारण असम्बद्धता दोष आ गया है । यही स्थिति दूसरी पंक्ति में भी वर्तमान है ।

उपर्युक्त असम्बद्ध प्रयोगों की भांति कुछ अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं, यथा--

जिनको कि स चालन हमारे का सभी अधिकार है ।[2]

\+ + +

कर्तव्य पालन का उन्हें कुछ भी न होता ध्यान है ।

हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता नारी थी[3]

इन पाषाणों पर मणियों के मैंने कितने सहे तकाजे[4]

उक्त प्रथम पंक्ति में

कविवर पंत की रचना-शैली भी उक्त दोषों से वंचित नहीं है । आपकी कविता `मौन निमन्त्रण` में ऐसी अनेक त्रुटियां वर्तमान हैं, यथा--

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान

\+ + +

दीर्घ भरता समीर नि:श्वास
प्रखर झरती जब पावस धार

\+ + +

बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिधुरा देती अज्ञात

१- आंसू -- प्रसाद । २- सर०भाग १५,सं०१,पृ०१६-- लीलावती । ३- विदा-माखन-चतु०। ४-झांसीवाली रानी --सुभद्रा० चौहान ।

उपर्युक्त पंक्तियों में केवल विशेषण और विशेष्य के क्रम में ही अस्वभाविकता है।

यद्यपि पंत की उक्त कविता `मौन निमन्त्रण` में पाई जाने वाली उपर्युक्त अनियमितताओं के आधार पर ही कुछ आलोचकों ने आपकी कविता की शैली को अनन्वय,क्रम-विहीनता आदि दोषों से युक्त बताया है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उक्त प्रकार के दोष आपकी कविताओं में अपवादरूप में ही वर्तमान है,अन्यथा आपकी रचना-पद्धति पूर्णरूपेण नियमानुकूल है ।

निष्कर्ष यह है कि आलोच्ययुगीन कविता की भाषा में पदों की व्यतिक्रम होने पर भी यत्किंचित अनियमित अथवा दोषपूर्ण प्रयोगों को छोड़कर प्राय: वाक्य अथवा चरणों के निर्माण में संयम से ही काम लिया गया है । इसका प्रमुख कारण है-- लेखकों में सुधारवादी प्रवृत्ति का होना । स्वयं द्विवेदी जी ने यद्यपि पद्य के शब्द-क्रम में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया, फिर भी कहीं न कहीं अनुपयुक्त प्रयोग के सुधार के हेतु उनकी लेखनी चल ही पड़ी (उदाहरण `विषय-निरूपण के परिचय में दिये जा चुके हैं)

५.२.वाक्य-रूप

आलोच्ययुगीन वाक्य पद्धति के अन्तर्गत उसकी पद-योजना के विश्लेषण के उपरान्त उन विभिन्न पद-रूपी अंगों से निर्मित साधारण, मिश्रित एवं संयुक्त वाक्य-रूपों का अवलोकन भी अपेक्षित है ।

यद्यपि हिन्दी की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अयोगात्मक होती आई है,अर्थात् हिन्दी भाषा के विकास के फलस्वरूप खड़ीबोली संस्कृत के समास प्रधान शैली को छोड़कर व्यास प्रधान होने लगी थी किन्तु कई ~~उपवाक्यों~~ उपवाक्यों के समाहार से गठित वाक्य का कलेवर विषय की जटिलता के प्रभाव से विस्तृत रूप लेने लगा था । कथा साहित्य में बोलचाल की व्यवहारिक भाषा के प्रयुक्त होने तथा संवादादि का अधिकाधिक संयोजन होने के कारण सामान्यता अधिक लम्बे नहीं हो पाये,किन्तु उन संवादों में जहां दार्शनिकता विराजमान है,वहां दार्शनिक तत्वों की व्याख्या करने में वाक्य लम्बे अवश्य हो गये हैं (यथा--प्रेमचन्द के `गोदान` तथा प्रसाद की कतिपय रचनाओं में) इसी प्रकार कविता की विकसित अवस्था में पद,चरण आदि में मात्राओं अथवा वर्णवृत्ति की सीमितता होते हुए भी कहीं-कहीं वाक्यों का मनमाना विस्तृतीकरण हुआ है । यहां तक कि आजकल की उन मुक्तक कविताओं

का सूत्रपात भी उसी युग में हो गया था ,जिनके शब्दों या पदों का क्रम कविता के अन्त में ही टूटता है अथवा जिनके वाक्य की पूर्णता कविता की पूर्णता पर ही निर्भर करती है ।

इनके अतिरिक्त निबन्धों (विशेषत: आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक) की भाषा तो अधिकांशत: लम्बे लम्बे वाक्यों द्वारा ही नियोजित मिलती है । इस वाक्य - विस्तार की प्रवृत्ति का कारण विचारों और भावों की जटिलता तो है ही साथ ही शैली का व्यास प्रधान होता ह भी मुख्य कारण है । आलोच्ययुग की शैली का रुझान जैसा कि कहा जा चुका है,समास से व्यास की ओर रहा है और व्यास पद्धति की विशेषता है विषय को व्याख्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना । जिसका परिणाम यह हुआ कि वाक्य का विस्तार अनेक उपवाक्यों द्वारा होने लगा । अत: यद्यपि द्विवेदी जी तथा पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक के रूप में अन्य लेखकगण यथा--बालमुकुन्द गुप्त, मिश्रबन्धु, बख्शी जी,बदरीनाथ भट्ट, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि छोटे-छोटे ऋजु सरल वाक्यों के पक्षपाती थे,फिर भी कालक्रमानुसार वाक्य-विस्तार अवारणीय हो गया ।

उपर्युक्त समस्त तथ्यों की पुष्टि में तत्कालीन वाक्यों के अधोलिखित रचनागत भेद प्रस्तुत किये जा सकते हैं-- १. साधारण वाक्य, २. मिश्रित वाक्य, ३.संयुक्त वाक्य ।

१.साधारण वाक्य

साधारण वाक्य(जिसमें एक उद्देश्य और एक ही विधेय हो) के अन्तर्गत अब आने वाले द्विवेदीयुगीन एकाक्षरीय वाक्य से लेकर बहुपदिक वाक्यों के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं--

१. क्रिया से बने वाक्य-- विस्तार-सहित[१]

(क) एकाक्षरीय क्रिया -- जा

(ख) एकपदीय क्रिया -- बोले

(ग) संयुक्त क्रिया -- सोचती हूं

(घ) द्विरुक्त क्रिया -- आओ,आओ

(ङ०)क्रियाविशेषण+क्रिया-- कैसे बतलाऊं

वहां बड़ा अत्याचार हो रहा है

१- उदाहरण प्राय: `बख्शी जी` कृत `पंचपात्र` तथा`भगवती प्रसाद वाजपेयी` की रचनाओं से उद्धृत हैं ।

इस प्रकार अनेक क्रियाविशेषणों के योग से क्रिया का विस्तार होता गया है।[1]

२. कर्म+क्रिया से बने वाक्य- विस्तार-सहित

(क) कर्म+ क्रिया -- पानी भरोगे

उसे लौटाना होगा

(ख) कर्मविस्तार+क्रिया-- एक काम करो....कौन सा काम दूं

(ग) कर्म+क्रिया विस्तार सहित-- अब क्या चाहते हो

हिन्दी पत्रों में हमने ऐसे विज्ञापन देखे हैं

(घ) दो कर्म + क्रिया -- रोग मुझे दो

कर्म+ क्रिया से बने वाक्य का विस्तृत रूप उत्तर-द्विवेदीकालीन काव्य में अधिक दिखाई देता है, यथा--

अन्तिम आशा के कानों में
स्पन्दित हम सब के प्राणों में
अपने उर की तप्त व्यथाएं
क्षीण कण्ठ की करुण कथाएं
कह जाते हो
और जगत की ओर ताक कर
दु:ख हृदय का क्षोभ त्याग कर
सह जाते हो।[2]

३. कर्ता+ क्रिया से बने वाक्य-- विस्तार-सहित[3]—

(क) कर्ता+ क्रिया--वह बोला

मैं भी जाऊंगा

(ख) कर्ता+क्रियावि०+ क्रिया -- वह बेकार बोला

मैं पल भर में लौट आऊंगा

(ग) कर्ता+क्रिया वि०वाक्यां०+क्रिया -- लड़की घड़ा लेकर चली गई

रात में बिछौने से उठकर दिया जलाकर वह उस चित्र को देखती थी।

१-उदाहरण प्राय: बख्शी जी कृत `पंचपात्र` तथा भगवतीप्रसाद बाजपेयी की रचनाओं से उद्धृत है।

(घ) कर्ता विस्तार+ क्रिया विस्तार-- जब आई प्यारी बरसात(लोबर०प्रा०--द्विवेदी)

किन्तु कुछ दिन पहले पथ परीक्षा नाम की एक

छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई थी ।

देखते देखते कर्मण्यों के स्वर्ग में एक बड़ा भेद आ गया ।[१]

४. कर्ता+कर्म + क्रिया से बने वाक्य-- विस्तार-रहित

(क) कर्ता+कर्म+क्रिया -- तुम क्या चाहते हो ?

अथवा

तुम्हें क्या चाहिए ?

दुखों को गरज क्यों न धरता हिलावे(हरिऔध,सर०पा०१६१६)

(ख)कर्ता+कर्म+क्रिया -- विस्तार-सहित --

मैं कभी आपको ऐसे संकट में नहीं डालूंगा

इस घर की वन्दिनी बाहर के किसी आदमी को नहीं देख सकती ।

(ग) वाक्यांशों द्वारा विधेय विस्तार--

अपने अध्यात्मवाद के लिए पद्मावती की कहानी चुनकर और पद्मावती की कहानी में आध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर उन्होंने असम्भव को सम्भव बनाने में हाथ लगाया है ।(द्वि०अभि०ग्र०)पीतांबर बड़थ्वाल)

उपर्युक्त अवययों से निर्मित वाक्यों के अतिरिक्त कहानियों एवं नाटकों के संवादादि में विभिन्न कारकों तथा अव्यय शब्दों से निर्मित वाक्य भी अध्याहार के रूप में प्रयुक्त है। ऐसे वाक्यों के उदाहरण `आकांक्षा एवं अध्याहार` शीर्षक के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं ।

२. मिश्रित वाक्य

किसी भी भाषा में वाक्य-विस्तार की मुल प्रवृत्ति संयुक्त क्रिया-प्रयोग मे ही मुखर होती है । क्योंकि संयुक्त वाक्य में एक मुख्य उपवाक्य से अनेक उपवाक्य सम्बन्ध होकर उसके आश्रित होते जाते हैं । और आवश्यकतानुसार मुख्य उपवाक्य के साथ आश्रित उपवाक्यों तथा उन आश्रित उपवाक्यों ~~तथा~~ के भी आश्रित उपवाक्यों के संयोजन से प्राय: वाक्य का

१- इस कोटि के अधिकांश वाक्य पंचपात्र से ही उद्धृत किए गए हैं ।

विस्तार होता चला जाता है। इस प्रवृत्ति के अनुसार निर्मित द्विवेदी-युगीन छोटे से लेकर विस्तृत वाक्य तक के कुछ नमूने इस प्रकार हैं --

१.मुख्य उपवाक्य के साथ आश्रित उपवाक्यों का योग

क. संज्ञा उपवाक्य--

हिन्दी हितैषियों को उचित है कि हिन्दी साहित्य को उन्नत करके उसकी लाज रखें[१]

ख.विशेषण वाक्य--

संस्कृत में ऐसी अनेक पुस्तकें हैं जिनमें नायिकाओं को विभाग परम्परा और उनके लक्षणों का विवरण है[२]

ग. क्रिया विशेषण उपवाक्य

जब कोई चित्रकार मनुष्य के चित्त को विकृत करने के लिए कोई चित्र अंकित करता है तब उसकी कृति अवश्य अश्लील हो जाती है[३]

२. आश्रित उपवाक्यों का उनके आश्रित उपवाक्यों द्वारा विस्तार

जान पड़ता है कि वह अधिकारियों को इस धोखे में रखना चाहता है कि वह नगर छोड़कर चला गया है[४]

विशेष विकलता का एक कारण यह था कि उनकी कुटी गांव से बहुत दूर थी और मृत्यु के पहले गांव का पुरोहित आ जाय इसकी आशा नहीं थी।[५]

उनका कथन था--[६] हम संस्कृत शब्दों के निरर्थकउपयोग के पक्षपाती नहीं हैं, परन्तु इसके साथ ही हम उन अर्बी-फारसी शब्दों को भी बनावटी समझते हैं जो साधारण देशी शब्दों के बदले मुसलमान और मुसलमानी हिन्दू काम में लाते हैं[७]

इस प्रकार लेखन-क्रम में विभिन्न उपवाक्यों के योग की प्रक्रिया से तत्कालीन वाक्यों का कलेवर बढ़ता गया है। वाक्य-विस्तार की प्रवृत्ति विशेषत: आलोचनात्मक अथवा

१- रसज्ञ रंजन-- द्विवेदी। २- वही। ३- पंचपात्र-- बख्शी।

४- वही। ५- वही। ६७

६- यहां `कि' संयोजक के स्थान पर चिह्न(-) का प्रयोग किया गया है।

७- स०भाग ६ स०४।

व्याख्यात्मक निबन्धों में वर्तमान है । इसी सन्दर्भ में मुंशी प्रेमचन्द की कृति से लिया गया एक वाक्य भी उद्धृत करने योग्य है,जिसमें एक मुख्य उपवाक्य के साथ अनेक आश्रित उपवाक्य सम्बद्ध हैं,यथा--

> जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर हैं,जो जीवन में बद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है,जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है , जिसने जिन्दगी के ऊंच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दों पर नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिनमें प्रकाश, जीवन और आनन्द प्रदान की सामर्थ्य होगी[१] ।

३. संयुक्त वाक्य

संयुक्त वाक्यों के सामान्य रूप का प्रयोग तो द्विवेदीयुगीन भाषा में लगभग सर्वत्र हुआ है,किन्तु किसी प्रसंग के वर्णन में शृंखलाबद्धता, विषय की व्याख्यात्मकता तथा भावों के गुम्फन आदि की स्थिति में मुख्य उपवाक्य के समान स्वतन्त्र उपवाक्यों तथा उनके आश्रित उपवाक्यों की कड़ियों के योग से निर्मित लम्बे-लम्बे वाक्यों की योजना की गई है । उदाहरणार्थछोटे से लेकर अधिकाधिक विस्तृत कलेवर वाले वाक्यों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं --

> 'तुम्हारा नाम क्या है और तुम हमारे कौन हो[२] ?'
>
> 'दशरूपक और साहित्य दर्पण इत्यादि में प्रसंगवश इस विषय का विचार हुआ है, परन्तु वे विचार गौण हैं मुख्य नहीं[३]'
>
> 'हमारी भाषा को--यद्यपि वह मिश्रित सी दीखती है-- कुछ न कुछ प्रौढ़ता प्राप्त हो चुकी थी, और उसकी शैली में स्थिरता आ गई थी[+,४]'

१-कुछ विचार 'उपन्यास का विषय '-- प्रेमचन्द । २-सर०भाग ५सं०४ ।

३- रसज्ञ रंजन-- द्विवेदी । + - इस प्रकार की वाक्य-रचनाओं,वाक्य के क्रम को तोड़ करबीच में दूसरे उपवाक्य का योग करके पुन: पूर्व कथन के क्रम को बहाल रखने की प्रणाली का सूत्रपात भी इस युग में हो गया था। आज अधिकांश रचनाकारों की भाषा की यही प्रणाली है ।

४- हिन्दी--बदरी०भट्ट ।

'खद्दर के सूट की भांति उनकी सामग्री प्राय: देशी रहती है किन्तु काट छांट अधिकांश में विलायती ढंग का होता है'[1]

'आजकल हिन्दी कहानियां जिनको 'गल्प' 'आख्यायिका' 'लघु कथा' भी कहते हैं, हैं तो भारत की पुरानी कहानियों की ही संतति किन्तु स्वदेशी संस्कार लेकर आई है'[+2]

'साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है-- राजा के महल में, रंक की भोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गन्दे नालों के अन्दर, ऊषा की लाली में, सावन भादों की अंधेरी रात में'[3]

इसी प्रकार किये गये वृहत् से वृहत्तर वाक्यों के रूप इस युग की भाषा में पाये जाते हैं । तत्कालीन पत्रकारों ने तो प्राय: छोटे छोटे वाक्यों का ही प्रयोग किया, किन्तु अन्य आलोचकों तथा निबन्धकारों की भाषा में वाक्यों के कलेवर के विस्तृतीकरण की प्रक्रिया मुख्यत: पाई जाती है ।

-o-

१- सिद्धान्त और अध्ययन -- गुलाबराय ।

+- इस प्रकार की वाक्य-रचनाओं, यथा--वाक्य के क्रम को तोड़कर बीच में दूसरे उपवाक्य का योग करके पुन: पूर्व कथन के क्रम को बहाल रखने की प्रणाली का सूत्रपात भी इस युग में हो गया था । आज अधिकांश रचनाकारों की भाषा की यही प्रणाली है ।

२- सिद्धान्त और अध्ययन -- गुलाबराय ।

३- कुछ विचार -- प्रेमचन्द ।

६

विरामादि-चिह्न

६

विरामादि-चिह्न

जैसा कि द्विवेदी-पूर्व भाषा की स्थिति के सन्दर्भ में संकेत किया जा चुका है, द्विवेदी-युग के पूर्व हिन्दी में विविध विराम एवं अन्य संकेत-चिह्नों का अवतरण हो तो गया था किन्तु उनके यथोचित प्रयोग में प्राय: अनियमितताएं भी वर्तमान थीं । द्विवेदी-युग में साहित्यिक भाषा के सर्वांगीण विकास के लिए इन अनियमितताओं का निवारण भी अनिवार्य था, अत: तत्कालीन अनेक भाषाविदों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ । स्वयं द्विवेदी जी इस क्षेत्र में विशेष सतर्क थे । उनकी इस प्रक्रिया के प्रमाण 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में भरे पड़े हैं, जिनमें से कतिपय अंश इस प्रकार हैं --

१. विराम-चिह्न के अभाव की पूर्ति --

मूल -- अन्त:करण कैसे पुष्प की तरह खिल जाता है हृदयग्रन्थि किस तरह से टूटती है कुटिलता और नीचता का दारिद्र्य दूर होता है ।

सुधार--अन्त:करण कैसे पुष्प की तरह खिल जाता है ; हृदयग्रन्थि किस तरह खुल जाती है ; कुटिलता और नीचता का पर्वत कैसे चूर चूर हो जाता है[1] ।

मूल -- न तो इनमें छाया-विभाग ही पाया जाता है और न रंगों की शोभा ही यहां तक कि चेहरे की सफाई का भी अभाव है तो फिर क्या टेढ़ी सीधी बेमेल लकीरों की प्रशंसा की जावे ?

सुधार--न तो इनमें छाया-विभाग ही पाया जाता है और न रंगों की शोभा ही । यहां तक कि चेहरे की सफाई का भी अभाव है ।

१- सर०पा०,१६०६-- पूर्णसिंह ।

तो फिर क्या टेढ़ी सीधी बेमेल लकारों की प्रशंसा की जाय[1] ?

मूल--मैं चाहता हूं कि इस हृदय को निज शरीर से बाहर कर

दशा दिखाऊं तुमको उस्की जिस्पर रखती थी तुम सर

जब आती थी नींद तुम्हें वह मेरा दुख हरने वाली

जैसी कभी और तुमको अब नहीं हाय मिलने वाली

सुधार- मैं चाहता हूं कि इस हृदय को निज शरीर से बाहर कर,

दशा दिखाऊं तुमको उसकी जिसपर रखती हो तुम सर।

जब आती थी नींद तुम्हें वह मेरा दुख हरने वाली,

जैसी कभी और तुमको अब नहीं हाय मिलने वाली ।।[2]

२. अनुपयुक्त चिह्न के स्थान पर उपयुक्त चिह्न --

(१)मूल -- और इसमें लाखों नरनारी निवास करते थे. पर अब यहां उलूकों और चिमगादरों के सिवा कोई नहीं रहता.

सुधार-- उपर्युक्त रेखांकित बिन्दियों के स्थान पर खड़ी पाई (।) का प्रयोग किया है[3] ।

(२)मूल -- कन्नी काटने लगे -- बोले --' खा । तुम जानती हो कि जुम्मन से गाढ़ी दोस्ती है --'

सुधार-- रेखांकित निर्देश चिह्नों के स्थान पर भी खड़ीपाई विरामचिह्न का प्रयोग किया गया है[4] ।

३. अनावश्यक एवं अनुपयुक्त विराम चिह्न को हटा देना --

मूल -- क्या शङ्कर प्रतिकूल" काल का अन्त न होगा ।

क्या मङ्गल से मेल" मृत्यु प यंन्त न होगा ।

क्या अनुभूत दरिद्र" दुःख अब दूर न होगा ।

क्या दारुक दुर्दैव" कोप करपूरि न होगा ।

१- सर०पा०१६१६ -- गुलाबराय ।   २- सर०पा० १६०३--गौरीदत्त बाजपेयी ।

३- सर०पा० १६०५--माणिक्यचन्द जैन । लेखक की अन्य कृतियों में भी द्विवेदी जी ने विरामचिह्न सम्बन्धी उक्त सुधार किये हैं ।

४- सर०पा० १६१६-- प्रेमचन्द ।

सुधार -- सुधार में उपर्युक्त रेखांकित अवतरण चिह्नों को हटा दिया गया है, क्योंकि यहां किसी प्रकार का विराम चिह्न अपेक्षित नहीं है ।

विराम-चिह्न -सुधार सम्बन्धी अभियान से अन्य पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकगण भी अछूते नहीं रहे । यही कारण है कि विराम-चिह्न-प्रयोग सम्बन्धी अनियमितता स्वतन्त्र रचनाओं में प्रायः भले ही मिल जाती है, किन्तु तत्कालीन प्रतिनिधि रचनाओं में प्रायः नियमित प्रयोग ही मिलते हैं ।

पत्र-पत्रिकाओं के सुधारों के अतिरिक्त तत्कालीन विवेकशील एवं भाषा-सुधारक लेखकों की कृतियों में भी उक्त चिह्नों के प्रायः उपयुक्त प्रयोग ही मिलते हैं । इस प्रकार विभिन्न प्रयासों के फलस्वरूप द्विवेदी-युग में विराम चिह्नों के प्रयोग में पर्याप्त स्वाभाविकता वर्तमान है । फिर भी कहीं-कहीं लेखक की भाषा सम्बन्धी अनभिज्ञता अथवा प्राचीन संस्कार की रूढ़ता आदि के फलस्वरूप कुछ अस्वाभाविक प्रयोग भी हो गये हैं । प्रमाणस्वरूप तत्कालीन विरामादि-चिह्नों का अध्ययन अधोलिखित शीर्षकों के अंतर्गत किया जाना चाहिए ।

१. सामान्य प्रयोग
२. विशिष्ट प्रयोग

६.१.सामान्य-प्रयोग

सामान्य प्रयोग से तात्पर्य प्रयोग की उस प्रक्रिया से है,जो आधुनिक परिनिष्ठित हिन्दी के सर्वथा अनुकूल है और यह प्रक्रिया यथार्थतः द्विवेदी-युग की ही देन है ।तत्कालीन कृतियों में अपेक्षित स्थलों पर जिन विराम अथवा संकेत चिह्नों के प्रयोग हुए हैं, वे निम्नलिखित हैं--

१. अल्प विराम-चिह्न (,)

भिन्न-भिन्न शब्दों,पदबन्धों,उपवाक्यों आदि के पश्चात् आवश्यकतानुसार किंचित यति देने के अभिप्राय से इस विराम संकेत का नियमितरूप से प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ --

---

१- सर० पा० १९०९--नाथूराम शर्मा ।

. रंग गेरुआ, नीला, काला, हरा आदि हैं [1]

. महाकाव्य में सर्ग भी बहुत से होने चाहिए और दिन-रात, सूर्य्य-चन्द्रमा, जङ्गल-पहाड़, नदी-तड़ाग, जल-विहार, वन-विहार, सुरापान आदि का वर्णन भी आना चाहिए [2]

. हां, अब कुछ दिनों से यहां के भी कोई-कोई विद्वान वैदिक साहित्य के अध्ययन, अध्यापन समालोचन और प्रकाशन में दत्तचित्त हुए हैं [3]।

. मुकुन्द, तुमने आज नई धोती पहनी है [4]

. उठो, उठो, बोलो, बोलो ।
खोलो, मनोद्वार खोलो ।। [5]

. पहली आर्य्य धारा का इतिहास समाप्त होता है, ऐसा हमारा विचार है [6]

. प्रमार राजा, जो पहले हाथी पर लड़ रहा था, पालकी पर आता है, [7]

जिसे अरुण की प्रथम किरण से मिलता है पहला आलोक,
पर, जग का सुख, दुख अनुभव कर जिसे न होता हर्ष, न शोक,
हम न बने वह गर्वोन्नत गिरि [8],
हम न विजन में बने महान ।

२. अर्द्ध विराम-चिह्न (;)

आलोच्य-युग में उपवाक्यों तथा वाक्यों के पश्चात् अल्प एवं पूर्ण विराम की मध्यम स्थिति के विराम-संकेत-हेतु यद्यपि अर्द्ध विराम चिह्न के प्रयोग का प्रयास किया गया था, यथा--

. बेशक कौटिल्य जहां छोटी छोटी बातों में जाता है, बड़ी बारीकी से जाता है [9] ; उसके उस पल्लवित में उलझकर यदि डा० कीथ ने...

. आजकल रूस और जापान में लोमहर्षण युद्ध हो रहा है ; और यह भी सन्देह है, कि इसमें फ्रांस अथवा जर्मनी रूस का योग दे... [10]

१- द्वि०अभि०ग्र०--काशीप्र० जायसवाल । २- किरात०(पां०)--द्विवेदी । ३- सा०सी०--द्विवेदी । ४- लोअर प्रा०रीडर-- द्विवेदी । ५- सर०पां०१६१७-- गुप्त ।
६- भा०का इति०-- मिश्र । ७- द्वि०अभि०ग्र०-- काशीप्र०जायसवाल ।
८- द्वि०अभि०ग्र० -- मिलिन्द । ९- भा० का इति० -- मिश्र ।
१०- [illegible] सर०भाग ५, अंक ४-- मिश्र ।

. यह विषय लौकिक नहीं है, सोच लो सौ बार ; ।[1]
छोड़ मैं सकता नहीं अपना कभी अधिकार ।।
तुम पिता, मैं पुत्र हूं, तुम देवता, मैं दास ;

. तब उसने अपने सोये हुए पुत्र को हाथ हिला कर यह कहते हुए जगाया कि -- हे बेटा, उठो ; तुम्हारे पिता आ गये ।[2]

. आप शायद कह बैठें कि हम लोगों में प्रभुता- सम्बन्धिनी शक्ति का तो सर्वथा अभाव है ; फिर उत्साहित होकर कोई काम करने से क्या लाभ ?[3]

द्विवेदी जी ने अपनी कृतियों में इस विराम-चिह्न का अधिक प्रयोग किया है । किन्तु कालान्तर में लेखन अथवा मुद्रण की सुविधा के वशीभूत होकर अर्द्ध विराम के स्थान पर अधिकांशत: अल्पविराम-चिह्न से ही काम लिया जाने लगा ।

३. पूर्ण विराम-चिह्न (।)

आलोच्य-युग में वाक्य,चरण,छन्द अथवा किसी कथन की पूर्ण समाप्ति पर पूर्ण विराम का प्रयोग नियमानुकूल हुआ[4] है । उक्त विराम के लिए प्राय: खड़ीपाई के एकहरे रूप (।) अथवा कविता में दोहरे रूप (।।) का प्रयोग ही अधिक प्रचलित रहा है, उदाहरणार्थ--

. उनके और कोई पद्य कहीं उद्धृत किये गये भी नहीं देखे गये । इस कवि की सारी कीर्ति इस एक ही महाकाव्य के कारण है । यदि इसने और और कोई पुस्तक लिखी तो वह प्राप्य नहीं ।[5]

. विजय लड़खड़ाता हुआ भीतर आया और विवश बैठ गया । किशोरी से मदिरा की गन्ध छिप न सकी । उसने सिर पकड़ लिया ।[6] यमुना ने विजय को धीरे से लिटा दिया । वह सो गया ।

१- सर०भाग १६,सं०१, सं०६ -- गुप्त । २- किराता०-- द्विवेदी ।

३- वही । ४- आजकल कविताओं में भी एकहरे पूर्ण विरामचिह्न का ही प्रयोग किया जाता है । सरस्वती की पाण्डुलिपियों में कहीं कहीं द्विवेदी जी ने भी दोहरे पाइयों में से एक पाई को काट दिया है इससे यह परिलक्षित होता है कि अब प्रवृत्ति एकहरे पाई के प्रयोग की ही हो चली थी । ५- किराता०-- द्विवेदी ।

६- कंकाल --'प्रसाद' ।

. कौन जानता है, नीचे में क्या बहता है ।
बालू में भी स्नेह कहो कैसे रहता है ।।
फल्गू को है धार हृदय वामा का जैसे ।
रूखा ऊपर भीतर स्नेह सरोवर जैसे ।।[1]
. कभी घूरमे हैं न जीवट गंवाते । बलायें उड़ते है चुटकी बजाते ।।[2]

अंग्रेजी भाषा के अनुकरण में भारतेन्दु-युग में ही पूर्ण विराम का संकेत बिन्दु (.) द्वारा भी किया जाने लगा । यह प्रथा द्विवेदी-युग में भी कुछ लेखकों द्वारा अपनाई जा रही थी, जैसे --

जितना कि वे रात को अन्धकार में स्वयं पान करते हैं. और रात्रि में उनसे निकला हुआ कारबन दिन में सोखे हुए कारबन से कहीं कम है.[3]
(द्विवेदी जी ने सुधार कर उक्त बिन्दुओं के स्थान पर खड़ी पाई लगायी है)

किन्तु द्विवेदी जी इस विराम-चिह्न के पक्ष में नहीं थे । जैसा कि `सरस्वती` में प्रकाशनार्थ आई हुई अनेक लेखकों की कृतियों में किये गये सुधारों से प्रकट होता है । उनके तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों द्वारा सुधार किये जाने के परिणामस्वरूप युग-विशेष में पूर्व-युग की अपेक्षा बिन्दुओं के प्रयोग की मात्रा बहुत ही कम हो गई । किन्तु आधुनिक भाषा-रचना में वह बीज अंकुरित होकर पर्याप्त रूप से विकसित हो चुका है ।

४. प्रश्नचिह्न (?)

प्रश्नसूचक वाक्यों की पुष्टिकरण के लिए प्रश्नचिह्न का आगमन यद्यपि भारतेन्दु-युग में हो गया था, किन्तु तद्युगीन भाषा में इसके प्रयोग में प्राय: अनियमितता भी देखी जाती है । कहीं कहीं `क्या`, `क्यों `, `कैसे ` आदि अव्ययों का प्रयोग कर अन्त में पूर्ण विराम-चिह्न का ही प्रयोग कर दिया गया है, परन्तु द्विवेदी-युगी भाषाधर्मियों

१- इन्दु--जन०१६१४ । २- सर०पा० १६१६--`हरिऔध` ।
३- सर०पां०, १६०४-- सूर्यनारायण दीक्षित ।

की कृतियों में तो ऐसी अनियमितताएं नहीं ही मिलती हैं। आवश्यक स्थलों पर प्रश्न-चिह्न के प्रयोग के सम्बन्ध में प्राय: सतर्कता से ही काम लिया गया है, यथा--

. क्या वाक्य-रचना ही का नाम साहित्य है ? अथवा साहित्य सुन्दर गढ़ी हुई स्टाइल में लिखने को कहते हैं ? या यह लिखने की एक कृत्रिम और उपार्जित प्रणाली है ?[1]

. आज तो एकादशी है, भारत का पाठ न होगा ?[2]

. खेल ? भाग्य का ? कैसा ? यह कुछ भी नहीं.[3]

. किन्तु देखकर वैरी हमको जानलेंगे क्या पल में ?
पूर्ण हुआ अज्ञातवास जब कि डर ही क्या है इसका ?
चाहे जो हो किन्तु जगत में अर्जुन को डर है किसका ?[4]

यहां तक कि 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आई हुई पांडुलिपियों में भी द्विवेदी जी ने अनुपयुक्त विराम संकेत को काट कर बहुत सतर्कता से प्रश्नसूचक चिह्न लगाया है। अधोलिखित काव्यांश में कवि ने छन्द की अन्तिम पंक्ति में ही प्रश्न-चिह्न लगाया था, शेष पंक्तियों के पश्चात् केवल अल्पविराम से काम लिया था, किन्तु द्विवेदी जी ने अल्पविराम को काटकर उसके स्थान पर सर्वत्र प्रश्न-चिह्न लगा दिया है, उदाहरणार्थ--

मूल -- क्या कोई भी नहीं हमें दो दाने देगा,
क्या यों ही भगवान इन्हें मर जाने देगा,
क्या बालक भी बच न सकेंगे जठरानल से,
दया विदा हो गई हाय। क्या अब भूतल से ?

सुधार--क्या कोई भी नहीं हमें दो दाने देगा ?
क्या यों ही भगवान इन्हें मर जाने देगा ?
क्या बालक भी बच न सकेंगे जठरानल से ?
दया विदा हो गई हाय क्या अब भूतल से ?[5]

१- स०भाग ५, सं०५-- शुक्ल।
२- कंकाल --'प्रसाद'।
३- ताराबाई -- द्विजेन्द्रलाल राय।
४- स०भाग११,सं०६-- गुप्त।
५- स०पां०१९१७--सि०रा०श०गुप्त।

५.विस्मयादिसूचक चिह्न(!)

आश्चर्य,कौतूहल,हर्ष,घृणा,शोक आदि भाव एवं मनोविकार-सूचक शब्दों तथा वाक्यों के पश्चात् इस चिह्न की नियमित रूप से योजना भी द्विवेदी-युग की ही देन है। यद्यपि युगपूर्व की भाषा में भी इसका प्रयोग होने लगा था, किन्तु तत्कालीन रचना में अनेक स्थल ऐसे भी हैं,जहां इसकी आवश्यकता की पूर्ति पूर्ण विराम चिह्न अथवा प्रश्नसूचक चिह्न से कर दी गई है, किन्तु द्विवेदी-युग में भावाभिव्यक्ति की अनुकूलता का ध्यान रखते हुए यथासम्भव उक्त चिह्न को ही लगाने का प्रयत्न किया गया है, इसका प्रयोग नाटकों एवं कहानियों में अधिक हुआ है,यथा--

. अहा ! क्या मेरी मां जीवित है?[१]

. क्या तुम इतनी निर्लज्ज हो![२]

. रामलोचन सोचता था कि हा भगवान, आज यह किस आपत्ति में फंसा। मैंने तो सीधी राह ली थी, कौन जानता था कि राह भूलकर यहां आ पहुंचूंगा!
. हे राम! अब मैं क्या करूं[३]

. हा! अन्न! हा! हा! अन्न का रव गूंजता घनघोर है[४]

कहीं कहीं भावाभिव्यंजना की बलात्मकता के कारण दोहरे,तेहरे चिह्न का भी प्रयोग हो गया है, यथा--

. हाय,हाय, यह क्या हुआ! यह तो स्वयं दरोगा जी का वंशधर, उन्हीं का एकलौतापुत्र, अपने पिता ही के हाथ से मारा गया!! लीलामय! तेरी लीला अपरम्पार है!!
. ही! ही!! ही!!! कहकर बोल उठी[५]

कंचुकी--महाराज! तोड़ दी!! तोड़ दी!!! (कुरुवन दहन--बदरी०भट्ट)

किन्तु आगे चलकर शनैः शनैः इन दोहरे -तेहरे रूपों की प्रथा जाती रही। सामान्य सम्बोधन में विस्मयादिबोधक तथा अल्पविराम चिह्न दोनों से काम लिया जाता था, जैसे--

---

१- कंकाल--प्रसाद। २- वही। ३- सर०भाग५ सं०५। ४-भा०भ०--गुप्त

५- सर०भाग ५ सं०५(कहानी)--पार्वतीनन्दन।

. परन्तु पिता । इसके लिए धर्म परिवर्तन करना ही दुर्बलता है ।[1]
घण्टी, क्या यहीं बैठी रहोगी ?

. हे तपोधन। रणोत्साह को छोड़ दो ।[2]
बेटा, उठो; तुम्हारे पिता आ गये ।

आज ऐसे स्थलों पर बहुधा अल्पविराम चिह्न से ही काम ले लिया जाता है ।

६. निर्देशक चिह्न(--)

नाटक एवं कहानी के संवादादि में तो निर्देशक चिह्न का प्रयोग परम्परागत आधार पर होता आ रहा था, यथा--

. प्रताप राव -- तुम कौन ?[3]
गोपीनाथ -- एक फकीर । दुनिया को जगाने वाला।

. निरंजन ने झिड़ककर कहा-- ठहर जा, बाहर चल। -- फिर कुछ[4] क्रोध से किशोरी की ओर देखकर कहा-- यह कौन है, कैसी है,...[5]

. सभापति ने कहा -- तुम्हें पृथ्वी पर लौट जाना होगा[6] । वह अपनी रंगीन झोली को हिलाते हुए बोला -- तब मैं चला ।

किन्तु व्याख्यापूर्ण स्थलों पर उक्त चिह्न का अधिकाधिक प्रयोग द्विवेदी-युग की ही देन है, उदाहरणार्थ--

. अथवा जो प्रकृति से उत्पन्न हो-- जिसे मनुष्य प्राकृतिक[7] कारणों से आप ही आप बोलने लगा हो-- वही प्राकृत है ।

. उस समय , अर्थात् बौद्धकाल में लोक[8] व्यवहृत भाषा--बोलचाल की भाषा-- उससे भिन्न हो गई थी ।

. इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर-- अपने आपको बिलकुल भूलकर-- विशुद्धि अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है[9] ।

१- कंकाल -- प्रसाद । २- किराता०-- द्विवेदी । ३-शिवा-साधना--प्रेमी ।
४- कंकाल -- प्रसाद । ५- निर्देश चिह्न का प्रयोग यहां भी होना चाहिए था ।
६- पंचपात्र-- बख्शी । ७- सा०सी०--द्विवेदी । ८- वही ।
९- चिन्तामणि-- प्रसाद ।

. सूर्य० -- नहीं हों, मैं नहीं करूंगा यह घृणित-- ऐसा निन्दित--
काम। -- कभी होना नहीं[१]

. हों कष्ट इनको-- यह नियम, पर तू न कुछ संकट सहे[२]

कतिपय लेखकगण पूर्णविराम के स्थान पर भी निर्देशकचिह्न का ही प्रयोग कर रहे थे, किन्तु द्विवेदी जी को यह विधि मान्य नहीं थी, जैसा कि उनके द्वारा 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में किये गये संशोधनों से प्रकट होता है(दे०इसी प्रकरण के आरम्भ में द्विवेदी जी द्वारा सुधार के उदाहरणों के अन्तर्गत) ।

७.कोष्टक (( ), [ ], { })

सामान्य कोष्ठक'( )' तथा वर्गाकार कोष्ठक '[ ]' का प्रयोग विषय-विभाजन के क्रम संकेतों की स्थापना,नाटक, रूपकादि के अभिनय में किसी विशेष स्थिति का विवरण प्रस्तुत करने, किसी शब्द एवं विषय की व्याख्या दूसरे शब्द अथवा प्रसंग द्वारा करने तथा किसी प्रसंग के मध्य दूसरे प्रसंग को लाने में प्राय: नियमित रूप से हुआ मिलता है। इन चिह्नों का सबसे अधिक प्रयोग नाटकों में ही मिलता है । प्रमाणस्वरूप अधोलिखित वर्गों में दिये गये कुछ प्रयोग द्रष्टव्य हैं--

क. विषय विभाजन क्रम के संकेतों के साथ--

. उत्पत्ति के अनुसार[३] स्वरों के दो भेद हैं--(१)असन्तोष(२)अन्य वृत्तियों का दमन

. परिशिष्ठ(क)--कविता की भाषा(ख) --वाक्य स्वतन्त्रता[४]

ख. नाटक के अभिनय में --

.[भीम का जल लिए हुए प्रवेश। भीम लोटा रखकर जोर से हंसते हैं।।[५] युधिष्ठिर और अर्जुन पूछते हैं पर वह केवल हंसता है]

. (दुर्योधन सिर झुका लेता है)

. दुर्योधन--(लज्जित होकर) महाराज००की कृपा से

. (अर्जुन से) आओ मित्र विजय । हम लोग चलें

१-ताराबाई--द्विजेन्द्रनाथ राय । २- सर०भाग१५ सं०१,सं०४--केशव मिश्र ।
३-चिन्तामणि-- शुक्ल । । ४- हिं०व्या०-- गुरु ।
५- चित्राधार -- प्रसाद ।

[स्थान- चाकन का किला-- फिरंगा जी मरमाला एक अधटूटी दीवार के पास खड़े हैं; उनके दोनों ओर दो-तीन मराठे सरदार खड़े हैं] [1]

. [पट परिवर्तन]

. (शूरता के साथ पृथ्वीराज का प्रवेश) [2]

तत्कालीन नाटकों में वर्गाकार और सामान्य कोष्ठक चिह्नों के प्रयोगगत भेद का कोई विशेष नियम दिखाई नहीं देता । किसी किसी नाटक में किसी अंक विशेष के आरम्भ तथा अन्त में बड़ा कोठक `[ ]` लगाकर शेष सर्वत्र छोटे कोष्ठक `( )` का ही प्रयोग किया गया है, जैसे सन्दर्भ संख्या `१` की रचना `शिवा-साधना` में । इसी प्रकार पूर्व पृष्ठ के सन्दर्भ संख्या `५` में आरम्भ में दृश्य परिचय के साथ नियमित रूप से वर्गाकार कोष्ठक लगाया गया है, उसके अतिरिक्त कुछेक स्थलों को छोड़कर अन्य अधिकांश स्थलों पर सामान्य कोष्ठक का ही प्रयोग किया गया है ।

ग. व्याख्यादि में--

. जब शत्रु-सेना (जो बिना दाढ़ी का है) हार जाता है [3]

. गंग ने अकबर के पालक बैरमखां के (जिसको अकबर बैरम बाबा कहते थे) पुत्र अब्दुल रहीम खानखाना की प्रशंसा में बहुत से छन्द बनाए है [4]

. गोरखशतक(ज्ञान शतक) [5]

. पद्मावत(उत्तरार्द्ध) [6]

. स्वच्छन्दता के आन्दोलन (Romantic Movement-) [7]

. हीअर(Here), जो (G), सुडोनियम(Pseudonym)आदि [8]

तीसरे प्रकार के सर्पाकार कोष्ठक चिह्न({ }) का प्रयोगगत स्थल उक्त दोनों कोष्ठकों से भिन्न होता है । इसका प्रयोग ऊपर नीचे की भिन्न भिन्न पंक्तियों को

१- शिवा साधना -- प्रेमी । २- ताराबाई --द्विजेन्द्र० राय ।

३- द्वि०अभि०ग्र० --काशी०जायसवाल । ४- मिश्रविनोद--मिश्र० । ५- वही ।

६- चिन्तामणि--शुक्ल । ७-८- वही । ८- निबन्ध नियम--जग०चतु० ।

सामग्री को एक साथ करके किसी एक ही सन्दर्भ के अन्तर्गत लाने की स्थिति में किया जाता है । रचना-शैली की सुगठितता के परिचायक रूप में इस कोष्ठक का प्रयोग भी द्विवेदीयुगीन भाषा में यथा-स्थल किया गया है, यथा--

रोशन आरा
जहानारा } औरंगजेब की बहनें [1]

लखनऊ
५।३।२६ } दुलारेलाल भार्गव[2]

८.अवतरण चिह्न (' ' , " ")

किसी उद्धरण विशेषोक्ति अथवा शब्द के साथ लगाये जाने वाले इन चिह्नों के प्रयोग में द्विवेदी-युग में पूर्व की अपेक्षा अधिक सतर्कता बरती गई । जहां तक इनके दोहरे अथवा एकहरे रूपों में प्रयोग का प्रश्न है, तत्कालीन अधिकांश रचनाओं में दोहरे (" ") रूप ही मिलते हैं,किन्तु उत्तरकालीन कुछ रचनाओं में एकहरे रूपों के प्रयोग भविष्य में भी इसी शैली के प्रचलन की प्रक्रिया का संकेत देते हैं । आज दोहरे रूप को अनावश्यक समझकर केवल एकहरे रूप के प्रयोग की प्रथा ही वर्तमान है । तत्कालीन अवतरण चिह्न-प्रयोग के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं--

(क) दोहरे रूपों का प्रयोग--

- इच्छा तो हमारी यह थी कि जिस "ता"से आपको इतनी नफरत है उसमें हम "अनहित""अनमिल""अनरस"आदि शब्दों में भी लगा दें । पर "ता" का बहुत अधिक खर्च हम नहीं करना चाहते । यदि"ता"का खजाना खाली हो जायगा तो शुद्ध हिन्दी शब्द "निरधनता" के लिए ता बिठाकर 'गुप्त'[3] का गुप्ता कैसे बनावैंगे ?[4]
- वेद शब्द "विद" धातु से निकला है । [5]
इससे वहां का वेद-ज्ञान-भाण्डार "पलीता" लगने से बच गया ।

१- शिवा-साधना-- प्रेमी । २- निबन्ध नियम -- जग०चतु० ।
३- यहां एकहरे रूप में प्रयोग यह इंगित करता है कि यत्र तत्र एकहरे चिह्नों से भी आपत्ति नहीं थी ।
४- सर०भाग७ सं०२(भाषा और व्याकरण)--द्विवेदी । ५- सा०सी०--द्विवेदी ।

. "हमें इस तरह की भेंटें न चाहिए" -- यह जानकर रंज हुआ[१]

. अर्जुन ने गद्गद् कण्ठ से कहा-- "प्रिये । क्षमा करना"[२]

. किन्तु है वह शान्तिप्रेम-- "जीयो और जाने दो"[३]

. है वेश तक उनका विदेशी और यह उपदेश है--

"त्यागो विदेशी वस्तुएं पहला यही उद्देश है"[४]

(ख) एकहरे रूपों का प्रयोग--

. 'घोड़ा छूट गया' या 'घोड़ा खुल गया' का अर्थ घोड़े का मरना होता है[५]

द्विवेदी-युग की चरमावस्था (१९३३ई०) में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में अधिकांश स्थलों पर एकहरे रूप की शैली का ही व्यवहार हुआ है, यथा--

. इस चरण में 'का' मुझे खटका

. जिनमें राजा के चित्र के ऊपर 'प्रमार' लिखा हुआ है । 'प्रमार' अथवा 'परमार' इनके वंश का नाम था ।

. काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं ।

. यदि कहा जाय कि 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है,' तो यह काव्य की उक्ति न होगी -- आदि ।

उपर्युक्त ग्रन्थ में लम्बी-लम्बी सूक्तियों, श्लोकों अथवा बड़े-बड़े कथनों को उद्धृत करने में तो प्राय: दोहरे अवतरण चिह्नों को ही लगाया गया है, विशेषत: संस्कृत की सूक्तियों के साथ । किन्तु शब्दों एवं वाक्यांशों में बहुधा एकहरे चिह्न ही लगाये गये हैं । तत्कालीन अन्य रचनाओं से भी यही संकेत मिलता है कि यद्यपि लेखकगण यथास्थल दोहरे अवतरण चिह्नों के प्रयोग को ही उचित मानते थे, फिर भी लेखन की सुविधा तथा समय की मितव्ययिता के दृष्टिकोण से एकहरे रूपों के प्रयोग को भी मान्यता मिलने लगी थी । परिणामस्वरूप तत्कालीन प्राय: रचनाओं में द्वैधता भी वर्तमान मिलती है ।

(दे० विशिष्ट प्रयोग) ।

---

१ पत्र--द्विवेदी । २- चित्राधार--प्रसाद । ३- किन्नर देश में--रा०सां० ।
४- भा०भा०-- गुप्त । ५- सर०भाग१९स०१सं०५। इस रचना में सर्वत्र एकहरे रूपों का प्रयोग इस बात का सूचक है कि यह रूप सरस्वती-सम्पादक को भी मान्य हो गया था अन्यथा यदि लेखक ने प्रयोग किया भी था तो मुद्रण के समय उसमें संशोधन कर दिया गया होता ।

६. संयोजक चिह्न (-)

द्विवेदीयुगीन विराम-चिह्नों में संयोजक चिह्न का समीचीन प्रयोग भी एक विशिष्ट देन है। द्विवेदी जी एवं उनके सहयोगियों द्वारा भाषा-सुधार अभियान में अग्रसर होने और तदनुरूप भाषा को सुनिश्चित रूप देने के पूर्व हिन्दी में संयोजक चिह्न के प्रयोग का नितान्त अभाव था। लेखकगण शब्दों की सन्धि में स्वर व्यंजनादि का (संस्कृत सन्धि के नियमों के अनुसार) योग करके अथवा शब्द-युग्मों को एकशिरोरेखा के अन्तर्गत करके काम ले लिया करते थे(जैसा कि तत्कालीन भाषा के अवलोकन से ज्ञात होता है)। यहां तक कि कहीं-कहीं शब्द अलग-अलग लिखकर भी संयोजक चिह्न का प्रयोग नहीं करते थे। तात्पर्य यह कि द्विवेदी पूर्व साहित्यिक भाषा में संयोजक चिह्न का प्रयोग अनिश्चित और अनियमित था। अत: भाषा-शैली की सुनियोजितता की दृष्टि से आलोच्ययुगीन लेखकों द्वारा उक्त क्षेत्र में कियागया प्रयास भी विशेष महत्व रखता है। द्विरुक्तादि एवं सामासिक शब्दों में (विशेषत: तत्पुरुष एवं द्वन्द्व समास) शब्दगुच्छों के संयोगीकरण के हेतु व्यवहृत संयोजक चिह्नों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं --

क. द्विरुक्तादि शब्द-गुच्छ के निर्माण में--[१]

उत्तम-उत्तम, भिन्न-भिन्न, पूरा-पूरा, कभी-कभी[२]

क्रम-क्रम, नित्य-नित्य, भांति-भांति, अलग-अलग[३]

आकार-प्रकार, बल-पराक्रम, दिन-रात, सूर्य-चन्द्रमा[४]

जंगल-पहाड, नदी-तड़ाग

जहां-की-तहां, जहां-के-तहां[५]

ख. सामासिक पदों के निर्माण में--

. वन-विहार, संस्कृत-परीक्षाओं, बंगला-अनुवाद, दोष-पूर्ण[६]

. याज्ञवल्क्य-स्मृति भी धर्म-व्यवहार-स्मृति है[७]

. पारस्परिक-राजधर्म- विषयक[८]

. निज मातृ-भाषा-भाषियों[1]

. कनक-कमल- केसर-कलियां

ज्ञान-गिरा-गुण की नलियां[2]

. अंग्रेजी के पत्र भारत के जन-साधारण की समाचार-तृषा, मत-तृषा, और ज्ञान-तृषा को कभी सन्तुष्ट नहीं कर सकते[3]

ग. `सा` `जैसा` आदि प्रत्ययों के योग में--

. अमृत तीर्थ का तट-सा था ।[4]

अन्तर्जगत प्रकट-सा था ।

. लखन-से भाई और हनुमान-से सेवक कहां[5]

. रुचि उसे मोटी म मिठाई-सी मिली ;

मन मिला कवि को कमल-जैसा खिला ।

बात माखन से मुलायम है कहीं ;

फूल-सा कोमल कलेजा है मिला[6]

तात्पर्य यह है कि आयोच्य-युग में सबसे अधिक एवं उपयुक्त प्रयोग संयोजक चिह्नों के ही मिलते हैं जो अर्थ एवं उच्चारण की अस्पष्टता का निवारण करने में विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं । आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में इन संकेतों का विशेष महत्व है ।

१०. हंसपद चिह्न (‸)

हंसपद का प्रयोग वाक्य के छूटे हुए शब्द को एवं वाक्यांशादि को पुन: स्थापित करने अथवा किसी प्रसंग के मध्य किसी नये शब्द, वाक्यांश एवं वाक्यादि का योग करने में स्थान-विशेष के संकेतित करने के लिए होता है, अत: इसका प्रयोग हस्तलिखित रचनाओं में ही मिलता है, यथा--

. इस ग्रन्थ को मानव धर्म शास्त्र शायद इस कारण कहा हो कि वह ‸लेखक स्वयं मानव चरण या सम्प्रदाय का था[7]

१-सर०भाग१५,खं०१,सं०४(कविता)--केशव०मिश्र । २- सर०पा०१६२७--(कविता)--गुप्त । ३- द्वि०अभि०ग्र० । ४- सर०पा०१६१७--गुप्त । ५- द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द । ६- माधुरी, वर्ष१, सं०२ । ७- मा० का इति०(पा०)-- मिश्र ।

'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में द्विवेदी जी द्वारा किये गये सुधारों में इसके प्रयोग के प्रमाण अधिक मिलते हैं, जैसे --

- इस सृष्टि की ^(रचना) किसने की ? .... [1]
- किसी के ^(मत के) अनुसार ......
- कहीं ^(कहीं) एक ही देश में कई भिन्न ^(भिन्न) मत भी प्रचलित हैं।
- वृत्तान्त पढ़ने से ^(यह बात) अच्छी तरह मालूम हो सकती है

'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में ही ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जहां द्विवेदी जी ने उक्त प्रकार के चिह्न का प्रयोग कर लम्बे लम्बे वाक्यांशों अथवा वाक्यों को जोड़ा है अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित किया है ।

११. टीका सूचक चिह्न (※)

छूटे हुए विषय को किसी अन्य स्थल पर लिखने तथा टिप्पणी आदि के हेतु आलोच्य-काल में सामान्यत: तो '※' चिह्न का ही प्रयोग किया गया है । यथा--

इसके अतिरिक्त अपनी अपनी

※सिकोड़ दिया । और उसकी तीन शताब्दियों की अवधि को तीन दशाब्दियों तक※ [2]

खुद चित्रकार मानों स्वचित्र बन आया ※ [3]

※ नक्काश आप अपनी ही तसवीर बन गया (शैला)

इसके अतिरिक्त अपनी अपनी रुचि के अनुसार लेखकों ने अन्य भिन्न-भिन्न चिह्न भी लगाये हैं । उदाहरणार्थ-- 'भारतवर्ष का इतिहास' के 'तृतीय खण्ड' की पाण्डुलिपि में उसके रचयिता 'मिश्रबन्धु' द्वारा प्रयोग में लाये गये विविध टीका सूचक चिह्न द्रष्टव्य हैं --

- ※सिकोड़ दिया
- ⊞ जो नाटककार रूप में कालिदास और भवभूति को मात नहीं करता तो उनसे किसी तरह पीछे नहीं रहता और --

---

१- स०पा०१९१७। २- भा० का इति० पां०-- मिश्र ।

३- स०पां० अप्रैल, १९१७ ।

. ⍜ स्मृति-ग्रन्थों के विषय में एक आवश्यक प्रश्न है कि कहां तक
समकालीन समाज के वास्तविक व्यवहार को सूचित करते हैं ।

. ⊟ ग्रन्थ को मानव धर्म शास्त्र शायद इस कारण कहा हो कि वह
लेखक स्वयं मानव चरण के या सम्प्रदाय का था ।

. A के देव प्रकरण में विष्णु के जो ३६ नाम हैं, उनमें न तो कृष्ण की
गोपलीला विषयक कोई नाम है और न राम का

. ⊖ और या प्राकृत और संस्कृत का एक विचित्र मिश्रित भाषा में थे ।

. # चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब जैन वाङ्मय का पहला संकलन हुआ

. X यों तो उसमें भी वाग्भट के बाद तक क्षेपक मिलाये जाते रहे हैं ।

. ▥ मास चन्द्रमा की गति से गिना जाता था

. □ भारहुत -स्तूप के दृश्यों के शीर्षक तो उनके नीचे पत्थर पर खुदे ही हैं

. △ इन दृश्यों में से अनेकों का

. ▥ दिखलाता है कि पराये खेत में बीज न बोना चाहिए ।

. ⊡ अंग बनाना

वाक्य अथवा प्रसंग के मध्य जोड़े जाने वाले विषयों को मिश्र जी ने प्राय: स्थान-विशेष को निर्देशित करने वाले चिह्न की पुनरावृत्ति करके हाशिये पर लिख दिया है, यथा--

⊡ अंग बनाना ※ इस परम्परा से भी मनुस्मृति का मानव चरण से सम्बद्ध सिद्ध करने का जतन हुआ था	और उसे कई बार मानव चरण के वाङ्मय में सम्मिलित किया जाता है, ※ किन्तु उसका मानव वाङ्मय का ⊡ आधुनिक काल की बात प्रतीत होती और सो भी सदा नहीं होती

सुधार की सम्भावना प्राय: पाण्डुलिपियों में ही होती है,अत: उक्त प्रकार के चिह्नों के प्रयोग में भी लेखक स्वच्छन्द थे । पाद टिप्पणी के लिए तत्कालीन मुद्रित रचनाओं में बहुधा संख्या सूचक संकेत १,२,३ आदि का प्रयोग किया गया है ।

१२. संकेत सूचक चिह्न(० ,[१] .)

शब्द के संक्षेपीकरण में उक्त प्रकार के चिह्न प्रयोग में लाये गये हैं,यथा --

---

१ अंग्रेजी शब्दों के संक्षेपीकरण के हेतु अथवा अंग्रेजी शैली के प्रभावस्वरूप बिन्दी(.) के रूप में संकेत चिह्न के प्रयोग की प्रथा, जो आज अधिक प्रचलित है, चल पड़ी थी, किन्तु युग-विशेष में अधिकांशत: शून्य (०) का ही प्रयोग अंगीकृत हुआ है ।

१५० ई० तक | १
डा० कीथ, डा० जौली |

वि०सं०५६७ | २
प्रो० कृपानाथ मिश्र, एम०ए० |
जा० ग्रं०,पृ०८ |

वस्तुत: द्विवेदी-युग में शब्दों का संक्षेपीकरण अधिक नहीं किया गया है । तत्कालीन रचनाओं में शब्द प्राय: पूर्णरूप में ही मिलते हैं । द्विवेदी जी ने स्वयं सरस्वती की पाण्डुलिपियों में सुधार करके शब्दों को पूर्ण करके लिखा है, फिर भी कालान्तर में अंग्रेजी के प्रभावस्वरूप अपनाई गई इस शैली को ग्रहण किये बिना हिन्दी रह नहीं सकी ।

२३. पुनरुक्तिसूचक चिह्न (,,)

शब्द,वाक्यांश आदि की पुनरुक्ति में दूसरी (नीचे की) पंक्ति में लाये जाने वाले इस चिह्न का प्रचलन भी द्विवेदी-युग की विशेष देन है,यथा--

. १. शुक्रनीति--४,(५) पंक्ति २२५ | ३
२. ,, ,, ,, २७३-२७४ |
३. ,, ,, ,, ३१३-३१७ |
४. ,, ,, ,, ३२२ |

२४. अपूर्णतासूचक चिह्न (...... ,× × ×)

वाक्य अथवा प्रसंगादि की अपूर्णता को सूचित करने वाले उक्त दोनों प्रकारके चिह्न द्विवेदीयुगीन हिन्दी में प्रयुक्त हुए हैं,यथा--

. मैं किसी दिन उसकी जीवनी सुनाऊंगी।वह..| ४
. इसका संस्कार....... |
. वह गामी सकल जगत की कारण, एवं एकमात्र पावक है × ×
× ×सर्ग ४, श्लोक ३२ [५]

१- मा०का इति०-- मिश्र । २- द्वि०अभि०ग्रं० ।
३- द्वि०अभि०ग्रं०,पृ०४४६ । ४- कंकाल -- प्रसाद ।
५- किराता०-- द्विवेदी-भूमिका ।

कहीं-कहीं प्रसंग की समाप्ति तथा दूसरे प्रसंग के आरम्भ के मध्य में भी उक्त चिह्न (× ×) का प्रयोग किया गया है, यथा--

इधर संघ में बहुत से बाहरी मनुष्य भी आ गये थे । उन लोगों के लिये गोस्वामी जी राम-कथा कहने लगे थे ।[१]

× × × × × ×

आज मंगल के ज्वर का वेग अत्यन्त भयानक था

१५. समाप्तिसूचक चिह्न (——)

नाटकादि के दृश्य,कथा अथवा निबन्धादि के प्रकरण,अध्याय अथवा ग्रन्थ की समाप्ति पर युगविशेष में प्राय: उक्त चिह्न प्रयोग किया गया है, यथा--

१ दासी — चल, अभी चल

२ दासी — चल न । धमका क्या रही है ?

(प्रस्थान।)

——[२]

वस्तुत: विरामादि चिह्नों का यथास्थान नियमित प्रयोग करके भाषा को सुगठित एवं वांछित भाव-बोधक बनाने का श्रेय द्विवेदी-युग को ही है । साहित्यिक भाषा की सुघड़ता अथवा सुनिश्चितता के पक्षपाती तत्कालीन प्रतिनिधि लेखकों यथा--गोविन्द-नारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, मिश्रबन्धु, कामताप्रसाद गुरु आदि ने तो विराम चिह्नों के नियमित प्रयोग पर बल देकर तत्कालीन तथा भावी लेखकों का पथ-निर्देशन किया ही, साथ ही तद्युगीन प्रमुख पत्रिकाओं तथा --`सरस्वती`, `वेंकटेश्वर समाचार`,`भारत मित्र`,`अभ्युदय`,`माधुरी`, `इन्दु` आदि का भी इस पक्ष में विशेष योगदान रहा है ।

समष्टि में अर्थ की उपयुक्तता,भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता एवं व्याख्या की सटीकता के दृष्टिकोण से उपयुक्त विराम-चिह्नों के प्रयोग से युक्त अधोलिखित कुछ अवतरण द्रष्टव्य हैं --

----

१- कंकाल --`प्रसाद` ।   २- ताराबाई -- द्विजेन्द्रलाल राय ।

(क) गद्यावतरण--

. महाकाव्य में सर्ग भी बहुत होने चाहिए और दिन-रात, सूर्य-चन्द्रमा, जंगल-पहाड़, नदी-तड़ाग, जल-विहार, वन-विहार, सुरापान आदि का वर्णन भी आना चाहिए ......

संस्कृत के पारदर्शी पण्डितों के लिए तो यह मत हो ही नहीं सकता । इस बेचारी गंवारू 'भाषा' में किये गये अनुवाद से उनका क्या सम्पर्क[1] ।

. ऐसे भूमि-स्वामी का चरित-- जिसे अपनी मातृ-भाषा से निरतिशय प्रेम है; जिसने, इस देश की बात जाने दीजिए, इङ्गलैण्ड की राजधानी लण्डन से हिन्दी में अखबार निकाल कर बहुत दिनों तक उसे प्रचलित रक्खा[2];......

. मागन्धी--(स्वगत)" इस रूप का इतना अपमान । सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ । मुझसे व्याह करना अस्वीकार किया । यहां मैं राजरानी हुई, फिर भी वह ज्वाला न गई; यहां रूप का गौरव हुआ तो धन के अभाव में दरिद्र कन्या होने के अपमान की यन्त्रणा में पिस रही हूं[3] ।

. वस्तुत: हिन्दी भाषा के सबसे बड़े शब्द-कोश का सम्पादन बिना इस प्रकार की छान-बीन के हो ही नहीं सकता था । कोश विभाग में जहां बहुत-सी प्रासंगिक बातों का विचार होता था, वहां कभी-कभी कुछ अप्रासंगिक और ऐसी बातों की भी ~~चर्चा~~ चर्चा[4] छिड़ जाती थी जो कोश के विषय-क्षेत्र के बाहर होती थी ।

(ख) पद्यावतरण--

. हाय! हाय! धिक्कार हमें है छिपे हुए बैठे हैं हम,
आश्रयदाता नृप विराट पर विपद पड़ी है दारुण तम ।
इच्छा और शक्ति रहते भी हम कर्तव्य न कर सकते,
हाय न तो जी ही सकते हैं न हम आज हैं मर सकते[5] ।

१- किराता०-- द्विवेदी । २- सर०भाग५, सं०५--सम्पादकीय । ३- अजातशत्रु--प्रसाद । ४ द्वि०अभि०ग्र०--रा०च० वर्मा । ५- सर०भाग११, सं०६-- गुप्त ।

. देखो ! दिन में यह अन्धकार तो देखो !
क्या रात हुई ? यह चमत्कार तो देखो !
निर्मल प्रकाश ही कृष्ण रूप बन आया ![1]
खुद चित्रकार मानों स्वचित्र बन आया !
हे भाग्यवान्, सौभाग्य अहो ! तुम-सा किसने जग में पाया ?
जिसके अंचल में रहने का, करुणावतार आतुर आया ![2]

<u>६.२. विशिष्ट प्रयोग</u>

उपर्युक्त उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि आलोच्य काल में भाषा को शिथिलता एवं अनगढ़ता आदि दोषों से मुक्त करने की प्रक्रिया में विराम-चिह्नों के नियमित प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी और कालान्तर में इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप भाषा में पर्याप्त शुद्धता आ गई फिर भी जैसा कि अन्य प्रयोगों में देखा गया है कुछ पूर्व संस्कारों के प्रभाव स्वरूप अथवा भाषा-रचना की अनभिज्ञता अथवा अल्पज्ञता के कारण अथवा कतिपय रचनाकारों द्वारा स्वतन्त्र पद्धति अपनाई जाने के फलस्वरूप तत्कालीन साहित्यिक भाषा में विरामचिह्नों के प्रयोग में भी सामान्यता से हटकर कुछ ऐसी विशिष्टताएं पाई जाती हैं,जो उसके अभाव अनिश्चितता एवं अनियमितता आदि से सम्बन्ध रखती हैं । अध्ययन की सुविधा के लिए इन विशिष्ट प्रयोग सम्बन्धी उदाहरणों को अधोलिखित वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है --

<u>१. अभाव--अर्थात् आवश्यक स्थल पर विराम चिह्न का न होना</u> --

जहां तक आवश्यक स्थलों पर विराम चिह्न के प्रयोग की बात है,अधिकांश रचनाकारों ने इस विषय में पर्याप्त सतर्कता से काम लिया,किन्तु तत्कालीन रचनाओं में कुछ ऐसे भी स्थल पाये जाते हैं, जहां आवश्यकता होते हुए भी ये चिह्न नहीं लाये गये हैं

१- सर०पा०१६१७-- भट्ट ।

२- द्वि०अभि०ग्र०-- सोहनलाल द्विवेदी ।

यहां तक कि कुछ लेखक जो आगे चलकर विरामचिह्नों के प्रयोग में अधिक नियमित दिखाई देते हैं, उन्हीं की आरम्भिक रचनाओं अथवा पत्रादि में यत्र तत्र उनका अभाव दिखाई देता है। उदाहरणस्वरूप मिश्रबन्धुओं की सितम्बर १६०३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित मिश्रबन्धु की कृति की पाण्डुलिपि को लिया जा सकता है, यथा--

> 'यहां पर यही कहना है कि विज्ञापनों की केवल चड़क भड़क में पड़ उन पर विश्वास कर बैठना और इस भांति अपना धन वृथा फूंकना बड़ी भूल की बात है इस समय ठग विद्या की भरमार मची है मिथ्या बोलने में लोगों को प्राय: बहुत कम आनाकानी होती है-- चार पैसे के लिए संसार को धोखा देना बुद्धिमानी का लक्षण समझा जाता है'

यद्यपि इनकी प्रौढ़ रचना 'भारतवर्ष का इतिहास' की पाण्डुलिपि में इसप्रकार की भूलें लगभग नहीं ही दिखाई देती हैं।

इसी प्रकार हिन्दी भाषा के अच्छे ज्ञाता होते हुए भी देवीप्रसाद जी द्वारा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी को लिखे गये पत्र(दि०२६-२-१४) में आवश्यक स्थलों पर विराम-चिह्नों का न होना अधिक खटकता है, जैसे --

> कृपा पत्र आया सवाल पूछे जिनका अपने तजरुबे के माफिक लिखताहूं --
> १. आप जो औरतें पूर्वी या खड़ीबोली बोलती है वे तो हम आई कहती हैं__ जैसे ' हम देखि आई बाबा की कुंज गलियां' २ गीत का अखरा है और उर्दू बोलने वाली हम आये कहती हैं लिखने वालों को जो औरतों की बोली अपने लेख में लिखें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो वे औरतें पूर्वी या हिन्दी की खड़ीबोली बोलने वाली हैं तो हम आई,, और जो उर्दू बोलने वाली हिन्दू या मुसल्मान औरते हैं तो आये लिखना चाहिए और दोनों भाषा बोलने वाले मर्द तो अपनी तरफ से औरतों के वास्ते ब आई ही बोलते हैं जैसे इस गीत में है__

इसी प्रकार द्विरुक्तादि शब्दों में युग्म शब्द के मध्य प्राय: नियमानुसार संयोजक चिह्न का प्रयोग किया गया है, फिर भी कुछ लेखकों की रचनाओं में इसका अभाव दिखाई देता है, यथा--

> जैसे तैसे, ज्यों त्यों[1]

१- सर०पा०--अग०१६१७--केशव०मिश्र।

तर्क वितर्क, माथा पच्ची[1]

द्विवेदी जी ने ऐसे शब्दों में उक्त चिह्न का प्रयोग तो किया है, किन्तु समान शब्द की आवृत्ति में इसका प्रयोग अनावश्यक समझा है ।

२. अनिश्चितता

तत्कालीन विराम चिह्नों के प्रयोग में अभाव की भांति ही कहीं-कहीं प्रयोग सम्बन्धी अनिश्चितता भी देखने में आती है । इस अनिश्चितता में लेखक का कुछ सीमा तक विराम चिह्नों के प्रति अनभिज्ञ होना तो कारणभूत है ही, साथ ही अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रयोग की प्रवृत्ति का होना अथवा दूसरी भाषाओं से प्रभावित होना भी विशेष कारण है । यथा--

(क) सामान्यत: तो लेखकगण पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई(।) का प्रयोग करते थे, किन्तु कुछ लेखक निर्देशक चिह्न(--) अथवा अंग्रेजी भाषा के प्रभाव में आकर बिन्दी (˙) का प्रयोग करते थे, उदाहरणार्थ --

. अलगू इस झमेले में नहीं फंसना चाहते थे -- कन्नी काटने लगे -- बोले--'खाला । तुम जानती हो कि मेरी जुम्मन से गाढ़ी दोस्ती है--' खाला ने गम्भीर स्वर से कहा--' बेटा । दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता-- पंच के दिल में खुदा बसता है'--[2]

.परन्तु यह रात्रि का सांस लेना दिन में किये हुए लाभ को घटा नहीं सकता. दिन को प्रकाशास्थित पौधे उससे कहीं अधिक आक्सीजन वायुमण्डल में मिलते हैं, जितनी कि वे रात को अन्धकार में स्वयं पीते हैं. और रात्रि[3] में उनसे निकला हुआ कारबन दिन में खींचे हुए कारबन से कहीं कम है.

यद्यपि उपर्युक्त उद्धृत प्रयोगों में 'सरस्वती' सम्पादक ने संशोधन करके उनके स्थान पर खड़ी पाई का प्रयोग किया है, किन्तु इन प्रयोगों को देखकर इतना तो निश्चित है कि तत्कालीन विराम चिह्नों में भी समानता के साथ साथ यत्किंचित विविधता भी वर्तमान थी ।

----

१ - किन्नरदेश में, पा०-- रा०सा० ।

२- सर०पा० १६१६-- प्रेमचन्द ।

३- सर०पा०,१६०४-- सूर्यनारायण दीक्षित ।

(ख) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि अपनी कृतियों में अल्पविराम के हेतु अल्प-विराम-चिह्न का ही प्रयोग किया है, किन्तु उनकी कृति `आलोचनांजलि` में कुछ स्थल ऐसे हैं भी हैं, जहां निर्देश-चिह्न से ही काम लिया है, यथा--

यदि गीता में अपूर्णता न होती -- यदि उसमें गाई ज्ञान गाथा में विशेषता न होती-- तो अन्यान्य धर्मों के अनुयायी विदेशी विद्वान् कदापि उसकी ओर इतने आकृष्ट न होते ।(पृ०१३८)

इसी साधना की सिद्धि -- इसी उद्देश्य की पूर्ति-- के लिए उन्होंने लेखनी उठाई(पृ०१३७)

वस्तुत: विषयवस्तु की व्याख्या के लिए निर्देशक चिह्न का प्रयोग द्विवेदी-युग की ही देन है । आज व्याख्यापूर्ण अथवा विचारपूर्ण निबन्धों में इस चिह्न का प्रयोग अधिक दिखाई देता है ।

(ग) किसी-किसी कृति में अपेक्षित विराम-चिह्न का प्रयोग न करके भिन्न चिह्न का प्रयोग किया गया है-- यथा, गोविन्दनारायण मिश्र की कृति `सारस्वत -सर्वस्व` में पूर्ण विराम चिह्न के स्थान पर `विस्मयबोधन चिह्न` का प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ--

पुरोहित जी विद्यमान दीखते हैं। (पृ०५०)
हजारों वर्ष उसके पीछे तक बल्कि अब भी स्थिर दीखती है ।
(वही)

मिश्र जी की उक्त रचना में संकलित कविताओं में पूर्ण विराम चिह्न का प्रयोग भले ही किया गया है, किन्तु गद्य में सर्वत्र विस्मय बोधक चिह्न ही लगाया गया है, यद्यपि अन्य रचनाओं में उक्त अनियमितता नहीं मिलती, क्योंकि मिश्र जी स्वयं ही भाषा की शुद्धता के हिमायती थे ।

कहीं-कहीं प्रश्नसूचक वाक्य की समाप्ति पर प्रश्नसूचक विरामचिह्न का प्रयोग न करके पूर्ण विराम-चिह्न ही लगा दिया है, यथा--

वारिदध्वनि सुनकर क्यों, रसिक कलापी न नाचेगा ।।

....

रत्नाकर में जाकर हंस कभी क्या विचरता है ।।

....

ऐसा कौन विषय है कवि की प्रतिभा जहां नहीं जाती[१] ।

कविता में तो ऐसे प्रयोग उस समय तक अधिक अनुपयुक्त नहीं समझे जाते थे, किन्तु गद्य में वाक्य के रूप ह के अनुसार विराम चिह्न का न होना दोषपूर्ण समझा जाता था । अत: गद्य-रचनाओं में ऐसे प्रयोग विरल हैं ।

(घ) नाटक, कथादि के संवादों को प्राय: अवतरण चिह्नों के अन्तर्गत लिखने का नियम प्रचलित था, किन्तु कहीं-कहीं बिना अवतरण चिह्न के केवल पंक्ति बदल कर लिखने की शैली ही अपनाई गई है । `जयशंकर प्रसाद` की कृति `कंकाल` में सर्वत्र यही पद्धति अपनाई गई है । `जयशंकर प्रसाद` की कृति `कंकाल` से उदाहरणार्थ--

क्या यमुना । तुमको गाना नहीं आता क्या ? -- बातचीत आरम्भ करने के ढंग से विजय ने कहा ।

आता क्यों नहीं, पर गाना नहीं चाहती हूं ।

क्यों ?

यों ही । कुछ करने का मन नहीं करता ।

कुछ भी ?

कुछ नहीं, संसार कुछ करने के योग्य नहीं ।

३. अनावश्यक प्रयोग

तत्कालीन भाषा-रचना में विराम-चिह्नों के अनावश्यक प्रयोग के भी कुछ रूप मिलते हैं, यथा --

(१) प्रश्नसूचक चिह्न के उपरान्त भी वाक्य की पूर्णता सूचित करने के निमित्त पूर्ण विरामचिह्न का प्रयोग आवश्यक समझा गया है, उदाहरणार्थ--

क्या हानि है? । [२]

यह राष्ट्रभाषा बनाने के योग्य न होगा ? ।

किन्तु दोषपूर्ण होने के कारण ऐसे प्रयोग अधिक नहीं मिलते ।

(२) अधिक सतर्कता के कारण अनावश्यक रूप से अल्पविराम चिह्न का प्रयोग कर वाक्य को खण्डित कियागया है, जैसे --

---

१- सर०भाग १० सं०७(कविता)--रा०च०उपाध्याय ।

२- बिहारबन्धु(पत्रिका) ।

अतएव उसके वंशज वहां, अवध में, रहने लगे[1]।

रानी साहब के शरीर को, वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार, रासायनिक योग द्वारा, राजा साहब ने रक्षित रक्खा। उन्होंने उसे, इस प्रकार सुरक्षित करके, एक लम्बे सन्दूक में बन्द कर दिया[2]।

परन्तु सुनते हैं, राजा साहब ने, एक बार, उसे भी परास्त किया[3]

सरस्वती के सम्पादक अर्थात् द्विवेदी जी द्वारा किये गये उक्त प्रयोगों से उनकी विराम सम्बन्धी अति सतर्कता का परिचय मिलता है। इस अतिशयता के कारण वाक्य का इतना सूक्ष्म विश्लेषण करने में अन्य लेखकगण असमर्थ रहे। अत: ऐसे प्रयोग द्विवेदी जी के आरम्भिक प्रयास तक ही सीमित होकर रह गये।

(३) समुच्चयबोधक अव्ययों के पूर्व भी अल्पविराम का प्रयोग होना --यद्यपि आज समुच्चयबोधक अव्ययों के पूर्व प्राय: विरामचिह्नों की आवश्यकता नहीं समझी जाती, किन्तु आलोच्ययुग में ऐसे स्थलों पर अल्प विराम चिह्न का प्रयोग व्याकरणसम्मत होने के कारण द्विवेदी जी तथा उनके अनुमोदनकर्ता लेखकों की भाषा में यथावत् मिलता है। उदाहरणार्थ--

दशरूपक और साहित्यदर्पण इत्यादि में प्रसंगवश इस विषय का विचार हुआ है, परन्तु वे विचार गौण हैं, मुख्य नहीं[4]।

नायिकाएं ही शृंगार रस की आलम्बन है, और शृंगार रस ही सब रसों का राजा है[5]।

बना ही रहेगा, क्योंकि....
होते ही रहेंगे, किन्तु....
नहीं कर पाया, वरन्....
दृढ़ कर दिया है, अतएव....
किसी ने कहा भी नहीं, और त्रेता के सम्बन्ध.... [6]

एक न एक दिन या तो पूर्व में, या योरोपीय तुर्किस्तान के पास...[7]

१- स०भाग५ सं०५, पृ०१४२। २- वही, पृ०१४४--सम्पा०। ३- वही, पृ०१४७-सम्पा०
४- रसज्ञरंजन--द्विवेदी। ५- वही। ६-स०भाग१ सं०४--सम्पा०।

इसी तरह के[1] विचार मेरे दिल में आ रहे थे, कि दीवान साहेब के आदमी ने जाकर ....

वह हमारी प्रतीक्षा नौला में कर रहे थे, और उसी शत संक्षिप्त घर में[2]

४. द्विविधताएं

आलोच्ययुगीन भाषा में विराम-चिह्न-प्रयोग-शैली की विशेषताओं में प्रयोग सम्बन्धी द्विविधता भी उल्लेखनीय विषय है। वस्तुत: यह युग भाषा-सुधार का युग था और अधिकांश प्रयोगकर्ताओं का ध्यान भाषा-रचना की शुद्धता की ओर गया, अत: इस युग के द्विविध प्रयोगों में भाषा की विकासशीलता का ही सन्देह मिलता है। उदाहरणार्थ तत्कालीन द्विविधताएं कुछ इस प्रकार हैं--

(क) नाटक एवं कथादि के संवादों, उद्धरणों आदि के प्रस्तुतिकरण में युग के पूर्वार्द्ध की रचनाओं में प्राय: दोहरे अवतरण चिह्नों का ही व्यवहार हुआ है, किन्तु कालान्तर की कृतियों में लेखन के सुविधानुसार इकहरे अवतरण चिह्न ही प्रयोग में लाये गये हैं (दे० अवतरण चिह्न-प्रयोग)

(ख) समान शब्द की द्विरुक्ति के मध्य में संयोजक चिह्न के प्रयोग के सम्बन्ध में भी द्वैध नीति वर्तमान थी। तत्कालीन अधिकांश रचनाओं में उक्त चिह्न विधिपूर्वक लगाया गया है, यथा--

उत्तम-उत्तम, भिन्न - भिन्न, पूरा-पूरा, बार-बार, कभी-कभी आदि[3]।

क्रम-क्रम, नित्य-नित्य, भांति-भांति, अलग-अलग, भिन्न-भिन्न आदि[4]।

किन्तु द्विवेदीजी तथा उनकी नीति के अनुमोदक कुछ अन्य लेखकों की कृतियों में ऐसे स्थलों पर संयोजक चिह्न नहीं लगाये गये हैं, उदाहरणार्थ--

विलक्षण विलक्षण, भिन्न[6]भिन्न, ऐसी ऐसी[5]

कोई कोई, बड़े बड़े, दूर दूर

भिन्नभिन्न, ज्यों ज्यों, त्यों त्यों,[8] किन किन[7]

बड़े बड़े, धीरे धीरे, डरती डरती

(पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी सं०७)
सर०भाग५ स०४--मिश्र।

१-किन्नर देश में(पा०)--रा०सा०। २- वही। ३- माधुरी, वर्ष१, खं०२, सं०१। ४- द्वि०अभि०ग्र०। ५-किराता०--द्विवेदी। ६-सर०भाग५, सं०५--सम्पा०। ७- सर०प्रा०१९१७--कृष्ण विनायक फड़के। ८- रामक०--सुधा० द्विवेदी।

(ग) एक ही लेख में,समान प्रसंग में निर्देशक चिह्न सहित एवं रहित--दोनों प्रकार के प्रयोग वर्तमान हैं,यथा--

. पानी देना`-- या`जल देना`-- तर्पण का सूचक होने से--`पानी पिलाना` ही व्यवहार में आता है । चूल्हे में--आग देना--कहने से नई बहू डांटी जाती है ।

....

`होली जल गई` की जगह राजपूताने में `होली मङ्गल हो गई` कहते हैं[1]।

(घ) किसी किसी रचना में अल्पविराम एवं अर्द्ध विराम की स्थिति में अथवा अर्द्धविराम एवं पूर्णविराम की स्थिति में चिह्नों के प्रयोग में कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता, यथा--

जनक पछताने लगे और मन में कहने लगे कि प्रण पूरा नहीं होने चाहता, बेटी विना व्याह ही रहा चाहती है; घबड़ाकर उठ खड़े हुए और चिल्लाकर कहने लगे कि राजालोग, मैं निराश हो गया, अब आप लोग बुरा न मानिएगा मैंने समझ लिया कि धरती से बली वीर उठ गए; मैं सच्चा आदमी हूं, प्रण को हटा नहीं सकता, क्या करूं, बेटी विना व्याह की रहे

....

तुम्हारे बाप की पूजा की बेरा आ गई, मैं घर के धंधे में फंसी हूं;

....

नहीं तो तुम्हारे बप बाप हमसे बहुत नाराज होंगे ।

आगे चलकर उक्त प्रकार की अनियमितताओं में भी पर्याप्त संस्कार हुआ मिलता है ।

-0-

१- सर०भाग १६ खं०१,सं०५--चन्द्रधर गुलेरी ।

२- रामक० -- सुधा०द्विवेदी ।

७

अर्थ

अर्थ

पूर्व के अध्यायों में द्विवेदीयुगीन भाषा की रचना-पद्धति(शैली) पर विचार किया जा चुका है । यहां उसकी अर्थवत्ता पर विचार किया जायेगा । वास्तव में `शैली` और `अर्थ` का परस्पर आश्रयित्व का सम्बन्ध है । शैली बाह्य पक्ष है तो अर्थ आन्तरिक पक्ष । अर्थात् शैली कलेवर है, तो, अर्थ उसका प्राण । तदनुसार अर्थ अमूर्त रूप है तो शैली मूर्त रूप । अर्थ अनुभूति है तो शैली अभिव्यक्ति । तात्पर्य यह है कि एक ओर यदि अर्थ की निराकारता को शैली साकारता प्रदान करती है तो दूसरी ओर शैली-सौन्दर्य की सार्थकता अर्थ पर ही अवलम्बित रहता है ।

विकसित भाषा का प्रमुख लक्षण है-- शब्दावली के विकास के साथ-साथ उसके अर्थ की व्यापकता । अर्थात् जिस भाषा में भावाभिव्यक्ति के साधन-अंगों का जितना अधिक विस्तार होगा, वह भाषा उतनी ही समुन्नत मानी जायेगी । इसी प्रकार किसी भाषा के शब्द,वाक्यांश अथवा वाक्य में अर्थ अथवा भाव प्रकाशन की जितनी अधिक क्षमता होगी, उतनी ही वह भाषा अर्थ की दृष्टि से व्यापक समझी जायेगी ।

किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भाषा का रूप यदि अनस्थिर होता है तो उसमें शब्दादि-प्रयोग सम्बन्धी मतैक्य नहीं रह जाता । ऐसी स्थिति में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग शैली अपनाई जाने के कारण भी भाषा के शब्द-साधन में वृद्धि हो जाती है(चाहे उनमें से अधिकांश शब्द असंगत क्यों न हों) अथवा किसी शब्द का अपने-अपने मत के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग कर दिया जाता है(भले ही अर्थ भाषा के परिष्कृत अर्थ की तुलना में अनुपयुक्त हो) ।

द्विवेदीपूर्व की (भारतेन्दुकालीन) भाषा के विकास में उक्त स्थितियां ही कारणीभूत रही हैं। जैसा कि अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है, भारतेन्दुयुगीन लेखकों का रुझान भाषा की समृद्धि एवं प्रसार की ओर अधिक था, उसके सुधार एवं सज्जा की ओर कम। स्वयं भारतेन्दु जी भी नये नये शब्दों के प्रयोग में प्रवृत्त थे, अतः इस युग की भाषा में पर्यायवाचकता एवं अनेकार्थकता की वर्तमानता अधिक है। किन्तु आलोच्य युग की तुलना में उन शब्दों के प्रयोग में सुसंगति तथा उपयुक्तता का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

विकास की दृष्टि से भाषा में विभिन्न प्रकृति के शब्दों के प्रयोग के समर्थक होते हुए भी द्विवेदी जी उन शब्दों के अर्थ की उपयुक्तता एवं औचित्य के प्रति पूर्ण सतर्क थे (इस क्षेत्र में सरस्वती की पाण्डुलिपियों में किये गये उनके सुधार विशेष महत्वपूर्ण हैं। कुछ सुधार उदाहरणस्वरूप वाक्य-प्रकरण में भी दिये जा चुके हैं)। इनके अतिरिक्त अन्य तत्कालीन अन्य साहित्यकार भी इस ओर से उदासीन नहीं थे। तात्पर्य यह है कि भाषा की अर्थोपयुक्तता का विचार आलोच्य-युग का विशेष लक्ष्य था।

तत्कालीन रचनाओं से उद्धृत प्रयोगों से द्विवेदीयुगीन अर्थवत्ता की प्रवृत्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ उद्धृत प्रयोगों के अर्थ का विवेचन मुख्यतः दो आधारों पर किया जा सकता है -- (१) प्रयोग के आधार पर, (२) शब्दशक्तियों के आधार पर

इनके अतिरिक्त लोकोक्तियों एवं सूक्तियों के प्रयोग से सम्पूर्ण कथन के अर्थ में भी वैचित्र्य आ जाता है, अतः अर्थवत्ता की दृष्टि से इनका अध्ययन भी आवश्यक है।

<u>७. क. प्रयोग के आधार पर</u>

क. १. पर्यायवाचकता

जैसा कि अभी कहा जा चुका है पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग की परम्परा द्विवेदीपूर्व युग से ही चली आ रही थी। जिसके फलस्वरूप भारतेन्दु-युग में अनेक समानार्थ शब्द प्रयोग में लाये गये। किन्तु द्विवेदी-युग की यह विशेषता रही है कि एक अर्थ सूचक अनेक शब्द अपनाते हुए भी शब्द की उपयुक्तता पर विशेष ध्यान दिया गया। यह अवश्य है कि शब्द की पुनरावृत्ति को बचाने अथवा विभिन्न शब्दों के माध्यम से विषयवस्तु को समझाने अथवा व्याख्या करने में एक ही भाषा के बहु भिन्न-भिन्न अथवा दूसरी

भाषा के भी समानार्थक शब्दों को पर्याप्त रूप से ग्रहण किया गया । इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम युगस्रष्टा द्विवेदी जी के ही कुछ प्रयोग उद्धृत करने योग्य हैं,यथा--

आंसू, अश्रु

'अतएव आंखें बन्द करके उन आंसुओं को गिरा देने के पहले उसके लिए अर्जुन को अच्छी तरह देख लेना असम्भव था । परन्तु ऐसे मौके पर अश्रुपात करना शास्त्र में मना है-- ऐसे अवसर पर आंसू गिराना अमङ्गल जनक समझा जाता है । इसी से द्रौपदी ने आंखें बन्द करके उन्हें अश्रु-रहित करना उचित समझा ।'[1]

उपर्युक्त अवतरण में यद्यपि आंसू का प्रसंग चार बार आया है,किन्तु लेखक ने शब्द को तत्सम-तद्भव में परिवर्तित करके समीपवर्ती पुनरावृत्ति को बहुत सतर्कतापूर्वक बचाने का प्रयत्न किया है । इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं--

सेना,वाहिनी,दल

इससे वहां पहुंचते ही महाराज की सेना के आगे बढ़ने में जगह-जगह बाधा होने लगी । फिर भी महाराज अपनी वीर वाहिनी के साथ बड़ी वीरता से शत्रुओं का दमन करते और उनकी उपस्थित की गई बाधाओं को हटाते हुए,नागौर के पास पहुंचे । इस पर इनके बढ़ते हुए दल का मार्ग रोकने के लिए स्वयं राजाधिराज को आगे आकर मुकाबला करना पड़ा ।[2]

दायित्व,जिम्मेदारी

ऐसा महान दायित्व जिस वस्तु पर है उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं ।[3]

इसी प्रकार अभीष्ट कथ्य पर बल देने के लिए एक ही अर्थ को भिन्न-भिन्न शब्दों के माध्यम से पुष्ट करने की प्रवृत्ति भी इस युग की विशेष एवं रोचक देन है,जैसे--

---

१-किराता०,पां०,पृ०६६ ।
२- द्वि०अभि०ग्र०-- विश्वेश्वरनाथ रेउ,पृ०४७४ ।
३- कुछ विचार --प्रेमचन्द,पृ०१०४ ।

विघ्न, बाधा, रुकावट

कोई विघ्न -बाधा, कोई रुकावट न पड़ी[1]

चाह, प्यार, प्रेम

मेरी भक्ति-चाह, मेरा प्यार, प्रेम उन्हें अवश्य खींच लावेगा[2]

उमंग , उत्साह

कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा[3]

कलुषित, गंदली

अर्जुन के वियोगजन्य दुःख के कारण उसका अन्तःकरण इस तरह कलुषित हो उठा जिस तरह जङ्गली हाथी के मथने से ग्रीष्म-कालीन नदी कलुषित-गंदली - हो जाती है[4]।

भावाभिव्यक्ति को बहुमुखी रूप देने के प्रयास में भी शब्दों के पर्यायवाची रूप में वृद्धि हो जाती है। इस सन्दर्भ में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' -रचित 'प्रियप्रवास' में 'पुत्र' के अर्थ में किये गये अनेक शब्दों के प्रयोग उद्धृत करने योग्य हैं, यथा --

सन्तति -- दुखित है कितनी जननी सदा, निज निरापद संतति देख के (३३)

तनय -- थोड़ा पीछे प्रिय तनय के भूरि शोकाभिभूता (४८)

तात -- तातों के सहित सब गोपाल हैं तारकों से (४६)

कुंवर -- मेरा प्यारा कुंवर उसका एक ही चन्द्रमा है (वही)

बेटा -- बेटा, तेरा गमन मथुरा मैं न आंखों लखूंगी (५०)

कुमार -- यदि तनिक कुमारों को हुई बेकली थी |
लाल -- न कुपित नृप होवें और बचें लाल मेरे |
सुजन -- इन सुजन दृगों से दूर होने न पावें |
सुत -- शिर पर सुत के जो आपदा नाथ आई | (५५)
बालक -- यदि कुछ दुःख होगा बालकों को हमारे |
लाडिला-- सकुशल गृह लौटें आप ले लाडिलों को |

१-सर०हीर०अंक--प्रेमचन्द । २- सर०हीर०अंक--ऊषा देवी मित्रा, पृ०२६८।र०काल१६३३
३-चिन्तामणि-- शुक्ल । ४- किराता०- - द्विवेदी ।

हृदय-धन -- मैं ले हृदय-धन को दो दिनों में ~~दिनों~~ फिरूंगा (५६)

उक्त कृति में `पुत्र` शब्द का प्रयोग सम्भवत: काव्य में माधुर्य गुण के अनुकूल न होने के कारण कवि ने नहीं किया है । सबसे अधिक प्रयोग `सुत` शब्द के मिलते हैं ।

इसी प्रकार कुछ अन्य प्रयोग भी देखिए --

परन्तु, किन्तु, लेकिन, मगर

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो

....

किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं ।

\+ + +

लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों ।

\+ + +

मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं[१]

यद्यपि मु० प्रेमचन्द ने उक्त सन्दर्भित रचना में अधिकांशत: `लेकिन` शब्द का ही प्रयोग किया है, फिर भी शब्द-परिवर्तन की प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्थान-स्थान पर उपर्युक्त अन्य समानार्थक शब्दों का भी प्रयोग आवश्यक समझा है ।

न, नहीं

वही यदि ईसाई हो जाय तो उसके लिए विधवा विवाह अधार्मिक न रहेगा

यह सच है कि कोई धर्म को अधर्म नहीं कहेगा[२] ।

ये तो रहे एक ही लेखक द्वारा एक ही कृति के एक ही प्रसंग में किये गये भिन्न भिन्न शब्दों के प्रयोग के उदाहरण । इनके अतिरिक्त एक ही कृतिकार द्वारा भिन्न-भिन्न स्थलों पर अथवा भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थलों पर किये गये पर्यायवाची शब्दों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं --

१- कुछ विचार -- प्रेमचन्द । `परन्तु` प्रयोग का उदाहरण पृ०१०८ तथा शेष अन्य शब्दों के प्रयोग के उदाहरण, पृ०५६ से उद्धृत ।

२- पंचपात्र -- बख्शी ।

स्वर्ण, कनक, सोना

कविवर पंत ने अपनी कविताओं में स्वर्ण तथा उसके समानार्थी शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है, देखिए --

. स्वर्ण -- स्वप्न सोकर अभिसार
जल के पलकों में सुकुमार[१]

. कनक- छाया में जब कि काल
खोलता कलिका उर के द्वार[२]

. अरहर सनई की सोने की
किंकिणियां है शोभा शाली[३]

स्त्री, रमणी, नारी, वामा, देवी

प्रसाद की रचनाओं में उक्त सभी संज्ञाएं प्रयुक्त हैं, यथा--

. स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है[४]
. बाथम ने एक भारतीय रमणी से अपना ब्याह कर लिया[५]
. नारी तुम केवल श्रद्धा हो[६]
. फल्गु की है धार हृदय वामा का जैसे ।[७]
रूखा ऊपर भीतर स्नेह सरोवर जैसे ।
. कभी कभी देवियां भी तारा से मिलने आतीं । [८]
+ + + + |
इन्होंने इन देवी का यवनों से उद्धार किया है ।

'नारी' के पर्याय शब्दों में 'स्त्री' शब्द प्रसाद एवं अन्य अधिकांश लेखकों की कृतियों में अधिक प्रचलित मिलता है ।

१- वीचिविलास । २- मौन निमन्त्रण । ३- ग्राम्या ।
४- कंकाल । ५- कंकाल । ६- कामायनी ।
७- इन्दु-जनवरी, १९१४ । ८- कंकाल ।

(पत्नी रूप में) स्त्री, पत्नी, भार्या

उसकी स्त्री मारगरेट लतिका ईसाई होते हुए भी भारतीय ढंग से रहती है[1]
इसपर वर्धमान को अपनी पत्नी के सतीत्व में सन्देह हुआ[2]
विदेश जाने के लिए तैयार पति को उसकी भार्या उसे निष्काम बुद्धि से तैयार करके .....[3]

मृत्यु, निधन, स्वर्गवास, परलोकवास, साकेतवास

'मृत्यु' के अर्थ में निधन, स्वर्गवास, परलोकवास आदि शब्द तो युग-विशेष में सामान्यतः प्रयुक्त मिलते ही हैं, किन्तु मैथिलीशरण गुप्त ने अपने पिता के स्वर्गवास के अर्थ में 'साकेतवास' का प्रयोग किया है, यथा--

पिता जी के साकेतवास के पश्चात्[4]

खिंचवाना, उतरवाना

फोटो के साथ 'खिंचवाना' तथा 'उतरवाना' दोनों प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग हुआ है, जैसा कि 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में लेखक द्वारा किये गये प्रयोग तथा द्विवेदी जी द्वारा किये गये सुधार से ज्ञात होता है, यथा--

मूल -- अपना चित्र भी नहीं खिंचवाया ।[5]
सुधार--अपना चित्र भी नहीं उतरवाया ।

हे राम, हन्त, खेद, हाय, हा

दुःख, पीड़ा अथवा शोकसूचक अरे, ओह, हाय आदि के अतिरिक्त उक्त अव्यय भी इस युग की शिष्टभाषा में प्रयुक्त हैं, यथा--

हे राम । अब मैं क्या करूं[6]
हा। हन्त। सबके सब सुगुण ये तुझे छोड़ कहां को ?[7]
अब हमें बताए कौन, हन्त।[8]
वीरों का कैसा हो वसन्त ।
पर खेद । जब वे जाल में पड़कर उसी के हो रहे[9]

उक्त प्रयोगों में 'हन्त' युग-विशेष की नवीन देन है ।

कैसी विषमता है कि कुछ भी हाय! सम होती नहीं ।

\+ + +

हा! आज उसकी यह दशा, सन्ताप छाया सब कहीं [1]

सदृश, समान, भांति, सम, तुल्य, सा, जैसा, तरह, सरीखा, नाईं

आलोच्ययुगीन साहित्यिक भाषा में (विशेषत: गद्य-भाषा में) अर्थ के लिए समानतासूचक अर्थ के लिए 'सदृश' शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है, यथा--

देखने पर ये केशर आदि का लकार हो के सदृश मालूम होंगे

\+ + +

चमकती हुई नवीन बालुका से पूर्ण, नदी के कगारों के सदृश--बहुत ही शोभायमान हुए [2].

यहां तक कि 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों के सुधार में भी द्विवेदी जी ने अनेक स्थलों पर 'तरह', 'समान' आदि शब्दों को काटकर उनके स्थान पर 'सदृश' ही लिखा है (५.१.३.५)। द्विवेदी जी की इस नीति का पालन अन्य साहित्यकारों ने भी किया है । फिर भी 'समान', 'भांति' तथा 'तरह', 'जैसा' आदि के प्रयोग भी यत्र-तत्र वर्तमान है, यथा--

फल यह हुआ कि उनके, नये निकलते हुए पल्लवों के समान कोमल पैरों के तलवे लाल हो गये [3]

राम प्रताप-समान तब भी शूरवार यहां हुए [4]

साधारण भाषा की भांति हिन्दी भाषा ग्रहण करें [5]

राजों की तरह [6]

मन मिला कवि को कमल- जैसा खिला [7]

'सम', 'तुल्य' तथा 'सा' का प्रयोग कविताओं में अधिक हुआ है जिनमें से 'सा' तथा उसके विकृत रूप से, 'सी' की विद्यमानता की बहुलता है । उदाहरणार्थ—

१- भा०भा० -- गुप्त । २- किराता० -- द्विवेदी ।

३- किराता०-- द्विवेदी, इसी पृष्ठ पर 'सदृश' का भी प्रयोग किया है ।

४- भा०भा० -- गुप्त । ५- निबन्ध निचय --जग०चतु० ।

६- सर०भाग५, सं०५, पृ०१४७ । ७- माधुरी, वर्ष १ खं०२, सं०१ ।

चपल च चला के, प्रकाश- सम चमकीले वस्त्रों वाले[1]

सुत तुल्य ही वे सौम्य उसको मानते थे सर्वदा[2]

अमृततीर्थ का तट-सा था, अन्तर्जगत प्रकट-सा था[3]

कवि कलेजे- सा कलेजा कौन है |४

रुचि उसे मीठी मिठाई- सी मिली |

रस मृदुल सिरीष सुमन- सा |५

मैं प्रात धूल में मिलता |

मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे |६

हम व्याकुल पड़े बिलखते थे उतरे हुए नशे से |

लखन-से भाई और हनुमान-से टिबत सेवक कहां[7]

कहीं-कहीं पुरानी प्रथा के प्रतीक रूप में 'सरीसा' का प्रयोग भी मिल जाता है, यथा--

जजिया सरीसे कर लगे, यह बात सिद्ध हुई सही[8]

'नाईं' का प्रयोग भी कुछेक रचनाओं तक ही सीमित रहा, यथा--

इसलिए अन्धे की लकड़ी की नाईं रजनी को कितने प्यार से रक्खा[9]

इस प्रकार तत्कालीन साहित्यिक भाषा में समानार्थी अथवा पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग जो हुए हैं, उनमें पूर्व की अपेक्षा सुष्टता एवं सटीकता अधिक वर्तमान है।[10]

शब्दों की भांति पर्यायवाची वाक्यांश भी तत्कालीन भाषा में पर्याप्त रूप से व्यवहृत हैं, यथा--

----

१- स०भाग ११ सं०६ ,पृ०४२५-- गुप्त । २- भा०भा०-- गुप्त । गुप्त की इस रचना 'तुल्य' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है (दे०चिन्तामणि-- प्रसाद,पृ०३८ भी) ।

३- स०पां०,मई १६१७(कविता)-- गुप्त । ४- माधुरी,वर्ष१,खं०२,सं०१--हरिऔध ।

५- आंसू -- प्रसाद । ६- वही । ७- दि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द ।

८- भा०भा०-- गुप्त (अन्य प्रयोग के लिए दे०काव्यवाटिका--राम का प्रताप--गुरु,पृ०५७

९- अनाथ पत्नी--भग०बाजपेयी । १०- यहां सम्पूर्ण शब्दों की सूची देना असम्भव तो था ही विषय का अनावश्यक विस्तार भी था । अत: तत्कालीन प्रवृत्तिमात्र के दिग्दर्शन के थोड़े से प्रयोग दे दिए गए हैं,कुछ पर्यायवाची शब्दों के लिए दे०-शब्द-योजना-- २.२.क एवं शब्द-विस्तार २.३ ।

~~शब्दों की भांति पर्यायवाची वाक्यांश भी तत्कालीन भाषा में पर्याप्त रूप से व्यवहृत हैं, यथा--~~

धीरे धीरे, क्रम क्रम से

धीरे धीरे अपनी मानसिक उन्नति करते गये, किस प्रकार वे क्रम-क्रम से एक से एक उत्तम तत्वों की खोज करते गये[1]।

आगे-पीछे, आस-पास

उसी समय अथवा उसके सौ-पचास वर्ष आगे-पीछे उस हिन्दी ने जन्म जो आजकल हम लोगों की मातृ-भाषा है। वह समय ईसा की दसवीं ही शताब्दी के आस-पास अनुमान किया जा सकता है[2]।

इधर उधर, यहां वहां

इधर उधर देखने से क्या लाभ[3]

सिवा इसके कि यहां वहां देखे बिना...[4]

वाक्यांशों का प्रयोग बहुधा लाक्षणिक अर्थ में ही हुआ है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा। तत्कालीन लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त शब्दों वाक्यांशों के कारण भाषा की पर्यायवाचकता में और भी वृद्धि हुई है।

क. २. बहुवर्थकता

किसी भी भाषा की शब्दावली में विविध अर्थ प्रकाशित करने की क्षमता ही भाषा की विकासशीलता का परम लक्षण है। सच पूछिये तो शब्दों की पर्यायवाचकता भी उसकी बहुवर्थकता पर ही बहुत कुछ निर्भर करती है। क्योंकि शब्द के कई अर्थ होने पर ही एक अर्थ के हेतु अनेक उपयुक्त शब्द सुगमता से उपलब्ध हो सकेंगे।

आलोच्य-युग में क्योंकि भावप्रकाशन की प्रवृत्ति बल पकड़ रही थी, जिसके लिए साहित्यिक प्रवृत्तियों में पर्याप्त बहुलता आ गई थी, इसलिए अर्थ विस्तारण की प्रक्रिया

१- सा०सा०-- द्विवेदी । २- वही ।

३- कंकाल -- प्रसाद । ४- सर०भाग २५ ,सं०१।६

जोरों पर थी और जैसा कि पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग के प्रसंग में कहा जा चुका है, उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी शब्दों के अर्थ-निर्धारण में प्रयोग की उपयुक्तता पर विशेष ध्यान दिया गया है । जिन आधारों के अनुरूप शब्दों अथवा वाक्यों की अनेकार्थकता का अध्ययन किया जाना चाहिए, उनके दो भेद किए जा सकते हैं--

१. शब्द-सामर्थ्य के अनुरूप अनेकार्थकता

२. व्याकरणिक प्रयोगों के अनुरूप अनेकार्थकता ।

'शब्द-सामर्थ्य के अनुरूप' अनेकार्थकता से तात्पर्य है -- किसी शब्द का स्वत: भिन्न-भिन्न अर्थों का द्योतक होना । उदाहरणार्थ-- 'दल' शब्द लिया जा सकता है । इस शब्द में कई अर्थ निहित हैं, यथा-- समूह, सेना, पत्र(पत्ता), फूल, पंखुड़ी, सैद्धान्तिक अथवा राजनीतिक संगठन, कांग्रेसदल, साम्यवादी दल) आदि ।

व्याकरणिक प्रयोगों के अनुरूप अनेकार्थकता का अभिप्राय है-- संज्ञा/सर्वनाम का विभिन्न कारकों के अनुसार अर्थ निरूपण अथवा एक कारक का कई अर्थों में प्रयोग; संज्ञा/सर्वनाम का विशेषणवत् प्रयोग अथवा विशेषण अथवा क्रिया शब्दों का संज्ञावत् प्रयोग के अनुसार अर्थ की भिन्नता; क्रिया के कालों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग; अव्ययों एवं प्रत्ययों का विभिन्न रूपों एवं अर्थों में प्रयोग ; आदि ।

आलोच्ययुगीन भाषा की अर्थवत्ता का अवलोकन करने के लिए उक्त दोनों आधारों पर दृष्टि डालना आवश्यक है ।

१. शब्द-सामर्थ्य के अनुरूप अनेकार्थकता

किसी युग की भाषा की विकासशीलता के अवलोकनार्थ शब्द-सामर्थ्य के अनुरूप अर्थ की विस्तीर्णता अधिक महत्व रखती है । दूसरे शब्दों में भिन्न-भिन्न भावों के अनुरूप शब्दों के अर्थ-निर्धारण की क्षमता युग-विशेष की भाषा की विकासशीलता का परिचायक है । वास्तव में, अनायास शब्दों के अर्थ को बदाकर उसे किसी भी स्थान पर 'फिट' कर देना मात्र ही भाषा के विकास का लक्षण नहीं है, वरन् देखना यह चाहिए कि वह अर्थ उस स्थान-विशेष के लिए पूर्ण उपयुक्त है अथवा नहीं । जैसा कि कि कहा जा चुका है-- द्विवेदी-युग में अर्थोपयुक्तता-विचार की प्रवृत्ति प्राय: अधिकांश लेखकों में पाई जाती है । उदाहरण स्वरूप कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं --

अर्थ

कविवर मैथिलीशरण गुप्त-रचित `भारत-भारती` नामक काव्य-कृति में अर्थ के भिन्न-भिन्न अर्थों(धन,तात्पर्य,हेतु आदि) में किये गये प्रयोग द्रष्टव्य हैं--

—(धन) है अर्थ,सट्टा, फाटका उनके निकट व्यापार का (पृ०१३६)

—(तात्पर्य) मध्यस्थ वे शास्त्रार्थ में हैं भारती के सम हुई (पृ०१४३)

—(हेतु) हों हिन्दुओं के अर्थ हिन्दू यवन यवनों के लिए(पृ०८३)

शिक्षार्थ छात्र विदेश भी जाते अवश्य कभी कभी (पृ०१२३)

उक्त पुस्तक रचना के ही अधोलिखित चरण में भिन्न-भिन्न अर्थों में किये गये `अर्थ` शब्द के प्रयोग कवि की आलंकारिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं--

हा । अर्थ[1], तेरे अर्थ[2] हम करते अनर्थ[3] अनेक हैं (पृ०१४६)

इस प्रकार के अनेकानेक शब्द हैं,जो तत्कालीन कृतियों में एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त हैं,यथा--

काल

—(समय) निदाघ का काल महा दुरन्त था[4]

नदियां बहती हैं जिस काल[5]

—(विनाश) विषमयी वह होकर आपही। [6]

कवल काल-भुजंगम की हुई ।

भारतेन्दु-युग में यद्यपि `काल` का प्रयोग यत्र-तत्र `अकाल` (खाद्यान्नादि के नितान्त अभाव में उत्पन्न आपत्तिपूर्ण स्थिति) के अर्थ में भी किया गया है[7] ।भारतेन्दु ने स्वयं अपनी रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में किया है । किन्तु द्विवेदी-कालीन परिष्कृत साहित्यिक भाषा में `काल` रचना की दृष्टि से `अकाल` का विलोम शब्द होने के कारण उक्त अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है । यदि किसी लेखक ने

१- धन । २- लिए । ३- कार्य-- उपसर्ग सहित-- अ+कार्य । ४- प्रियप्रवास--हरिऔध।
५- द्वि०अभि०ग्र०(कविता)--हरिऔध । ६- प्रियप्रवास--हरिऔध ।
७- दे० काश्मीर कुसुम, पृ०२४ ।

किया भी है तो, बोलचाल की भाषा के प्रभाव में आकर ।

दल
--

--॥ पत्र अथवा पत्ता ॥ उड़े मंजुल दल-पुंज दुकूल
विलसती है अलबेली बेलि
\+ +
खड़े हैं पंक्ति बांध तरु वृन्द
विविध दल से बन बहु अभिराम
\+ +
लाल दल वाले लघुतम पेड़
लालिमा से बन मंजु महान[१]

--॥फूल की पंखुड़ी॥ है मूंद चुका अपने मृदु दल

--॥ समूह ॥ दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण[२]

--॥ सेना ॥ इस पर इनके बढ़ते हुए दल का मार्ग[३] रोकने के लिए स्वयं राजाधिराज को आगे आकर मुकाबला करना पड़ा

--॥धार्मिक तथा राजनीतिक संगठन॥ आखिर अहल इस्लाम-दल को हम बुलाकर ही[४] रहे (आजकल राजनीतिक संगठन के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित है,किन्तु आलोच्य-युग की राजनीतिक व्यवस्था भिन्न होने के कारण उक्त अर्थ में इस शब्द का प्रयोग विरल ही मिलता है)

पात

--॥ पत्ता ॥ विश्व पुलक से तरु के पात ॥ ५
--॥गिराना॥ कर सहसा शीतल भ्रू-पात ॥

१- प्रि०अभि०ग्र०-- हरिऔध,पृ० १५८ । २- गुंजन-- पंत ।
३- कुछ विचार -- प्रेमचन्द । ४- सर०भाग २५, खं०२, सं०४ (कविता)-- पंत
एक ही कविता में दोनों अर्थों में प्रयोग करके कवि ने अपनी अभिव्यक्तिक-चातुरी का परिचय दिया है ।

शृंगार

--(लज्जा) रंगीली तितली कर शृंगार[१]

--(प्रेम,रति) उस स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता[२]

स्त्री

--(नारी जाति) हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है[३]

--(पत्नी) उसकी स्त्री लतिका ईसाई होते हुए भी भारतीय ढंग से रहती है[४]

स्व -- इस शब्द का प्रयोग आलोच्य-युग में सामान्यत: तो `सोना` के अर्थ में है किन्तु कविवर अपनी कविताओं में उक्त अर्थ में प्रयोग करने के साथ ही विविध अर्थों में भी अभिव्यक्ति दी है,यथा--

--(सोना) तरु शिखरों से वह स्व -विहग[५] (गुंजन)

--(सुनहरा) लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर[६]

--(ऐश्वर्य) स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर) ७
विश्व को देती है जब बोर)

--(सुखमय) स्वर्ण-स्वप्न सी कर अभिसार) ८
जल के पलकों में सुकुमार)
निश्चय,उसमे जगा आपने प्रथम स्वर्ण-झंकार[९]

(उपर्युक्त प्रयोग यद्यपि लाक्षणिक अर्थ के विषय हैं किन्तु शब्द को बहुवर्थकता सूचित करने के अभिप्राय से यहां दे दिये गये हैं । ऐसे प्रयोगों के लिए दे०इसी प्रकरण में लाक्षणिक अर्थ, ह.२.१.१ भी)

बहुवर्थ

१- हि०अभि०ग्र०(कविता)--हरिऔध । २- रसज्ञ-रंजन-- द्विवेदी ।
३- कंकाल -- प्रसाद । ४- वही । ५- गुंजन । ६- वही ।
७- मौन निमन्त्रण । ८- वीचि विलास ।
९- हि०अभि०ग्र०(कविता)-- पंत ।

बड़ा

किसी वस्तु की आयतन अथवा लम्बाई आदि की अधिकता, पद की उच्चता आदि को बोधित कराने के लिए तो बड़ा शब्द का प्रयोग किया ही जाता है और आलोच्य-युग में भी हुआ है, यथा--

ताड़ के बड़े वृक्षों की छाया में[१]

उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है[२]

किन्तु उन भाववाचक संज्ञाओं के साथ भी जिनके साथ परिमाणसूचक विशेषण `बहुत`, `अधिक` आदि का प्रयोग होना चाहिए और आज यही नियम व्याकरण-सम्मत है, आलोच्य-युग में प्राय: सर्वत्र `बड़ा` शब्द का ही व्यवहार किया गया है । उदाहरणार्थ --

बड़ी निराशा और वेदना होगी[३], प्रजा के बड़े काम की होती है[४],
बड़ी चर्चा हो रही है[५], इसके हिन्दी का बड़ा प्रचार और उपकार हुआ[६],
बड़ी रुचि के साथ[७]

तत्कालीन लगभग सभी प्रमुख कृतिकारों की भाषा में उक्त प्रवृत्ति ही वर्तमान है, किन्तु कतिपय प्रगतिशील लेखकों की कृतियों में यत्र-तत्र हुए द्विविध प्रयोगों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में सुधार होने लगा था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृति `चिन्तामणि` से लिये गये द्विविध प्रयोगों के कुछ उदाहरण इसके प्रमाण हैं --

(बड़ा) -- | ईश्वर का बड़ा भारी अनुग्रह है (पृ० १७८)
| बड़ी रुचि के साथ (पृ० २६)

(बहुत) -- | जिसका संयम बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है (पृ० २६)
| कुन्तल जी की वक्रता बहुत व्यापक है (पृ० १७४)

भारी -- यह विशेषण यद्यपि `भार` की अधिकता अथवा गुरुता का बोधक है और इस अर्थ में आलोच्य-युग में सामान्यत: प्रयुक्त भी हुआ है किन्तु उसके अतिरिक्त `बड़ा` विशेषण की भांति

१- चित्रा -- प्रसाद । २- चिन्तामणि -- शुक्ल । ३- सुदर्शन-- गुरु ।
४- सा०सी०-- द्विवेदी । ५- पंचपात्र-- बख्शी । ६- निबन्ध निचय--ज०चतु० ।

इन अर्थों में प्रयुक्त है, जहां आज की परिमार्जित भाषा में अधिक उपयुक्त नहीं माना जाता, यथा--

> एक भारी ग्रन्थ बनाया, भारी कवि थे[१]
>
> वे इसके द्वारा किसी भारी संकट से अपनी या दूसरे की रक्षा भी कर सकते हैं[२]

उक्त स्थलों पर क्रमश: `ग्रन्थ` के लिए `वृहत्`, `विशाल` अथवा बड़ा; कवि के लिए `महान` अथवा `बड़े` तथा संकट के लिए `महान्` `बड़े` आदि का प्रयोग आज के युग के अनुकूल है। फिर भी यह बात नहीं है कि ये प्रयोग व्याकरण सम्मत न हों। अन्तर केवल सूक्ष्म अर्थ-भेद का है।

भर

--(सम्पूर्णता के अर्थ में)

> रातभर व्यतीत करने की ठानी[३]
>
> मेवाड़ भर में वक्तृताएं गूंजती ऐसी रहीं[४]
>
> भर पेट भोजन पा गये तो भाग्य मानो जग गये[५]

--(अल्पता अथवा मात्र के अर्थ में)

> क्षण भर के लिए[६]

--(क्रिया रूप में --भरने के अर्थ में)

> एक झरने से घड़े में जल भरने आती थी[७]

+ + +

इस प्रकार अनेकों शब्द हैं, जिनका प्रयोग आलोच्य-युग में एक से अधिक अर्थों में हुआ है।

२. व्याकरणिक प्रयोगों के अनुरूप अनेकार्थकता

जहां तक व्याकरणिक आधार पर अनेकार्थकता के विवेचन की बात है, इस अध्ययन के लिए तत्कालीन हिन्दी व्याकरण की रचनाएं ही पर्याप्त हैं(दे०हिन्दी व्याकरण

१- मिश्र०विनोद -- मिश्र। २- चिन्तामणि--शुक्ल। ३- सर०भाग५सं०५(कहानी)। ४- भा०भा०--गुप्त। ५- वही। ६- सर०भाग ५ सं०५(कहानी)। ७-पंचपात्र--बख्शी।

--गुरु) क्योंकि उनके उदाहरण काल-विशेष से ही सम्बन्धित हैं। फिर भी आलोच्य युगीन प्रमुख प्रवृत्तियों के परिचय के प्रयोजन से यहां भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना अनिवार्य है। इन उदाहरणों में कुछ में रूप के कारण अनेकार्थकता है तो कुछ में प्रयोग के कारण, यथा--

चाह

--(संज्ञा रूप में--प्रेम)

मेरी भक्ति-चाह मेरा प्यार, प्रेम उन्हें अवश्य खींच लावेगा[1]

--(क्रियारूप में--इच्छाबोधक)

तुम क्या चाहते हो ?[2]

--(क्रिया रूप में--विधि अवस्थासूचक)

उसके हिज्जों में समता होनी चाहिए[3]

--(अव्यय रूप में-- या अथवा)

वह चाहे अपने पात्रों को जितना कुरुचि-कषाय पिलावे, चाहे जितने रहस्यों को स्फोट करे चाहे जितने हरमों का हाल लिखे[4]

और

--(अव्यय रूप में--समुच्चयबोधक)

यात्रा और जीव चरित-सम्बन्धी पुस्तकों के बड़े शौकीन हैं और एक-एक पुरानी पुस्तक के सैकड़ों सस्ते सस्ते संस्करण छपते हैं।[5]

(संज्ञा रूप में)

औरों के हाथों नहीं यहां पलता हूँ[6]

--(विशेषण रूप में-- अधिकता सूचक)

बायें हाथ से और भी दृढ़ता से खींचा[7]

--(--'अन्य' अर्थक)

इतना माया-ममतापूर्ण स्त्री हृदय-सुलभ गार्हस्थ्य-जीवन और किसी समाज में नहीं[8]

---

१ सर०हीर०अंक,पृ०२६८। २- पंचपात्र--बख्शी। ३- सा०सी०--द्विवेदी। ४- वही। ५- वही। ६- साकेत--गुप्त। ७- कंकाल-- प्रसाद। ८- वही।

वहीं और और वैज्ञानिक विषयों में भी पाई जाता है[१]

न -- यद्यपि सर्वत्र अव्यय ही रहता है, किन्तु स्थिति के अनुसार अर्थ में अन्तर होता है, यथा--

--(निषेध के सूचक) यदि समाज से उसका कोई सम्बन्ध न हो
+ + +
न समाज का अन्त होगा और न सदाचार का। [२]

--(आग्रह के अर्थ में) तो देखिए न[३]

--(आशादि पर बल देने के अर्थ में) मरियम को बता देना सुलताना को नहीं समझो न? [४]

(निपात रूप में- अवधारणार्थ) कोई न कोई कहीं न कहीं [५]

पर

--(अधिकरण कारक के प्रत्यय के रूप में)

विजय पर टूट पड़ा[६] है

--(क्रमशः अधिकरण कारक एवं समुच्चयबोधक अव्यय के रूप में)

सहसा किसी ने उसके कन्धे पर छुरी मारी, पर वह ओछी लगी[७]

--('पश्चात्' के अर्थ में) जिस तरह किसी बहुत बड़े[८] यज्ञ में, कोई कर्म-स्खलन-रूपी दोष हो जाने पर।

सा (विकृत रूप में -- सी, से भी)

--(तुलना के अर्थ में) उस मृदुल सिरीष सुमन-सा मैं प्रातधूल में मिलता[९]

रुचि उसे मीठी मिठाई-सी मिली[१०]

अवलखन से भाई और हनुमान से सेवक कहां[११]

--(अधिकता के अर्थ में)

बहुत-सी ऐसी जंगली जातियां अब भी हैं
बहुत-से बच्चे तो किसी परिचित आदमी को देखते ही। [१२]

१-सर०भाग५सं०५--शुक्ल । २- पंचपात्र--बख्शी । ३-दर०होर०अंक--प्रसाद । ४- वही । ५- वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द । ६- कंकाल --प्रसाद । ७- वही । ८- किराता०--द्विवेदी ९- आंसू-- प्रसाद । १०- माधुरी, वर्ष १, खं०२ सं०१--हरिऔध । ११-वि०अभि०ग्र०-
१२- चिन्तामणि--शुक्ल ।

(अल्पता के अर्थ में)

छोटी-सी बात[1]

(अवधि सूचक के अर्थ में)

जब से आपके पुत्र ने परिस्तान की कहानी सुनी तबसे उन्होंने
यही निश्चय किया है कि विवाह करेंगे तो परी से ही [2]

--(रीतिसूचक प्रत्यय के रूप में)

उसने धीरे से दरवाजा खोला[3]

--(करण एवं अपादान कारक के विभक्ति-चिह्न के रूप में)

नवाब का गला दबाने वाले हाथ को अपने बाएं हाथ से और भी
दृढ़ता से खींचा[4]

उनकी कुटी गांव से बहुत दूर थी
परन्तु अब उसके शरीर से लावण्य फूटने लगा [5]

--(निपात रूप में) कम से कम, अच्छे से अच्छे[6]

इनके अतिरिक्त संज्ञा/सर्वनाम का विशेषण रूप में अथवा विशेषण का संज्ञा रूप में तथा क्रिया के एक काल का दूसरे काल के अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी अर्थ-भेद और उसके फलस्वरूप अनेकार्थता आती है, किन्तु ऐसे प्रयोग स्वभावगत होने के कारण सभी प्रकार के उदाहरण न देकर यहां केवल ऐसे ही प्रयोगों के दो चार उदाहरण देने आवश्यक समझे गये हैं, जिनका युग-विशेष की भाषा में विशेष महत्व है, यथा--

(१) विशेषण का विशेषण तथा संज्ञा दोनों अर्थों में प्रयोग--

इस प्रकार की प्रवृत्ति द्विवेदी-युग की विकसित भाषा में अधिक पाई जाती है, यथा--

> हम बेजान में जान डालतेथे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठाते थे, और भूलों को राह पर लगाते थे ।[7]

१- अनाथ पत्नी --भग०वाजपेयी । २- पंचपात्र--बख्शी । ३- वही ।

४- कंकाल -- प्रसाद । ५- पंचपात्र--बख्शी । ६- निबन्धनियम०--जा०चतु० ।

७- चुभते चौपदे -- हरिऔध ।

चितेरो --(विशेषणार्थ) चितेरो विद्या का बखान | १
--(संज्ञार्थ) प्राय: हिन्दू चितेरे मुसलमानी समय में हुए |
अकबर के समय के चितेरे के नमूने कम हैं |

औपन्यासिक

--(विशेषणार्थ) औपन्यासिक पात्रों को | २
--(संज्ञार्थ) ऐसे औपन्यासिकों को पीठ ठोंकते हैं |
कितने औपन्यासिक अपने कल्पित पात्रों को |
मनुष्य समझते हैं |

बड़ा

--(विशेषणार्थ)-- बड़ी सफाई के साथ छपी है[3]
--(संज्ञार्थ) -- आधे दाम चुकाय बड़ों की बात बिगाड़ी[4]

एक, दो, पहला, दूसरा आदि
--(विशेषणार्थ) दो भावों के आधार पर |५
अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प-विकल्प दूसरी।
--(संज्ञार्थ) जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही
नहीं तब एक के भावों को दूसरा क्यों ग्रहण करेगा ?[6]
अपनी बला को दूसरों के भी सदा सिर पर मढ़े[7]

और
(विशेषणार्थ) जैसे 'दवा-पानी' में पानी शब्द से दवा ही के समान और
चीजों का बोध होता है[8]
(संज्ञार्थ) औरों की तरह कर्म्म-जनित नहीं[9]
इस प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं ।

१-हि०अभि०ग्र०--काशी०जायसवाल, पृ०३१ । २- पंचपात्र-- बख्शी ।
३- निबन्ध नियम--जा०चतु० । ४- सर०भाग १० सं०२०--नाथू०शर्मा ।
५- चिन्तामणि -- शुक्ल । ६- हि०अभि०ग्र० --शुक्ल ।
७- सर०भाग१५ खं०१ सं०४(कविता)--केशव०मिश्र । ८- सा०सी०--द्विवेदी ।

(२) क्रिया के एक कृदंत रूप का विभिन्न कालों के अर्थ में प्रयोग--

यों तो क्रिया के भिन्न-भिन्न कृदंतीय रूप सहयोगी क्रियाओं के योग से अथवा किसी-किसी स्थिति में बिना सहयोगी क्रिया के ही कई कालों की अर्थ-बोधक क्रियाएं बनती हैं, किन्तु इन सबके उदाहरण यहां प्रस्तुत करने की आवश्यकता इसलिए नहीं जान पड़ती, क्योंकि इनका प्रयोग आलोच्य-युग में प्राय: परम्परागत ही हुआ है। अत: यहां उसी स्थिति का उल्लेख करना पर्याप्त है, जिसका सम्बन्ध युग-विशेष के योगदान से है, यथा--

वर्तमानकालिक कृदंत का सामान्य संकेतार्थ, सामान्य वर्तमान, भविष्यत् एवं अपूर्णभूतकाल के अर्थ में प्रयोग

--(सामान्य संकेतार्थ काल) हां पिता। मुझे आज विलम्ब हुआ, अन्यथा मैं ही उनसे चलने के लिए पहले अनुरोध करती[१]।

--(सामान्य वर्तमान काल) तुम क्या चाहते हो ?... मैं कुछ नहीं चाहता[२]

--(सामान्य वर्तमान तथा भविष्यत् दोनों ही अर्थों में)
उन्हें बुलाने का प्रयत्न बिना किसी प्रकार के क्रोध के नहीं हो सकता[३]

--(अपूर्ण भूतकाल) बाप्पा और जान भी लतिका को प्रसन्न रखने के लिए भारतीय संस्कृति से अपनी पूर्ण सहानुभूति दिखाते। वे आपस में बात करने के लिए प्राय: हिन्दी ही में बोलते[४]।

वस्तुत: सामान्य संकेतार्थ काल को छोड़कर उक्त अन्य कालों में जो क्रमश: सहायक क्रिया 'होना' के वर्तमानकालिक रूप (हूं, हो, है हैं) तथा भूतकालिक रूप (था, थे थी) का योग होता है उसके बिना ही उद्धृत रूप में प्रयोग की प्रथा तत्कालीन कथा, नाटकादि के सम्वादादि के माध्यम से चल पड़ी थी और आज वही शैली सामान्य हो गई है।

इनके अतिरिक्त लाक्षणिक अर्थों के कारण तद्युगीन भाषा में बह्वर्थकता और भी देखने को मिलता है। आगे दिये गये लाक्षणिक अर्थ सम्बन्धी उदाहरणों से यह स्वत: प्रमाणित हो जायेगा।

१- कंकाल-- प्रसाद। २- पंचपात्र--बख्शी। ३- चिन्तामणि--शुक्ल।

४- कंकाल -- प्रसाद।

क. ३. विलोमार्थकता

शब्दों,वाक्यांशों आदि की पर्यायवाचकता,बहुवर्थकता आदि के साथ ही विलोमार्थकता भी अर्थ-विस्तार की प्रक्रिया का एक अंग है। आलोच्य-युग में उपयुक्त एवं वांछित विलोमार्थी शब्दों का प्रयोग कर शब्द-भण्डार की वृद्धि ही नहीं की गई अपितु भाषा की अभिव्यंजक क्षमता का भी विकास किया गया। अभिव्यक्त्यार्थ के साधन रूप में विलोमार्थक शब्दों का उपयुक्त प्रयोग तो युग की विशेषता रही है। साथ ही एक प्रमुख विशेषता यह भी रही है कि तद्युगीन लेखकों ने आवश्यकतानुसार उपसर्ग-प्रत्ययों के योग से नये विलोमार्थक शब्दों का निर्माण किया। इस प्रकार आलोच्य-युग में मूल शब्दों से अधिक व्युत्पन्न शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ।

जहां तक उक्त विलोमार्थक शब्दों के प्रयोग-सम्बन्धी अध्ययन की बात है,ये शब्द इतने अधिक हैं कि यहां सबका विवरण देना न तो सम्भव है और न ही आवश्यक और न ही इनके प्रयोग में कोई उल्लेखनीय विशेषता है,अत: यहां तत्कालीन प्रयोगिक पद्धति के अध्ययनार्थ कुछ थोड़े से उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। प्रयोग -पद्धति की प्रक्रिया जानने के लिए यह आवश्यक है कि परस्पर विपरीत अर्थसूचक दोनों शब्दों के ही प्रयोग प्रस्तुत किये जायं,अत: उन प्रयोगों का वर्गीकरण अधोलिखित आधारों पर करना उपयुक्त है --

१. मूल विलोमार्थक शब्द[१]

शब्द	प्रयोग
अंधकार - प्रकाश	और देखेंगे कि इस अंधकार में कहीं प्रकाश भी मिल सकता है या नहीं[२]
कटु-मधुर	कवि की कटु कविता को मधुर स्वर से सुजन सुनाता है[३]
गुण-दोष	गुण-दोष ज्ञान[४]

१- परस्पर विलोमार्थक शब्द-युग्म प्राय: एक स्थान अथवा प्रसंग के से उद्धृत किये गये हैं जिससे लेखकों की शब्द-संगति के अनुरूप शब्द-चयन की प्रवृत्ति का अनुमान लगाया जा सके।

२- दि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द। ३- सर०भाग १०,सं०७(कविता)--रा०च० उपा०।

४- रसज्ञ-रंजन -- द्विवेदी।

शब्द	प्रयोग
घटाना-बढ़ाना | बढ़ाव-उतार |	बाजार का चढ़ाव-उतार, हिस्सों का घटना, -बढ़ना यही जीवन है ।[1]
छोटे-बड़े	इतिहास-ग्रन्थ में छोटे-बड़े सभी कवियों एवं लेखकों को को स्थान नहीं मिल सकता ।[2]
जागृत- सुप्त | निद्रा-जागरण |	भीति को जागृत करके सुप्त हुआ[3] [4]
दरिद्र-धनी	इसके सभी आसक्त असमर है दरिद्र तथा धनी[5]
पुरुष-रमणी	पुरुष और रमणी अनेक बार उस मंदिर में गये थे[6]
सुख-दुख | हर्ष-शोक |	पर जग का सुख,दुख अनुभव कर होता हर्ष न शोक[7]
हास-अश्रु | दिन-रात |	(१) चिर हास अश्रुमय आनन रे इस मानव जीवन का[8] (२) हास-अश्रु पथिकों के जिसको अस्थिर रखते हैं दिन रात[9]

इसी प्रकार अनेकों संज्ञा, सर्वनाम,विशेषण, क्रिया एवं अव्यय के विलोमार्थी शब्द अलग-अलग अथवा युग्म रूप में प्रयुक्त हैं ।[10]

२. मूल-व्युत्पन्न विलोमार्थक शब्द

जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है कि विपरीतार्थक प्रयोगों में उल्लेखनीय विषय है शब्द में प्रत्यय का योग कर अधिकाधिक विलोम शब्द बनाने की प्रक्रिया । द्विवेदी-युग में उक्त विषय से सम्बन्धित शब्द बनाने की जो प्रचलित परम्परा थी, वह थी--`अ` पूर्व प्रत्यय के योग से अधिक से अधिक विपरीतार्थक शब्द बनाकर प्रयोग करने की परम्परा ।अत: यहां कुछ मूल शब्दों के साथ ही `अ` उपसर्ग युक्त विपरीतार्थक शब्दों

१-द्वि०अभि०ग्र०--प्रेमचन्द ।२मिश्र०विनोद-पृ०। ३-सर०भाग१६सं०६(कविता)--गुप्त ।

४- प्रयोग के लिए दे० सर०भाग५ सं०५,१५३,पार्वती नन्दनकृत । ५-सर०भाग१५,सं०१,सं०४,(कविता)--केशव मिश्र । ६- पंचपात्र--बख्शी की इस रचना में पुरुष के साथ प्राय: रमणी का ही युग्म दिखाया गया है`नारी` अथवा `स्त्री` का नहीं । यों भी इस युग में रमणी शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित था । ७- द्वि०अभि० ग्र०(कविता)--मिलिन्द ।

८- कविता-- पंत । ९- द्वि०अभि०ग्र०(कविता)-- मिलिन्द।

१०- यहां भी लेखक के प्रयोग की प्रक्रिया के अवलोकनार्थ ऐसे प्रयोग दिये गये हैं, जहां मूल तथा उसके विलोम शब्द जो उपसर्ग अथवा प्रत्यय के योग से निर्मित हैं एक साथ प्रयुक्त हैं ।

क प्रयोग उद्धरणीय हैं, यथा--

शब्द	प्रयोग
कर्तव्य - अकर्तव्य	-- कर्तव्य और अकर्तव्य पर बहुत कुछ कहा गया है[1]।
गूढ़ - अगूढ़	-- ध्वनि अगूढ़ और गूढ़ होती है[2]।
पथ्य - अपथ्य	-- आत्मोन्नति का पहला मन्त्र भोजन में यथापथ्य विचार है[3]।
प्रकाशित-अप्रकाशित	-- प्रकाशित और अप्रकाशित कृतियां देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है[4]....
प्रासंगिक-अप्रासंगिक	-- कोश-विभाग में जहां बहुत सी प्रासंगिक बातों का विचार होता था, वहां कभी कभी कुछ अप्रासंगिक और ऐसी बातों की भी चर्चा छिड़ जाती थी[5]।
प्रौढ़ - अप्रौढ़	-- हमारी हिन्दी अभी तक प्रौढ़ नहीं हुई है वह अप्रौढ़ है[6]
भाव - अभाव	-- क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती[7]
मंगल - अमंगल	-- मुख्य एवं अमुख्य कवियों के कथन तथा उनके ग्रन्थों के कथन से तो.....
मंगल - अमंगल	-- मंगल का रिपु घोर अमंगल घेर रहा है[8]
मुख्य - अमुख्य[9]	-- मुख्य एवं अमुख्य कवियों के नाम तथा उनके ग्रन्थों के कथन से तो....[10]
श्लील-अश्लील	-- 1. शृंगार रस के वर्णन में जो-जो कार्य वा भाव आजकल अश्लील गिने जाते हैं वे उस रस के अंग हैं 2. विद्यापति के अनेक पदों ने श्लीलता की सीमा का अतिक्रम किया है[11]

१- रसज्ञ-रंजन-- द्विवेदी । २- मिश्र०विनोद--मिश्र,भूमिका । ३-द्वि०अभि०ग्र०--प्रेमचन्द
४- द्वि०अभि०ग्र०--रामचन्द्र वर्मा । ५- वही । ६- वही । ७- द्वि०अभि०ग्र०,पृ०५६

८- सर०भाग१०,सं०१०(कविता)--नाथूराम शर्मा ।
९- यद्यपि `मुख्य` का पारम्परिक विलोम शब्द `गौण` है,किन्तु प्रयोग में अर्थ की की दृष्टि से यह शब्द भी उपयुक्त है ।
१०-मिश्र०विनोद--मिश्र०भूमिका ।
११- द्वि०अभि०ग्र०,पृ०६०,६१ ।

शब्द	प्रयोग
सत्य - असत्य	-- वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय[१]।
स्पष्टता-अस्पष्टता	-- स्पष्टता और अस्पष्टता.....[२]

इस प्रकार के विलोमार्थक शब्दों की तत्कालीन भाषा में बहुलता पाई जाती है। 'अ' उपसर्ग को विलोम शब्द-निर्माण के साधन रूप में तत्कालीन प्राय: सभी लेखकों ने स्वीकार किया है, यहां तक कि आचार्य महावीर प्रसाद[३] द्विवेदी द्वारा स्थिरता शब्द के साथ 'अ' के स्थान पर 'अन' उपसर्ग लगाकर 'अनस्थिर' शब्द बनाकर प्रयोग किये जाने पर तत्कालीन भाषा-विदों ने उनकी निरंकुशता की खूब आलोचना की, किन्तु द्विवेदी जी ने अर्थ की वांछानुसार उक्त शब्द का प्रयोग उपयुक्त बताया (दे० खण्ड एक--२.४.उक्त उपसर्ग के प्रयोग के विषय में द्विवेदी जी के विचार)। 'अ' के अतिरिक्त अन्य विभिन्न उपसर्गों और प्रत्ययों (पूर्व एवं पर प्रत्ययों) से युक्त विपरीतार्थक शब्दों का प्रयोग भी स्वाभाविक रूप से हुआ है।

३. व्युत्पन्न- व्युत्पन्न विलोमार्थक शब्द

इस कोटि में वे प्रयोग आते हैं, जिनमें दोनों शब्द परस्पर विपरीतार्थक उपसर्गों के योग से बने हों, यथा--

शब्द	प्रयोग
अनुकूल - प्रतिकूल	-- स्वीया हुई कुलटा बहुत अनुकूल बहुधा शठ हुए।[४] यह साम्प्रतिक शिक्षा हमारे सर्वथा प्रतिकूल है।
अमूल्य - समूल्य	-- अमूल्य नहीं वरन् समूल्य भेंट के रूप में उपस्थित करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है[५]
विराग-अनुराग	-- मुझमें ज्ञान विराग, अविनाशी अनुराग[६]
सचित्र - अचित्र	-- सचित्र और अचित्र पत्र-पत्रिकाओं की भी यथेष्ट संख्या है[७]
स्वदेश - विदेश	-- हे वीर हाय स्वदेश का करते यही उपकार है[८]

१- मिश्र-- विनोद -- मिश्र। २- रसज्ञ-रंजन-- द्विवेदी।३८८०-सर०भाग७,पृ०२-- ३- भा०भा०--गुप्त। ४- सिद्धान्त और अध्ययन--गुलाबराय।

इस प्रकार के प्रयोगों की प्रवृत्ति भी आलोच्ययुगीन भाषा में अधिक प्रचलित है । अशक्त-शक्त, अज्ञान-सज्ञान, आकर्षण-विकर्षण, पूर्ववर्ती-परवर्ती, संयोग-वियोग, सलज्जा-निर्लज्ज, सदाचार-दुराचार, सुविख्यात-कुविख्यात, सुसाध्य-दुसाध्य, स्वतन्त्रता-परतन्त्रता जैसे परस्पर विपरीतार्थक शब्दों का प्रयोग तत्कालीन साहित्यिक भाषा में यथास्थल हुआ है ।

ख.स.शब्द-शक्तियों के आधार पर ⟶

शब्द-शक्तियों के आधार पर आलोच्य-युगीन भाषा की अर्थवत्ता का अध्ययन अधोलिखित वर्गों में करना अपेक्षित है --

१. अभिधार्थ
२. लक्षणार्थ
३. व्यंग्यार्थ

ख. १. अभिधार्थ ⟶

अभिधार्थ से तात्पर्य है-- किसी शब्द अथवा पदबन्ध का उसकी प्रकृति के अनुसार निर्धारित अर्थ । अर्थात् भाषा में प्रयुक्त विभिन्न पदों यथा (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय) एवं वाक्यों (अर्थ के अनुसार विधानार्थक, निषेधवाचक, आज्ञार्थक, प्रश्नार्थक, विस्मयादिबोधक, इच्छाबोधक, सन्देहसूचक, संकेतार्थक) का वाचक अर्थ में प्रयोग ही उक्त शीर्षक का विषय है । वास्तव में अभिधार्थ तो भाषा का स्वाभाविक गुण है, क्योंकि किसी भी अभिव्यक्ति का मूल अर्थ तो होता ही है । यह अवश्य है कि भाषा में अभिधार्थ का प्राधान्य अभिव्यक्ति की प्रत्यक्षता एवं ऋजुता पर आधारित होता है । साथ ही विषय एवं प्रसंग की अधिक सरलता एवं अधिक गम्भीरता दोनों ही कारणीभूत हैं । अत: अर्थ की दृष्टि से आलोच्ययुगीन साहित्यिक भाषा (खड़ीबोली) का अध्ययन करते समय यही निष्कर्ष निकलता है कि इस युग के आरम्भ में न विषयों में जटिलता थी न अभिव्यक्ति में वक्रता का आधिक्य । कालान्तर में जब चिन्तनपूर्ण, गम्भीर एवं आलोचनात्मक विषयों का आधिक्य हुआ तो इन विषयों के लिए तत्सम प्रधान भाषा का प्रयोग अधिक होने के कारण भी मुहावरादि का स्थान नगण्य रहा । उक्त दोनों स्थितियों में तत्कालीन भाषा प्राय: अभिधात्मक अर्थपूर्ण ही दिखाई देता है ।

जहां तक ऐसे प्रयोगों के उदाहरण प्रस्तुत करने की बात है, इसके विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि पदों के उपयुक्त अन्वय, शब्दक्रम की निश्चितता एवं सुगठित वाक्यों से निर्मित तत्कालीन भाषा का अभिधार्थ प्राय: हिन्दी भाषा की व्याकरणिक परम्परा के अनुकूल ही है । अत: अभिधार्थक उदाहरणों को प्रस्तुत करना, विषय का विस्तार मात्र ही होगा ।

ख २. लक्षणार्थ

लक्षणार्थ से तात्पर्य उस अर्थ से है, जो अभिव्यक्तिक प्रतीकात्मकता का बोध कराता है । विकसित भाषा में लाक्षणिकता की सम्भावना अधिक होती है । द्विवेदी-युग में जैसे-जैसे भावों की प्रगाढ़ता तथा प्रखरता का आधिक्य हुआ, भाषा में भी लक्षणार्थक उपादानों का प्रयोग बढ़ने लगा ।

लक्षणार्थ का प्रयोग यद्यपि भारतेन्दुयुगीन (द्विवेदी-पूर्व) कृतियों में भी पर्याप्त रूप से हुआ मिलता है, किन्तु द्विवेदीयुगीन प्रयोगों की विशेषता यह है कि इस युग में इन उपादानों के यथास्थानिक एवं समुचित प्रयोग पर अधिक ध्यान दिया गया ।

लाक्षणिक प्रयोगों के अन्तर्गत श्लेषार्थक शब्द अथवा वाक्य, वक्रोक्तियों, मुहावरे तथा अलंकारादि आते हैं तथा इन्हीं उपकरणों का अर्थ लक्षणार्थ नाम से अभिहित किया जाता है । अध्ययन की सुविधा के हेतु इन सम्पूर्ण उपादानों के मुख्य दो भाग किए जा सकते हैं-- १. मुहावरे, २. अलंकार । श्लेषार्थक शब्द एवं वक्रोक्तियां प्रयोगगत रूढ़ियों के अनुसार मुहावरा तथा अलंकार दोनों के अन्तर्गत आती हैं । तथा व्यंग्यार्थक भी होती हैं, अत: इनका अलग वर्ग नहीं किया जा सकता ।

१. मुहावरे

मुहावरे, क्योंकि सर्वसाधारण के प्रयोग के विषय हैं, अत: साहित्य में इनका प्रयोग सर्वसाधारण द्वारा व्यवहृत बोलचाल की भाषा में ही होता रहा है । द्विवेदी-युगीन साहित्य में भी इनके प्रयोग की यही स्थिति रही है । इसके अनुसार तत्कालीन सरल एवं व्यवहारिक विषयों पर लिखे गये निबन्धादि में तो इनका प्रयोग किया गया है, किन्तु गम्भीर एवं समीक्षात्मक विषय मुहावरों से प्राय: अछूते हैं । वस्तुस्थिति यह है कि आलोच्य-युग में अधिकांशत: चिन्तनपूर्ण एवं आलोचनात्मक निबन्धों की रचना हुई और इनकी शैली भी प्राय: गम्भीर एवं तत्सम शब्दावली प्रधान रही है, ऐसी स्थिति में

उनमें लाक्षणिक तत्सम शब्दों अथवा उद्धरणों का समावेश भले ही हुआ है,किन्तु बोलचाल के मुहावरों का सर्वथा अभाव है । स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि लेखकों को सरल एवं मुहावरेदार भाषा में लिखने की सम्मति दी,परन्तु उनकी रचनाएं सामान्यत: मुहावरों से रहित हैं । द्विवेदी जी की भांति अन्य लेखकों, यथा-- बख्शी जी,मिश्रबन्धु, शुक्ल,प्रसाद,गुप्त,गुलाबराय आदि की कृतियों में भी मुहावरों का सर्वथा अभाव है । मु० प्रेमचन्द की साहित्यिक-समालोचनात्मक निबन्धों में मुहावरों का प्रयोग भले ही नहीं हुआ है,किन्तु अन्य सभी निबन्धों तथा कहानियों की चलती हुई भाषा मुहावरायुक्त है ।

इसके उपरान्त भी आलोच्य-युग में साहित्यिक भाषा को सरल, एवं व्यावहारिक रूप देने के अभियान में लेखकों का ध्यान उसमें रोचकता,चुटीलापन एवं बोधगम्यता की अवतारणा के दृष्टिकोण से मुहावरेदार प्रयोग की ओर आकर्षित हुआ । इस दृष्टिकोण को साकारता प्रदान करने वालों में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी (गद्य में) तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय(पद्य में) शीर्ष स्थान पर विराजमान होते हैं । एक ओर चतुर्वेदी जी ने गद्य-भाषा में मुहावरों का प्रयोग करके भाषा के चुटीलेपन,चटपटेपन एवं सरसता का नमूना सामने रखा तो दूसरी ओर हरिऔध जी ने पद्य में,जिसमें मुहावरों का अभाव परम्परागत रहा है-- अधिकाधिक मुहावरों का प्रयोग करके `चोखेचौपदे` और `चुभते चौपदे` जैसी मुहावरामय भाषा की रचना का अभिनव आदर्श प्रस्तुत किया । इनके अग्रज लेखक बाबू बालमुकुन्द गुप्त की व्यंग्यपूर्ण रचनाओं में पर्याप्त मुहावरे मिलते हैं,यथा--`शिवशम्भु के चिट्ठे` में । इस रचना में गुप्त जी ने चलती हुई साधारण बोलचाल में व्यवहृत मुहावरों का प्रयोग किया है ।

उदाहरण के रूप में आलोच्ययुगीन मुहावरा प्रयोग की प्रवृत्ति का अवलोकन इन उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है--

१. शब्द अथवा पद मुहावरा

२. पदबन्ध अथवा वाक्यांश मुहावरा

३. वाक्य मुहावरा

१. शब्द अथवा पद मुहावरा -- इसके अन्तर्गत लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त एक शब्द के अतिरिक्त द्विरुक्तादि शब्द एवं सामासिक पद भी आते हैं । पद के रूप में ये मुहावरे संज्ञा,विशेषण,क्रिया तथा अव्ययवत् प्रयुक्त हैं ।

(अ) संज्ञा

पद — प्रयोग

अशरफी | मोती | रत्न — --(बहुमूल्य वस्तु)--
. समय का एक एक मिनट अशर्फी है, मोती है[१]
. जिसकी कृपा से संस्कृत साहित्य के नये-नये रत्न हम लोगों को प्राप्त हुए हैं[२]
. वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा[३]

लाल --(प्रिय व्यक्ति) यदि दुःखित न यों देखती लाल को मैं[४]

आसन --(स्थान) . उनमें मलिक मोहम्मद जायसी का आसन सबसे ऊंचा है।[५]
. सच पूछिए तो इन्हीं की कृपा से हिन्दी-काव्य-संसार में ब्रजभाषा को वह ऊंचा आसन मिला कि आज तक भी ....

गाज (अत्यधिक शोकसूचक अर्थ में।) गाज सी दोनों मनों पर आ गई[६]

निगाह (दृष्टिकोण, विचार) -- और सादी जिन्दगी के साथ ऊंची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है।[७]

मसाला --(सामग्री, विषय-वस्तु)--तो पति को रात भर फींकने का मसाला मिल गया[८]

मुट्ठी | हाथ --(वश) -- आपकी मुट्ठी में हैं[९], मन हाथ में उनका नहीं[१०]

सांचा --(नमूना, आदर्श)-- रचनाशैलियों का सांचा पश्चिम से ही इस देश में आया पर प्रत्येक सांचा हमारी हिन्दी के काम का नहीं हो सकता[११]

१- निoअभिoग्रo-- प्रेमचन्द । २- साoसीo-- द्विवेदी । ३- प्रिय-प्रवास --हरिऔध । ४- वही । ५- हिंदी--बदरीoभट्ट, भट्ट की इस कृति में आसन शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में कई बार हुआ है । ६- सरoभाग १७,खंo१,संo४-- गुरु । ७- कुछ विचार-प्रेमचन्द ८- निoअभिoग्रo-- प्रेमचन्द । ९-शिoशo के चिट्ठे--बाoमुoगुo । १०- माoभाo--गुप्त । ११- निबन्ध-निचय--जगoचतुo ।

पद	प्रयोग
अग्नि-वर्षा--(आपत्ति, विपत्ति)	-- रात दिन है अग्नि वर्षा हो रही[1]
अरण्यरोदन --(निष्फल, व्यर्थ)	-- पर हुआ है कि इस प्रकार के प्रयत्न ~~अरण्यरोदन~~ अरण्यरोदन से ही सिद्ध हुए हैं[2]
उलट फेर -- (परिवर्तन, क्रान्ति)	--राजा कंस मारा गया, राजनीतिक उलट-फेर[3]।।
गोलमाल --(अव्यवस्था)	--कितने गोलमाल होते रहते हैं[4]
गृहविच्छेद[+] --(अन्तर, असमता)	--हमारी शिक्षा और जीवन के बीच बराबर गृह-विच्छेद पड़ता ही रहता है[5]
डांडामेड़ी --(परस्पर-सम्बन्ध-निकटता)	--.पूर्वी हिन्दी और बिहारी का डांडामेड़ी है पर पूर्वी हिन्दी की तरह वह अर्धु-मगध अपभ्रंश से नहीं निकली[6]
--(समन्वय)	--.चित्रकार और चितेरे की डांडा मेड़ी[7]
देश-भाई[+] --(एक देश के निवासी)	-- दुर्भाग्य से यदि देश-भाई आपदा में फंस रहे[8]
माथापच्ची--(मानसिक परिश्रम)	-- कोई साधारण गांव के लिए इतनी माथापच्ची करने की क्या आवश्यकता ?[9]
हीलाहवाला--(बहाना)	-- कोई हीलाहवाला नहीं किया[10]

(आ) विशेषण

अंधभक्त[11]--(परम्परावादी)	-- इसे कोरा अंधभक्त भी न समझिएगा। इसकी रचना में हिन्दू धर्म के भीतरी तत्व भी मिलते हैं[12]
उड़ाऊ--(व्यर्थ खर्च करने वाला)	-- लड़का उड़ाऊ है[13]

१- सर०भाग २७,खं०१,सं०४(कविता)--गुरु । २- हि०अभि०ग्र०--रामचन्द्र वर्मा ।
३- कंकाल -- प्रसाद । ४- सर०भाग२५,सं०१ । ५- सर०भाग २५ सं०१-नाथू०शर्मा ।
+- ये मुहावरे सामान्यत: प्रचलित नहीं हुए,अत: इनका उक्त रचनाओं के रचयिताओं द्वारा प्रयोग उन रचनाकारों के नवीन दृष्टिकोण का सूचक है । ६-हि०भा० की उ०--द्विवेदी।
७- निबन्ध का शीर्षक--द्विवेदी । ८- मा०भा०--गुप्त । ९-किन्नर०पा०--रा०सा०।
१०-सर०भाग२२,खं०१,सं०१--द्विवेदी । ११- लेखक ने इस 'पद' का प्रयोग सम्भवत: अंग्रेजी के ' ' के अनुवाद रूप में किया है । १२- हिन्दी--बदरी०भट्ट ।
१३- द्वि०अभि०ग्रं०-- प्रेमचन्द ।

पद	प्रयोग
ऐंठासिंह--(दम्भी)	-- सभी ऐंठासिंह बन गये हैं[1]
शेर --(निर्भीक, धृष्ट)	-- अच्छा किया सरस्वती को गालियाँ दे-देकर आप शेर हो गये थे। सो, आपने उन्हें गीदड़ बनाने का उपक्रम किया है।[2]
गीदड़ --(भीरु, दीन)	
खरी-खोटी--(अपशब्द)	-- खरी-खोटी सुना करते हैं[3]
दुधमुहा --(नवजात अधिक छोटा)	-दुधमुहे बच्चों को विदेशी भाषा पढ़ने के लिए लाचार करना बड़ा अन्याय है[4]
नतमस्तक --(विनीत)	--लेकिन चाहते हैं कि दुनिया उनके आगे नतमस्तक खड़ी रहे[5]
मुंहतोड़ --(अकाट्य) अथवा निरुत्तर करने वाला)	- ऐसे आक्षेपों का मुंहतोड़ उत्तर महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री जैसे विद्वानों के द्वारा दिया गया है[6]
पल्लवित --(विकसित)	-- उस समय चित्त में आया था कि हो सका तो कभी इसे पल्लवित करने की चेष्टा करूंगा[7]
मुहर्रमी --(मनहूस)	-- वह सलीका नहीं रखता, मैला है, फूहड़ है, मुर्दा है, या मुहर्रमी है[8]
विमुख --(खाली, बिना कुछ प्राप्त किए हुए)	-- भिक्षुक विमुख न जाने दो[9-×]
सपना --(दुर्लभ)	-- सुख का सपना हो जाना[10]

१- निबन्ध-निचय--जग०चतु० । २- द्विवेदी पत्रा०-- द्विवेदी । ३- चिन्तामणि--शुक्ल ।
४- निबन्ध-निचय--जग०चतु० । ५- द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द । ६ -सा०सी०-- द्विवेदी ।
७- भा०भा०-- गुप्त । ८- द्वि०अभि०ग्र०--प्रेमचन्द । ९-सर०भा०१५,सं०१(कविता)- लीलावती ।

×० 'विमुख' का प्रयोग प्राय: विरुद्ध अथवा विपरीत के अर्थ में होता है और उस युग में भी हुआ है, किन्तु भाव-विस्तार के फलस्वरूप इन अर्थों में प्रयोग करना युग को नवीन देन का परिचायक है ।

१०-आसु-- प्रसाद ।

पद	प्रयोग
सड़ीगली --(दोष पूर्ण)	-- युनिवर्सिटियां हमें उच्च श्रेणी की प्राचीन अंग्रेजी पढ़ाने के लिए कसम खाकर बैठी हैं । नतीजा चाहे कुछ भी हो, पर वे ज़बरदस्ती सड़ी-गली चीजें हमारे गले में ठूंसेंगी[1]
सिरमौर --(श्रेष्ठ)	-- होगा पर सुप्रसिद्ध, सर्व सिरमौर न होगा[2]

(छ) क्रिया -- एक शब्द अथवा पद-रूप में क्रिया के लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग अधिक नहीं मिलते, क्योंकि एक तो, कृदंतीय रूप में क्रियाएं अन्य शब्द-भेदों में परिवर्तित हो जाती हैं, दूसरे, अन्य शब्दभेदों के साथ वाक्यांश रूप में ही इनका अर्थ पूर्ण होता है, अत: वाक्यांश रूप में लाक्षणिक क्रिया अधिक मिलती हैं । फिर भी तत्कालीन प्रयोग की प्रवृत्ति के अवलोकनार्थ कुछ एकपदीय क्रियाएं प्रस्तुत हैं --

पद		प्रयोग
उड़ना।उड़ाना, फूंकना	--(अपव्ययकरना)	-- चाहे अपव्यय में उड़े लाखों करोड़ों भी अभी + + + दुर्विध प्रजा का द्रव्य हरकर फूंकते हैं व्यर्थ वे।[3]
चूमना	--(छूना)	-- प्रासाद-केतन-पट हमारे चन्द्र को थे चूमते[4]
अंकुरित हो उठना	--(उत्पन्न होना)	-- ऐसा करते करते कवित्व शक्ति अंकुरित हो उठती है[5]
ऐंठ लेना	--(बलपूर्वक लेना)	-- उनसे मनमानी रकम ऐंठ लेते हैं[6]
गुथी पड़ना	--(पूर्ण होना)	-- ऐसे ही भावों से इसकी रचना गुथी पड़ी है[7]
जगना	--(उत्पन्न होना)	-- मन में कुछ-कुछ क्रोध जगा[8]
रोना।रुलाना	--(दुखी करना)	-- ऐसी ही दिल जलाने वाली बातें करके आप रोता है और दूसरों को रुलाता है[9]

१- निबन्ध-निचय --जग०चतु० । २- सर०भाग११ सं०३(कविता)--नाथू०शर्मा ।
३- भा०भा० -- गुप्त । ४- वही । ५- रसज्ञ-रंजन--द्विवेदी ।
६- कुछ विचार-- प्रेमचन्द । ७- हिंदी--बदरी०भट्ट ।
८- सर०भाग ११, सं०६(कविता)-- गुप्त ।
९- द्वि०अभि०ग्र० -- प्रेमचन्द ।

ललकारना --{चुनौती देना} -- इस विकल वेदना को ले किसने सुख को ललकारा[1]

हरना --{दूर करना} -- हरते अंधेरा यदि न हम होती न लोज नई नई[2]

(ई) अव्यय-- एक शब्द के रूप में लाक्षणिक अर्थ वाले अव्यय शब्द भी अधिक नहीं हैं, अत: इनके द्विरुक्त रूप में ही लक्षणार्थ की अभिव्यक्ति होती है।

दम--{समय} -- उसी दम सब भेद खुल गया[3]

देखते-देखते--{कुछ ही समय में} -- हमारे देखते देखते जंगली जातियां उठकर हमसे आगे बढ़ जायं[4]

हंसते हंसते--{प्रसन्नतापूर्वक} -- हंसते हंसते मर जाते हैं धीर धर्म के साधन में[5]

हाथोंहाथ--{तत्क्षण, तत्काल} -- नशे का नतीजा हाथों हाथ मिलता है[6]

इस प्रकार के अन्य अनेक लाक्षणिक शब्द आलोच्ययुगीन भाषा में व्यवहृत हैं और विशेषता यह है कि शुद्ध-तत्समप्रधान भाषा में भी उक्त प्रकार के शब्दों का लाक्षणिक अर्थ में व्यवहार न्यूनाधिक रूप में हुआ मिलता है। अधिक विशुद्ध भाषा में संस्कृत के लक्षणार्थक शब्द पर्याप्त रूप से प्रयोग में लाए गए हैं। यह भी द्विवेदी-युग की एक प्रमुख विशेषता है। तात्पर्य यह है कि आलोच्य-युग में एकपदीय लक्षणार्थक शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। (बहुवर्थक शब्दों में भी अनेक शब्दों के लक्षणार्थ प्रयोग हुए हैं।)

२.पदबन्ध अथवा वाक्यांश मुहावरा

पदबन्ध अथवा वाक्यांश रूप में प्रयुक्त मुहावरे ही वास्तव में पूर्ण मुहावरे होते हैं। इनकी संख्या तो अगणित है, किन्तु प्रयोगिक प्रवृत्ति के प्रमाण रूप में कुछ ही नमूने यहां दिये जा रहे हैं। एकपदीय मुहावरों की भांति वर्गीकरण भी अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है --

(क) संज्ञा

छत्तीस का सम्बन्ध--{विरोध} -- उनका हिन्दुओं से ३६ का सम्बन्ध है[7]

१- आंसू-- प्रसाद । २- भा०भा० -- गुप्त ।

३- सर०भाग ५, सं०५-- पार्वतीनन्दन । ४- भा०भा० -- गुप्त ।

५- सर०भाग ११, सं०६-- गुप्त । ६- निबन्ध निचय--जग०चतु० ।

७- सर०भाग ८, सं०६-- द्विवेदी ।

ज़मीन आसमान का फ़र्क --(अधिक अन्तर) --

गत साठ ही वर्षों में ज़मीन आसमान का फ़र्क हो गया[1]

निन्नानबे का फेर--(विविधा अन्तरिक्तता) --

हिन्दी भाषाभाषी निन्नानवे के फेर में पड़े हैं[2]

मोह का परदा --(भ्रमजाल) -- मोह का परदा हृदय से गिर गया[3]

स्यापे की नायन का रोना--(आडम्बरपूर्ण सार हीन)--

जो कविता चोट खाए हुए दिल से नहीं निकलती वह स्यापे की नायन का रोना है[4]

हाथ की पुतली--(वशीभूत व्यक्ति) | [5]
हुक्म के बन्दे --(आज्ञाकारी व्यक्ति) | [5]

कानी कौड़ी | --(किंचित मुद्रा अथवा अर्थ) .उनको वे कानी कौड़ी देने के रवादार रवादार नहीं है[6]
फूटी कौड़ी | .फूटी कौड़ी भी खर्च नहीं करते[7]

घरफूंक कौतुक[8] --(विनाशकारक स्थिति)

यों कुछ दिनों ही घर फूंक कौतुक देखकर नंगे हुए[9]

(ख) विशेषण

वास्तव में मुहावरे संज्ञा तथा क्रिया रूपमें अधिक होते हैं अन्य शब्द-भेद के रूप में कम । अत: यहां उदाहरण के रूप में कुछेक मुहावरे ही प्रस्तुत किए जा रहे हैं,यथा--

उंगली उठाने वाला--(दोष देने वाला) --

कोई उंगली उठाने वाला नहीं है[10]

तीन तेरह--(अस्तव्यस्त)--इधर हमने आंखें बन्द कीं और उधर सारी गृहस्थी तीनतेरह हुई[11]

१- सा०सी०-- द्विवेदी । २- निबन्ध-निचय --जग०चतु० ।
३- सर०भाग१७ सं०१,सं०४--गुरु ।४- निबन्ध निचय--जग०चतु०।
५- शि०श० के चिट्ठे--बा०मु०गु०।६- चुभते चौपदे--हरिऔध ।
७- सर०भाग ५ सं०५--सम्पा० ।८- घर फूंक तमाशा का प्रचलन पहले भी रहा और आज भी है, किन्तु 'तमाशा' के स्थान पर 'कौतुक' का प्रयोग लेखक की निजी विशिष्टता है गुप्त जी की कृतियों में मुहावरों को शिष्ट एवं साहित्यिक बनाने के प्रयास में अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं । ९- भा०भा० -- गुप्त । १०- शि०श० के चिट्ठे--बा०मु०गु० ।
११-द्वि०अभि०ग०-- प्रेमचन्द ।

शेष एकपदीय रूप में द्विरुक्तादि शब्द-विशेषण भी वाक्यांश के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं ।

(ग) क्रियाविशेषण

विशेषण की भांति क्रिया विशेषण द्विरुक्त शब्द भी वाक्यांश की कोटि में भी आते हैं । उनके अतिरिक्त कतिपय क्रिया विशेषण वाक्यांश मुहावरे इस प्रकार हैं--

आंख मूंद कर |
आंखों पर पट्टी बांध कर | --(बिना सोचे विचारे) --

. आंख मूंदकर अनुवाद कराते और छापते हैं
. पर हिन्दी वाले आंखों पर पट्टी बांध कर इसका व्यवहार करते हैं[१]

खुले-खजाने--(निर्विघ्नरूप से)-- करोड़ो आदमी रोज पीते है,खुले-खजाने पीते हैं[२]

खेत दो खेत |
दो चार पांव| --(थोड़ी दूर तक)-- खेत दो खेत भी मुश्किल से चल सकता हूं[३]
दो चार पांव टहलने लगा[४]

पद पद पर--(प्रत्येक स्थिति) --वही आज पद पद पर पराया मुंह ताक रही है[५]

लगे हाथों --(इसी।उसी समय) --अब यहां लगे हाथों यह भी देख लेना चाहिए कि...[६]

सिर धुन धुनकर--(विलाप करके) --कोयलें कैद पिंजर में सिर धुन धुन कर हैं रोती[७]

(शेष दे० शब्द अथवा पद मुहावरा द्विरुक्त शब्द)

(घ) क्रिया

क्रिया-वाक्यांश-रूप में मुहावरों का प्रयोग सबसे अधिक होता है, तदनुसार द्विवेदीयुग में भी अन्य मुहावरों की अपेक्षा इनकी संख्या अधिक है । सच पूछा जाय तो क्रिया-रूपमुहावरे ही पूर्ण मुहावरे होते हैं क्योंकि अर्थ की सम्पूर्णता अधिकांशत: क्रिया

१-निबन्ध-निचय --जग०चतु० । २- द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द । ३- पत्र--द्विवेदी ।
४- सर०भाग ५ ,सं०६५--पार्वती नन्दन । ५-मा०भा०-- गुप्त । ६- चिन्तामणि-शुक्ल ।
७- द्वि०अभि०ग्र०-- गोपालशरण सिंह ।

पद पर ही निर्भर करती है । वाक्यांश रूप में क्रियाएं अनेक शब्द-भेदों को अपने में पिरोये रहती हैं, ऐसी स्थिति में कई पदों अथवा पदबन्धों की पूर्णता क्रिया पदबन्ध द्वारा सिद्ध होती है । क्रिया मुहावरा-प्रयोग की आलोच्ययुगीन प्रवृत्ति के द्योतक कुछ क्रिया-वाक्यांश मुहावरे अधोलिखित हैं--

अखण्ड ज्योति जगना--(पूर्ण रूप से विराजमान होना) -- ज्ञान भान की ज्योति अखण्ड जगी रहती थी[1]

अपना रोना रोना--(अपने कष्ट का प्रदर्शन करना)--अपना रोना कभी न रोते[2]

अपना सा मुंह लेकर रहना--(निष्फल होना)--कवि वर्ड्सवर्थ गद्य-पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहता था, पर अपना-सा मुंह लेकर रह गया[3]

आंखें बन्द करना।बन्द होना--(मृत्यु को प्राप्त होना)-- इधर हमने आंखें बन्द कीं और उधर गृहस्थी तीन तेरह हुई[4]

आंखें बहक जाना--(पथभ्रष्ट हो जाना, विवेक से कार्य न लेना)--
अगर जवानी में आंखें बहक गई हैं तो अब पाप की भावना हृदय को दबाए हुए है[5]

आग बबूला होना-- (अधिक क्रुद्ध होना)--(कृदंतीय रूप प्रयोग) --
आगबबूला होने वाला[6]

आगा पीछा सोचना--(परिणाम सोचना)-- आगा पीछा सोचता रहा[7]

आल्हा अलापना --(गुणगान करना,महत्व देना) --
अफसोस है, तो भी हम हिंदी की हिमायत न देना कर उर्दू-अंगरेजी ही का आल्हा अलापते हैं[8]

१- सर०भाग१०,सं०१०-- नाथूराम शर्मा । २- सरभाग १७,खं०१, सं०३-- सनेही ।
३- निबन्ध-निचय -- जग०चतु० । ४- द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द । ५- वही ।
६- चिन्तामणि-- शुक्ल । ७- सर०भाग ५ सं०५--पार्वतीनन्दन ।
८- निबन्ध-निचय -- जग० चतु० ।

उंगली उठाना--[दोष देखना]--(कृदंतीय रूप)-- कोई उंगली उठाने वाला नहीं[1]

उबल पड़ना --[लक्षणार्थ में उबलना का सामान्यत: 'क्रुद्ध' होने के अर्थ में प्रयोग होता है किन्तु बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने आधिकता के अर्थ में भी प्रयोग किया है, यथा-- रुपये उबले पड़ते हैं[2]

कमान चढ़ी रहना--[निरन्तर होते रहना]-- उद्यम की दिन रात कमान चढ़ी रहती थी[3]

कसम खाकर बैठना--[निश्चय कर लेना]-- युनिवर्सिटियां हमें उच्च श्रेणी की प्राचीन अंग्रेजी पढ़ाने के लिए कसम खा कर बैठी हैं[4]

काफिया तंग हो जाना--[असमर्थ अथवा विवश हो जाना]--

जब तुक न मिले और काफिया तंग हो जाय तो बेचारे क्या करें[5]

काल के गाल में जाना--[मृत्यु को प्राप्त होना]--

जिनसे लाखों नहीं करोड़ो मनुष्य प्रतिवर्ष काल के गाल में गए[6]

किस्मत ठोकना --[भाग्य को दोषी ठहराना][7] --

कूट कूट कर भरना--[पर्याप्त रूप से समावेश करना][8]

कूप में ठेलना--[विनाश को पहुंचाना]-- अवनति का संसार कूप में ठेलरहा है[9]

खटाई में पड़ना--[अवरोधित होना]-- विक्रमा चर्चा आधी खटाई में पड़ी है[10]

खाड़ खीर चाटना[जूठन ग्रहण करना]--

तरुण हुआ तो खाड़ खीर अपरा की चाटी[11]

१- शि०श० के चिट्ठे--बा०मु०गुप्त । २- वही । ३-सर०भाग१०सं०१०-नाथू०शर्मा । ४- वही [निब०निच० ज०च०।५- वही ।६-वही ७- प्रयोग दे०द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द, पृ०२३७ । ८- प्रयोग दे० भा०भा०-- गुप्त । ९- सर०भाग ११,सं०३--नाथू०शर्मा । सामान्यत: बोलचाल में 'कूएं में ढकेलना' मुहावरा ही प्रचलित है, किन्तु 'शर्मा' जी ने साहित्यिकता के आवरण में लपेटने के प्रयास में इसे संकर बनाकर उक्त शैली प्रदान की है जो युग की विशेषता का द्योतक है ।

१०- द्वि०पत्रा० --द्विवेदी । ११- सर०भाग११,सं०३--नाथूराम शर्मा । कवि का तात्पर्य पश्चिम की अधूरी।जूठी सभ्यता को ग्रहण करने से है ।

खिचड़ी पकाना (गुप्तरूप से मन्त्रणा करना)

इधर उधर का खिचड़ी पकाना मुझे आता नहीं [1]

गला काटना (क्षति पहुंचाना) -- भाई ने भाई का गला नहीं काटा [2]

गले से लिपट जाना (आलिंगन करना) [3]

गुथा पड़ना (भरा होना) -- ऐसे ही भावों से इसकी रचना गुथी पड़ी है [4]

घास खोदना (सार रहित कार्य करना, व्यर्थ का कार्य करना) [5]

घोट डालना (कंठाग्र कर लेना) -- एक जर्मन ने फ्रांसीसी भाषा सीखने के लिए उसका व्याकरण घोट डाला [6]

चक्कर में पड़ना (वशीभूत होना) -- वह भाषा भी क्या जो विदेशियों के चक्कर में पड़कर नष्ट हो जाय [7]

छठी के चावल याद आना (अधिक तंग होना) [8]

जड़ हिलना (निराधार होना) -- जिस बात में आप अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं उसकी जड़ हिल रही है [9]

झख मार कर (निदान) कुदंतीकृत रूप -- झख मार कर खड़ीबोली के नाम से 'हेमन्त' शीर्षक कुछ पद्य लिखे [10]

ठोकरें खाना (अवहेलित होना) -- सुख से वंचित बेचारा है प्यार ठोकरें खाता [11]

दम भरना (दम्भ करना) -- बोलचाल की भाषा में पद्य रचना का दम भरते हैं [12]

धूर उड़ाना (टीका टिप्पणी करना) -- इस शिरनामे से काशी के पंडितों ने बड़ी धूर उड़ाई [13]

धूल में मिला देना। मिल जाना (नष्ट कर देना। होना) [14]

नज़र दौड़ाना (ध्यान देना) [15]

१- अनाथ पत्नी --भग०बाज० । २- द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द । ३- प्रयोग दे०वही, पृ०२३७
४- हिंदी--बदरी०भट्ट । ५- काव्यवाटिका--गुप्त । ६-निब०नि०--जग०चतु० ।
७- हिंदी--बदरी०भट्ट । ८- प्रयोग दे०साहित्यविहार--वियोगीहरि, पृ०४३ ।
९- सा०सी०-- द्विवेदी । १०-द्वि०पत्रा०-- गुप्त । ११-द्वि०अभि०ग्र०-गोपाल०सिंह ।
१२-निबन्ध निचय--जग०चतु० । १३-रामकहा०--मु०--सुधा०द्वि० ।
१४-प्रयोग दे०शि०श० के चिट्ठे--बा०मु०गु० तथा भा०भा०--गुप्त ।
१५-प्रयोग दे० किन्नर०रासो० ।

नाकों चने चबवाना।
नाकों दम करना । |--(तंग कर देना) . तब तो वह भिसिर जी को नाकों चने चबवायेगा[१]

. अर्जुन ने भी शिवा जी को नाकों दम कर दिया[२]

नौ दो ग्यारह होना (भाग जाना)[३]

नेत्र तानना (गर्व प्रदर्शित करना)-- गर्व में आकर कभी निज नेत्र को ताना नहीं।[४]

पांव चूमना (उपलब्ध होना) -- तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पांव चूमेंगी[५]

पासा पलट जाना (आशा के विपरीत कार्य होना)--

बस पासा पलट गया-- उलटा बेचारा वृत्रासुर इन्द्र मारा गया[६]

पौबारह पड़ना (स्वार्थ सिद्ध होना)-- हारे कि जीते आप उनके किन्तु पौबारह पड़े[७]

प्राण कंठ में आना (शारीरिक कष्ट का आधिक्य होना)[८]

प्राण हथेली पर रहना (मृत्यु के लिए तत्पर रहना)[९]

बाजार गर्म होना--(अधिकता होना)--मनमानी घरजानी का बाजार गर्म है[१०]

बीज बोना--(सूत्रपात करना, समावेश करना)-- इस प्रकार के बीज प्रकृति ने बो रखे हैं[११]

बूंद से भेंट न होना--(रंचमात्र भी प्राप्त न होना) --

तब तक भला उन बूंदों से भेंट कहां हो सकता है[१२]

मठा फूंक कर पीना --(सतर्कता बरतना)-- फिर भला सुशील मठा फूंक कर क्यों न पिए[1]।

माथ कटाना -- (बलिदान देना) -- अब किसका कटाऊं माथ[2]

मुख मोड़ कर बैठना--(विमुख होना) -- बैठे रहे मुख-मोड़[3]

तो क्यों न फिर इनसे (मुंह) मोड़ कर बैठे[4]

मुंह की ओर ताकना। | --(अपेक्षा करना) -- मुंह की ओर ताकते हैं[5]
मुंह जोहना | देखते हमारा मुंह जोहते थे[6]

मुड़ मार कर बैठना--(विवश हो जाना) -- उनकी सारी मेहनत मिट्टी में मिल गई लाचार होकर मुड़ मार कर बैठ रहे[7]

मोती बरसना--(रोना, आंसू गिराना)[8] --

लाले पड़ना -- (अभाव होना) -- लालित्य के तो सदा लाले पड़े रहते हैं[9]

सिर पीटना--(पश्चाताप करते हुए पाने का प्रयत्न करना) --पर पीटते हैं सिर विदेशी आज भी जिस शान्ति को[10]

सिर पर मढ़ना--(बलपूर्वक आरोपित करना) --अपनी बला को दूसरों के भी सदा सिर पर मढ़े[11]

सिर पर भूत चढ़ना--(अनिष्टकारी वस्तु का प्रभाव होना) --कैसी अविद्या का हमारे सिर चढ़ा यह भूत है[12]

सिर माथे पर बैठाना--(आदर देना) --जहां किसी ने हिन्दी के लिए लेखनी उठाई नहीं कि भारतेन्दु जी ने उसे सिर माथे पर बैठाया[13]

१- अनाथ०--भग०बाज० । २- काव्य वाटिका--लो०प्र०पाण्डेय ।
३- सर०भाग १०,सं०१०--नाथूराम शर्मा । ४- द्वि०अभि०ग्र० -- प्रेमचन्द ।
५- शि०श० के चिट्ठे--बा०मु०गु० । ६- चुभते चौपदे--हरिऔध ।
७- सर०भाग ७,सं०२-- द्विवेदी । ८- द्वि०अभि०ग्र०-- प्रेमचन्द ।
९- निब०निचय--जग०चतु० । १०-भा०भा० -- गुप्त ।
११- सर०भाग१५,सं०१,सं०४-- केशवप्र० । १२- सर०भाग१५,सं०१-- लीलावती ।
१२- 'सिर पर भूत सवार होना' मुहावरा अधिक प्रचलित है ।
१३- सर०पा०,१६०६-- शुक्ल ।

सुध बुध जाते रहना --(ध्यान न रहना)-- जगत की सुध बुध जाती रही[1]

हवा हो जाना --(दूर हो जाना(--उनका क्रोध हवा हो गया[2]
समाप्त हो जाना)

-- उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है[3]

हाथ पैर ढीले पड़ना--(शरीर शिथिल[4] --
हो जाना)

हाथों हाथ लुटाना --(खुलकर खर्च करना[5])

३. वाक्य मुहावरा / सर्वांग मुहावरा

कथन को व्यावहारिक,अलंकारिक एवं रोचक बनाने के अभिप्राय से कहीं-कहीं इतने लम्बे मुहावरों का प्रयोग हुआ है कि लगभग सम्पूर्ण वाक्य अथवा चरण (कविता में) लक्षणार्थक हो गया है, उदाहरणार्थ--

पखे जबरदस्ती सड़ी-गली चीजें हमारे गले में ठूसेंगे[6]

प्राण कण्ठ को आ गये; हाथ पैर सब ढीले पड़ गये;[7]

जगत की सुध बुध जाती रही

भाइयों की मूंछें उखाड़ कर मूंछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू के साथ रंगकर अपना हाथ गरम कर रहे हैं[8]

मोह का परदा हृदय से गिर गया ।[9]
गाज सी दोनों मनों पर आ पड़ी ।

प्रतिभा का परिवार उसी में खेल रहा है।[10]
अवनति का संसार कूप में ठेल रहा है ।

१-सर०भाग ५,सं०५--पार्वती०खत्री । २- किराता०-- द्विवेदी । अपनी इस रचना में द्विवेदी जी ने अर्थ पर अधिक बल देने के प्रयोजन से `दूर` शव्द को काट कर उसके स्थान पर `हवा` शव्द लिखा है । ३- चिन्तामणि--शुक्ल । ४-सर०भाग५,सं०५--पार्वती०खत्री
५- सर०भाग ६,सं०१--सत्य०रतूड़ी । ६-७- निबन्ध-निचय --जग०चतु० ।
७- सर०भाग ५,सं०५-- पार्वती० खत्री । ८-६- चुभते चौपदे -- हरिऔध ।
६-सर०भाग १७,खं०१,सं०४-- गुरु । १०-सर०भाग ११ सं०३--नाथूराम शर्मा ।

सम्पूर्ण वाक्य की कौन कहे कविवर हरिऔध जी ने तो अपनी कृतियों `चुभते चौपदे` और `चोखे चौपदे` में मुहावरों का बेधड़क प्रयोग करके सम्पूर्ण रचना को ही मुहावरामय बनाकर मुहावरा प्रयोग का एक विशिष्ट दृष्टान्त हिन्दी-संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया है । प्रमाणस्वरूप `चुभते चौपदे` से लिये गये कुछ गद्य तथा पद्य-रूप-अंश इस प्रकार हैं--

आज दिन हमारे सिरधरों का बहां सिर नहीं फिर गया है, आगे चलने वाले भी आग लगा रहे हैं और भगवा पहनने वाले भी भांग खाये बैठे हैं । जिनको वीर होने को दावा है, वे भाइयों की मूंछें उखाड़ कर मूंछ मरोड़ रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रंगकर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, दूसरों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं ......

+ + +

आज हमारे घरों में फूट पांव तोड़ कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खड़ा है, अनबन की बन आई है, और रगड़े झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं । हमसे लम्बी लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डगें भरने की कहानियां कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है ।

+ + +

समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई, सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूं तक नहीं रेंगती...

(भूमिका-- दो दो बातें)

कुछ बनाये नहीं बनी अब तक ।
जान पर आ बनी बचा न सकेक।।
हम कहें क्या तपाक की बातों
आपकी राह ताक ताक थके ।।
आन औ आन बान महलों पर ।
डाह बिजली अनेक बार गिरी ।।

हो गये फेर में पड़े बरसों ।
आपकी दीठ आज भी न फिरी ।।
बैर है बरबाद हमको कर रहा ।
फूट का है दुंद घर घर में मचा ।।
हम बचाये बच सकेंगे आपके ।
आप मत अपनी निगाहें लें बचा ।।

(पृ०२)

'चोखे चौपदे' में भी शरीर प्रकृति आदि के विभिन्न अंगों के आधार पर रचे गये विविध विषयों से सम्बन्धित मुहावरे भरे पड़े हैं ।

आलोच्ययुगीन मुहावरा-प्रयोग-सम्बन्धी प्रमुख देन है-- मुहावरों में ग्रामीणता का अभाव कर परिनिष्ठता का समावेश । युग-पूर्व भाषा में प्राय: नितान्त अशिक्षित अथवा ग्रामीण लोगों द्वारा व्यवहृत मुहावरों का प्रयोग हुआ मिलताहै --किन्तु आलोच्य-युगीन साहित्यकार जिस चेतना से भाषा की शुद्धता एवं तत्समता की ओर प्रेरित हो रहे थे,उसी चेतना के परिणामस्वरूप उसकी व्यवहारिकता एवं रोचकता का ध्यान रखते हुए भी ग्रामीण एवं नितान्त जन साधारण द्वारा व्यवहार किये जाने वाले उन मुहावरों से उसे वंचित रखना चाहते थे जिनसे उसकी परिनिष्ठता को क्षति पहुंचने की आशंका थी । इस प्रयास में यत्र-तत्र तत्सम शब्दों, यथा--अरण्यरोदन,अग्नि-वर्षा, अन्ध भक्त आदि का लक्षणार्थक प्रयोग तो हुआ ही साथ ही कहीं कहीं वाक्यांशों में संकरता भी आ गई,यथा--कूप में ठेलना, नेत्र तानना, प्राण कण्ठ में आना, मुख मोड़ना आदि । फिर भी उस युग में सरल एवं स्वाभाविक भाषा का जो अभियान चला उसमें कई लेखकों ने स्वाभाविक रूप से निर्मित मुहावरों का ही प्रयोग उपयुक्त समझा,अत: उक्त प्रकार के मुहावरे तत्सम प्रधान भाषा तक ही सीमित रह गये ।

२. अलंकार

जहां तक लक्षणार्थक उपादान 'अलंकार' के प्रयोग की प्रवृत्ति की बात है, इस युग में खड़ीबोली में काव्य-रचना अधिक होने के कारण उसमें अलंकारिता का निरूपण पूर्व युग की अपेक्षा अधिक किन्तु स्वभाविक रूप से हुआ है ।

स्वाभाविक रूप से तात्पर्य है-- काव्य को अधिकाधिक सजाने के अभिप्राय से अलंकारों का सप्रयास आरोपण न करके भाव प्रकाशन में सौन्दर्य-सृष्टि के अनुकूल

अपेक्षित स्थलों पर प्रयोग करना । वस्तुत: काव्य में जब भावपक्ष पर बल न देकर केवल उक्ति-वैचित्र्य पर ही बल दिया जाता है तो अलंकार-प्रयोग में अतिशयता तथा तज्जनित ~~स्वाभा~~ अस्वाभाविकता का समावेश होता है(जैसा कि हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में देखने को मिलता है तथा उसके प्रभाव स्वरूप आधुनिककाल की आरम्भिक कविताओं में भी वर्तमान है) किन्तु जहां भाव पक्ष एवं कलापक्ष अथवा अभिव्यक्ति पक्ष में समन्वय होता है, वहां अलंकारादि के प्रयोग में भी सन्तुलन तथा स्वाभाविकता पाई जाती है ।

आलोच्ययुगीन साहित्यिक भाषा-शैली उक्त अन्तिम स्थिति को प्राप्त हो रही थी, अत: उसमें अलंकार-प्रयोग सम्बन्धी सन्तुलन दिखाई पड़ता है । फिर भी जैसा कि कहा जा चुका है, यह युग चूंकि खड़ीबोली-कविता के विकास का युग था, इसलिए तत्कालीन साहित्यिक भाषा में पूर्व-युग की तुलना में अलंकार अधिक प्रयुक्त हुए हैं । हां, इतना अवश्य है कि भाषा की स्वाभाविकता के अनुरूप सामान्य रूप से ग्राह्य कुछ मूल अलंकार ही भावाभिव्यंजक के लिए पर्याप्त समझे गये हैं ।

शब्दालंकार में सबसे अधिक प्रयोग अनुप्रास अलंकार का हुआ है । उक्त युग में भाषा की अनुप्रासिकता की घूम मची हुई थी, किन्तु इसका सम्बन्ध अर्थ से न होने के कारण इन्हें `वर्णविन्यास` के अन्तर्गत रखा गया है(दे०वर्णविन्यास १ ग) इसके यमक तथा श्लेष भी यत्र-तत्र मिलते हैं । अर्थालंकार में सामान्यत: उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा उल्लेख आदि अलंकार प्रयोग में लाये गये हैं । इनमें रूपक अलंकार को सबसे अधिक प्रधानता है । तत्कालीन प्रयोग की प्रवृत्ति एवं प्रकृति के अवलोकनार्थ कुछ अलंकार अधोलिखित हैं --

१.शब्दालंकार

आलोच्य-युग में उक्ति-वैचित्र्य से अधिक भावार्थ पर बल देने की प्रवृत्ति के कारण शब्दालंकार अधिक प्रयोग में नहीं लाये गये । कुछ एक स्थलों पर यमक तथा श्लेषादि प्रयुक्त कर दिये गये हैं, यथा--

(१) यमक -- सम्यो! मेरे हाथ से चली गई यदि जानकी । ।१
दुरवस्था हो जायगी तो फिर मेरी जानकी ।।
मेरे ऐसे धूलिकों से कब तेरे पद को अवकाश ।२
पैरों से ही लिपटा लिपटा कर लूंगा निज पद निर्धार।

१- ~~पंच~~ काव्यवाटिका--रा०च०उपा० । २- खोलोद्धार-- प्रसाद । प्रथम पंक्ति में पद का अर्थ `चरण` तथा द्वितीय पंक्ति में `स्थान` है ।

(१२) श्लेष -- श्लेष के कुछ प्रयोग बहुवर्थक शब्द के अन्तर्गत देखे जा सकते हैं।

२. अर्थालंकार

(१) उपमा -- आलोच्ययुग में सादृश्य वस्तुओं (उपमानों) से किसी वस्तु की तुलना की प्रवृत्ति अधिक वर्तमान होने के कारण उपमा अलंकार पद्य तथा गद्य दोनों शैलियों में ही मिलते हैं, यथा--

असमर्थ मूक समान मुखरा भारती को देख लो[१]
सुत तुल्य ही वे सौम्य उसको मानते थे सर्वदा[२]
थी चित्रकार यहां स्त्रियां भी चित्ररेखा-सी कभी[३]
उस मृदुल सिरीष सुमन-सा मैं प्रात धूल में मिलता[४]
हीरे सा हृदय हमारा हमारा ।[५]

\+ + +

जल उठा स्नेह दीपक- सा
मुख कमल समीप सजे थे
दो किसलय-से पुरइन के
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किसके[६]

विजन का-सा विषद विषाद
समय का-सा संवाद
क्रिया का-सा अजस्र आह्वान
गगन का सा आह्लाद
मौन गिरिवर के मुखरित गान
भारती का-सा अक्षय-दान ?

(निर्झरगान)

\+ + +

१- भा०भा० -- गुप्त । २- वही ।
३- वही । ४- आंसू-- प्रसाद
५- वही । ६- वही ।

मार्ग में बिजली के-से दीप

(मुसुकान)

\+ + +

मधु बालों-सी छाया वन की

कलियों का मधु करती गान

(स्वप्न)

\+ + +

जलाशयों में कमल-दलों-सा

हमें खिलाता है दिनकर

पर बालक-सा वायु सकल दल

दल मल जाता चुन चुन कर

(बादल)[1]

छायावादी कवि `प्रसाद` तथा `पंत` की कविताओं में विभिन्न कोटि के उपमालंकारों की झड़ी-सी लग गई है, जैसा कि उक्त उदाहरणों से लक्षित होता है ।

इनकी कविताओं में संकेतात्मकता तथा प्रतीकात्मकता अधिक होने के कारण `समानधर्म लुप्तोपमा` अलंकार अधिक पाये जाते हैं । इस शैली की पुष्टि इनके समवर्ती तथा परवर्ती अन्य साहित्यकारों के प्रयोगों से भी हुई है ।

(३) रूपक -- जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, आलोच्य-युग में सबसे अधिक प्रयोग रूपक अलंकार का हुआ है । भाव एवं वस्तुजगत के अनेक उपकरणों में लक्षणार्थ का आरोप करके उपमेय के रूप में उन्हें अवस्थित करके लेखकों और कवियों ने अपनी अभिव्यक्तिक सुरुचि का परिचय दिया है । तदनुरूप रूपक अलंकार का प्रयोग तत्कालीन गद्य एवं पद्य दोनों शैलियों में सम्यक्रूप से पाया जाता है ।

जहां तक रूपकों की प्रकृति की बात है, विभिन्न उपमानों एवं प्रतीकों को वे आरोप से निर्मित कुछ अलंकार इस प्रकार है --

----

१- सर०हीर०अंक में संगृहीत पंत की विभिन्न कविताओं से उद्धृत ।

अम्बर-पनघट	आनन्द-गगन	उपासना की गंगा
उत्साह-जल	ऊषा-नगरी	कविता-लता
कामना-सिन्धु	काव्य-रस	कीर्ति-कौमुदी
ग्रन्थ -रत्न	चर -कमल	चांदनी जल
ज्ञान -भानु	तनु-छवि-कर	तारा-घट
दु:ख का तुषार	पलक-प्याला	पाद-पद
भय- गज	मन-मन्दिर	मनुज- केसरी
मानव जीवन-वेदी	मुख-कमल	मुख-चन्द्र +
	मोह-निशा	यशोधन
वदन-विधु +	विचार के बीज	विद्रत्न
विधु-मुख +	श्वास-सौरभ	साहित्य-रत्नाकर
सुख-शैय्या	सुख समीर	सौभाग्य-सुधाकर
हृत्पटल आदि[1]		

रूपकों की प्रयोगिक-पद्धति में 'निरंग रूपकता' तो सामान्य रूप से वर्तमान है, किन्तु बहुविध रूपकों के प्रयोग की प्रवृत्ति से सांग एवं पारम्परित रूपकता की शैली के उदाहरण पद्य एवं गद्य दोनों में अधिक मिलते हैं। यहां तक कि रूपकों की शृंखला से कहीं-कहीं सम्पूर्ण प्रसंग ही रूपकमय हो गया है। उदाहरणार्थ--

(1) पद्य में -- कीर्ति कौमुदी से वे अपनी विमल चन्द्र बन जाते हैं
+ + +
मनुज-केसरी इस भव-वन में भय गज मार भगाते हैं
पड़े लोह-पिंजड़े में तो भी घास कदापि न खाते हैं।[2]

+ - उपरि-अंकित उदाहरणों में 'मुख-चन्द्र' अथवा 'चन्द्रमुख' का प्रयोग तो सामान्यत: होता है, किन्तु चन्द्रमा के स्थान पर समानार्थक शब्द 'विधु' का आरोपण युग-प्रयोग की विशेषता है (दे०सर०भाग ६ सं०१, पृ०१४ (कविता)--सत्यराम रतूड़ी) तथा प्रियप्रवास-हरिऔध, पृ०५२)। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन दिनों चन्द्रमा के स्थान पर विधु का प्रयोग काव्य में अधिक होने लगा था।

१- द्विवेदी, बख्शी, गुप्त, प्रसाद, पंत, बदरीनाथ भट्ट, हृदयेश आदि की कृतियों तथा 'सरस्वती' की कुछ प्रतियों से उद्धृत। २-सर०भाग १७, ख०१, स०३

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
विश्वास मलय के झोंके
मुख-चन्द्र चांदनी जल से
मैं उठता था मुंह धोके
थक जाती थी सुख-रजनी
मुख-चन्द्र हृदय में होता
श्रम-सीकर सदृश नक्षत्र से
अम्बर-पट भींगा होता [१]

जल रही छाती तुम्हारी प्रेम-वारि मिला नहीं ।
इसलिए उसका मनोगत-भावफूल खिला नहीं ।। [२]

लोनी लोनी लतिकाएं
दु:ख के तुषार की मारी
है नित्य सूखती जाती
भोली माली बेचारी [३]

(उक्त उदाहरण में प्रस्तुत[४]अप्रस्तुतयोजना द्वारा...... अभिव्यंजना शैली की विशेषता है।)

चित्तौर चम्पक हो रहा यद्यपि यवन अलि हो गए [५]
परदे में सुख का घर है सम्पदा स्वयं है चेरी [६]
भारतेन्दु कर गए भारती की वीणा निर्माण

+ + +

शत-शत युग-स्तंभों में ताने
स्वर्णिम कीर्ति-वितान ।

+ + +

आर्य, आपके यश:काय को करें
सुरक्षित नित्य

कल्पना के ये शिशु नादान[1]

कविवर पंत ने कहीं कहीं सम्पूर्ण प्रसंग को प्रतीकात्मक बनाकर रूपक की जो छटा प्रस्तुत की है वह कवि की अलंकारप्रियता का रोचक उदाहरण है,यथा--

साम्राज्यवाद का कंस वन्दिनी
मानवता पशु-बलाक्रान्त,
शृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद शक्ति-भ्रान्त;
कारा-गृह में दे दिव्य-जन्म
मानव-आत्मा को मुक्त कान्त
जन-शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद- प्र त शान्त ।
कारा की संस्कृति-विगत; भित्ति
बहुधर्म-जातिगत रूप-नाम
बन्दी जग,जीवन,भू-विभक्त
विज्ञान-मूढ़ जन प्रकृति-काम[2]

(II) गद्य में-- पद्य तो अलंकार-धारण करने का पूर्णत: अधिकारी है ही,तत्कालीन गद्य रचनाओं को भी रोचक बनाने के उद्देश्य से उनमें सांग अथवा पारम्परित रूपक की शृंखला बांधकर लेखकों ने अपनी भाषाभिव्यंजना सम्बन्धी दक्षता का परिचय दिया है, यथा--

---

(विगत पृष्ठ की टिप्पणी)
६- मा०मा० -- गुप्त ।   ६- द्वि०अभि०ग्र०-- गोपाल०सिंह ।
७- द्वि०अभि०ग्र०-- पंत ।   ८- सर०हीर०अंक-- पंत ।
१० सर०हीर०अंक `बापू के प्रति` -- पंत । पंत की इस रचना का

१- सर०हीर०अंक-- पंत ।
२- सर०हीर० अंक `बापू के प्रति` -- पंत । पंत की इस रचना का प्रकाशन-काल यद्यपि द्विवेदी-युग की सीमा-निर्धारण के तीन वर्ष पश्चात(१९३६ई०) का है फिर भी कवि की तत्कालीन प्रवृत्ति के द्योतक रूप में यह कृति उपयुक्त है ।

. हमारी भाषा की कविता-लता सूखने नहीं पाई । कविजन अब तक उसे अपने काव्य-रस से बराबर सींचते रहे[1] ।

. भारत की हर एक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं । जगह जगह उसके अंकुर भी निकलने लगे हैं । उसको सींचना एवं उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है[2] ।

. इस इतिहास मन्दिर की दीवारें जिस नींव पर खड़ी हो सकती हैं वह एकमात्र उन्हीं की साहित्य-सेवा है[3] ।

. इन सब ने बल्लभीय सिद्धान्तों की धूम मचा कर श्रीकृष्ण की उपासना की एक गंगा बहा दी थी जिसने समय के प्रभाव से मलान हुए हिन्दुओं के हृदयों को धोकर पवित्र कर दिया[4] ।

पद्य की भांति गद्य में भी अप्रस्तुतयोजना की शृंखलाबद्धता द्रष्टव्य है --

फिर भी मैं वहां के साहित्य-रत्नाकर में डुबकियां लगाकर जनता के हित के लिए रत्न निकालने का प्रस्ताव करता हूं । पर भूलकर भी यह सलाह मैं नहीं दे सकता कि जनता व उसका कोई बड़ा अंश गोताखोरी सीखे । यह काम अल्पसंख्यक विद्वानों का है । वही विदेशी साहित्य-रत्नाकर से रत्न निकाल कर मातृभाषा का भाण्डार भरे, वही विभिन्न तीर्थों से सलिल संग्रह कर अपने साहित्य-क्षेत्र का यथा समय और यथास्थान सिक्त किया करे[5] ।

चण्डीप्रसाद हृदयेश जी की गद्य भाषा की अलंकारिता काव्य का-सा सौन्दर्य प्रस्तुत करती है, यथा--

नंदननिकुंज जिसके चरण कमलों के स्पर्श से रोमांचित होने के लिए लालायित हो रहा है जिसके श्वास-सौरभ पर बलिहार होने के लिए कल्पना-कोकिल व्याकुल हो रही है, जिसके पाद-पद्म के पराग को सिर पर धारण करके नृत्य करने के लिए सुख-समीर चंचल हो रहा है, वे राजराजेश्वरी यदि कभी कृपा करके अपने इस अकिंचन माली के सजाए,हुए निकुंज में पधार कर कृतार्थ करेंगी तो अवश्य ही उसके आनन्द गगन में सौभाग्य-सुधाकर हंसकर पीयूष धारा से उनके पाद-पद्म का प्रक्षालन करेगा[6] ।

(३) उल्लेख -- किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का विभिन्न रूपों में अवलोकन करने अथवा उनके गुणादि का एक अथवा अनेक पात्रों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन करने के अभिप्राय से उल्लेख अलंकार का प्रयोग तत्कालीन कृत कृतियों में हुआ मिलता है, यथा--

तू ज्ञान हिन्दुओं में इमान मुस्लिमों में ।[१]
विश्वास क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में ।

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख-सुहाग की है लाली
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली[२]

जीवन के जीवन प्रकाश के
प्रकृति प्रकाशक, परिचायक
सर्वश्रेष्ठ अनुभव के दाता
बाह्य-इन्द्रियों के नायक
तिमिरार्णव के युगल ज्योतिमय
जलयानों के दो पतवार
धृति के दक्षिण कर, मति के पर
अन्वेषण के प्राणाधार ।[३]

सच्चा प्यारा सकल व्रज का, वंश का है उजाला,
दोनों का है परम धन औ, वृद्ध का नेत्र-तारा ।
बालाओं का प्रिय स्वजन औ, बन्धु है बालकों का,
ले जाते हैं सु-रतन कहां आप ऐसा हमारा ?[४]

कविवर पंत ने अपने व र्यं उपमानों तथा प्रतीकों की व्याख्या जो अनेक विशेषण एवं संज्ञाओं द्वारा है, उससे कहीं कहीं उल्लेख की रोचक कड़ी निर्मित हो गई है, उदाहरणार्थ--

----

१- अन्वेषण--राम०न०त्रिपाठी । २- शिशु-सुभद्रा०चौहान । ३-सर०हीर०अंक--अनादि प्र० श्रीवास्तव,र०काल १६२७ । ४- प्रियप्रवास-- हरिऔध ।

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर
मेघदूत की सजल कल्पना
औ चातक के जीवन घर
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर
सुभग स्वाति के मुक्ताधार
विहग-वर्ग के गर्भ-विधायक
कृषक बालिका के जलधर
+ + +
हम सागर के धवल हास हैं
जल के धूम गगन की धूल
अनिल फेन ऊषा के पल्लव
वारि-वसन वसुधा के मूल
नभ में अवनि अवनि में अम्बर
सलिल भस्म मारुत के फूल,
हम ही जल में थल,थल में जल,
दिन के तम पावक के तूल [१]
(बादल)

कवि की 'बादल' नामक कविता सर्वत: उपमा तथा उल्लेख अलंकारों से पूर्ण है । उदाहरण भी द्रष्टव्य है,यथा--

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र
तुम त्रस्त-ध्वस्त, तुम शुष्क-शीर्ण ,
हिम-ताप-पीत मधु बात भीत,
तुम वीतराग, जड़,पुराचीन
निष्प्राण विगत युग। मृत विहंग

१- सर०हीर०अंक ।

जड़ नीड़ शब्द औ' श्वास हीन
च्युत अस्त-व्यस्त पत्रों से तुम
झर झर अनन्त हो विलीन[1]
(पतझड़)

(४) उत्प्रेक्षा--

तत्क्षण दुर्योधन के दल में अट्टहास यों भास हुआ--
चंचल करता हुआ को मानो इन्दु-विकास हुआ[2]

काली आंखों में कितनी यौवन के मद की लाली
मानिक-मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली[3]

कहते हुए यों पार्थ के दो बूंद आंसू गिर पड़े
मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोती बड़े[4]

इससे कुछ दूर तक गंगा जल गंदला हो गया
और ऐसा मालूम होने लगा मानो अपना
अन्त:क्षोभ दिखाने-- अपना
क्रोध प्रकट करने-- के लिए ही गङ्गा नेकलुषत्व
-- मैलापन-- धारण किया है

\+ + +

अतएव, अपने को अपराधिनी समझकर,
मानो अप्सराओं के भय से ही, गङ्गा की तरङ्गे
बारबार कम्पायमान होने लगी[5]

आगे चलकर उपमा तथा रूपक की तुलना में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कम होने लगा ।

१- सर०हीर०अंक । २- सर०भाग ११ सं०६-- गुप्त । ३- आंसू-- प्रसाद
४- जयद्रथवध-- गुप्त । ५- किराता०-- द्विवेदी ।

(५) दृष्टान्त--

हा हा वही मही निज कर से, तूने ऐसे फेंको आज
सिर से हार फेंक देता है, जो महामद गजराज[१]

कुकुम-शोभित गोरज बीच से
निकलते व्रज-वल्लभ यों लसे
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा
विलसता नभ में नलिनाश है ।[२]

सन्देह-- दृग-दल-पलक कमल-दल के समान[३]
ओस-बिन्दु है या अश्रु-बिन्दु का ढलकना ?[४]

इनके अतिरिक्त यद्यपि अन्य अलंकार भी यत्र-तत्र प्रयुक्त मिलते हैं, किन्तु बहुलता सादृश्य मूलक एवं लक्षणा अलंकारों की ही है और अर्थ में लाक्षणिकता के निरूपण की दृष्टि से उक्त प्रकार के अलंकार ही अध्ययनीय हैं ।

तत्कालीन छायावादी कवियों ने जिन मूर्त-अमूर्त, प्राकृतिक एवं भौतिक उपमानों का प्रयोग किया है, उनमें अधिकांश उपमान नवीन हैं । प्रस्तुत में अप्रस्तुत की अवतारणा में `प्रसाद`, `निराला`, एवं `पंत` जैसे कवियों ने प्राकृतिक उपादानों की झड़ी लगा दी है । उदाहरणार्थ--

<u>वस्तुगत उपमानों में</u>-- अंचल, अम्बर, अश्रु, आंसू, उपहार, उर, उर्मि, ऊषा
ओस, कलिका, कालिन्दी, किसलय, केश, क्षितिज
गात, घट, छाया, जलधर, टटिनी, तारक, दीप,
दीपक, निर्झर, निशा, पंकज, पतंग, पराग, पल्लव,
पुलिन, प्रभात, बीज, मोर, मदिरा, मधु, मलयज, मारुत,
मुक्ता, मोती, रजत,[५] रजनी, रश्मि, राका, विहग, विहंगिनि,
लहर, शशि, शिरीष-सुमन, शैलमाला, सन्ध्या, सरोज,
सौरभ, स्वर्ण[७], हीरक आदि ।

१-सर०हीर०अंक (किराता०से उद्धृत)--द्विवेदी । २-प्रियप्रवास--हरिऔध ।३- इस पंक्ति में उपमा अलंकार है । ४-सर०हीर०अंक--प्रणयेश शुक्ल-र०काल १६३१। ५,७-कविवर पंत ने `रजत` एवं `स्वर्ण` जैसे उपमानों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है । विशेषत: `स्वर्ण` संबंधी मूल
(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

तथा

<u>भागवत उपमानों में</u>-- आह्लाद, करुणा, कल्पना, छाया[1], तन्द्रा,
निस्पन्दन, मुक्ति, मोह, लालसा, विषाद,
स्पन्दन, हर्ष, हास आदि

उपमाओं का आरोपण उक्त कवियों के लक्षणार्थक प्रयोग की नवीनता का परिचायक है । इस प्रकार के शब्द-चयन की प्रवृत्ति तत्कालीन अन्य साहित्यकारों के कृतित्वों में भी दृष्टिगत होती है ।

ख.३. व्यंग्यार्थ

शब्द अथवा शब्द-समूह की व्यंजना शक्ति द्वारा उद्भूत अभिधार्थ अथवा लक्षणार्थ से भिन्न 'अर्थ' व्यंग्यार्थ होता है । वस्तुत: व्यंग्यार्थ का निरूपण वक्र कथन में ही होता है और साहित्यिक-भाषा में उक्त कोटि के कथन प्राय: विषय-वस्तु पर निर्भर करते हैं । अत: जहां तक द्विवेदी-युगीन साहित्यिक भाषा में व्यंग्यार्थकता की सम्भावना का प्रश्न है, उक्त युग में अधिकांश कृतियों की प्रतिष्ठा गम्भीरता की भाव-भूमि पर होने के कारण उनकी भाषा में व्यंग्यार्थकता का समावेश अपेक्षाकृत कम हुआ है । इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है, वह यह है कि कथ्य से भिन्न अर्थ होने के कारण कुछ अंशों में लक्षणार्थ व्यंग्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ लक्षणार्थ हो सकता है, किन्तु अभिधार्थ व्यंग्यार्थ नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थकता का दोष 'लक्षणार्थ' शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये उन शब्दों अथवा शब्द समूहों में भी किया जा सकता है, जिनके कथन में वक्रता वर्तमान है । उनके अतिरिक्त कुछेक उदाहरण इस प्रकार हैं --

---

(विगत पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी)
एवं व्युत्पन्न शब्दों का प्रयोग आपने इतने विविध अर्थों में तथा इतने अधिक स्थलों पर किया है कि इसे आपकी विशेषता स्वीकार करना अनुचित न होगा । 'स्वर्ण' के बहुवर्धक प्रयोग के लिए दे० इसी प्रकरण में क.२.) ।
६- प्रयोग उस मृदुल शिरीष-सुमन सा मैं प्रातधुल में मिलता (आंसू - प्रसाद)

१-'छाया' शब्द का प्रयोग छायावादी कवियों ने प्राय: 'भाव' के रूप में ही किया है, अत: यह युग-विशेष की विशेषता के अन्तर्गत आता है ।

हाथ मिलाने वालों पर क्या अच्छा चोट है ?[1] |
+ + + |[3]
कैसे मार्के की बात, कैसे अच्छे ढंग से कहा गई है |
समझने वालों की बस मौत है ।[2] |

हिन्दी के पाठक इसका क्या अर्थ समझते होंगे, यह परमात्मा ही जाने ।[4]

सुशील के आंखें हैं..... सुशील अन्धा नहीं है । वह इन सब परिणामों को अपनी आंखों से ही तो देख चुका है....[5]

इसी तरह हंसते हंसते जन्म भर बनी रहूंगी ।[6] वे देखते रह जायेंगे

सुख से वंचित बेचारा है प्यार ठोकरें खाता ।[7]

व्यंग्यार्थकता प्राय: प्रश्नसूचक कथन से भी सूचित होती है, यथा--

यही समय जागने का है, मर जाने पर क्या जागोगे ?[8]

'मृत्यु के पश्चात् जागना असम्भव है' यह न कहकर वक्ता ने व्यंग्यार्थ में उपर्युक्त रेखांकित प्रश्नसूचक वाक्य का प्रयोग किया है, इसी प्रकार --

उपन्यास में कोई घटना ऐसी नहीं दी जानी चाहिए जो अन्तलक रहस्यमयी और गुप्त रहे-- इससे क्या लाभ ?

क्या केवल मामी लिखने से काम न चलता ?[9]

सुशील का इसमें क्या दोष?[10]

उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमश: 'मामी लिखने से काम चल जाता', 'इससे कोई लाभ नहीं', 'सुशील का इसमें कोई दोष नहीं' आदि विधानार्थक वाक्यों में व्यंग्यार्थकता का विधान करके प्रश्न सूचक कर दिया गया है ।

१- 'चोट' मारने अथवा खाने की क्रिया कभी अच्छी नहीं मानी जाती, किन्तु किसी क्रिया को सफलीभूत प्रतिक्रिया में उक्त शब्द का प्रयोग कर भाव पर बलाघात किया गया है ।
२- इस वाक्य में 'कथित विषय' को समझने वालों के लिए अधिक कठिनाई की वस्तु होने के कारण वक्र कथन के द्वारा उस कठिनाई को 'मौत' शब्द में निहित कर दिया गया है ।
३-निबन्ध-निचय-- जग०चतु० । ४- वही । ५-अनाथपत्नी--भग०बाज० । ६- वही ।
७- द्वि०अभि०ग्र०-- गोपाल सिंह । ८- निबन्ध-निचय--जग०चतु० ।
९- अनापत्नी --भग०बाज० । १०- वही ।

६.ग.लोकोक्तियां एवं सूक्तियां

विषय-वस्तु की अर्थवत्ता को प्रभावपूर्ण बनाने में लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का भी विशेष हाथ रहा है । विषय की व्याख्या करने में इनसे अभिप्रेतार्थ की पुष्टि होती है । लोकोक्तियों के प्रयोग के लिए भाषा का जन प्रयोग के अनुकूल होना अपेक्षित है,अत: द्विवेदी-युग में जैसे-जैसे भाषा परिनिष्ठता का बाना धारण करने लगा,वैसे-वैसे उससे लोकोक्तियों का लोप होने लगा और उसकी जगह अन्य किसी महान व्यक्ति के मुख से निसृत वाणी अथवा पौराणिक एवं साहित्यिक सूक्तियों ने लेना आरम्भ कर दिया। इन सूक्तियों में संस्कृत की सूक्तियां विशेष हैं,किन्तु आगे चलकर इनका प्रचलन भी लगभग समाप्त हो गया । तात्पर्य यह है कि भविष्य में दूसरों के कथनों द्वारा अपने मन्तव्य की व्याख्या करना आवश्यक न समझकर अपनी ही भिन्न-भिन्न उक्तियों से विषय को स्पष्ट कर ही अधिक उपयुक्त समझा । ऐसी स्थिति में उत्तर द्विवेदीकाल की कृतियों में लोकोक्तियों,कहावतों एवं सूक्तियों का प्रभाव अधिक नहीं है, फिर भी युग-विशेष में प्रयोग में आने वाले कुछ कहावतों एवं सूक्तियों को उद्धृत करना आवश्यक है ।

ग.१.लोकोक्तियां

लोकोक्तियां भाव प्रकाशन-गुण की सादृश्यता के अनुरूप मुहावरों की ही कोटि में आती हैं, किन्तु रचना की दृष्टि से स्वयं में पूर्ण होने के कारण ये मुहावरों से भिन्न होती हैं । लोकोक्तियां जन-समाज की उक्ति होने के कारण अधिकांशत: मौखिक भाषा में ही व्यवहृत होती हैं । लिखित भाषा में वहीं व्यवहार में लाई जाती है,जहां भाषा में ग्रामीणता अधिक हो अथवा वह भाषा जन-समाज के अधिक निकट हो यही कारण है कि द्विवेदी-युगीन साहित्यिक भाषा में इनका प्रयोग बहुत कम मिलता है । अत: तत्कालीन साहित्यिक भाषा में प्रयुक्त लोकोक्तियों की प्रकृति मात्र जानने के लिए दो-चार उदाहरण प्रस्तुत हैं --

लोकोक्तियां	प्रयोग
जादू वही जो सिर पर चढ़ कर बोले --	१

१- प्रयोग दे०विश्वप्रेम और विश्व सेवा-- गुलाबराय ।

लोकोक्तियां	प्रयोग
जितने मुंह उतनी बातें	-- जितने मुंह उतनी बातें । फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जो एक दूसरे के की राय से नहीं मिलती[१] ।
नाई की बारात में सभी ठाकुर	--. कोई किसी की नहीं सुनता-- नाई की बारात में सभी ठाकुर हो रहे है[२]
	. बंगला में एक मुहावरा है 'भूतों के बाप का श्राद्ध करना' इसका मतलब है 'नाई की बारात में सभी ठाकुर' पर एक अनुभवी अनुवादक ने हिन्दी[३] में भी भूतों के बाप का ~~श्राद्ध~~ श्राद्ध कर डाला ।
सब पोले बांस वेणु नहीं बन सकते	--. जब मैं कुछ न बन सका तब मैंने कवि बनने को ठानी[४] हाय । कहीं सब पोल बांस वेणु बन सकते ।
मर्गे अम्बोह जशने दारद	-- . वह हमें सुखी भी कर सकती है, दुखी भी । फारसी में मसल है[५] ' मर्गे अम्बोह जशने दारद'

वस्तुत: तत्कालीन कृतियों में लोकोक्तियां इतनी विरल हैं कि उन्हें सुगमतापूर्वक ढूढ निकालना भी सम्भव नहीं है ।

३.२.सूक्तियां

जैसा कि कहा जा चुका है, द्विवेदी-युग में हिन्दी के परिष्कार के साथ उसमें से लोकोक्तियों का प्रयोग समाप्त होता रहा और उनका स्थान सूक्तियों ने लिया । सूक्तियों का प्रयोग स्वयं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अधिक किया है । उनके अतिरिक्त उन्हीं की शैलियों को अंगीकार करने वाले कतिपय लेखकों की रचनाओं में भी इनका प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है । किन्तु आगे चलकर इनके प्रयोग का प्रचलन भी समाप्त होने लगा था ।

१- सा०सी०-- द्विवेदी ।　　२- निबन्ध निचय --जग०चतु० ।

३- वही ।　　४- द्वि०पत्रा०-- आचार्य देव-- गुप्त ।

५- चिन्तामणि -- शुक्ल - अर्थ- मृत्यु के अवसर पर एकत्रित भीड़ भी एक बड़ा उत्सव हो जाती है ।

युग-विशेष में प्रमुखता तो संस्कृत सूक्तियों की ही रही है, किन्तु कहीं-कहीं हिन्दी के कथन भीवर्तमान हैं। उदाहरणार्थ कुछ सूक्तियां अधोलिखित हैं --

सूक्तियां	प्रयोग
परेङ्गितज्ञानफलाहि बुद्धय:	-- मुझे इस पोपले मुंह से कहना शोभा नहीं देता `परेंगितज्ञानफला हि बुद्धय:`
हैमदु:खमनागतम्	-- पुराना भूलों पर पछतावा व्यर्थ, `हैमदु:खमनागतम्`[2]
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैतितदेवं रूपं रमणीयताया:	-- आपकी `कजरग्राम` और `योगी` तो इतना ललित और स्वाभाविक है कि अनेक बार पढ़ने पर भी फिर फिर पढ़ने को जी चाहता है। कहा भी है `क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:`[3]
पापान्निवारयति यो जयते हिताय	-- इसलिए हम आपके कृतज्ञ हैं `पापान्निवारयति यो जयते हिताय` इस नियम का पालन यदि मित्र ने न किया तो वह मित्र ही नहीं[4]
सत्येनास्ति भयं क्वचित्	-- तिसपर भी जो हम सर्वसाधारण के विश्वास के विरुद्ध लिख रहे हैं उसका कारण है-- `सत्येनास्ति भयं क्वचित्`[5]
तितीर्षुर्दुस्तरंमोहादुडुपेनास्मिसागरम्	-- `अपनी अल्प विषयामति: और उससे अधिक स्वल्पतर एवं सीमित ज्ञान के और अध्ययन के उडुप के (घड़े और बांसों के पोत) सहारे आलोचना महासागर के पार जाने की इच्छा करना दुस्साहस नहीं तो क्या? `तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्` की उक्ति को मैं कवि-कुल -गुरु कालिदास की अपेक्षा कुछ अधिक सत्य और सार्थकता के साथ कह सकता हूं[6]

सूक्तियां	प्रयोग
जन्मना जायते शूद्रा	--जो 'जन्मना जायते शूद्रा' मानने वाले हैं, उनके लिए कठिनाई ही क्या ?[1]
अकरणात् मन्दकरणाम् श्रेय:	-- हिन्दुओं का एक सिद्धान्त है कि 'अकरणात् मन्दकरणाम् श्रेय:' और इसी सिद्धान्त पर आरूढ़ होकर मुझसे उचित वा अनुचित यह साहस हुआ है[2]
जो जस करै सो तस फल चाखा	-- गोस्वामी तुलसीदास जी बेवकूफ नहीं थे, जो साफ़ साफ़ लिख गए हैं-- 'जो जस करै सो तस फल चाखा।' जैसा तिवारी जी ने किया, जिस तरह से उन्होंने धोखा दिया, वैसा उन्हें फल मिल गया[3]
जब लौं फुलै न केतकी तब लौं बिलम करील	--...तब तक यह अपने सहज रूप में आप लोगों के ज्योतिविकीरणकारी उज्ज्वल चक्षुओं के सम्मुख है और एक सहृदय कवि के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर यह प्रार्थना करता है 'जब लौं फुलै न केतकी, तब लौ बिलम करील'[4]

आलोच्ययुगीन अर्थ-निर्धारण-सम्बन्धी उपर्युक्त समीक्षाओं तथा सम्बन्धित उदाहरणों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि युग विशेष में विभिन्न शैलियों के विस्तार के साथ-साथ भाषा की अर्थवत्ता का विकास भी व्यापक रूप से हुआ ।

-o-

१-अनाथ०--मग०बाज० । अर्थ--जन्म से ही शूद्र ।

२-प्रियप्रवास --हरिऔध । अर्थ--न सुनने से थोड़ा सुनना अच्छा है ।

३- अनाथ० --मग०बाज० ।

४- प्रियप्रवास-- हरिऔध ।

ਲਿਪਿ / ਲੇਖਨ-ਸ਼ੈਲਾ

लिपि/लेखन-शैली

द्विवेदी-युग में ध्यानाकर्षण का प्रमुख केन्द्र था-- भाषासुधार, अत: लिपि-योजना सम्बन्धी विषय लगभग अनपेक्षित ही रहा । युग के अन्तिम चरण में कुछ महानुभावों का ध्यान नागरी लिपि की कुछ लेखन सम्बन्धी असुविधाओं एवं छापे की कठिनाइयों की ओरगया अवश्य और उनकी ओर से सुधार के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी दिये गये(दे० खं० एक-- २.५. लिपि सम्बन्धी समस्या) किन्तु भाषासुधार की भागदौड़ में यह विषय पीछे ही छूट गया, उसे व्यवहारिक रूप लगभग नहीं दिया जा सका। ऐसी दशा में लिपि संबंधी स्थिति, कुछ स्वाभाविक परिवर्तनों को छोड़कर प्राय: पूर्ववद ही बनी रही ।

नागरी लिपि के जो ध्वनि चिह्न मुद्रण एवं लेखन में समानरूप से व्यवहृत होते हैं, अथवा जिन ध्वनियों के लिए एक ही संकेत-चिह्न का व्यवहार होता है, उनके उल्लेख की यहां आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । उनके अतिरिक्त अन्य तत्कालिक लिपिचिह्नों अथवा लेखन सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है --

१. वर्ण - द्वैध --

(१) `अ` तथा `अ` रूपों में `अ` रूप की ही प्रधानता मुद्रण तथा हस्तलेखन दोनों में ही है । `अ` रूप का प्रयोग कुछेक मुद्रित तथा हस्तलिखित रचनाओं में मिलता है । किन्तु प्रयोग की प्रक्रिया से ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर द्वितीय रूप के प्रयोग की प्रवृत्ति व्यापक रूप लेने लगी थी विशेषत: हस्तलिखित कृति में ।

(२) `झ` तथा `झ` में `झ` रूप का ही व्यवहार अधिक हुआ है। `झ` रूप का प्रयोग यत्र-तत्र ही मिलता है ।

(३) भारतेन्दु-युग में `णत्व` के लिए `ण` चिह्न का ही प्रचलन था किन्तु द्विवेदी-युग में `ण` भी प्रयोग में आ गया था तथा लिपि सम्बन्धी सुझावों में `ण` चिह्न के प्रयोग पर ही बल दिया गया था-- विशेषत: दूसरे वर्णों के साथ के संयोग

में । क्योंकि संयुक्त होने पर `श` के स्वर रहित रूप `श` में `र` के साथ आ (ा) की मात्रा का भी भ्रम हो जाता है । द्विवेदी जी ने यों तो पूर्ण रूप में `श` का ही प्रयोग किया है, किन्तु स्वर रहित रूपमें `ण` रूप अपनाया है, जैसा कि `सरस्वती` की हस्तलिखित प्रतियों में किये गये कुछ सुधारों की लिपि से ज्ञात होता है, यथा--

मूल-- पं० | 1
सुधार -- पण्डित |
मूल -- खंडन | 2
सुधार -- खण्डन |

वैसे उत्तर द्विवेदी काल तक `ण` के प्रयोग में वृद्धि होने लगी थी और आज भी `श` `ण` की द्वैधता वर्तमान है ।

(4) `त` लिपि मुद्रण में तो सर्वत्र समान है किन्तु मुद्रण और हस्त लेखन में अन्तर है । हस्तलिपि में कतिपय लेखकों को छोड़कर अधिकांश लेखकों के द्वारा `त` रूप व्यवहृत है, किन्तु आज इसको प्रथा नहीं रही । आधुनिक लेखन में इसका रूप मुद्रण का ही अनुसरण करता है ।

(5) `फ` की हस्तलिपि में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी की लिपि की भांति कहीं-कहीं `फ` रूप भी मिलता है । द्विवेदी जी ने भी आरम्भिक रचनाओं में इस रूप का प्रयोग किया है[2,3] ।

(6) `भ` के मुद्रण और लेखन में प्राय: एक ही रूप व्यवहृत हुआ है किन्तु कामताप्रसाद गुरू के हस्तलेखन में `भ` रूप भी मिला है[4] । वस्तुत: ऊपर शिरोरेखा न देकर लिखने में उक्त रूप के प्रयोग के कारण `म` - `भ` में भ्रम नहीं उत्पन्न होता ।

(7) `ल` तथा `ल` रूपों में `ल` रूप सामान्यत: व्यवहृत हुआ है । `ल` रूप का प्रयोग मुद्रण में कहीं-कहीं होने लगा था । किन्तु हस्तलेखन में लिखने की सुविधा के

1-सर०पां०1919-- बदरीनाथ भट्ट की कृति । 2- वही--गुरू की कृति । 3- दे०सर० पां०1909 तथा द्विवेदी जी की आरम्भिक कृतियां । 4- दे०सर०पां० 10 1908 ।

कारण `ल` रूप ही ग्राह्य हुआ । आज मुद्रण में `ऌ` रूप का प्रयोग भी पूर्व की अपेक्षा अधिक होने लगा है ।

(८) `श` - `श` में `श` रूप अधिक व्यवहृत है किन्तु आगे चलकर `श` रूप भी समानान्तर पर आ गया ।

(९) `क्ष` एवं `क्ष` में अधिक प्रयोग `क्ष` रूप का ही है तथा हस्तलिपि के रूप में भी `क्ष` का प्रयोग ही अधिक हुआ है ।

(१०) `ज्ञ` तथा `ज्ञ` रूप में प्रथम रूप सर्वत्र मिलता है द्वितीय रूप का उस काल में विरल प्रयोग मिलता है ।

(११) उक्त प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य कुछ लिपिचिह्नों की बनावट अलग-अलग हाथ पर निर्भर करती है । और वह भेद कुछ अंश तक द्विवेदी युग के लिपि चिह्नों में विद्यमान है ।

२. वर्ण-संयोग-पद्धति

वर्णों के संयोग में द्विविध रूप देखने में आते हैं यहां तक कि प्राय: एक ही लेखक की एक ही रचना में भिन्न भिन्न रूप विद्यमान है चाहे ये रूप लेखक द्वारा प्रयोग की अनिश्चितता के कारण हो चाहे मुद्रण में टाइप की अनेकरूपता के कारण किन्तु इतना तो निश्चित है कि आलोच्य-युग में लेखन सम्बन्धी यह द्विरूपता वर्तमान थी, उदाहरणार्थ--

(१) `क` ~~का~~ कुछ ध्वनियों के साथ संयोग में विभिन्न शैलियां अपनाई गई हैं,जैसे

(i) क्+त के संयुक्त रूप में `क्त` एवं `क्त` दोनों रूप द्विवेदी-युग में मिलते हैं । किसी किसी रचना ~~व~~ के तो एक ही पृष्ठ पर दोनों ही रूप विद्यमान हैं, यथा--

`प्रयुक्त` प्रयुक्त[१]

इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी के हस्तलेख में [२] `क्त` रूप भी मिला है जो भारतेन्दु की लेखन-शैली का प्रतीक है,यथा-- पूर्वोक्त । किन्तु इसी कृति में द्विवेदी जी ने[३] `क्त` रूप का भी प्रयोग किया है, यथा-- वक्ताओं । इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्व रूप को भ्रामक समझ कर द्विवेदी जी ने स्वयं उसका परित्याग करने का प्रयत्न किया है । भ्रामकता इस बात की थी कि `क्+र` के संयुक्त रूप में भी कई लेखकों ने उक्त

१- रसज्ञ-रंजन--द्विवेदी,पृ०१० । २- सर०पा०१९०६ `लिपिलेखन कला` । ३- वही ।

(ऋ) लिपि का ही प्रयोग किया है (दे० `क्+ र ` का संयुक्त रूप) ।

(ii) क्+र --`क्र` रूप तो सर्वत्र प्रयुक्त है, किन्तु कुछ पुरानी परिपाटी पर चलने वाले लेखकों के हस्तलेखन में `ऋ` रूप का भी प्रयोग हुआ है, यथा-- चक्रवृद्धि[1] क्रुद्ध[2] क्रोधित[3] । कहीं कहीं `क्र` लिपि भी विद्यमान है (दे० खण्ड दो--१. विशिष्टताएं रकार के संयोग) किन्तु उक्त दोनों रूपों (ऋ, क्र) का निर्वाह कालान्तर में नहीं हुआ ।

(iii) क्+ल = क्ल, क्ल -- ये दोनों रूप ही तत्कालीन लेखन में मिलते हैं । यद्यपि एकाकी रूप में `ल` पूर्व रूप में ही प्रयुक्त है, किन्तु `क्` के साथ संयुक्त होने पर प्राय: द्वितीय रूप `ल` में परिवर्तित हो गया है ।

(२) ङ् +घ = ङ्घ, ङ्घ -- यद्यपि ये दोनों शैलियां प्रयोग में लाई गई हैं, यथा--सङ्घर्ष[4], सङ्घर्ष[5], किन्तु द्वितीय रूप अधिक उपयुक्त माना गया है । यह और बात है कि आगे चलकर मुद्रण की सुविधा के लिए `ङ` के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होने लगा (दे० खण्ड दो-- १.क पंचमाक्षर संयोग) ।

(३) `ञ्` और `ज` के संयुक्तीकरण में भी द्विरूपता पाई जाती है, यथा--

व्यञ्जन[6], मनोरञ्जक[7]

यहां तक कि एक ही लेखक की एक ही[8] कृति में दोनों रूप प्रयुक्त हैं, जैसे--

पञ्जाबी, पञ्जाबी

इन शैलियों के अतिरिक्त अन्य पंचमाक्षरों की भांति `ञ्` के स्थान पर भी अनुस्वार का प्रयोग उत्तरोत्तर अधिक होने लगा ।

(४) श् + च - श्च, श्च -- ये दोनों रूप द्विवेदीयुगीन भाषा में मिलते हैं । अन्य प्रयोगों की भांति इसके भी दोनों रूप प्राय: एक ही कृति में प्रयुक्त हुए मिलते हैं, यथा--

आश्चर्य[9], आश्चर्यान्वित[10], निश्चल, निश्चय

वर्ण-संयोग की शैली के अन्य उदाहरणों के हेतु (दे० `वर्णविन्यास` में `क` (विशिष्ट) वर्ग के अन्तर्गत रकार संयोग तथा `ख` (सामान्य) वर्ग के अन्तर्गत पाई वाले तथा बिना पाई वाले व्यंजन संयोग ।

३.अनुस्वार-प्रयोग सम्बन्धी विशिष्टता-- ऊपर लगने वाली मात्राओं वाले अक्षर में सामान्यत: तथा नियमानुसार तो अनुस्वार मात्राओं के पश्चात् लगाये जाते हैं,यथा-- `मात्राओं`, `नहीं` आदि । और द्विवेदी-युग में भी इसी नियम के अनुसार लिपि का निर्वाह हुआ है,किन्तु कुछ लेखकों की पाण्डुलिपियों में अनुस्वार के अस्थानिक प्रयोग भी मिलते हैं । स्वयं द्विवेदी जी की आरम्भिक कृतियों में भी इनकी विद्यमानता है, यद्यपि भविष्य में इन प्रयोगों का प्रचलन नहीं रहा । उदाहरणार्थ--

कनिहि[१] , नहीं[२], मात्राओं, अक्षरों[३]

द्विवेदी जी द्वारा १६०४ में रचित `अपर प्राइमरी रीडर` की पाण्डुलिपि में किये गये द्विविध प्रयोग से यह प्रमाणित होता है कि उन्होंने उक्त शैली का प्रयोग संस्कार गत भले ही किया हो किन्तु प्रवृत्ति उनकी सुधारवादी ही थी, यथा--

इज्जत नहीं हुनर नहीं पल्ले टका नहीं
दुनिया में ऐसे जीने का यारा मजा नहीं ।
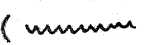
४. शिरोरेखा सम्बन्धी विशेषताएं--

द्विवेदी-युगीन `सरस्वती` की हस्तलिखित प्रतियों में शिरोरेखा सम्बन्धी अधोलिखित शैलियां प्रयोग में लाई गई हैं--

(१) शिरोरेखा रहित लिखने की शैली[४] ।
(२) अर्द्धशिरोरेखा - प्रयोग की शैली[५][६] ।
(३) पूर्ण शिरोरेखा-प्रयोग की शैली ।
(४) कंगूरेदार शिरोरेखा (~~~~~)- प्रयोग की शैली[७] ।

इनके अतिरिक्त शिरोरेखा प्रयोग से सम्बन्धित द्विविधताएं `पद-रचना` में विभक्तियों को सटाकर अथवा हटाकर लिखने में पाई जाती है तथा पूर्वकालिक कृदंतों से बनी क्रियाओं के अन्तर्गत देखी जा सकती हैं(दे०पद-रचना ३.१.३एवं ३.४.(३).(क))।

आलोच्ययुगीन लिपियों की वैधताओं को देखते हुए यह तो कहा जा सकता है कि इस युग में लिपि के सम्बन्ध में कोई विशेष निर्णय नहीं लिया गया ह किन्तु इन अनेक रूप-लिपियों के प्रचलन का परिणाम यह हुआ कि भविष्य में बिना किसी अवरोध के जो लिपि सुविधाजनक लगी, उसे प्रयोग में लाया जाने लगा, अत: लिपि की वैधता भी भाषा की लेखन शैली की विकासशीलता का आधार सिद्ध हुई ।

-0-

अन्त

निष्कर्ष

साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के विकास में द्विवेदी-युग के योगदान का अनुशीलन करने पर परम्परागत हिन्दी की स्थिति की तुलना में उक्त युग की उपलब्धियां स्पष्ट हो जाती हैं। साथ ही भाषा-प्रयोग में नियमितता एवं सतर्कता बरतने में यह युग आज की कसौटी पर भी खरा उतरता है।

जहां तक हिन्दी के प्रचार-प्रसार की बात है, वस्तुत: भाषा को व्यापक रूप देने में द्विवेदी युग का महत्वपूर्ण योगदान है। उक्त युग में हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार का जो शंखनाद गुंजित हुआ उससे भारत का कोई कोना रिक्त नहीं रह सका। उत्तर भारत में तो इसका प्रसार स्वभावत: हो ही रहा था, दक्षिण भारत में भी (जहां आज हिन्दी भाषा का खुलकर विरोध किया जा रहा है) गांधी जी के नेतृत्व में हिन्दी प्रचार का प्रशंसनीय प्रयास किया गया। भारत ही नहीं,अपितु विदेशों में रहने वाले भारतीयों ने भी हिन्दी प्रचार कार्य में पूर्ण योग दिया।

हिन्दी -प्रसार के हेतु इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं, संस्थाओं एवं सभाओं आदि की स्थापना हुई। साहित्य रचना की विविध -विधाएं प्रस्फुटित हुईं। गद्य-रचना तो भारतेन्दु-युग से ही उन्नति की ओर अग्रसर थी, इस युग का महत्वपूर्ण अभियान खड़ीबोली में पद्य-रचना का रहा।

जहां तक भाषा की रचना-शैली तथा प्रयोग- प्रक्रिया की बात है, इस क्षेत्र की प्रगति को देखते हुए अन्य किसी युग से इस युग की तुलना नहीं की जा सकती। सच पूछा जाय तो हिन्दी भाषा के परिष्कार और सुधार का यह अतुलनीय युग था। युग के निर्माता एवं कर्णधार पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के प्रत्येक अंग को गढ़ने से लेकर संवारने-सजाने तक का कार्य स्वयं तो बहुत लगन से किया ही, साथ ही, अन्य भाषा साधकों को भी इस कार्य में प्रवृत्त किया। भाषा के रूप-निर्धारण में तत्कालीन भाषाविद् गोष्ठियां करके पत्र-पत्रिकाओं में अपने -अपने विचारों को प्रकाशित

करके तथा उन विचारों की प्रतिक्रिया में प्रकाशित अन्य विद्वानों-विचारकों के तर्क वितर्क अथवा टीका-टिप्पणियों पर मनन करके अथवा व्यक्तिगत रूप से विद्वानों के साथ पत्र-व्यवहार करके ही कोई निर्णय लेते थे । दोषपूर्ण प्रयोगों के लिए प्राय: आलोचकों के तीक्ष्ण बाण भी सहन करने पड़ते थे और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रयोगकर्ता जहां तक हो सकता था अपने दोषों का परिष्कार करने का भी प्रयास करते थे ।पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक-गण अपनी पत्रिका में प्रकाशित करने के लिए अधिकाधिक रचनाओं को बहुधा स्वीकार कर लेते थे और उन रचनाओं की भाषा-शैली का सुधार स्वयं करके मुद्रित करवाते थे । इस कार्य को द्विवेदी जी ने अपूर्व निष्ठा और लगन के साथ किया और उनकी यह साधना हिन्दी भाषा के विकास में अन्य युक्तियों की अपेक्षा अधिक सफलीभूत हुई ।

तत्कालीन भाषा-साधकों के अतुल प्रयास से साहित्यिक भाषा का परिष्कृत सुसंगठित,सुसंस्कृत एवं परिनिष्ठित रूप उजागर हुआ ।

यों तो यह दावा नहीं किया जा सकता कि द्विवेदी-युगीन भाषा नितान्त परिमार्जित एवं विशुद्ध है-- इस युग के लेखकों ने भी प्राय: त्रुटिपूर्ण प्रयोग किये हैं । तत्कालीन अनेकों भाषासुधारक अपने युग की अनियमितताओं,अनेकताओं से क्षुब्ध होते दिखाई देते हैं । किन्तु उन विविधताओं,विभिन्नताओं एवं द्विविधताओं से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि उस युग में हिन्दी ने कोई निश्चित रूप नहीं लिया था । द्विविधताओं के यत्र-तत्र वर्तमान रहने पर भी युग की विशिष्टता यही है कि इस युग में भाषा-संस्कार -सुधार की प्रवृत्ति कुछ तो स्वभावत: तथा कुछ वातावरण की आवश्यकतानुसार व्यापक हो चली थी । यह और बात है कि परिस्थिति चाहे कितनी ही बलवती क्यों न हो परम्परा को तोड़ने अथवा संस्कार में परिवर्तन करने में उसे समय तथा शक्ति दोनों का व्यय अधिक मात्रा में करना पड़ता है । युगप्रवर्तक स्वयं द्विवेदी जी का कथन था कि 'भाषा में परिवर्तन लाना किसी एक दिन का काम नहीं है और न ही एक व्यक्ति का काम है-- यह काम सुधार अभ्यास से हो सकता है ।' अत: आलोच्य-युग में भाषा में सुधार-संस्कार की प्रक्रिया से किये गये द्विविध प्रयोग तथा कालान्तर में उन द्विविध रूपों में से किसी एक का उभर कर ऊपर आ जाना युग की सुधारवादी नीति का द्योतक है । इसी नीति के सहारे क्रमश: सुधार की ओर उन्मुख होते हुए इस युग ने आगे चलकर परिनिष्ठित भाषा का जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह स्थायित्व को प्राप्त होता रहा ।

द्विवेदी-युग में हिन्दी के विकास के हेतु किये गये बहुधा प्रयत्नों तथा उनके परिणामों को देखते हुए युग-विशेष के ही भाषाकार एवं साहित्यकार 'पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय' के ये वाक्य उद्धरणीय प्रतीत होते हैं कि-"हिन्दी भाषा के लिए इसको स्वर्ण-युग कह सकते हैं। इस काल में जितना वह विस्तृत हुई, फूली फली, उन्नत बना वह उल्लेखनीय है" (हिं०भाषा और सा० का विकास)।

अधीत सामग्री-सूची

अधीत सामग्री-सूची

१. ग्रन्थ

(मुद्रित)

रचना	विवरण
अजातशत्रु	'प्रसाद', हिन्दी ग्रन्थ भण्डार कार्यालय, बनारस, १९२२ई०
अनाथपत्नी	भगवती प्रसाद बाजपेयी, चांद कार्यालय, इलाहाबाद,१९२८ई०
अनुप्रास का अन्वेषण	जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, चतुर्वेदी भोलानाथ शर्मा, कलकत्ता,दूसरी बार, सं० १९७५ ।
अपरा	निराला, साहित्य संसद की ओर से,प्रयाग महिला विद्यापीठ,प्र० आवृत्ति, सं०२००३ ।
अमरसिंह राठौर	राधाचरण गोस्वामी (प्रकाशनादि विवरण का पृष्ठ फटा हुआ)
अहिल्याबाई का जीवनचरित	कार्तिकप्रसाद खत्री, काशी नागरी प्रचारिणी सभा,१८९७ई०
आंसू	प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद,अष्टम संस्क०,सं०२००७ ।
आकाशदीप(क०संग्रह)	प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद ।
आधुनिक साहित्य	प्रेमनारायण टण्डन, विद्यामन्दिर, लखनऊ ।
आधुनिक हिन्दी-कवियों के शब्द-प्रयोग	डा० कृष्णभावुक, शब्द प्रकाशन, १९७० ।
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,१९५२ई० ।

रचना	विवरण
आर्य कीर्ति	रजनीकान्त गुप्त,अनु० प्रतापनारायण टण्डन,खड्गविलास प्रेस,बांकीपुर, १८९९ई० ।
आलोचनांजलि	महावीरप्रसाद द्विवेदी, इण्डियनप्रेस लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्क०, १९२२ई० ।
उच्छ्वास	पंत
उर्दू साहित्य का इतिहास	व्रजरत्नदास, हिन्दी साहित्य कुटीर,काशी, सं०२००७ ।
एक घूंट	प्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वि०सं०,१९९६वि०।
कंकाल	प्रसाद ।
कविरत्न (प्रथमभाग)	मु०देवीप्रसाद मुंसिफ, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता,सं०१९६८
कालिदास की निरंकुशता	महावीरप्रसाद द्विवेदी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९१९ई० ।
काव्य वाटिका (विभिन्न कवियों की कविताओं का संग्रह)	किशोरीलाल,गुप्त, हरिदास एण्ड कं०,कलकत्ता, सन् १९२१, प्रथमावृत्ति
किरातार्जुनीय	महावीरप्रसाद द्विवेदी
कुछ विचार	प्रेमचन्द , सरस्वती प्रेस,बनारस,पं०संस्क०,१९५९ई० ।
कुरु वनदहन	बदरीनाथ भट्ट, रामभूषण प्रेस, आगरा, १९१२ई० ।
खड़ीबोली का आंदोलन	शितिकंठ, काशी नागरी प्रचारिणीसभा, सं०२०१३ ।
खूनी की खोज	गोपालराम गहमर
गद्य मीमांसा	अम्बिकादत्त व्यास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा,१८९७ई० ।
गुप्त निबन्धावली (भाग१,२)	बालमुकुन्दगुप्त, भारतमित्र प्रेस,कलकत्ता ।
गुरु तेगबहादुर	मैथिलीशरणगुप्त, साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी,प्र०सं०,२०१४वि० ।
गोविन्द निबन्धावली	पं० गोविन्दनारायण मिश्र, दामोदरदास खन्ना, कलकत्ता ।
गोस्वामी तुलसीदास	रामचन्द्रशुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा,सप्तम संस्क०,सं०२००८।
चित्राधार (विविध कृतियों का संग्रह)	प्रसाद, साहित्य सरोज कार्यालय, बनारस,१९८५वि० ।
चिन्तामणि	रामचन्द्रशुक्ल, इण्डियन प्रेस,प्रयाग, १९५९ई०
चुंगी की उम्मेदवारी	बदरीनाथ भट्ट, रामभूषण प्रेस,आगरा, १९१४ई० ।

रचना	विवरण
चुनी कलियां	राधिकारमणप्रसाद, कायस्थ पाठशाला प्रेस,प्रयाग,प्र०सं०,१९४१ई० ।
चुभते चौपदे	अयोध्यासिंह उपाध्याय`हरिऔध`,खड्गविलास प्रेस,पटना,१९२४ई० ।
चोखे चौपदे	,, ,,
जाबित्री उपन्यास	राधाचरण गोस्वामी, आनन्द कादम्बिनी यन्त्रालय,मिरजापुर, १८८८ई० ।
झरना	प्रसाद; साहित्य सेवा सदन, काशी, द्वि०आ०,१९८४वि० ।
डायलेक्ट आफ डेलही	बहादुर सिंह, साउथ एशियन स्टडीज, न्यु देहली, १९६६ ।
ताराबाई(गीतिनाट्य)	मू०ले०- द्विजेन्द्रलाल राय,अनु०रूपनारायण पाण्डेय,हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,बम्बई, १९१९ई०, तृ० आवृत्ति ।
दक्खिनी हिन्दी	बाबूराम सक्सेना, हिन्दुस्तानी एकेडमी,उ०प्र०, इलाहाबाद,१९५२ई० ।
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ (तत्कालीन साहित्यकारों की उच्च कोटि की कृतियों का संग्रह)	नागरी प्रचारिणी सभा, १९३३ई० ।
द्विवेदी पत्रावली (द्विवेदी जी द्वारा विभिन्न साहित्यिकों सपादकों एवं सहयोगियों को लिखे गये पत्रों का संग्रह)	सम्पा० विनोद शंकर व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ,काशी,१९५४ई०,प्र०सं०।
द्विवेदी-युग की हिन्दी गद्य-शैलियों का अध्ययन ।	शंकरदयाल चौऋषि,भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली ।
नन्दननिकुंज	चण्डीप्रसाद हृदयेश,गंगापुस्तक माला कार्यालय,लखनऊ,प्र०आ०,१९२३ई०।
निबन्ध निचय	जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, गंगापुस्तक माला कार्यालय,लखनऊ,सं०१९८३।
निर्मला	प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस,बनारस, द्वि०आ०,१९३८ई०
पंचपात्र	पदुमलालपुन्नालाल बख्शी,गांधी पुस्तक भण्डार,प्रयाग, प्र०संस्क०,सं०१९८४
पगली	वियोगीहरि,हिन्दी पुस्तक एजेन्सी,कलकत्ता,सं०१९९०, दूसरा संस्क०।
पत्र और पत्रकार	कमलापति शास्त्री एवं पुरुषोत्तमदास टण्डन,ज्ञानमण्डल, लिमिटेड, बनारस, सं०२००२ ।
पथिक	रामनरेश त्रिपाठी,हिन्दी मन्दिर प्रयाग, सं०१९८४ ।
परिमल	निराला, गंगापुस्तकमाला,लखनऊ,प्र०आ०,सं०१९८९ ।

रचना	विवरण
प्रियप्रवास	हरिऔध, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सं०२००८
बालमुकुन्द गुप्त (एक मूल्यांकन)	सं० कल्याणमल लोढा, शतवार्षिकी समारोह, समिति, कलकत्ता, सं० २०२२ ।
बेकन विचार रत्नावली	महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालय, सं०१९५८ ।
ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली	कपिलदेव सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्र०सं०, १९५९ई० ।
भट्ट निबन्धावली	सम्पा० देवीदत्त शुक्ल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं०१९८८ ।
भारत भारती	मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगांव, फांसी, सत्ताइसवां संस्क० २०२५ ।
भारतीय भाषाओं का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डा०ब्रजेश्वर वर्मा एवं डा० न०वी०राजगोपालन, केन्द्रीय हिन्दीसंस्थान, आगरा, प्र०सं०१९६५ई० ।
भारतीय हिन्दी परिषद (रजत जयन्ती समारोह अंक १९४२-१९६७ई०)।	अरोरा प्रिंटिंग प्रेस, रामपुर
भाषा अध्ययन के आधार	प्रेमनारायण टण्डन, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५८ई०।
भाषा की उत्पत्ति तथा हिन्दी और उसकी बोलियां	डा० कोमल सिंह, उमेश प्रकाशन, दिल्ली, १९६८ई० ।
भाषा तत्व और वाक्यपदीय	सत्यकामवर्मा, भारतीय प्रकाशन, नई दिल्ली, १९६४ई० ।
भाषा विज्ञान	डा० श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सं०२००७ ।
भाषा विज्ञान	डा० भोलानाथ तिवारी, किताबमहल, इलाहाबाद, प्र०सं०१९५१ई०।
भाषा विज्ञान पर भाषण	मैक्समुलर, अनु०हेमचन्द्र जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम सं०, खं०१, १९६४ई० ।खण्ड२, १९६८ई० ।
भाषा शास्त्र की रूपरेखा	डा० उदयनारायण तिवारी, भारती भण्डार, इलाहाबाद
भाषिषणा	रमेशचन्द्र मेहरोत्रा
भूतनाथ	देवकीनन्दन खत्री
मन की लहर	प्रतापनारायण मिश्र, भारत जीवन प्रेस, बनारस, १८८५ई० ।
महादेवगोविन्द रानाडे	रामनारायण मिश्र, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९३२ई० ।
महाराणा प्रताप सिंह	राधाकृष्णदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १८९७ई० ।

रचना	विवरण
महावीरप्रसाद द्विवेदी	(संकलित हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, रचनाकाल१९३३)।
महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग	डा० उदयभानसिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं०२००८, प्र०सं०
माधव मिश्र निबन्धमाला (प्रथमभाग)	सम्पा० साहित्यभूषण चतुर्वेदी एवं द्वारकाप्रसाद शर्मा, इंडियनप्रेस, प्रयाग
मिश्रबन्धु विनोद(प्र०भाग)	मिश्रबन्धु, गंगापुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ सं०१९८३
युगान्त	पन्त, इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स, अल्मोड़ा, प्र०बार
रणधीर और प्रेममोहिनी	लाला श्रीनिवासदास, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, सन् १८८२ई० ।
रसज्ञ रंजन	महावीरप्रसाद द्विवेदी, शारदा पुस्तकमाला
राधारानी (अनुदित)	प्रतापनारायण मिश्र, खड्गविलासप्रेस, पटना, १९१८ई० ।
रामकहानी का बालकांड	सुधाकर द्विवेदी, पद्माकर द्विवेदी, बनारस, सं०१९६८, तृ०संस्क०।
रामभारद्वाज मिलन अभिनय	,, ,, ,, सन् १९१०
राष्ट्रभाषा प्रचार (सर्वसंग्रह)	राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, सन् १९३९ई० ।
राष्ट्रभाषा रजत जयंती ग्रंथ	उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कटक ।
लालचीन	ले०ब्रजनन्दनसहाय, सम्पा०श्यामसुन्दरदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९२१ई० ।
विचार और विश्लेषण	डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५५ई०
विभक्ति-विचार	गोविन्दनारायण मिश्र, नाहरमल लोहिया स्ट्रीट, कलकत्ता१९६८वि० ।
विवाह विडम्बना	बाबू तोताराम वर्मा, भारतबन्धु कार्यालय, अलीगढ़, द्वि०संस्क०, सन् १९००
विस्मृत सम्राट	ब्रजनन्दनसहाय, खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना ।
शंकर सर्वस्व	सम्पा० हरिशंकर शर्मा, गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा, सं०२००८
शिक्षा-दान	बालकृष्ण भट्ट एल०के० भट्ट, इलाहाबाद सं०१९८५ ।
शिवशम्भु के चिट्ठे	बालमुकुन्द गुप्त, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता, सं०१९७१, दूसरा संस्क०
शिवा साधना	हरिकृष्ण प्रेमी, भारती प्रेस, लाहौर ।
श्यामालता	ठा० जगमोहन सिंह, भारतजीवन प्रेस, बनारस, १८८५ई०
श्रीदामानाटक	राधाचरणगोस्वामी, कल्याण, बम्बई, सन् १८७९
संगीत शाकुन्तल	प्रतापनारायण मिश्र, बांकीपुर, पटना, सन् १९०८ ।

रचना	विवरण
समालोचना	गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १८९९ई०
समालोचना समुच्चय	महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, प्र०बार, १९३०ई० ।
सम्पादक के पचीस वर्ष	पं० देवीदत्त शुक्ल, कल्याण मन्दिर, प्रयाग, १९५६
सामान्य भाषा विज्ञान	मिश्र गोविन्दनारायण, रसिकलाल पान, कलकत्ता, सं०१९६०
साहित्य सीकर	महावीरप्रसाद द्विवेदी, तरुणभारत ग्रन्थावली, कार्यालय, प्रयाग, प्र० संस्क०, १८९९ई० ।
सिद्धान्त और अध्ययन (द्वितीय भाग)	गुलाबराय, प्रतिमा प्रकाशन, मन्दिर, दिल्ली
सुदर्शन	कामताप्रसाद गुरु, रामनारायणलाल , इलाहाबाद, सन् १९३१
सुमन	महावीरप्रसाद द्विवेदी, साहित्य सदन, चिरगांव, फांसी, प्र०आवृ० सं०१९८० ।
सेवासदन	प्रेमचन्द, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता, सातवीं बार, सं०१९९२
स्टडीज़ इन हिन्दी उर्दू (अंग्रेजी)	अशोक रामचन्द्र केलकर, डक्न कालेज, पोस्टग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इंस्टीच्यूट पूना, १९६८ ।
स्टडीज इन हिन्दी लिंग्विस्टिक	अमेरिकन इंस्टीट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज, न्यु देलही।
हिन्दी	बदरीनाथ भट्ट, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, सं०१९८१
हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी	पद्मसिंह शर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ०प्र०, इलाहाबाद, १९४२ई०।
हिन्दी कार्य निर्देशिका	सम्पा० डा० नारायणदत्त पालीवाल, दिल्ली प्रकाशन कर्मचारी हिन्दी समिति, मौलिक साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, १९६७ई० ।
हिन्दी के निर्माता (भाग१ तथा २)	श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९४१ई० ।
हिन्दी पत्रों के संपादक	बी०एस०ठाकुर 'पत्रकार' -स्वतन्त्र प्रकाशन मण्डल, लखनऊ, १९४०ई० ।
हिन्दी भाषा	डा० भोलानाथ तिवारी, किताबमहल, इलाहाबाद ।
हिन्दी भाषा	बालमुकुन्द गुप्त, भारत मित्र प्रेस, कलकत्ता
हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का विकास	बालगोविन्द मिश्र, शिवानन्द शर्मा, इलाहाबाद, १९५७ई०

रचना	विवरण
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास।	अयोध्यासिंह उपाध्याय `हरिऔध`
हिन्दी भाषा का व्याकरण	पं० सुधाकर द्विवेदी एच०जे० लाजारूस एण्ड को,बनारस,१८९०ई०
हिन्दी भाषा का इतिहास	डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग,१९४९ई०
हिन्दी भाषा की उत्पत्ति	महावीरप्रसाद द्विवेदी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, नवीन संस्करण १९२२ ई० ।
हिन्दी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्त्विक अध्ययन	डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्र० संस्क०, १९६७ई० ।
हिन्दी व्याकरण	गंगाप्रसाद एम०ए०, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ।
हिन्दी व्याकरण	कामताप्रसाद गुरु,नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,सातवां संस्क०, सं०२०१९ ।
हिन्दी समाचार	लक्ष्मीकान्त वर्मा, हिन्दी संघर्ष समिति, प्रयाग
हिन्दी समाचारपत्र निर्देशिका	वेंकटलाल ओझा
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल,नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,छटां संस्क० सं०२००७ ।
हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, महामना प्रकाश मंदिर,इलाहाबाद १९६६ई० ।
हिन्दी साहित्य का इतिहास	डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,१९७३ई०।
हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास ।	रामबहोरी शुक्ल और डा०भगीरथ मिश्र, हिन्दी भवन,जालन्धर और इलाहाबाद,प्र०संस्क०,१९५६ई० ।
हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास(द्वितीय भाग)	सम्पा०डा० धीरेन्द्र वर्मा,नागरी प्रचारिणी सभा,काशी, सं०२०२२ ।
हिन्दी साहित्य कोश,भाग१,२	डा०धीरेन्द्र वर्मा,ज्ञानमण्डल वाराणसी,सं०२०२०
हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी	नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सं०१९९९
हिन्दी सिमेंटिक्स(अंग्रेजी)	डा० हरदेव बाहरी, प्रयाग
हिन्दी सेवी संसार	डा० प्रेमनारायण टण्डन, लखनऊ ।

रचना	विवरण
(हस्तलिखित)	
इतिहास तिमिर नाशक	शिवप्रसाद सितारेहिन्द
किन्नरदेश में	राहुलसांकृत्यायन
किरातार्जुनीय	महावीरप्रसाद द्विवेदी
भारतवर्ष का इतिहास(प्रथम एवं तृतीय खण्ड)	मिश्रबन्धु

द्विवेदीयुगीन भाषा एवं साहित्य-साधकों के पत्रों का संग्रह, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सौजन्य से।

२. पत्र-पत्रिकाएं

(क)

(प्रकाशित)

- प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में तद्युगीन साधन तथा साधक शीर्षक(३.२.) के अन्तर्गत उल्लिखित लगभग समस्त पत्र-पत्रिकाओं के अंक-- जिनमें 'सरस्वती' की प्रतियों का अधिक अध्ययन किया गया ।
- सरस्वती हीरक जयन्ती अंक(सरस्वती में सन् १९०० से १९५९ तक की प्रकाशित प्रतिनिधि रचनाओं का संग्रह)-- सम्पादक श्रीनारायण चतुर्वेदी, इण्डियन प्रेस, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद,१९६१ई० ।
- 'विचार वितण्डा' (द्विवेदी द्वारा अभिहित शीर्षक) के अन्तर्गत संगृहीत द्विवेदी युगीन उन विभिन्न समाचारपत्रों के संग्रह जिनमें तत्कालीन विभक्ति प्रयोग संबंधी विचार प्रकाशित हुए हैं ।
- ब्राह्मण | (भारतेन्दुयुगीन पत्रिकाएं)
- हरिश्चन्द्र मैगजीन |
- भाषा(त्रैमासिक) केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार, दिल्ली

(ख) हस्तलिखित

सरस्वती की अनेक वर्षों के अंकों की प्रतियां जो नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित हैं ।

३. अन्य

प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्य-विवरण, काशी ।

द्वितीय ,, ,, प्रयाग, सं०१९६८

हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १५ अंक ३-४-१९६२६०--जुलाई-सितम्बर, अक्टूबर, दिसम्बर

हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १७ अंक ३-४-१९६४ जुलाई-- दिसम्बर तक इलाहाबाद विश्वविद्याल

भारतेन्दु की खड़ीबोली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन -- (शोधप्रबन्ध)ले० डा० श्यामकुमारी श्रीवास्तव ।